वे
द

वेद-मीमांसा

तृतीय खण्ड

अनिर्वाण

हिन्दी अनुवाद :
• द्विवनाथ मिश्र

वेद-मीमांसा

तृतीय खण्ड

VEDA-MIMAMSA

[A Vedic Compendium]

VOL. III

ANIRVĀN

अनुक्रम

तृतीय अध्याय: वैदिक देवता — पूर्वानुवृत्ति

पृष्ठ

४- अपां नपात्

५. इन्द्र

१- साधारण परिचय
२. रूप, जन्मरहस्य और परिजन
३. गुण और कर्म का वैशिष्ट्य
'परम पुरुष'
'सत्य'
'सत्पति'
'असुर'
'स्वधावान्'
'प्रत्न', 'पूर्व्य', 'प्रथम'
'प्रथमो मनस्वान्

संकेत-परिचय

Av. — AVESTA - अवेस्ता
ई. — ईशोपनिषद्
ई उप्र. — उपनिषत् प्रसंग — ईशोपनिषद्
ऐ आ. — ऐतरेय आरण्यक
ऐ उ. — ऐतरेय उपनिषद्
ऐ उप्र. — उपनिषद् प्रसंग — ऐतरेय
ऐ ब्रा. — ऐतरेय ब्राह्मण
क. — कठोपनिषद्
के. — केनोपनिषद्
के उप्र — उपनिषद् प्रसंग — केन
कौ. — कौषीतक्युपनिषद्
गी. — गीता
गे. — Geldner
गो. — गोपथ ब्राह्मण
छा. — छान्दोग्योपनिषद्
जै उ. — जैमिनीय उपनिषद्
टी. — टीका
टीमू. — टीका मूल, टीका और मूल
ता. — ताण्ड्य ब्राह्मण
तु. — तुलनीय
तै आ. — तैत्तिरीय आरण्यक
तै ब्रा. — तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै स. — तैत्तिरीय संहिता
द्र. — द्रष्टव्य
नि. — निरुक्त
निघ. — निघण्टु
पपा. — पदपाठ
पा. — पाणिनि सूत्र
पृ. — पृष्ठ
प्र. — प्रश्नोपनिषद्
प्रतितु. — प्रतितुलनीय
विण — विशेषण
वि द्र. — विशेष आलोचना द्रष्टव्य
बृदे. — बृहद्देवता
वैप. — वैदिक पदानुक्रम कोष
व्यु. — व्युत्पत्ति

ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्र
भा.	भागवत पुराण
म.स.	मनु संहिता
महा.	महाभारत
मा.	वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता
माण्डू.	माण्डूक्य उपनिषद्
मी.सू.	मीमांसा सूत्र
मु.	मुण्डक उपनिषद्
ल.	लक्षणीय
श.	शतपथ ब्राह्मण
शां.	शांखायन ब्राह्मण
शौ.	अथर्ववेद शौनक संहिता
श्रौ.	श्रौत सूत्र
सा.	सायण
सा.भा.	सायण भाष्य
सा.स.	साम संहिता
सू.	सूक्त
स्म.	स्मरणीय

वेद-मीमांसा

तृतीय अध्याय

वैदिक देवता

पूर्वानुवृत्ति

ग. पृथिवी स्थान देवता २ : पृथिवी

१. साधारण परिचय

वेदों में द्यावा-पृथिवी एक बहुस्तुत देव युग्म है। किन्तु केवल पृथिवी के सम्बन्ध में मात्र तीन ऋचाओं का एक लघु सूक्त ऋक् संहिता में उपलब्ध है, और शौनक संहिता में सुप्रसिद्ध पृथिवी सूक्त है जो विश्व के प्राचीन साहित्य में अतुलनीय है [१५८५]। ऋक्संहिता का यह सूक्त लघु होने पर भी रहस्यविदों एवं मर्मज्ञों की भाषा में रचे जाने के कारण भाव गम्भीर है। इसके अतिरिक्त वेदों के अनेक स्थानों पर छिटपुट रूप में पृथिवी का प्रचुर उल्लेख प्राप्त होता है।

'द्यौः पिता' वैदिक देववाद का उत्स है, अतएव उनके साथ अपरिहार्य रूप से युक्त 'पृथिवी माता' भी देवी हैं [१५८६] वे दोनों विश्व के आदि जनक-जननी हैं। मनुष्य की अभीप्सा की अग्नि पृथिवी से द्युलोक की ओर उत्शिख होती है, इसलिए माता पृथिवी ही उसकी साधना की धात्री है – उसके हृदय की आग पृथिवी का पुत्र और उसका भाई है। जिस ज्योति की एषणा मनुष्य का परमपुरुषार्थ है, वह 'द्यौः पिता' के साथ 'श्री' रूप में नित्याश्रित है – आलोकदीप्त नीलाकाश उसका प्रतीक है। किन्तु पृथिवी में उस ज्योति को अरणिमन्थन की शक्ति द्वारा प्रकट करना पड़ता है[1] यद्यपि पृथिवी स्वरूपतः अग्निगर्भा है।[2] इस प्रकार आकाश में श्री रूप में और यहाँ पृथिवी रूप में परम पुरुषकी दो व्यंजना है। संहिता में यही भावना आदित्य 'भग' की दो 'मेना' अथवा पत्नी की कल्पना में[3] एवं पुराणोक्त विष्णुपत्नी 'श्री' और 'भू' की कल्पना में व्यक्त हुई है – जो इस देश की मूर्तिकला तक संचारित होकर लोक में प्रचलित हुई है।

[१५८५] ऋ. ५।८४ सूक्त ; शौ. १२।१।१-६३।

[१५८६] तु. ऋ. द्यौष् पितः पृथिवि मातर् अध्रुग् (द्रोहहीन, अनुकूल) अग्ने भ्रातर् वसवो (त्रिस्थान देवगण की साधारण संज्ञा, नि. १२।४१) मृळता (आनन्दित करो) नः, विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं (विपुल शरण, आश्रय और रक्षण, व्याप्तिचैतन्य में प्रतिष्ठा) वि यन्त (प्रदान करो, दो) ६।५१।५। अग्नि पार्थिव आधार में द्युलोक के चिदावेश के रूपमें हम सब के भाई (तु. २।१।९)।[1] तु. छा. १।३।५, श्वे. १।१४। [2] श. १४।९।४।२१। [3] तु. ऋ. १।६२।७ द्र. टी. ११८३। भग बाल सूर्य के रूप में क्षितिज पर पृथिवी से लिपटे हुए हैं। और फिर 'श्री', नीलाकाश रूपी विष्णु की अंगकान्ति अथवा ज्योतिर्लावण्य है, अतएव उनमें नित्य संगता- (तु. परमपुरुष का वर्णन 'श्रियो वसानश् चरति स्वरोचिः' – वे श्री का वस्त्र पहने अपनी दीप्ति से दीप्तिमान् होकर चलते हैं ३।३८।४) और भी तु. मा. श्रीश् च ते लक्ष्मीश् च पत्न्यौ ३१।२२ ('श्री', सरस्वती अथवा प्रज्ञा तु. श्री पंचमी के दिन हमारी सरस्वती पूजा; और 'लक्ष्मी', गजलक्ष्मी अथवा कमला – तंत्र की दशमहाविद्या की अन्तिम विद्या, वर्षणस्नाता पृथिवी का प्रतिरूप)।

द्यावा-पृथिवी रूपी आदि युग्म की उपासना संभवतः संसार के सभी प्राचीन धर्मों में ही प्रचलित थी एवं अब भी अनेक स्थानों पर है। पृथिवी की गोद में जीव का जन्म हुआ, कामदुघा पृथिवी उसकी धात्री है; द्युलोक का आलोक या ज्योति उसका 'जीव असुः' है, जो उसके बहिर्जीवन एवं अन्तर्जीवन का धाता और पालनकर्ता है। इसी सार्वभौम अनुभव के कारण मनुष्य के मन में दिव्य भावना का उन्मेष होता है जिसकी एक महनीय विवृति हमें वेद के द्यावा-पृथिवी के मंत्रों में प्राप्त होती है। वहाँ वे सब के पिता एवं माता हैं [१५९७], सारे देवता उनके पुत्र हैं[१] वे यज्ञ के नेता हैं[२] धिया की साधना में प्रचेतना के रूप[३] में व्यक्त और विकसित होते हैं, अपने वैपुल्य से हम सब के अन्तर में भूमा एवं अमृत का वैपुल्य[४] जागरित करते हैं और विश्व के अंतस में वे प्रशम हैं[५] जो सर्वत्र मधुवर्षी, मधुक्षर, मधुदुह एवं मधुव्रत हैं।[६] यहाँ द्युलोक और पृथिवी युगनद्ध हैं और द्युलोक के आलोक से पृथिवी अनुषिक्त है। इसी लिए मृण्मयी चिन्मयी है।

मृण्मयी पृथिवी की साधारण संज्ञा 'भू' अथवा 'भूमि' है अर्थात् जिसमें सब कुछ होता है या हो रहा है [१५९८], अथवा 'क्षिति' अर्थात् जिस पर सब का 'निवास' है।[१] संभवतः ये संज्ञाएँ ही आदिम हैं, उसके बाद 'लोक' अथवा 'देवता' के अर्थ में यह 'पृथिवी' संज्ञा परिभाषित हुई; जिसकी व्युत्पत्ति विस्तारार्थक प्रथ धातु से है, संहिता और ब्राह्मण में ही हमें उसका परिचय प्राप्त होता है।[२] लोक और देवता के बीच ही क्षुद्र आधार में आबद्ध चेतना व्याप्ति में मुक्ति प्राप्त करती है — यही वैदिक साधना की मूल भावना है। पृथिवी की नित्य प्रत्यक्ष परिव्याप्तता ही चेतना में संक्रामित, संचारित होकर ऋषि की दृष्टि में उन्हें देवता के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

ब्राह्मण में इसी देवी पृथिवी के सम्बन्ध में अनेक रहस्योक्तियाँ हैं। पहले हम देखते हैं कि अवम देवता अग्नि पृथिवी स्थान हैं, अतएव पृथिवी **आग्नेयी** अथवा वे ही **अग्नि** हैं [१५९९]। और इसी प्रसंग में वे अग्नि का छंद

[१५९७] तु. ऋ. १।१५९।२, १८५।१०, ११, ६।७०।६। [१] १।१५९।१, ४।५६।२...। [२] ४।५६।२। [३] १।१५९।१। [४] १।१५९।२। [५] १।१६०।१, ६।७०।६। [६] ६।७०।५। 'द्यावापृथिवी' विशेष द्रष्टव्य आगे चलकर।

[१५९८] निघ. १।१; तु. श. इयं वै भूमिर् अस्यां वै स भवति यो भवति ७।२।१।१; तु. Gk. Phusis 'nature' > Physics। [१] तु. श. अयं वै लोकः सुक्षितिर् अस्मिन् हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्ति १४।१।२।२४। रूपान्तर 'क्षा'। [२] तु. ऋ. 'स (इन्द्र) धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च २।१५।२; यत्रा समुद्रः (कारण समुद्र द्र. १।१६४।४२, १०।१९०।१) स्कभितो व्य् औनत (स्तब्ध था, छलक उठा) ... अतो भूर् अत आ उत्थितं रजो (लोक) ऽतो द्यावापृथिवी अप्रथेताम् १०।१४९।२; ऋतेन पुत्रो अदितेर् ऋतावा (ऋतम्भर) त्रिधातु (तीन प्रकार से) प्रथयद् वि भूम ४।४२।४; इन्द्रो ... रोदसी पप्रथत ८।३।६। सर्वत्र लोक-समूह के वैपुल्य की व्यंजना है जिसमें देखते रहने से ही चेतना बृहत् अथवा प्रशस्त होकर फैल जाती है। और भी तु. श. तद् भूमिर् अभवत्, ताम् अप्रथयत्, सा पृथिव्य् अभवत् ६।१।१।१५ (३।७) तैत्तिरीय संहिता; सायण- प्रथत, सा पृथिव्य् अभवत्, तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम् ७।१।५; तै.ब्रा. १।१।३।६-७। अत्र नि. प्रथनात् पृथिवी, त्याहुः कः एनाम् अप्रथयिष्यत् किमाधारश्च इति; अथ वै दर्शनेन पृथुर् अप्रथिता चेद् अप्यन्यै १।१४।५। विकल्प रूप 'पृथ्वी', अनुरूप 'उर्वी', 'मही' (निघ. १।१)।

२

गायत्री भी हैं।[1] इसी सन्दर्भ में आधियाज्ञिक दृष्टि से पृथिवी **वेदि** है।[2] इस भावना का मूल संहिता में ही है— 'यही वेदि पृथिवी का परम अन्त है, यही यज्ञ भुवन की नाभि है, यही सोमवीर्यवर्षी अश्व की रेतोधारा है, यही **ब्रह्मा** वाक् का परम व्योम है।'[3] अर्थात परम व्योम में अनुपाख्य (अनिर्वचनीय) महाशून्यता, उसके नीचे आदित्यमण्डल से सौम्य मधु का नित्य निर्झरण, उससे पुरुष की आत्मविसृष्टि या आत्मरूपायन में विश्व की सम्भूति— इस प्रकार लोकोत्तर से लोकान्त तक कारणसलिलगेहिनी के अवक्षरण का प्रवेग पृथिवीरूपिणी वेदि में संहत हुआ है।[4] उसी से पृथिवी **प्रतिष्ठा वैश्वानर** अर्थात् प्रत्येक जीव में निहित ऊर्ध्वशिख चिदग्नि का आधार है।[5] अतएव पृथिवी **विराट्** अथवा विश्वरूप की जननी एवं धात्री है।[6] फिर आध्यात्मिक दृष्टि से हम सब का **शरीर** ही पृथिवी है।[7] उसी शरीर का वक्षस्थल वेदि एवं हृदय आदि अग्नि है—यह हमने पहले ही देखा है।[8] ... त्रिलोक का एक मेरु द्यौः है और एक मेरु पृथिवी है- जो एक दूसरे के विपरीत हैं। इसीलिए पृथिवी ऋत की प्रतिषेधरूपिणी **निर्ऋति** हैं, जो अव्याकृत, अन्धतामिस्र अथवा मृत्यु का नामान्तर है।[9] उस समय शक्ति उनके भीतर कुण्डलित रूप में रहती है, इसलिए वे अमृत की एषणा में द्युलोकाभिसारिणी सुपर्णी की विपरीतचारिणी **कद्रू** हैं।[10] किन्तु तब भी वे सब समय कुण्डलित नहीं

[१५८५] तु. ता. आग्नेयी पृथिवी १५।४।८; इयं ह्यग्निः श. ६।१।१।१४, २१.५। द्रष्टव्य निघन्टु का आरम्भ 'पृथिवी' नाम द्वारा। फिर उसके दैवत काण्ड का आरम्भ 'अग्नि' द्वारा। १ ता. इयं वै गायत्री ७।३।११, १४।१।४; श. ४।३।४।६; ५।२।३।५। इसके अतिरिक्त अन्यान्य छन्द-दृष्टि भी है : अनुष्टुप् ता. ८।७।२; ... श. १।३।२।१६; त्रिष्टुप श. २।२।१।२० ... २ पृथिवी वेदिः ऐ.ब्रा. ५।२८, तै.ब्रा. ३।३।६।२, ८; २।९।१२; श. १।२।५।७, ७।३।१।५, ५।२।३१...। तै. ३।२।९।१२, श. १।२।५।७ ...; तस्या एतं परिमितं रूपं, यद् अन्तर्वेदि, अथ एष भूमा परिमितो यो बहिर्वेदि ऐ.ब्रा. ८।५। ३ ऋ. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (द्र.टी. १३६८), अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मा.यं वाचः परमं व्योम १।१६४।३५। 'अश्व' आदित्य; आदित्य चेतना में उत्तीर्ण होकर पुनः अमृत आनन्द ज्योति से मर्त्य में निर्झरित होना (तु. ८।४८।३, ९।११३।६, ७, ११। 'ब्रह्मा' सोमयाग के अधिष्ठाता ऋत्विक; उनकी चेतना आकाशवत् है, वही वाक् अथवा मंत्रशक्ति का उत्स एवं निधन (तु. ऋ. १।१६४।४१; छा. ४।१७।४-१०)। ४ तु. छा. असौ वा आदित्यो देवमधु; ... ३।१-११; ऋ. पवमाना दिवस्परि अन्तरिक्षाद् असृक्षत (झर पड़ा) पृथिव्या अधि सानवि (आधियज्ञ दृष्टि से वेदि में, अध्यात्मदृष्टि से मूर्द्धा में) ९।६३।२७। और भी तु. १०।९०।६... १।१६४।४१, ४२। ५ श. १०।६।१।४, १२।३।८।३। वैश्वानर का नर सारे जीवों का उपलक्षण। और भी तु. श. इयं वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा ४।५।२।१५ (१।९।१।२९, ३, ११); इयं एव ध्रुवा १।३।२।४ ...; योनिर् वा इयम् १२।४।१।७। ६ तु. श. ७।४।२।२३, १२।६।१।४०, २।२।१।२०। और भी तु. ऋ. तस्माद् विराळ् अजायत विराजो अधिपूरुषः, स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिम् अथो पुरः १०।९०।५; यहाँ परम पुरुष से विराट् पुरुष, उनसे एक और पुरुष, उनसे भूमि अथवा पृथिवी एवं उससे पुर अथवा जीवदेह की उत्पत्ति। इसी प्रकार का विवरण- ऐउ. १।१-३। ऋक्संहिता में विराट् मित्रावरुण का अर्थात व्यक्त एवं अव्यक्त अनन्तता का छन्द (१०।१३०।५)।

रहतीं। जिस महाप्राण को वे द्युलोक से अपानशक्ति के रूप में आकर्षित करके आधार में समेट कर ले आती हैं उसके उच्छ्वास एवं आयाम में उनका कुण्डल मोचन होता है, कद्रू का रूपान्तरण सुपर्णी में होता है। उस समय द्युलोक और भूलोक के बीच उनके अवसर्पण एवं उत्सर्पण की लीला जारी रहती है — उसी से वे **सर्पराज्ञी** हैं।[11]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में पृथिवी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक आख्यायिका है जिसमें पौराणिक वराह अवतार का संकेत प्राप्त होता है [1600] — 'पहले सब कुछ ही अथाह जल से प्लावित था। जिससे प्रजापति में तपःक्षोभ जागा कि यह सब (अर्थात् विश्वजगत) कैसे होगा? उन्होंने देखा कि एक कमल-पत्र स्थिर दिखाई दे रहा है। उन्होंने सोचा कि कि निश्चय ही कुछ एक है जिसके ऊपर यह स्थिर है। उन्होंने वराह का रूप धारण करके उसके निकट ही डुबकी लगाई और नीचे जाकर तल में पृथिवी को पाया। उसमें से थोड़ा सा दाँत पर उठाया फिर तैर कर ऊपर आ गए और उसे कमल-पत्र पर प्रथित किया अथवा बिछा दिया। प्रथित करने के कारण ही पृथिवी, पृथिवी हुई। वहाँ वराह का नाम 'एमूष' है।[1] यही नाम ऋक् संहिता में भी प्राप्त होता है किन्तु वहाँ कथा की व्यंजना अन्य प्रकार की है।[2] ब्राह्मण की कहानी का चित्रवर्ण प्रपंचन भागवत पुराण में है।[3] वहाँ देखते हैं कि विष्णु ही प्रजापति की नासिका से आविर्भूत होकर हिरण्याक्ष असुर का वध करके अतल समुद्र में डूबी पृथिवी को दाँत से पकड़ कर ऊपर ले आते हैं। यह स्पष्टतः सृष्टि का एवं जड़ से चेतना के ऊर्ध्वायन अथवा उदात्तीकरण का रूपक है। दाँत से मिट्टी खोदकर कन्द को ऊपर ले आना वराह का स्वभाव है। मिट्टी जड़ है, कन्द में प्राण कुण्डलित एवं चेतना आच्छन्न है। ब्राह्मणोक्त प्रजापति अथवा पुराणोक्त विष्णु चिन्मय प्राण रूप में जड़त्व द्वारा कवलित प्राण को ऊपर खींचकर लाते हैं — यही सृष्टि का तात्पर्य एवं योग का रहस्य है। यह उद्धार करने की शक्ति ही तंत्र की वाराही शक्ति है। जिसका मूल वेद में है। इसी भावना ने एक दिन इस देश के मूर्तिशिल्प में विपुल उद्दीपन अथवा उत्तेजना का संचार किया था। पुराण के यज्ञ वराह में ऋक् संहिता के पुरुष यज्ञ की ध्वनि है। इसी वराहावतार

[7] तैब्रा. पृथिवी मे शरीरे श्रिता 3।10।8।7। [8] छा. 5।18।2। [9] श. इयं वै निर्ऋतिः 5।2।3।3; तैब्रा. 1।6।1।1। [10] श. इयं कद्रूः 3।6।2।2 (द्र. टी. 1269[2])। [11] ऐ. इयं वै सर्पराज्ञी, इयं हि सर्पतो राज्ञी 5।23; तै ब्रा. 1।4।6।6, श. 2।1।4।30, 4।6।9।16, तां. 4।9।6। फिर तैब्रा. के अनुसार — देवा वै सर्पाः (अर्थात देह में संचरणशील प्राण का स्रोत) तेषाम् इयं राज्ञी 2।2।6।2 द्र. टी. 1269[2]।

[1600] तै ब्रा. 3।1।3।6-7। [1] श. 14।1।2।11। [2] ऋक् संहिता में 'एमूष' वराह रूपी असुर। उसने गुप्तधन लेकर इक्कीस पहाड़ों की आड़ में छिपा रखा था। इन्द्र द्वारा उसके वध के पश्चात विष्णु उसके धन का उद्धार करके ले आते हैं (ऋ. 8।77।10, 1।61।7, 8।96।2, 77।6। तैत्तिरीय संहिता 6।2।4।2-3; द्र. ऋ. सायण भाष्य 8।77।10)। इसके साथ तुलनीय पणियों के अवरोध से गोयूथ का उद्धार (ऋ. 10।108, 67, 68 सूक्त)। शौनक संहिता के पृथिवी सूक्त में 'वराह' एवं 'सूकरमृग' अथवा वन्य वराह में अन्तर है। एक शुद्ध प्राण का, दूसरा अशुद्ध प्राण का प्रतीक है। (आगे चलकर, द्रष्टव्य)। [3] भा. 3।13।18 ... [4] तु. भागवत में ऋषियों द्वारा वराहस्तुति 3।13।34।...

के आधार पर पुराण में पृथिवी विष्णुपत्नी है जो वैदिक द्यावापृथिवी की भावना का ही विकल्प है।

पृथिवी नाम की तालिका द्वारा निघण्टु का आरम्भ, और उसका प्रथम नाम 'गौः' है। पृथिवी 'धेनु' है — यह भावना हमें शतपथब्राह्मण में प्राप्त होती है — 'यह पृथिवी सम्भवतः धेनु जैसी है, सभी लोग उससे अपनी काम्य वस्तु का दोहन करते हैं। धेनु माता है। यह पृथिवी माता की भाँति मनुष्यों का पालन-पोषण करती है [१६०१]।' पृथिवी के गो रूप का यही सहज तात्पर्य है। किन्तु 'गो' का एक रहस्यपूर्ण अर्थ 'किरण'[१] है अर्थात् विशेष रूप से वह ज्योति जो किसी अवरोध की आड़ में छिपाई गई है। रात में गोयूथ गोष्ठ में बन्द रहता है, प्रातःकाल मुक्त होने पर मैदान में तितर-बितर हो जाता है। उस समय उषा के प्रकाश में विचित्र रंगों में रँगे बादलों के तिरते टुकड़ों से द्युलोक भी एक गोचारण-भूमि जान पड़ता है।[२] वेद में गोयूथ के इस अवरोध-मोचन का वर्णन विस्तारपूर्वक पणियों के आख्यान में किया गया है।[३] इसी से 'गो' आधार में अवरुद्ध किन्तु मुमुक्षु या मुक्तिकामी ज्योति का प्रतीक है। इस कारण पृथिवी भी गोरूपा है। उनकी मुक्तिकामना का एक करुण चित्र अवेस्ता में भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अन्य एक कारण से संहिता में भी पृथिवी की गो रूप में कल्पना की गई है। द्यावापृथिवी हम सब के जनक-जननी के रूप में आदि युग्म हैं, वे 'वृषभश्च धेनुः' हैं।[५] द्युलोक से अमृत ज्योति की धारा पृथिवी पर निर्झरित होकर उसके बाँझपन को दूर करती है इसलिए द्युलोक वृषभ और पृथिवी धेनु है। एवं अग्नि-सूर्य के रूप में चिज्ज्योति उनके पुत्र हैं। ऋक्संहिता में उसका वर्णन इस प्रकार है — 'वह जो वह्नि अथवा वाहन पिता-माता का पुत्र है जो पवित्रयुक्त है, धीमान होकर वे परिपूत करते हैं विश्व-भुवन अपनी माया से। पृश्नि जो धेनु है और सुरेता जो वृषभ है (वे दोनों एक हैं) दिन-प्रतिदिन इसी (एक की) शुभ्र दुग्धधारा को इन्होंने दोहन किया।'[६] — यहाँ हम देखते हैं कि इस विश्व में

[१६०१] श॰ धेनुर् इव वा इयं मनुष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे, माता धेनुः मातेव वा इयं मनुष्यान् बिभर्ति २।२।१।२१। शौनक संहिता के पृथिवी सूक्त में भी पृथिवी 'धेनु' (१२।१।४५); इसके अलावा वहाँ दुह धातु का बहुल प्रयोग लक्षणीय।
१ निघ॰ १, ५ (बहुवचन में)। तु॰ ऋ॰ ४।५२।५, ६।६४।२, १।९२।४। २ उषा का वाहन अरुण (लाल) गोयूथ निघ॰ १।१५; तु॰ ऋ॰ ६।६४।२। ३ द्र॰ टीभू॰ १२३। ४ द्र॰ गाथा अहुनवैति। और भी तु॰ तैब्रा॰ इयं वै पृश्निः १।४।१।५; श॰ इयं वै वशा पृश्निः १।८।३।१५, ५।१।३।३। ५ ऋ॰ १०।५।१; ३।३८।७, ५।६।३, ४।३।१० (टी॰ १३१४)।
६ ऋ॰ स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान् पुनाति धीरो भुवनानि मायया, धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत १।१६०।३। 'वह्नि' अभीप्सा अथवा आहुति का वाहन अग्नि। वे 'पवित्रवान्'; 'पवित्र' सोम छानने की चलनी-मेष के लोम से बनी, राहस्यिक अर्थ में 'उन्मेषित' चेतना का वाहन नाड़ीतंत्र। तो फिर अग्नि योग की भाषा में सुषुम्णकाण्डवाही सौम्य आनन्द का स्रोत। अग्नि-सोम का सहचार प्रसिद्ध है। 'माया' निर्माणप्रज्ञा। 'पृश्नि' मरुद्गण अथवा ज्योतिर्मय

अथवा इस आत्मा में द्युलोक और भूलोक एक दूसरे से मिलकर एकाकार हैं। द्युलोक के कल्याण वीर्य ने प्राणोच्छलता में पृथिवी को शतरूपा किया है।[७] परिणामत: अग्नि-सूर्य-सोम में त्रिपुटित एक ध्यानदीप्ति तनु-तनु में प्रवाहित होकर अपरूपनिर्माणप्रज्ञा के सर्वस्व को स्वच्छ, निर्मल रूप में गढ़ रही है। और उसके कारण ही द्यावापृथिवी के सम्परिष्वंग अथवा सम्मिलन की आप्यायनी शुभ्र धारा अहोरात्र आधार में सर्वत्र निर्झरित हो रही है। पृथिवी और द्युलोक के परम सामरस्य के अनुभव में ही जीवन की चरम सार्थकता है, कृतार्थता है।

द्यौ: से अलग संहिता में इतस्तत: पृथिवी का जितना सब उल्लेख है उसमें सरस्वती की तरह ही उनके मृण्मय एवं चिन्मय ये दो रूप एक साथ जुड़े हैं। पृथिवी जब 'लोक' अथवा देवता की अधिष्ठान भूमि होती है, तब उसके देवता अग्नि होते हैं। अग्नि को 'त्रिषधस्थ' कहा गया है अर्थात चेतना के तीन केन्द्रों में उनका अवस्थान है। इसलिए पृथिवी भी तीन हैं [१६०२]। एक पृथिवी हम सब की धात्री है और एक अन्तरिक्ष में उच्छ्रिता या उन्नता है, जिसका वर्णन भौम अत्रि ने तीन ऋक के एक सूक्त में किया है।[१] और तृतीय पृथिवी इसी पृथिवी का अग्रभाग है जहाँ आदित्यमण्डल प्रतिष्ठित है।[२] यही पृथिवी का सानु या शीर्ष है जो आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य की मूर्द्धन्य चेतना की भूमि है, आधियाज्ञिक दृष्टि से वेदि है जो हृदय भी हो सकता है। द्युलोक से अग्निमन्थन और सोम का निर्झरण वहाँ ही होता है।[३] कभी इसे पृथिवी की नाभि भी कहा गया है।[४] इस प्रकार यह मर्त्यचेतना ही अग्नि-सूर्य-सोम की त्रिवेणी में उच्छ्रित होती है — मनुष्य की अभीप्सा की ऊर्ध्वशिखा इस पृथिवी से प्रज्ञान और आनन्द के परम धाम में पहुँचती है। मनुष्य की अभीप्सा जिस प्रकार ऊपर की ओर उठती है, उसी प्रकार देवता का आवेश नीचे की ओर उतरता है दोनों में ही व्याप्तिचैतन्य रूपी विष्णु की शक्ति का परिचय है अर्थात जिन्होंने पृथिवी की समस्त भूमि को आवृत कर रखा है,[५] जिनके परम पद में सोम्य मधु का उत्स है[६] जो द्युलोक से पृथिवी के सात धाम पारकरके जिस प्रकार नीचे की ओर उतर आते हैं और फिर उसी प्रकार ऊपर की ओर उठ जाते हैं।[७] अन्यत्र हम देखते हैं अदिति-पुत्र का कथन: 'पृथिवी से पाँच धाप पार कर मैं ऊपर की ओर चला, चतुष्पदी (वाक् का) अनुगमन करता हूँ व्रत मानकर। एक अक्षर से उसी (वाक्) की प्रतिमा गढ़ी है। ऋत की नाभि में जाकर सम्यक् रत या पवित्र किया है (सोम को)।[८] इस मंत्र में सन्धा भाषा में पृथिवी से परा वाणी की शक्ति द्वारा पाँच भूमि पार कर परमव्योम के शुद्ध ऋतम्भर आनन्द-निर्झर में पहुँचने का वर्णन है।

विश्व प्राण की माता, ब्रह्मसंस्पर्श-जनित आनन्द। द्युलोक के साथ नित्यसंगता पृथिवी वही आनन्दमयी। लक्षणीय- द्यावा-पृथिवी की युगनद्धता का बोध कराने के लिए एक वचन 'अस्य' सर्वनाम का प्रयोग। [८] तु. तैब्रा. इयं वै देव्य-दितिर्विश्वरूपी १।७।६।७।

[१६०२] द्र. टी. १२७१[२] [१] ऋ. ५।८४। [२] ऋ. ४।५।७ टी. १२२६[६]; तु. ४।५।८ (टी. १४७५[६]) ३।५।५। रूप ॥रिप, दोनों ही पृथिवी। [३] तु. ६।४८।५, ७।६३।२७ (द्र. टी. १३४८[६])।

[६]

इस प्रकार द्युलोक के साथ नित्य संगता यही मृण्मयी पृथिवी चिन्मयी रूप में अपने तीन, पाँच अथवा सात धाम के उल्लास में विश्वभुवनमय व्याप्त हैं। यहाँ रहने के बावजूद उनका हृदय परम व्योम में रहता है — वहाँ वे हिरण्यवक्षा अदिति हैं [१६०३]। यह परम व्योम वही लोकोत्तर महाशून्यता है जिसके उस पार और कुछ भी नहीं। फिर यही महाशून्यता विश्व का मूलाधार है अर्थात सत और असत् दोनों ही इसी परम व्योम में हैं जो आद्याशक्ति अदिति का उपस्थ अथवा योनि है।[1] संहिता में उसकी एक पारिभाषिक संज्ञा 'उत्तानपद' है — जिसका रेखा चित्र एक ऐसा समकोण त्रिभुज है जिसकी दो भुजा (यहाँ 'पद') उत्तान अथवा ऊर्ध्वमुख हैं एवं शीर्षबिन्दु अधोमुख है, उसी अधस्त्रिकोण से सत अथवा भूतबीज[2] एवं उसके साथ मिथुनीभूत 'भूः' अथवा सम्भूति का प्रवेग उत्पन्न हुआ। दर्शन की भाषा में इनमें एक चिद्बीज और एक उसकी स्फुरत्ता अथवा चेतना का स्पन्दन है। सृष्टि के मूल में परा वाक् गौरी की सावित्री शक्ति की प्रेरणा है, इसलिए यही 'भूः' ब्राह्मणोक्त प्रजापति की 'व्याहृति' अथवा आत्मजनन का मंत्र है।[3] परम व्योम में जो बीजशक्ति के रूप में 'भूः' है यहाँ वही 'आशा' अथवा व्याप्ति धर्म के वैभव में 'पृथिवी' रूप में प्रथित हुई है।[4]

यही भावना एक अन्य ऋक् में इस प्रकार व्यक्त हुई है — 'किसने देखा है पहले जनमे अस्थिमान को — जिसे अस्थिहीना ने धारण कर रखा है (भ्रूण रूप में)? (उस समय) इस भूमि के प्राण, शोणित और आत्मा कहाँ थे? कौन गया विद्वान के पास, यह बात पूछने? [१६०४] — वह अस्थिहीना ब्रह्मयोनि अदिति है, इसके पहले एक मंत्र में जिसे 'उत्तानपद' कहा गया है। उसके ही भीतर समस्त विश्व की भ्रूणसत्ता — फल के गूदे में गुठली की भाँति निहित है। उसके साथ अविनाभूता अथवा अच्छिन्न हृदय या समप्राण होकर यह भूतजननी भूमि स्फुरणोन्मुख अव्याकृत, अव्याख्यात शक्ति के संवेग के साथ अवस्थित हैं। उस समय कहाँ है उनकी देह, कहाँ है प्राण, या फिर कहाँ है आत्मा? उस अप्रकेत या अस्पष्ट अतलता में किसी की भी दृष्टि नहीं जाती, किसी के भी प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता।

---

४ ७|८२|३, १०|१|६। ५ १|१५४|१। ६ १|१५४|५। ७ १|२२|१६। ८ पंच पदानि रुपो अन्व् अरोहं चतुष्पदीम् अन्वे-मि व्रतेन, अक्षरेण प्रति मिम एताम् ऋतस्य नाभा-वधि सं पुनामि १०|१३|३। 'रुपः' पंचमी होने पर 'पंचपद' पृथिवी के अतिरिक्त और पाँच पद या लोक। छः लोक प्रसिद्ध हैं (द्र. टीमू. १२७१३)। और षष्ठी होने पर पृथिवी को लेकर पाँच लोक — शेष लोक 'नाक' (द्र. प्रथम खण्ड वे.मी.) 'अनुरोह' एक के बाद एक के ऊपर की ओर उठते जाना — अन्त तक अर्थात परमव्योम में। 'चतुष्पदी' वाक् (द्र. ऋक् संहिता १|१६४|४५)। और भी तु. यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन् ताम् अन्व-विन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् (१०|७१|३), वहाँ ऋषिगण शौनक संहिता के 'भूतकृतः सप्तऋषयः' जो व्याहृति के उच्चारण में व्यापृत या निरत हैं (१२|१|३९) पुराण में ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं। 'अक्षर' = ओम्; तु. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् १|१६४|३९, यहाँ 'अक्षर' शब्द श्लिष्ट है जो परमव्योम एवं उसके साथ नित्य युक्त एकपदी वाक् अथवा ओंकार का बोधक है। और भी तु. अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः १|१६४|२४। 'ऋतस्य नाभिः' अथवा 'योनिः' … परम व्योम में।

आधिलौकिक दृष्टि से जिस प्रकार बाहर मृत्तिका में चिद्रूपिणी इस भूदेवी की उत्पत्ति और स्थान प्रथम है, उसी प्रकार अध्यात्म दृष्टि से हमारे भीतर भी है। इस एक मंत्र में उसका वर्णन इस प्रकार है— 'हाथ नहीं, पाँव नहीं, तब भी जब बढ़ती गई क्षिति विद्या की शक्ति से (तब हे इन्द्र) शुष्ण को (तुम) दक्षिणावर्त घेर कर विश्वायु के लिए विद्ध करते हो।' [१६०५] — आधार में जिस मृण्मयी-चिन्मयी शक्ति का निवास है, वह मूल में कुण्डलित है। द्युलोक से प्राण का निरन्तर निर्झरण अब तक उसके भीतर नहीं हुआ है इसलिए वह बन्ध्या है, किन्तु यही उसकी नियति नहीं है। प्रशान की शक्ति उसके भीतर अन्तर्गूढ़ है, प्रच्छन्न है, मृत (मिट्टी) के साथ चित् (चेतना) ओतप्रोत है। वही कुण्डलमोचन करके उसे चारों ओर प्रसारित करेगी, 'क्षिति' को 'पृथिवी' करेगी। उस समय द्युलोक से इन्द्र का रुद्र दाक्षिण्य या आनुकूल्य नीचे उतरेगा, अनावृष्टि के कार्पण्य के मर्म पर वज्र-प्रहार करेगा, परिणाम स्वरूप शिव-बिन्दु को घेर दक्षिणावर्त होकर शक्ति की कम्बु-रेखा प्रसारित होगी और आधार में बन्दी प्राण विश्व-प्राण की विपुलता में विस्फारित होगा।

द्युलोक के साथ नित्यसंगता यही पृथिवी हम सब के जीवन के आदि और अन्त से जुड़ी हुई है। हमारा जन्म, हमारी साधना एवं मृत्यु

[१६०३] तु. शौ. यस्या हृदयं परमे व्योमन्त् सत्येनावृतम् अमृतं पृथिव्याः १२।१।८, हिरण्यवक्षाः ६, अदितिः ६१। १द्र. टीमू. ११६३। २द्र. छा. ६।३।१। ३तु. तैब्रा. स भूर इति व्याहरत, स भूमिम् असृजत अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यजूंषि (अर्थात् यज्ञ वा उत्सर्ग भावनों का सहभावी) २।२।४।२; श. भूर इति वै प्रजापतिः आत्मानम् अजनयत २।१।४।१२। ४द्र. ऋ. देवानां युगे प्रथमे असतः सद् अजायत, तद् आशा अन्वजायन्त, तद् उत्तानपदस् परि। 'भूर जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त' — देवताओं के प्रथम युग में (अर्थात सृष्टि के प्रारम्भिक क्षणों में जब केवल तत्स्वरूप के अनेक होने की ईक्षा है) असत् से सत् उत्पन्न हुआ, उसके बाद आशाओं की उत्पत्ति हुई। वही सत् (उत्पन्न हुआ) उत्तानपद से। भूः उत्पन्न हुई उत्तानपद से आशाएं उत्पन्न हुई १०।७२।३, ४। यहाँ सृष्टि का क्रम है— असत् अथवा उत्तानपद (अव्यक्त, ब्रह्मयोनि) > सत् ॥ भूः (अस्तित्व ॥ होना, being ॥ becoming) > आशा (> अश 'व्याप्त होना' आकाश की प्रत्येक दिशा में विस्फुरण, द्वितराव)। यहाँ तु. भागवत के 'उत्तानपाद' जिनका एक पुत्र 'सुनीति' से उत्पन्न 'ध्रुव' और एक पुत्र 'सुरुचि' से उत्पन्न 'उत्तम'।

[१६०४] ऋ. को ददर्श प्रथमं जायमानम् अस्थन्वन्तं यद् अनस्था बिभर्ति, भूम्या असुर असृग् आत्मा क्व स्वित् को विद्वांसम् उपगात् प्रष्टुम् एतत् १।१६४।४। 'असृक्' अथवा रक्त, 'असु' अथवा प्राण एवं 'आत्मा' क्रमशः जड़ प्राण एवं चैतन्य का बोधक।

[१६०५] ऋ. अहस्ता यद् अपदी वर्धत क्षाः शचीभिर् वेद्यानाम्, शुष्णं परि प्रदक्षिणिद् विश्वायवे नि शिश्नथः १०।२२।१४। पृथिवी 'अपदी' 'अहस्ता', जिस प्रकार अग्नि 'अपादशीर्षा', 'गुहमानो अन्ता' ४।१।११ (टी. १३०७), अथवा वृत्र 'अपादहस्तः' सर्वत्र भ्रूणदशा का बोधक है। वेद्या > विद्या 'प्रज्ञा' (१।१[illegible]।१, ३।५६।१, ६।७।१, १०।७१।८ वहाँ 'विद्या' भी है ११ द्र. टी. १२०८)। प्रदक्षिणित् 'प्रदक्षिणक्रम से' तु. टी. १३२८। रहस्यिक तात्पर्य: शक्ति का उन्मेष दक्षिणावर्त क्रम से, तब शक्ति शिव को गले लगाए होती है; और निमेष वामावर्त से, उस समय शिव शक्ति को गले लगाए होते हैं। 'क्षाः' < √ क्षि 'वास करना'। सायण के विचार से 'विश्वायु' औरस।

संभवत: इसी आदियुग्म के हृदय के तरंगायन की तरह है। ऋषि मेधातिथि काण्व की एक प्रार्थना में इसी का सुष्ठु और प्रांजल प्रस्फुटन हुआ है,— 'महान द्यौ: और पृथिवी हमारी इस यज्ञ साधना को निर्भरसिक्त करें, रससिक्त करें, हमें आपूरित करें अपने आवेश से। उनकी ही ज्योतिर्मयी आप्यायनी धारा का मेधावी आस्वादन करते हैं ध्यान चित्त द्वारा— (जो प्रवहमान हैं) गन्धर्व के ध्रुव पद में। सुतर्पणा हो ओ, हे पृथिवी कण्टकहीना — सब को आश्रय और विश्राम देने वाली। दो हमें शरण अपने उसी वैपुल्य में।' [१६०६] सिर के ऊपर द्युलोक का और पाँव के नीचे पृथिवी का महावैपुल्य — दोनों ही ज्योति और रस के निर्भर हैं। हमारे उत्सर्ग की साधना को दिन पर दिन वे अपने आवेश से अभिषिक्त एवं आपूरित करें। परमव्योम में देव गन्धर्व विश्वावसु के जिस सौम्य मधु का उत्स है[1], उसके रसास्वादन में रहस्यविद् विभोर हो जाते हैं। वह रस उस द्युलोक और इस पृथिवी का ज्योति:क्षर अथवा आलोकवर्षी आनन्द है। एक दिन जब रात का अँधेरा घनीभूत हो जाएगा[2] तब यह पृथिवी ही हम सब के लिए माँ की सुकोमल गोद बिछा देगी और द्युलोक की व्याप्तिशील चेतना को चारों ओर प्रसारित करके हमें अपनी महाशरण में आश्रय देगी।[2]

जिस प्रकार द्यावा-पृथिवी की परिधि के भीतर विश्वदेवगण की मण्डली है [१६०७], उसी प्रकार मनुष्य का दिव्य जीवन इस मर्त्यभूमि पर ही है। वह जीवन ऋतछन्दोमय है और सौम्य मधु के अनुभव की भूमिका में सुस्वादु है। उसकी प्रशंसा हम ऋषि गौतम राहूगण के कंठ से सुनते हैं: 'मधु रूप में हवाएँ बहती चलती रहें ऋतकाम के निकट, मधु क्षरण करती रहें नदियाँ। मधुमती हों हम सब के निकट ओषधियाँ। हमारी रात और प्रत्यूष मधुर हों, मधुमय हो पार्थिव लोक। मधुमय हो द्युलोक जो हम सब का पिता है। मधुमान हो हमारे निकट वनस्पति मधुमान हो सूर्य। मधुमती हों धेनुएँ हम सब के निकट।'[1] यहाँ इस

[१६०६] मही द्यौ: पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्, पिपृतां नो भरीमभि:। तयोर् इद् घृतवत् पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभि:, गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे। स्योना पृथिवी भवा नृक्षरा निवेशनी, यच्छा न: शर्म सप्रथ: १।२२।१३-१५। 'मिमिक्षताम्' <√ मिह् 'वर्षण करना' तु० मेघ, मेह, मेढ्र। भरीम < भृ 'पोषण करना, परिपूर्ण करना' तु० ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही ··· उभे बिभृत उभयं भरीमभि: १०।६४।१४। 'भर' आवेश। [1] 'गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे' तु० तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:, दिवीव चक्षुर् आततम् १।२२।२०। 'गन्धर्व' तु० 'दिव्यो गन्धर्व: सविता १०।१३९।५(६)। [2] ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीम् १।३५।१ (टी० १२८५, १५३६)। अन्त का मंत्र शौनक संहिता के पितृमेध काण्ड में इस रूप में है: स्योना स्मै भव पृथिव्य् अनृक्षरा निवेशनी, यच्छा स्मै शर्म सप्रथा: १८।२।१९। अतएव यह मृत्युकालीन अथवा मृत्युत्तर प्रार्थना हो सकती है। मिट्टी में दफ़नाने, गाड़ने का संकेत प्राप्त होता है। शवदेह को अथवा शवदाह के बाद अस्थि-संचय को गाड़ दिया जाता। आर्य समुदाय या समाज में दोनों प्रथाएँ ही प्रचलित थीं। इस प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य की यह उक्ति प्रणिधेय है — आर्तभाग ने उनसे प्रश्न किया था कि पुरुष की मृत्यु के बाद उसके प्राण की 'उत्क्रान्ति' होती है कि नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा, 'नहीं; यहाँ ही वह विलीन हो जाता है—

पृथिवी पर खड़े होकर आकाश-वायु-सूर्य, जल-थल, और स्थावर-जंगम में, अहोरात्र के आवर्तन में एक आनन्द के हिल्लोल का अनुभव करना ही तो दिव्यजीवन का सर्वोत्कृष्ट उपभोग है, पार्थिव जीवन का दिव्य रूपान्तर है।

यही पृथिवी का सामान्य परिचय है। अब दोनों स्वतंत्र पृथिवी सूक्तों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।

ऋक्संहिता का यह एकमात्र पृथिवी सूक्त पंचम मण्डल में है। यह तीन ऋचाओं का एक लघु सूक्त है जिसके द्रष्टा ऋषि भौम अत्रि हैं। इस मण्डल का चतुर्थांश उनकी अपनी रचना है, शेष उनके ही वंश के अन्यान्य ऋषियों की रचनाएँ हैं। क्रम के अनुसार अग्नि-सूक्त द्वारा इस मण्डल का आरम्भ होने पर भी वह अत्रि की अपनी रचना नहीं है — यहाँ तक कि अग्नि से सम्बन्धित उनका कोई सूक्त ही नहीं है, यह ध्यातव्य है। उनके अधिकांश सूक्त मण्डल के अन्त में संकलित हैं जहाँ साधारणतः प्रकीर्ण देवताओं की प्रशस्ति रहती है। किन्तु अत्रि एक प्राचीन ऋषि हैं ऋक्संहिता के अनेक स्थलों पर उनका उल्लेख है। वे 'भौम' अथवा भूमि के पुत्र हैं, उनका यह परिचय रहस्यपूर्ण है। एक स्थान पर वे 'सप्तवध्रि' [१६०८] अथवा सात 'वध्' अथवा शीर्षण्य प्राण की स्तिमिति[1] हैं, अक्षमता है, अर्थात वे 'नचिकेता' की तरह परम रहस्य के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते। एकदम मिट्टी के साथ मिट्टी होकर हैं किन्तु उनके ही भीतर अग्नि की प्रेषणा जागती है और गोत्रभिद् इन्द्र का वज्र जिससे आधार के अचल पाषाण की प्राचीर को भेदकर वे परम ज्योति की ओर ऊपर उठ जाते हैं[2], उनके कण्ठ से ध्वनित होती है मर्त्य की अमृत-एषणा की वह परमा ऋक्-: 'उरौ देवा अनिबाधे स्याम' — हे, देवगण हम सब उसी वैपुल्य में सुख के साथ रह सकें जिसके भीतर चलने-फिरने की बाधा न हो[3], विघ्न न हो। उनकी

(समवनीयन्ते) ३।२।११। शव को समाहित करना (दफ़नाना) समवयन के अनुकूल और दाह करना उत्क्रान्ति के अनुकूल है। दोनों प्रथाओं को मिलाकर हम दाह के बाद अस्थि-संचय को ज़मीन में गाड़ देने की प्रथा पाते हैं — जिस प्रकार बौद्ध अर्हतों के समय। साधुओं में अभी तक गाड़ने, जलाने और प्रवाहित कर देने की तीनों प्रथाएँ ही प्रचलित हैं।

[१६०७] द्र. टीमू. १२८२[1]। [1]ऋ. मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर् नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तम् उतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः, मधु द्यौर् अस्तु नः पिता। मधुमान् नो वनस्पतिर् मधुमाँ अस्तु सूर्यः, माध्वीर् गावो भवन्तु नः १।९०।६-८। वात (वायु) सिन्धु (नदी) जिस प्रकार बाहर है, उसी प्रकार भीतर भी है। वैदिक भावना में आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दृष्टि सहचरित। उसका पर्यवसान सर्वात्म भाव में होता है (तु. ई.७, छा. ६।८।७ ...)।

[१६०८] द्र. ऋ. १०।३९।९। [1]मुख, नासारन्ध्र, दो आँख, दो कान अर्थात सिर के इन कई छिद्रों से प्राणाग्नि की सात शिखाएँ निकल रही हैं, वे ही शीर्षण्य प्राण हैं (तै.सं. ५।१।७।१ ...) इनके साथ मन को जोड़ देने पर ब्रह्म के पाँच द्वारपाल पाते हैं (छा. ३।१३।६) अथवा 'ब्रह्मगिरि' (ऐ.आ. २।१।८) इनके 'वध्' अथवा

इस भोगवती की अन्धधारा के पार विपुल होकर ऊर्ध्वस्रोता होना है, साँप की तरह जीर्ण केंचुल छोड़कर उसका अदृश्य होना है।[4] कपर्दी अर्थात जटाधार ज्योतिर्मय पूषा को लक्ष्य करके यह शुचि ज्योतिष्मत सोम्य मधु का अभियान है. जिनका आवेश हम सब के भीतर प्रत्येक कला अथवा कोशाणओं में कुमारी कन्या को प्रस्फुटित करेगा।[5] अत्रि के इन मंत्रों में शान्त भावना का संकेत प्राप्त होता है।[6]

एक ही पृथिवी तीन लोक में — यहाँ मृण्मयी, अन्तरिक्ष में प्राणमयी और द्युलोक में चिन्मयी है किन्तु देह, प्राण और मन जिस प्रकार हम सब में ओत-प्रोत है - उसी प्रकार तीनो लोक में पृथिवी भी है — वे सर्वत्र देवी हैं, वे अदिति हैं अर्थात अखण्डिता, अबन्धना आनन्त्य चेतना है [१६०८]। इसी भावना को हृदय में रखकर भौम अत्रि ने माँ के तीनों रूपों की ही प्रशस्ति इन तीन ऋचाओं में विन्यस्त की है। किन्तु ठीक पर्जन्य सूक्त के पश्चात ही इस सूक्त का स्थान होने के कारण लगता है, यह द्युलोक के सुधा-वर्षण से सिक्त पृथिवी का वर्णन है। जब अत्रि की भाषा में 'प्रतीदं विश्वं मोदते यत किं च पृथिव्याम अधि' अर्थात चारों ओर यह सब ही आनन्दमय है, जो कुछ इस पृथिवी में है।[1] तब यह पृथिवी की कल्याणी सर्वमंगला मातृमूर्ति है जिनको हम पुराण में गज-लक्ष्मी कमला के रूप में पाते हैं।

अक्षमता के साथ तु॰ सांख्य का एकादश 'इन्द्रियवध'। सप्तवध्रि यह नाम आत्रेय का भी है (ऋ॰ ५।७८।५, द्र॰ टी॰ १५८५[4])।[2] इन्द्राग्नी यम् अवथ उभा वाजेषु (ओजस्विता की जहाँ परख होती है) मर्त्यम् दृल्हा चित् स प्र भेदति द्युम्ना ५।८६।१।[3] उरौ देवा अनिबाधे स्याम ५।४२।१७, ४३।१६ (द्र॰ टीम॰ ११७४)। यह एक एकपदी ऋक् है उपनिषद के महावाक्य की तरह। इसके साथ तु॰ उरौ महाँ अनिबाधे ववर्ध (अग्नि) ३।१।११। ५।४२।१७ के पहले ही है, 'देवो देव: सुहवो (बुलाने पर ही जो उत्तर देते हैं) भूतु मह्यं मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात।' यहां पृथिवी को 'माता' कहना लक्षणीय।[4] तु॰ विपश्चिते (जो हृदय की धड़कन की खबर रखते हैं) पवमानाय गायत, मही न धारा अत्य् अन्धो अर्षति, अहिर् न जूर्णाम् अति सर्पति त्वचम् अत्यो (अश्व) क्रीलन् असरद् वृषा हरि: (वहन करते जा रहे हैं वीर्यवर्षी ज्योतिर्मय देवता) ९।८६।४४।[5] तु॰ अविता (रक्षा करें) नो अजाश्व: (अजवाहन, छागवाहन) पूषा यामनियामनि (यात्रा के पड़ाव-पड़ाव पर), आ भक्षत् (आविष्ट हो) कन्यासु न: (जिससे हमें कन्याएँ प्राप्त हों)। अयं सोम: कपर्दिने घृतं (ज्योतिर्मय) न पवते मधु, आ भक्षत ...। अयं त आघृणे (हे ज्योतिर्मय, 'घृणि' <√ घृ 'दीप्त होना, दिपना, वहन करना, प्रवाहित होना' ज्योति की धारा की ध्वनि है) सुतो (निचोड़ा हुआ सोम) घृतं न पवते शुचि, आ भक्षत् ... ९।६७।१०-१२। अज (छाग, बकरा) पहाड़ पर उठते हुए अति दुर्गम स्थान तक चढ़ जा सकता है, कहीं भी उसके पैर फिसलते नहीं इसी लिए वह पूषा का वाहन है जो लोक से परे, दुर्गम पथ पर हम सब के दिग्दर्शक हैं। इस पथ के मोड़ हुए 'याम'। ऋक् संहिता में पूषा को एक अन्य स्थल पर कपर्दी कहा गया है (६।५५।२), एवं एक सूक्त में रुद्र को दो बार (१।११४।१, ५)। पूषा का जटाजूट आलोकपुंज का, और रुद्र का जटाजाल मेघों का है। पुराण में रुद्र ही कपर्दी हैं। 'कन्या', अथवा कुमारी कन्या किशोरावस्था तक सोमगृहीता - (१०।८५।४०, ४१)। उसी से तंत्र में सोमकला उसका उपमान है। कला-कला में उसके उपचय के बोध के लिए यहाँ बहुवचन। सरस्वती भी 'कन्याच्चित्रायु:' ६।४९।७।)। जान पड़ता है, इस विशेषण में इसी ज्योति के उपचय की ध्वनि है।[6] पृथिवी आदि जननी आदिति का ही एक रूप है। शौ॰ स॰ में अथर्वा कहते हैं- 'माता भूमि:, पुत्रो अहं पृथिव्या: (१२।१।१२)। अत्रि भी विशेष रूप से 'भौम'। विशेष द्र॰ आगे चलकर 'अत्रि' (तु॰ टी॰ १४४३)। [१६०८] अदिति 'अदीना' (अनुपक्षीणा - दुर्ग) देवमाता (नि॰ ४।२२), <√ दा खण्ड-खण्ड करना, बाँधना)। वे ही सब कुछ (ऋ॰ १।८९।१०) वि॰ द्र॰ आगे चलकर।[1] ऋ॰ ५।८३।९। तु॰ पर्जन्य — वाता वृषभा पृथिव्या: ६।४९।६।

उसी से यहाँ इस सूक्त की पृष्ठभूमि में वर्षणोच्छल अन्तरिक्ष है। यास्क ने भी निघन्टु की अन्तरिक्ष स्थानीय पृथिवी के वर्णन के रूप में इसे ग्रहण किया है।[2] वर्षा की पृथिवी के रूप में मूलत: जो अन्तरिक्षस्थाना है, उसमें ही उसका चिन्मय, प्राणमय और मृण्मय रूप खिलता-खुलता है। यास्क द्वारा उदाहृत इस मंत्र में अन्तरिक्षस्थाना पृथिवी ही पुन: चिन्मयी है।

प्रथम ऋक् में पृथिवी के दिव्य रूप का वर्णन है। ऐसा लगता है कि परदे की ओट से ऋषि की आँखों के सामने एक महिममयी अपरूपा अथवा अद्भुत सुरूपा का आविर्भाव हुआ है; 'सचमुच यह तो वही है। हे पृथिवी, तुम वहन करती हो पर्वतों की आच्छिन्नता। ओ, निर्झरवती तुम भूमि को अपनी महिमा से करती हो स्फुरित, स्पन्दित हे महिममयी।' [१६१०] पर्वतों के तरंगायन में विपुला पृथिवी की अभ्रभेदी उत्तुंगता उनकी दिव्य महिमा को हमारी आँखों के सामने उजागर करती है। आदित्य जब उत्तरायण के चरम विन्दु पर होते हैं और जब द्युलोक में ज्योति का महाप्लावन होता है तब पृथिवी के शिखर-शिखर पर मेघमालाओं का शैल-समारोह शुरू होता है। प्रथम वर्षण की अविराम बौछारों और फुहारों से लगता है द्युलोक की ज्योति ने ही पार्वती के अंग-अंग में अनगिन निर्झरों की मुक्त धाराओं द्वारा चिन्मय प्राण उँड़ेल दिया है। उसकी छुअन से यहाँ इस मृण्मयी भूमि के अणु-अणु में श्यामल प्राण पुलकित हो उठा। भूलोक की उच्छ्रित, उदात्त आकांक्षा में द्युलोक की ज्योति की महिमा निषिक्त हुई। द्यावा पृथिवी तब एकाकार हो गए, पृथिवी दिव्य आवेश में कमला हो गई।

द्वितीय ऋक् में हम इस चिन्मयी को ही अन्तरिक्षचारिणी प्राणमयी के रूप में देखते हैं। उनके वर्णन में द्युलोक की प्रशान्त महिमा की जगह वज्र और विद्युत की उपस्थिति से क्षुब्ध अन्तरिक्ष का चित्र उभर रहा है। ऋषि कहते हैं; 'स्तोम अर्थात् स्तुतिगान तुम्हें हे विचरणशीला, प्रतिध्वनित करते हैं कौंध-कौंध कर — जब द्रुत गति से धावित ओजस्वी अश्व की तरह सर्वव्याप्त (विद्युत को) सरपट दौड़ाती हो, हे रजत शुभ्रा।' [१६११] बिजली की कड़क

2 नि. ११।३६-३७।

[१६१०] ऋ. बल्... इत्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि, प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि ५।८४।१। [1]'पर्वत' मेघ (निघ. १।१०)। 'खिद्र' खरोंचना, कटे-फटे टुकड़े। [2]'भूमि' — आँखों के सामने 'हो रही है' के कारण; और 'पृथिवी' स्वरूपत: विपुला होने के कारण।

[१६११] ऋ. स्तोमासस्त्वा विचारिणि प्रति ष्टोभन्त्यक्तुभिः, प्र या वाजं न हेषन्तं पेरुम् अस्यस्यर्जुनि ५।८४।२। वज्र और विद्युत के चित्र लिए द्र. ५।८३।१, २, ३, ४, ७। अक्तु < √ अञ्ज् 'प्रकाशित होना; काजल आँजना' दो विपरीत अर्थ का ही बोध हो सकता है। यहाँ बिजली की कौंध। हेषन्तम् < √ हि 'दौड़ाना, तेजी से दौड़ना' (स); तु. हेषस १०।८९।१२, हेषस्वत् ६।३।२। पेरु < √ पी 'स्फीत होना, फूल उठना,' अथवा पृ 'पूर्ण करना — अपांनपात का विशेषण ७।३५।१३, जो वैद्युत अग्नि है। फिर सोम भी 'पेरु' १०।३६।८। [1] माध्यमिका वाक् अन्तरिक्ष में मेघों

से अन्तरिक्ष मन्द्रित, ध्वनित हो रहा है। यह तो उस माध्यमिका वाक् के ब्रह्मघोष[1] में पृथिवी का ही वन्दनागान मुखरित है। यह पृथिवी तो शान्त नहीं, बल्कि यह तो आँधी-तूफ़ान की उपस्थिति से क्षुब्ध है, व्याकुल है। वज्रनाद से कम्पमान है, वर्षण से भरपूर आन्दोलित है और बिजली कौंधने पर क्षणभर में उजली फिर काली दिखती है।[2] अर्थात वह कभी उज्ज्वला, कभी श्यामला हैं। उनके वक्षस्थल पर जब बिजली चमकती है तब सब कुछ जगमग हो उठता है। लगता है, अधृष्य अजेय प्राण का उच्छ्वास उनके हृदय से निकलकर दीप्त प्रच्छटा से सन्नाटे को मुखरित करते हुए सब के ऊपर अश्वगति से कूद रहा है। अथवा गगन-स्पर्शी उत्तुंगता पर उनकी तुषारशुभ्रता निःशब्द संचार प्राण की गंगोत्री है, तेज़ धार में निरन्तर निर्झरित प्राणोल्लास की महाश्वेता धात्री है।[3] उस समय पर्वत की जटाओं या शृंखलाओं में शिला-बाधित धीमी गति से प्रवाहित स्रोतस्विनी की कलकल ध्वनि में उनकी ही प्रशस्ति मुखर हो उठती है।

उसके पश्चात् जो द्युलोक में चिन्मयी हैं, वे ही अन्तरिक्ष में प्राणोच्छला हैं। उनको ही हम यहाँ सर्वंसहा मृण्मयी रूप में देखते हैं। उस समय उनकी शक्ति का प्रकटन सहिष्णुता में तथा द्युलोक और अन्तरिक्ष की ऋद्धि के केन्द्राभिमुखी संकर्षण में होता है। अत्रि की भाषा में :— 'तुम अटल, अचल रहकर वनस्पतियों को धारण किए रहती हो, क्षमा और ओज द्वारा — जब तुम्हारे अन्तरिक्ष के बादल बिजली और द्युलोक की बरसातें झर-झर उतरती हैं' [१६१२]-जीवधात्री यह भूमि 'जिसकी गोद में हम जन्मे-पले, खाए-पिए, खेले-खुले, जिसके अन्न-जल से पनपे-जिए'—वही हम सब की माँ है। यहाँ इसी समभूमि पर पर्वत-शिखरों में उन्नत उनकी महिमा वनस्पतियों में सन्नत अथवा विनत हुई है जो हम सब की द्युलोकाभिसारी अभीप्सा की अग्निशिखा के प्रतीक हैं। उनके जैसे ही हम मातृरूपा इस पृथिवी को कसकर जकड़े-पकड़े यहाँ पड़े हैं। जिस प्रकार वनस्पति द्युलोक की ज्योति के प्लावन से पुलकित, रोमांचित होते हैं, उसी प्रकार अन्तरिक्ष के आँधी-तूफ़ान के प्रहार से पर्युदस्त, पराजित होते हैं। उस समय तुम स्थिर रहकर उन्हें इस संकट से उबारती हो और बलपूर्वक सब को सीने से कस कर लगा लेती हो। तब सहिष्णुता में ही तुम्हारी ओजस्विता का परिचय मिलता है। किन्तु तुम्हारा यह स्थैर्य, विश्वरूप की पीठिका, प्राण और चेतना के उन्मेष का दृढ़ आधार है।[1] इसलिए तुम्हारे वक्षस्थल को

का गर्जन नि. ११।२८, १०।४५। तु. बृ. तद् एतद् एवैषा दैवी वाक् अनुवदति स्तनयित्नुर् द द द इति ५।२।३। [2] इसलिए 'विचारिणी'। अनन्य प्रयोग। तु. उषा और नक्ता 'विरूपे ... विचरन्ती' ऋ. ६।४९।३। [3] जैसे अन्तरिक्ष में उच्छ्रिता हैमवती का रूप। पृथिवी के इस रूप के साथ ऋक्संहिता के ऋषियों का परिचय कितना घनिष्ठ था वह तो 'इमे हिमवन्तो महित्वा' के रूप में उसकी प्रत्यक्षगोचरता के उल्लेख से ही समझ में आ जाता है १०।१२१।४; तु. शौ. १२।१।११।
[१६१२] ऋ. दृळ्हा चिद् या वनस्पतीन् क्ष्मया दर्धर्ष्य् ओजसा, यत् ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः ५।८४।३। [1] 'वनस्पति' में शतशिखा प्रसारी अग्नि की ध्वनि है—

फोड़कर अजर प्राण का वनस्पति उगता, पनपता है और तुम्हारी मेघमालाओं में तुम्हारा ही अन्तर्गूढ़ रस संचित है। वही अन्तरिक्ष की बिजली और द्युलोक के आलोक में पुनः धारासार अथवा मूसलधार वृष्टि के रूप में तुम्हारे हृदय में लौट आता है।

अत्रि की दृष्टि में पृथिवी मां त्रिभुवन की स्वामिनी हैं, तीनों लोक में विचरण करने वाली त्रिभुवनेश्वरी हैं अर्थात द्युलोक में वे 'महिनी', अन्तरिक्ष में 'विचारिणी' और यहाँ दृढ़ा हैं। वर्षा में उनका रूप-कल्याणतम है, उस समय वे पर्जन्य के धारासार से अभिषिक्ता कमला हैं — जिनके अभिषेक में ज्योति और प्राण का परम निर्झरण हम सब के ऊपर होता है। उनकी प्रशस्ति के उपक्रम में पर्जन्य की एवं उपसंहार में वरुण की प्रशस्ति है, यह भी ध्यातव्य है। अत्रि के सूक्त को पृथिवी भावना के बीज के रूप में माना जा सकता है। शौनक संहिता में अथर्वा का यह सुदीर्घ पृथिवी सूक्त उसका ही प्रपंचन है। इस अनुपम सूक्त की एक संक्षिप्त विवृति यहाँ दी जा रही है:

ऋषि कहते हैं:

'बृहत् सत्य और ओजस्वी ऋत, दीक्षा और यज्ञ, तपस्या और बृहत् की भावना — यही सब पृथिवी को धारण किए हैं। हम सब का जो हुआ एवं जो होगा, उसकी वे ईश्वरी हैं, स्वामिनी हैं। विशाल लोक की रचना करें पृथिवी हम सब के लिए [१६१२]।

'जिसमें है समुद्र एवं सिन्धु (नदी), है जल का धारासार, जिससे अन्न और कर्षक (कृषक) हुए हैं सम्भूत; यह जो क्रुद्ध है वह जिनके ऊपर थरथराने लगता है, साँस लेता है, हिलने-डुलने लगता है वही भूमि हम सब को प्रथमपान का अधिकार प्रदान करें [१६१४]।

जिस प्रकार 'वृष्टि' में सोम की ध्वनि है। आध्यात्मिक दृष्टि से, अभीप्सा की आग ऊपर की ओर उठती जा रही है और प्रसाद की अमृत धारा निर्झरित हो रही है (द्र॰ ११८३ सूक्त)। **क्ष्मा** < क्षमा < √ क्षम 'निवृत्त होना, क्षान्त होना' — पृथिवी की क्षान्ति, तितिक्षा, सहिष्णुता (शौ॰ १२।१।४८) एवं प्रतिष्ठा की ओर इशारा करता है। 'क्ष्मा' मृण्मयी है, 'भूमि' प्राणमयी है और 'पृथिवी' चिन्मयी है। 'दिवः' षष्ठी विभक्ति। 'अभ्र' पृथिवी के आस-पास और विद्युत अन्तरिक्ष में। अमृत धारा तीनों लोक से ही झर रही है। २ दृढ़ा पृथिवी से उच्छ्रित वनस्पति, उसकी शाखा-प्रशाखा में झंझावात का उल्लसन, मतवालापन, उसके बाद ऊर्ध्वलोक से धारा-वर्षण — इस छवि की अध्यात्मव्यंजना सुस्पष्ट है।

[१६१२] शौ॰ सत्यं बृहद् ऋतम् उग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति, सा नो भूतस्य, भव्यस्य पत्नि उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु १२।१२।१ पार्थिव जीवन की सार्थकता की सूचना ब्रह्मचर्य, तपस्या एवं यज्ञदीक्षा में, और उसका पर्यवसान ऋत और सत्य की उपलब्धि में है। हम जो हुए हैं एवं जो होंगे, उसकी नियामिका यह पृथिवी ही है इसके सहारे ही हम परमव्योम के अनिबाध निर्विघ्न वैपुल्य में प्रतिष्ठित होंगे। 'सत्य', ब्रह्म, और 'ऋत', उनकी शक्ति है — जिसमें है 'उग्रता' (वज < √ दुर्धर्ष होना) अथवा अनृत को पराभूत करने का वज्रवीर्य। 'यज्ञ' और 'तपः' अलग-अलग रूप में साधना में क्रमशः ऋषिधारा और मुनिधारा के सूचक हैं, हालांकि वैदिक भावना में दोनों में कोई विरोध नहीं है। गीता में भी भगवान को देखते हैं 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' (५।२९) 'भूतस्य भव्यस्य पत्नी', तु॰ ऋ॰ २।१।१२, १३। 'उरुलोक' द्र॰ टी॰ ११७६।... पृथिवी के

'जहाँ पूर्वतन पूर्वपुरुषों ने बहुत कुछ सिरजा, सहेजा, सँवारा है, जहाँ देवताओं ने असुरों का संहार किया, उन्हें पराजित किया और जो गो अश्व और पक्षियों का विचित्र आश्रय हैं, वही पृथिवी हम सब के भीतर आवेश और तेज निहित करें [१६१५]।

'जो विश्वम्भरा हैं, ज्योति का आधार हैं (सब की) प्रतिष्ठा हैं, हिरण्य-वक्षा हैं, जगत निवेशनी हैं, नीड़ हैं; जगत को गहरे उतार देती हैं (अव्यक्त में); किन्तु वैश्वानर को धारण किए हुए हैं जो भूमि, इन्द्र उनके वृषभ हैं, वे हम सब का स्थापन करें अग्निस्रोत में [१६१६]

'जो आरम्भ में लहराते समुद्र में सलिल रूप में थीं, प्रज्ञा के कौशल से जिनका अनुगमन किया मनीषियों ने, जिस पृथिवी का अमृत हृदय परम व्योम में है, जो सत्य के द्वारा आवृत हैं, वही भूमि हमें प्रतिष्ठित करें वीर्य की उज्ज्वलता में, दीप्ति में, बल एवं अनुत्तम (सर्वोत्तम) राष्ट्र में [१६१७]।

इस चिन्मय रूप के सन्निकट ही उन्हें बन्धुरगात्री मृण्मयी श्यामा धरती के रूप में चित्रित किया गया है (२) उसके बाद ही

[१६१४] शौ. यस्यां समुद्र उत सिन्धुर आपो यस्याम् अन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः, यस्याम् इदं जिन्वति प्राणद् एजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु १२।१।३। समुद्रवसना पृथिवी जिसके वक्षस्थल पर शोभित है नदियों का हार। उसी पृथिवी का मनुष्य कर्षण करता है अन्न के लिए। द्युलोक से उनके ऊपर मूसलधार वर्षण में प्राण झरता है और उसी से चारों ओर नवजीवन का उच्छ्वास, उल्लास स्पन्दित हो उठता है। इसी प्राण को जीत कर, वश में करके प्रथम अमृत का अधिकार पृथिवी ही हम सब को प्रदान करेंगी।— 'आपः' = 'देवीर् आपः', द्युलोक से निर्झरित चिन्मय प्राण की धारा जिसने नदी और समुद्र को पूर्ण किया है। कर्षण के फलस्वरूप पृथिवी का जड़त्व 'अन्न' में रूपान्तरित होता है जो प्राण और चेतना का पोषक है (द्र. छा. ६।५)। आध्यात्मिक दृष्टि से 'कृष्टि' या कर्षक ही प्रवर्त साधक अथवा श्रीगणेश करने वाला साधक। 'एजत्' सामान्य स्पन्द का सूचक (तु. क. २।३।२)। 'पूर्वपेय' अथवा सोम का प्रथम पान विशेष रूप से वायु का (ऋ. १।१३५।४, ७।९२।१)। जड़ का रूपान्तरण प्राण में। किन्तु वह प्राण चंचल है उसको वश में नहीं करने से अमृत आनन्द का आस्वादन नहीं प्राप्त किया जा सकता (तु. श्वे. अग्निर यत्राभिमथ्यते वायुर यत्राधि रुध्यते, सोमो यत्रातिरिच्यते २।६)।... इस भावना की ही अनुवृत्ति उसके अगले मंत्र में है— चारों ओर अन्नपूर्णा के प्राण का उल्लास, जो अन्नमय सत्ता के गहरे हमें चिन्मय सत्ता में प्रतिष्ठित करता है ('गोष्व् अश्व्ये अन्ने दधातु') ४। उसके बाद.

[१६१५] शौ. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरान् अभ्य अवर्तयन्, गवाम् अश्वानां वयसश् च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु १२।१।५। युग युग से मनुष्य के प्राण की तपस्या इस पृथिवी पर जारी है और उसी से असुरशक्ति को पराजित करके देवशक्ति विजयी होती है। इस पृथिवी में ही मनुष्य अँधेरे की गहनता में ज्योति का अन्वेषण करता है, दुर्धर्ष ओजःशक्ति से उसे प्राप्त करके आकाश में पंख पसारता है। उसकी सिद्धि के मूल में चिन्मयी पृथिवी का ही आवेश और शक्तिपात है।— 'विचक्रिरे'— वि.कृति यहाँ विशिष्ट कृति, अव्याकृत की व्याकृति (तु. क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ४३)— जिस प्रकार जड़ से अन्न की, अन्न से प्राण इत्यादि की उत्पत्ति। तैत्तिरीय उपनिषद् की द्वितीय एवं तृतीय वल्ली में उसका प्रपंचन है। 'विष्ठा' तु. ऋ. यावद् ब्रह्म विष्ठितम् १०।११४।८।

[१६१६] शौ. विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी, वैश्वानरं बिभ्रती भूमिर् अग्निम् इन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु १२।१।६। सब की प्रतिष्ठा, अवस्थान, धात्री एवं प्रलय हैं वे— मृण्मयी होकर भी हिरण्यवक्षा चिन्मयी हैं। वे धेनु हैं, इन्द्र उनका वृषभ। उनकी प्रत्येक नाड़ी में अग्निस्रोत है, वे हम सब के भीतर उसे ही ढालें उड़ेलें।— 'जगतो निवेशनी' तु. ऋ. १।३५।१, २२।१५। 'इन्द्र' यहाँ वर्षकर्म, वृष्टि के देवता (तु. नि. ७।१०।२)

'तुम्हारे गिरि-शिखर और हिमाच्छादित पर्वत और तुम्हारे दुर्गम अरण्य हे पृथिवी सुखदायी हों, जो पृथिवी पिंगला, कृष्णा एवं लोहिता, विश्वरूपा ध्रुवा है, उसी पृथिवी पर, उसी भूमि पर अजित, अहत एवं अक्षत होकर अधिष्ठित, (अवस्थित) रहूँ [१६१८]।

'जो तुम्हारा मध्य भाग है हे पृथिवी, जो तुम्हारी नाभि है, तुम्हारी देह से सम्भूत, उत्पन्न जितना सब आवर्जन अथवा परित्याग का वीर्य बल है वह सब हमारे भीतर निहित करो, हमारे प्रति पवमाना होओ, हम सब को पावन करो। भूमि मेरी माता है, मैं पृथिवी-पुत्र हूँ। पर्जन्य मेरे पिता हैं। हमें आपूरित करें वे [१६१९]।

जिसके फलस्वरूप जड़ में प्राण अथवा चेतना का संचार होता है।... अगले मंत्र में: 'सारे देवता अप्रमत्त, जाग्रत रहकर नित्य पृथिवी की रक्षा करते हैं, उसी से हम सब तेज और आनन्द प्राप्त करते हैं' (८) यही उनकी परम महिमा है:

[१६१६] शौ. यार्णवेऽधि सलिलम् अग्र आसीद् यां मायाभिर् अन्व अचरन् मनीषिणः, यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतम् अमृतं पृथिव्याः सा नो भूमिस् त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे १२।१।८। परमव्योम में कारण-समुद्र लहरा रहा है, उसकी अथाह गहराई में पृथिवी की अव्याकृत, अव्यक्त सत्ता या अस्तित्व चिन्मय प्राण के स्रोत के रूप में प्रवहमान है जहाँ उनके मातृहृदय की आकृति सत्य एवं अमृत रूप में है। जिसका पता मनीषियों को है। निःश्रेयस के उसी परम धाम से हम सब के अभ्युदय को वे उद्दीप्त करें। तु. नासदीय सूक्त ऋ. १०।१२९।१, २, ४। 'माया' रहस्यविदों, मर्मज्ञों का वह प्रज्ञान है जो वस्तुतः अनिर्वचनीय (नि. १२।१६) है (तु. के. २।१-३)। 'त्विषि'॥ त्विषी॥ तविषी< √तु 'समर्थ होना, प्रबल होना', धीरे-धीरे सूर्य की किरण के उज्ज्वल होने की तरह। 'त्विषि' का संकेत प्रज्ञा की ओर है, 'बल' का प्राण की ओर। प्रज्ञा और प्राण ओत-प्रोत हैं। 'राष्ट्र' निर्भर करता है 'क्षत्र' अथवा क्षात्रियशक्ति के ऊपर। 'क्षत्र' एवं 'ब्रह्म' सहचरित (द्र. क. १।२।२५)। एक अभ्युदय का साधन है और एक निःश्रेयस का। दोनों ही चाहिए।... उसके बाद दो मंत्रों में 'नदीजपमालाधृतप्रान्तरा', इन्द्रगुप्ता, इन्द्ररक्षिता, द्युलोक के आलोक की सप्तपदी द्वारा आक्रान्ता पृथिवी का वर्णन है (९, १०)। उसके बाद ही:

[१६१८] शौ. गिरयस् ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनम् अस्तु, बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं इन्द्रगुप्ताम्, अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीम् अहम् १२।१।११। हिमालय के हिम शिखरों के नीचे-नीचे पर्वत की नीली लहरीली श्रेणियाँ पसरी हुई हैं। उसके बाद घाटी के सुश्यामल घने जंगल, फिर उसके बाद कहीं मयूरकंठी, कहीं नीलाम्बरी, कहीं लाल पाटाम्बरी पृथिवी की ओर एक बार पर्वत की चोटी से देखा और सोचा मैं अजित हूँ, अहत हूँ, अक्षत हूँ—मैं इस पृथिवी का अधीश्वर हूँ।—'गिरि' शिखर 'पर्वत' लहरीले पहाड़, ऊँची-नीची श्रेणियों वाले (नि. १।२०।५)। 'हिमवन्तः' तु. ऋ. १०।१२१।४।

[१६१९] शौ. यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च च नभ्यं यास त ऊर्जस् तन्वः संबभूवुः, तासु नो धेह्य् अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः, पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु १२।१।१२। परम व्योम में पृथिवी हिरण्यहृदय झिलमिला रहा है, उनकी नाभि में वैश्वानर की देदीप्यमान शिखा है, उनकी देह से रूपान्तरण की सन्दीप्त ऊर्जा विकीर्ण हो रही है। वे हम सब के भीतर सौम्य आनन्द का निर्झर हैं। यह पृथिवी मेरी माता है, मैं उनका पुत्र हूँ, रेतोधा पर्जन्य हम सब के पिता हैं, उनका धारावर्षण हमारे आधार को सिक्त आप्लुत और उल्लसित करे। 'मध्य' हृदय, तु. तैब्रा. आत्मा हृदये ३।१०।८।५ + श. मध्यतो ह्ययम् आत्मा ६।२।२।१२; क. २।१।१२, **नभ्य** < 'नाभि' < √√ नभ॥ नह 'बाँधना' तु. ऋ. चक्रम् एकं त्रीणि नभ्यानि १।१६४।४८। नाभि समस्त देह का मध्यस्थान है (श. १।१।२।२३) एवं अन्न का प्रतिष्ठास्थान है (श. ३।३।४।२८) वहाँ से ही वैश्वानर अन्न को जीर्ण करते हैं (श. १४।८।१०।१)। **ऊर्ज**— निघण्टु में अन्न (२।७); व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'बल' जो यहाँ अन्न का ही रूपान्तर है (तु. छा. ६।४-५)। पृथिवी अन्नपूर्णा है। उनका अन्नरस 'पितु' है जिससे सोम का भी बोध होता है (तु. ऋ. अन्नसूक्त १।१८७) भावना का अनुषंग-प्रसंग यही है कि

'वेदी रचते हैं जिस भूमि पर, यज्ञ को वितत करते हैं विश्वकर्मा जिस पर, गाड़ा जाता है जिस पृथिवी पर यूपकाष्ठ जो ऊर्ध्व एवं शुभ्र करता है आहुति के पहले, वही भूमि हम सब को संवर्द्धित करें वर्धमान होकर [१६२०]।

'तुमसे उत्पन्न होकर तेरे ऊपर ही मर्त्यगण विचरण करते हैं, तुम द्विपदों, चतुष्पदों- कीट-पतंग-पशु-पक्षी-मानव इन सबकी रक्षा करती हो, उनका पालन-पोषण करती हो। हे पृथिवी ये सारे पंचजन तेरे ही तनुज हैं — इन मर्त्यों के ऊपर बिछा देते हैं अमृतज्योति, सूर्य उदित होकर रश्मि-जाल द्वारा [१६२१]

'उन सभी प्राणियों को हमारे निकट कामदुघा करो, वे हमें आपूरित करें; वाणी की मधुरता निहित करो हे पृथिवी, हम सब के भीतर [१६२२]।

'तुम महान शक्तिकूट हो, महती हुई हो, तुम्हारा वेग, स्पन्दन और कम्पन महान है। महान इन्द्र अप्रमत्त होकर तुम्हारी रक्षा करते हैं, वही तुम हम सब की हे भूमि, सामने ज्योति उड़ेलते चलो— हिरण्य (ज्योति) का जिससे पूर्ण दर्शन करें। हम से कोई द्वेष न करे, हमें सुहृद जानें [१६२३]।

पृथिवी अन्नपूर्णा रूप में हम सब की माता। उनके अन्न को परिपाक करते हैं वैश्वानर अग्नि। उसी से वह प्राण और मन की शक्ति एवं सौम्य आनन्द में रूपान्तरित होता है। वह आनन्द द्युलोक छूकर पुनः यहाँ निर्झरित होता है

[१६२०] शौ. यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः, यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्याम् ऊर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्, सा नो भूमिर् वर्धयद् वर्धमाना १२।१।१३। पृथिवी सिमट आती है देवयजन की भूमि में। आध्यात्मिक दृष्टि से यह देह वही भूमि है। वहाँ सुषुम्ण काण्ड में प्राण के संयमन में उसका ऊर्ध्व प्रवाह मूर्द्धन्य कमल में एक ज्योतिर्मय बीजकोष में संहत होता है। तब यह शरीर ही आकाशशरीर में रूपान्तरित होता है।... **विश्वकर्मा** परमपुरुष (ऋ. १०।८१, ८२ सूक्त) सृष्टि उनका यज्ञ अथवा आत्माहुति (ऋ. १०।९० सूक्त)। मनुष्य-यज्ञ उसकी ही अनुकृति है, वह अध्यात्म सृष्टि। अतः ऋत्विक गण 'विश्वकर्मा'। **स्वरु** यूप को छीलते समय छिटक कर गिरा लकड़ी का टुकड़ा, बहुत बार यूप का ही बोध होता है — जिस प्रकार यहाँ। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'स्फुलिंग' < स्वर 'ज्योति, प्रकाश'। आदित्य के साथ यूप की उपमा तैब्रा. २।१।५।२। वस्तुतः आदित्य में पहुँचने के लिए ही यूप 'ऊर्ध्व' एवं 'शुक्र' — अर्थात् एक ज्योतिःस्तम्भ जैसा। इसके ऊपर लकड़ी का एक छोटा टुकड़ा या अर्गल। वह आध्यात्मिक दृष्टि से मूर्द्धन्य-कमल की कर्णिका। आहुति देने के पहले प्राण को इस प्रकार ऊर्ध्वस्रोता करना पड़ता है। उसके फलस्वरूप देहचेतना व्यापक होती है (तु. शौ. १२।१।५३; योग सूत्र के अनुसार महाविदेह धारणा ३।४३। द्र. तैउ. १।६। द्र. वेमी. 'वनस्पति'।... समस्त विरोधी शक्तियों पर विजय, इसी व्याप्ति-चैतन्य का परिणाम (शौ. १२।१।१४; तु. तैउ. ब्रह्मणः परिमरः ३।१०।४)। अगला मंत्र:

[१६२१] शौ. त्वज् जातास् त्वयि चरन्ति मर्त्यास् त्वं बिभर्षि द्विपदस् त्वं चतुष्पदः, तवेमे पृथिवि पंचमानवा येभ्यो ज्योतिर् अमृतं मर्तेभ्य उद्यन्त् सूर्यो रश्मिभिर् आतनोति १२।१।१५। पृथिवी भूतजननी, भूतधात्री। इन भूतग्रामों अथवा प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है जो आदित्यज्योति में इस पृथिवी पर रहकर ही मर्त्य होने पर भी अमृत का अधिकार प्राप्त करता है। — 'पंचमानवाः' द्र. टी. १२८३[२]।

[१६२२] शौ. ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवी धेहि मह्यम् १२।१।१६। पृथिवी में जो जहाँ जन्मे हैं सभी हम सब के लिए सौम्य आनन्द के-

'अग्नि का वस्त्र पहने है (यह) पृथिवी, श्यामल है जिसकी गोद। शक्ति का उफान लाकर वह मुझे प्रभास्वर करे, प्रखर करे [१६२४]।

'भूमि पर ही मनुष्य देवताओं को यज्ञ-हवि प्रदान करते हैं— एकाग्र चित्त होकर। भूमि पर ही सभी लोग अपने आप स्थित रहकर और अन्न की सहायता से मर्त्य होकर भी जीवन यापन करते हैं। वही भूमि हम सब में प्राण और आयु निहित करें। बुढ़ापे में पृथिवी आयु बढ़ाए, हमें शक्ति प्रदान करे [१६२५]।

'हे पृथिवी तुम्हारे भीतर जो सुगन्ध व्याप्त है जिसे ओषधियाँ और जल की धाराएँ धारण करती हैं; जिसमें गन्धर्व और अप्सराएँ निविष्ट होती हैं, उसी से ही मुझे सुवासित करो। मुझसे कोई द्वेष न करे [१६२६]।

निर्भर हों, उन सब के प्रति मेरी वाणी मधुमत्तमा हो। तु. ऋ. १।९०।६-८; शौ. १२।१।५८; तैउ. १।४।१---- अगले मंत्र का तात्पर्य: इस सुखदा श्यामली कल्याणी माता को धर्म ने धारण कर रखा है, उसी से हम सब उनके ही अनुचर हैं (तु. शौ. १२।१।१)

[१६२३] महत् सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर् वेपथुष् टे, महांस् त्वेन्द्रो रक्षत्य् अप्रमादम्, सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश् चन १२।१।१८। महिममय यही पृथिवी समस्त चित्शक्ति की संगमनी है। वह इन्द्ररक्षिता है, उसके भीतर स्पन्दित, कम्पित प्राण महावेग के साथ धावमान है। हम सब के भीतर ज्योति को प्रस्फुटित करना ही उसका व्रत है जो एक दिन हमें हिरण्यज्योति के सम्यक् दर्शन द्वारा कृतार्थ करेगा। फिर तो हम ब्रह्मद्वेषियों की पहुँच से परे होंगे।... 'एजथु' प्राण का आद्यस्पन्द (तु. क. २।३।२), वही बढ़ते बढ़ते 'वेपथु' एवं 'वेग' होता है (तु. वाक् की आँधी की तरह वहमान ऋ. १०।१२५।८)। 'हिरण्य' परम ज्योति का उपमान है, क्योंकि वह सभी धातुओं में अमलिन है। परमदेवता वरुण के चारों ओर हिरण्यज्योति का आवरण है (१।२५।१३); तु. छा. परमपुरुष का वर्णन १।६।६ < √दृ॥ घृ 'चमकना'। 'संदृक्' तु. ऋ. १०।८२।२, वैमी. टी. मू ३८३; उसके बाद दो मंत्रों में पृथिवी के देवता अग्नि की सर्वव्यापकता के वर्णन द्वारा पृथिवी के बारे में बतलाया जा रहा है।

[१६२४] शौ. अग्निवासाः पृथिव्य् असितज्ञूस् त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु १२।१।२१। मन की आँखों से देख रहा हूँ कि अग्नि का वस्त्र पहन रखा है श्यामली कन्या ने, सब के लिए बिछा दी है गोद। इसी श्यामली के निकट ही दीप्तिमय शक्ति का प्रसाद चाहता हूँ। — 'असितज्ञु' = असितजानु।

[१६२५] भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यम् अरंकृतम्, भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः, सा नो भूमिः प्राणम् आयुर् दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु १२।१।२२। पृथिवी का अन्न खाकर ही लोग ज़िन्दा रहते हैं — किन्तु स्वाहाकृति के प्रसाद और स्वधान्तीर्य से वृद्धावस्था तक जीवित रहते हैं। और उसी से देवहित आयु का छोर छूकर अदीनसत्त्व प्राण की महिमा से ही वह ज़िन्दा रहता है।... हव्य 'अरंकृत' (अलंकृत, सम्यक् निष्पादित) होता है जब चक्रनाभि में मिलित 'अर' की तरह उसका लक्ष्य एकाग्र होता है (तु. ऋ. इमे सोमा अरंकृताः १।२।१, अर्थात् सोम की धाराएँ सुषुम्णावाहिनी हुई हैं, 'शुचि' हुई हैं एवं उसी से वायु 'शुचिपा' हुए हैं ७।९०।२, ९१।४, ९२।१, १०।१००।२; यह विशेषण वायु में रूढ़)। यहाँ प्राण, जीवन और वायु का उल्लेख है, उसी से वायु का प्रसंग स्वाभाविक है। आयु जीवनकाल के परिमाण का बोधक है। यह देवविहित परिमाण एक सौ वर्ष (१।८९।९; २।२७।१०, ३।३६।१०, १०।१८।४, ८५।३९, १६१।३,४; तु. दीर्घतमा की उक्ति १।१५८।६)।

[१६२६] शौ. यस् ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्य् ओषधयो यम् आपः; यं गन्धर्वा अप्सरश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश् चन १२।१।२३। दर्शन में **गन्ध** पृथिवी का विशेष गुण। आकाश का गुण शब्द और पृथिवी का गुण गन्ध है — यह परिशेषन्याय से सिद्ध है। पृथिवी जिस प्रकार तत्वों के आदि में है, उसी प्रकार गन्ध भी जीवों के इन्द्रिय संवित् के आदि में है, ऐसी एक परिकल्पना जीवविज्ञान में भी है। अतिरोही चेतना को गन्ध-चेतना की सहायता से धरती पर उतार कर लाया जा सकता है;

'तुम्हारी जो गन्ध पुष्कर (कमल) में आविष्ट हुई है, जिसे संहृत संगृहीत किया है सूर्या के विवाह में अमर्त्यों ने सब से पहले हे पृथिवी उस से ही मुझे सुगन्ध युक्त करो। मुझ से कोई द्वेष न करे [१६२७]।

'तुम्हारी जो गन्ध पुरुषों में (जो) स्त्रियों में सौभाग्य है, बालकों में दीप्ति है, जो अश्वों में और वीरों में है फिर जो हाथवाले (हाथी) पशु में है; जो कुमारी कन्या में तेज की छटा है; हे भूमि उससे ही हमें जारित करो, तपाओ, स्वच्छ निर्मल करो। जिस से कोई हम सब से द्वेष न करे [१६२८]।

'पत्थर हुई है भूमि, कंकड़ और धूल हुई है, उस भूमि को किसी ने अच्छी तरह धारण कर रखा है। उसका वक्षस्थल सोने का है। उसी पृथिवी को मैंने प्रणाम किया [१६२९]।

'जिस पर सारे वृक्ष वनस्पति होने के लिए निश्चल खड़े सब समय। वही पृथिवी जो सब का अधिष्ठान है, जिसको किसी ने धारण कर रखा है, उसके प्रति प्रार्थना करूँ, उसका आह्वान करूँ मैं [१६३०]।

यह रहस्यविदों का अनुभव है। जिस प्रकार ही हो पृथिवी के साथ गन्ध का गहरा सम्बन्ध है और इस भावना का बीज हम यहीं पाते हैं। इस मंत्र में एवं अगले दो मंत्रों में हम देखते हैं कि पृथिवी का विशिष्ट गुण गन्ध समस्त पार्थिव पदार्थों में निविष्ट तो है ही, यहाँ तक कि वह अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में भी प्रसर्पित है, व्याप्त है। गन्ध तो प्रत्येक पदार्थ का वैशिष्ट्य है। इसी से भाषा में गन्ध का अर्थ 'आत्माभिमान' हो गया था। यहाँ भी इसी भाव की एक ध्वनि है। — 'पृथिवी' 'अप्' एवं 'ओषधि' पार्थिव भूमि के, जिनसे क्रमशः शुद्ध जड़, जड़ाश्रित प्राण एवं जड़ाश्रित चेतना का बोध होता है। 'गन्धर्व' एवं 'अप्सरा' अन्तरिक्ष लोक के किन्तु पृथिवी के निकटवर्ती (विशेष द्रष्टव्य आगे चल कर)। 'इनकी गन्ध मुझे सुरभि अथवा सुगन्ध युक्त करे' अर्थात मेरे पार्थिव तनु में इनका तनु मिल जाए (तु. श्वे. गन्धः शुभः..... योग प्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति २।१३)।

[१६२७] शौ. यस् ते गन्धः पुष्करम् आविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे, अमर्त्याः पृथिवि गन्धम् अग्रे तेन मा.... १२।१।२४। 'पुष्कर' देह के भीतर जो कमल है, तु. ऋ. ६।१६।१३, ७।३३।११। उसके समान 'चक्र' तु. शौ. अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूर् अयोध्या, तस्यां — हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः १०।२।३१। यहाँ शरीर में आठ चक्रों का स्पष्ट उल्लेख। ऋक् संहिता में चक्र की जगह 'नाभि' है (द्र. टी. १५२२)। चक्र की भावना अमूर्त (abstract) और पुष्कर की भावना मूर्त (Concrete)। सूर्या के विवाह में (उसकी सुहागरात? द्युलोक में पृथिवी की समस्त गन्ध का समावेश सूचित करता है, परमव्योम में इस पृथिवी का ही हिरण्यवक्षा के रूप में उत्तरण। 'अग्रे' अर्थात सृष्टि के ब्राह्म मुहूर्त में; उस समय द्यावापृथिवी एक दिव्य युग्म।

[१६२८] शौ. यस् ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः, यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु, कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो ... १२।१।२५। 'स्त्रीषु पुंसु' सामान्यतः; 'पुरुषेषु वीरेषु' विशेषतः। उस में पुरुष में प्रज्ञा, वीर में शक्ति (तु. ब्रह्म एवं क्षत्र); दोनों में ही पृथिवी की गंध अथवा स्वरूपशक्ति का आवेश। 'मृग' पशु की साधारण संज्ञा, 'हस्ती' उसका विशेषण। हस्ती स्थलचरों में बृहत्तम; तंत्र में पृथिवी तत्व का प्रतीक। 'भग' आवेश — स्त्री में पुरुष के अनुराग का, जिससे स्त्री सुभगा (> सौभाग्य > सोहाग)। कन्या में 'वर्चः' (॥ रुचि; तु. वर्पः॥ रूप, रूप) कुमारी अवस्था में सोम, सूर्य और अग्नि का आवेश जनित तेज, ओज (जिस प्रकार महाभारत की सावित्री में; तु. ऋ. १०।८५।४०, ४१)।

[१६२९] शौ. शिला भूमिर् अश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता, तस्यै हिरण्य वक्षसे पृथिव्या

'जो पृथिवी सब का विचित्र मार्जन करती है, निर्मल, पवित्र करती है, हम उसका आवाहन करें, गुणगान करें — जो क्षमामयी है, जो भूमि बृहत की भावना से वर्धमाना है। मोड़ देने की शक्ति और पुष्टि तथा अन्न का भाग एवं ज्योति की धारा ... वहन करती हो तुम। तुम्हारे सामने हम आसन बिछाएँ हे भूमि [१६३१]।

'शुद्ध जलधाराएँ हमारे शरीर पर क्षरित, निर्झरित हों। हमारे भीतर जो तलछट या गाद है, जो कष्ट देता है, उसे अप्रिय के माथे मढ़ देते हैं। पावनी अथवा पवित्री द्वारा पावन जल से हम अपने को ऊर्ध्वपूत करते हैं [१६३२]।

अकरं नमः १२।१।२६। जो कंकड़-पत्थर-धूल हुई है, वही फिर परमव्योम में हिरण्यवक्षा है। जिसको सत्य और ऋत ने धारण कर रखा है (तु. १, ६, ८)। बाउल गान है कि 'चोखे देखो, गाये माखो, धूला आर माटी, प्राणरसनाय चाइख्या देखो रसेर साँई खाँटी।' अर्थात आँख से देखो, देह पर मलो, धूल और माटी; प्राण की रसना से चख कर देखो, रस का स्वामी खाँटी। अब से अनेक मंत्रों में इसी सरल दृष्टि अथवा खुली आँखों से देखी हुई पृथिवी का वर्णन है।

[१६३०] यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा, पृथिवीं विश्वधायसं धृताम् अच्छा वदामसि १२।१।२७। पृथिवी सब की धात्री है। तब भी उसकी महिमा का परिचय उन वृक्षों से प्राप्त होता है जो वनस्पति होने के लिए ऋजु, निश्चल और उद्धत होकर खड़े हैं। उनको देखकर हम पृथिवी को 'धन्य!' कहते हैं। 'वानस्पत्य वृक्ष' में अग्नि और अग्नि-साधक की ध्वनि है (तु. ऋ. ३।८।११, टी मू. १५८४)। ... उसके बाद एक मंत्र में पृथिवी पर स्वतंत्र विचरण की प्रार्थना है। उसके बाद —

[१६३१] शौ. विमृग्वरीं पृथिवीम् आ वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्, ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीम् अन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे १२।१।२९। यही क्षमारूपा प्राणोच्छला चिन्मयी ज्योति, विद्युत और वृष्टि की धाराओं से सब को पवित्र कर रही है — बृहत की भावना द्वारा जिसे हम अनिबाध वैपुल्य के रूप में अनुभव करते हैं। वह केवल अन्नदा ही नहीं है, वह हम सब की ज्योतिरेषणा की धात्री भी है। — विमृग्वरी < वि√मृज 'माँजना, निर्मल करना' + वर + ई। द्युलोक की ज्योति अन्तरिक्ष की बिजली और मेघों द्वारा मूसलधार वृष्टि से सभी को निर्मल कर रही है (तु. ऋ. ५।८४।३)। 'क्षमा', 'भूमि', 'पृथिवी' — इन तीनों रूपों का ही उल्लेख लक्ष्य करने योग्य है। एक ही साथ वे ब्रह्ममयी एवं कमला।

[१६३२] शौ. शुद्धा न आपस् तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुर् अप्रिये तं नि दध्मः, पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि १२।१।३०। द्युलोक का अमृतनिर्झर शरीर को शुद्ध करे, उसके स्पर्श से ऊर्ध्वस्रोता निर्मल आनन्द प्रत्येक नाड़ी में ज्वार की तरह प्रवाहित होता रहे सारी मलिनता नीचे अतल में चली जाए जिसकी ओर फिर कभी दृष्टि न जा सके। — **सेदु** < √सद्, 'बैठना, जमा हो जाना' (तु. sediment) तलछट; तु. तस्य (अन्नस्य) यः स्थविष्ठो धातुस् तत् पुरीषं भवति ... यो ऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीयति ... ६।५।१, ६।२। 'अप्रिये तं नि दध्मः' — तु. ऋ. यद् वो देवाश् चकृम जिह्वया गुरु मनसो वा प्रयुती (कार्य द्वारा) देवहेलनम्, अरावा (जो देना नहीं चाहता, तु. 'अराति') यो नो अभि दुच्छुनायते (अनिष्टकर), तस्मिन् तद् एनो वसवो (हे ज्योति के देवताओ) नि धेतन १०।३७।१२; मा. वयं द्विष्मस्, तम् अतो मा मौक् (मुक्त करो नहीं) १।२५ (द्र. श. १।२।४।१६); उपनिषद् में 'ब्रह्मणः परिमरः' (तै. ३।१०।४) 'दैवः परिमरः' (कौ. २।१२)। अर्गला स्तोत्र की प्रसिद्ध प्रार्थना: 'द्विषो जहि'। जो ब्रह्मद्वेषी (तु. ऋ. १०।१२५।६) जो शत्रु, जो भ्रातृव्य — संक्षेप में जो अप्रिय, असुर। उसके प्रति द्वेष स्वाभाविक। यदि मैं देवकाम होऊँ तो फिर वह 'देवपीयु' (शौ. १२।१।३७)। उसे भी प्यार करना होगा, यह अनुशासन क्लीवता का पोषक है। यह भाव हमें वेद में नहीं बल्कि अवैदिक मुनिपंथियों में प्राप्त होता है। कृष्ण और बुद्ध में यही अन्तर है। कुरुक्षेत्र में शत्रुविनाश के बाद ही वृन्दावन की प्रतिष्ठा संभव। अहिंसा 'महाव्रत' (योसू. २।३१) व्यष्टि के पक्ष में हो सकता है, समष्टि के पक्ष में नहीं। वेद का बलिष्ठ अनुशासन 'द्विषो जहि'। शत्रु यदि भीतर का शत्रु है तो फिर तो कोई बात ही

'तुम्हारे पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण की सारी दिशाएँ हे भूमि, सुखदायी हों, हमारे विचरण के समय। तुम्हारे भुवन का आश्रय लेकर हम समुन्नत, समृद्ध हों, हमारा अधःपतन, अवनमन न हो [१६३३]।

'हमारे ऊपर आगे-पीछे, नीचे-ऊपर कहीं से भी कोई प्रहार न हो। स्वस्तिरूपा हे भूमि, तुम हम सब के लिए कल्याणमयी, शुभंकरी होओ। राह चलते चोर, लुटेरे, हत्यारे जो घेर लेते हैं, वे हमारा पता न पाएँ, हम तक पहुँच न पाएँ। उन्हें दूर खदेड़ दो, हम पर कोई आक्रमण न हो पाए [१६३४]।

'जब लेटे-लेटे हम दायीं या बायीं करवट बदलें हे भूमि; जब उत्तान होकर पीठ के बल तुम्हारी देह से देह सटाकर किसी एक करवट लेटें, तब हमारा अनिष्ट मत करना हे भूमि। तुम तो सब का शयन-शरण हो, बिछावन हो, तुम तो सब के शरीर से शरीर सटाकर लेटी रहती हो [१६३५]।

नहीं — उसको किसी प्रकार की भी रिआयत या छूट नहीं दी जा सकती। दोनों शत्रु ही वैदिक अनुशासन के लक्ष्य। भीतर का शत्रु वृत्र अथवा अविद्या उसे निवृत्त किया जा सकता है किन्तु उसे निर्मूल नहीं किया जा सकता। दर्शन की भाषा में तूला विद्या मर जाती है किन्तु मूला विद्या मरती नहीं। अनेक 'आशय' अथवा गहरे पैठे संस्कार उसके सहारे बचे रहते हैं। सप्तशती में हम वही देखते हैं कि शुम्भ-निशुम्भ के वध के बाद भी असुरों के 'शेषाः पातालम् आययुः' (१२|३५)। इसी भाव की ध्वनि यहाँ है। मा. में भी है। शुद्ध भाव मक्खन की तरह ऊपर तैर जाए और अशुद्ध भाव की तलछट और भी गहरे चली जाए, वहाँ से वह ऊपर न उठ पाए। पातालवासी आसुरी प्रवृत्तियाँ ही यहाँ 'अप्रिय'। 'पवित्र', अधियज्ञ दृष्टि से सोम छानने के लिए मेषलोम से बनी चलनी, अध्यात्म दृष्टि से नाड़ी जाल। 'उत्पुनामि' में सोम्य धारा के उत्तरवाहिनी होने का संकेत है (तु. 'उत्सव')।

[१६३३] शौ. यास् ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर् यास् ते भूमे अधराद् याश् च पश्चात्, स्योनास् ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः १२।१।३१। ऊर्ध्वस्रोता होने के बाद पृथिवी के चारों ओर कामान्नी अथवा कामचारी होकर स्वच्छन्द विहार (तु. तैउ. ३।१०।५)। 'भुवन' अथवा सम्भूति की लीला सारी पृथिवी में जारी है, मैं भी उसी में शरीक हूँ। उसके साथ-साथ मैं भी ऊपर की ओर प्रवाहित हो सकता हूँ, तलछट की तरह गहरे नीचे न चला जाऊँ। **प्रदिश** — आकाश, सम न्याप्त; दिक् उसके भीतर विच्छुरित शक्ति की गतिरेखा — आलोकरश्मि की तरह; दिक् का अन्तरालवर्ती प्रदिक् (तु. ऋ. 'विश्वतोबाहु' विश्वकर्मा १०।८१।३; यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू १२१।४; वैरोचनी दुर्गा की दश भुजाएँ, द्र. वे मी. टी. १०६५)। 'भुवन' जो हो रहा है जैसे 'भूत' जो हुआ है।

[१६३४] शौ. मा नः पश्चान् मा पुरस्तान् नुदिष्ठा मोत्तराद् अधराद् उत, स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् १२।१।३२। पूर्वभावना की अनुवृत्ति। हम ज्योति की तरह फैल जाएँ, कहीं कोई धक्का न खाएँ, बाधा न पाएँ। 'परिपन्थी', तु. मृत्यु का वितत पाश (क. २।१।२) जो बहिर्मुखी वृत्ति और कामलोलुपता का फल है। और भी तु. ऋ. १।४२।३। 'वरीयो वधम्' सप्तवध्रि की अन्ध तमिस्रा, '**स्वस्ति**' उसके विपरीत द्र. टी. १२५५; द्र. अगले मंत्र में इसी भावना का अनुषंग; 'प्रति वर्ष सूरज की किरणों से धुला-उजला तुम्हारा रूप देखते-देखते मेरी आँखें कभी किसी दिन थकें नहीं।' उसके बाद ही इसी मृण्मयी माँ के अंग से अंग मिलाने की एक अपरूप छवि :

[१६३५] शौ. यच् छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यम् अभि भूमे पार्श्वम्, उत्तानास् त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिर् अधिशेमहे, मा हिंसीस् तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि १२।१।३४। 'प्रतीची' आमने-सामने; यहाँ देह से देह सटाए हैं जो। **पृष्टी** 'पाँजर, पसली' तु. ऋ. १०।८७।१०, द्र. टी. १४५१। **प्रतिशीवरी** (<प्रति √शी + वर + ई. तु. तैस. सर्वस्य प्रतिशीवरी १।४।४०।१) सम्मुखीन होकर जो सोई है (तु. छा. प्रति स्त्री सह शेते २।१३।१)... फिर अगले मंत्र

'हे भूमि तुम्हारी छः ऋतुएँ — ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त एवं संवत्सर सब क्रमशः तुम्हारे लिए विकसित, परिवर्तित होते रहते हैं। तुम्हारे अहोरात्र हे पृथिवी, हम सब के लिए (ज्योति की धारा) दुह कर लाएँ, जिससे हमारी मनोकामनाएँ पूर्ण हों, हमारा निरन्तर उत्कर्ष हो [१६३६]

'साँप को जो जगा देती है विचित्र मार्जन अथवा परिष्करण से, जिसमें थी वह अग्नि; जो अप के भीतर रहती है; देवद्वेषी दस्युओं को दूर भगा कर इन्द्र को ही वरण करती है **वह पृथिवी** — वृत्र को नहीं; उसने शक्तिशाली, वीर्यवर्षी, अग्निवर्षी (इन्द्र के) निमित्त पकड़ रखा है (सोमपात्र)[१६३७]।

'जिस भूमि पर मर्त्य मानव नाचते-गाते हैं, जिनके पास पृथिवी की विचित्र सम्पदा है, जिस पर युद्ध करते हैं वे, युद्ध के कोलाहल के साथ **बज** उठते हैं नगाड़े; हम सब की वह भूमि प्रतिद्वन्द्वियों को धकेल कर दूर कर दे। हमें एकछत्र करे पृथिवी, हम अकेले इसके अधिपति हों [१६३८]।

'जिसके पुरों, नगरों, ग्रामों का निर्माण किया है देवों ने, जिसके क्षेत्र में मानव हैं विचित्रकर्मा, उसी विश्वगर्भा, वसुधा पृथिवी को प्रजापति हर ओर से शुभ-सुन्दर, मोहक-मनोहर करें हमारे लिए [१६३९]

में है — 'हम कुछ खोजते समय तुम्हारे हृदय अथवा मर्म पर कोई आघात न पहुँचाएं' (तु. मा. १।२५)। उसके बाद पृथिवी के वक्ष-स्थल पर छः ऋतुओं का उल्लास जिससे दिन-रात मधु की वर्षा हो रही है—

[१६३६] शौ. ग्रीष्मस् ते भूमे वर्षाणि शरद् हेमन्तः शिशिरो वसन्तः, ऋतवस् ते विहिता हायनीर् अहोरात्रे पृथिवी नो दुहाताम् १२।१।३६। 'दुहाताम्' तु. शौ. १२।१।९... इसके बाद कई एक मंत्र गूढार्थवह हैं।

[१६३७] शौ. याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्याम् आसन्न् अग्नयो ये अप्स्वअन्तः; परा दस्यून् ददती देवपीयून् इन्द्रं वृणाना पृथिवि न वृत्रम्, शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे १२।१।३७। मेघ विद्युत और द्युलोक से आलोक के धारावर्षण से पृथिवी के रन्ध्र से जाग उठती है सर्पराज्ञी और नाड़ीतंत्र के प्रत्येक तंतु में अग्निस्रोत प्रवाहित हो जाता है। वृत्र के चंगुल से उसके आक्रमण और अवरोध **को** तोड़ कर इन्द्र स्वयंवरा होकर पृथिवी ने अपने हिरण्य हृदय का सोमपात्र प्रिय के पीने **के लिए** उठा रखा है।— **सर्प** सर्पराज्ञी (तु. ऋ. १०।१८९।२, द्र. टी. १२६९[२]), हठयोग की कुण्डलिनी। एक स्थल पर इन्द्र को 'ह्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनाम् इन्द्रो मुनीनां सखा। पृदाकुः सानुर् ... गवेषणः' कहा जा रहा है — अर्थात् सोमबिन्दु होकर इन्द्र समस्त पुरी को भेदते हैं जो मुनियों के सखा हैं, साँप के फन की तरह जिनका फन है, जो ज्योति खोज रहे हैं ८।१७।१४-१५। इन्द्र की वज्रशक्ति से मुनि की बिन्दुचेतना साँप की तरह ऊपर की ज्योति का पान करने के लिए फुफकार उठती है, यह स्पष्टतः कुण्डलिनी जागरण का वर्णन है। **'पृदाकुसानु'** अहिच्छत्र; 'पृदाकु' पृत् ॥ स्पृत, किलबिल करना, टेढ़े-मेढ़े चलना' + आकु, साँप। तु. पुराण के अनुसार प्रलय में योगनिद्रागत विष्णु के शीश पर अहिच्छत्र का उल्लेख है जो समाधि की प्रतिच्छवि है। सारे मुनि योगी हैं किन्तु यहाँ इन्द्र के साथ उनका कोई विरोध नहीं। जल में अग्नि विद्युत रूप में है। उसका नाम 'अपांनपात्' है। 'वृषभाय वृष्णे' द्र. टी. १२६३[२]।... अगले मंत्र में इस क्रिया का ही याज्ञिक रूप। वहाँ 'सर्प' 'यूप' हुआ है। फिर अगले मंत्र में पृथिवी सृष्टि का आधार, और 'भूतकृत' अथवा स्रष्टा 'सप्तऋषयः' पुराण के अनुसार जो ब्रह्मा के मानसपुत्र प्रजापति हैं। अगले मंत्र में पृथिवी ही पुरुषार्थ की विधात्री। फिर उसके बाद ही पार्थिव जीवन की धूप-छाँह का वर्णन है:

'जो विविध रत्नों की खान है; वह पृथिवी हमें गुहाहित ज्योति, मणि और हिरण्य दे। वह ज्योतिर्दात्री है, देती ही रहे हमें ज्योतिर्मयी : ज्योति की सम्पदा हमारे भीतर प्रसन्न मन से निहित करे [१६४०]।

'कितनी जातियों का भार वहन करती है यह पृथिवी नाना प्रकार से उनको वास-स्थान देकर; जिनकी अनेक भाषाएँ हैं, अनेक धर्म हैं। अग्नि-स्रोत की सहस्र धाराओं का हमारे लिए दोहन करे — शान्त, निश्चल धेनु की तरह बिना हिले-डुले, तनिक भी छटपट किए बिना [१६४१]।

'तुम्हारे जितने भी रास्ते हैं जिन पर लोग चलते हैं, रथ और बैल-गाड़ियों के जाने के जो मार्ग हैं, जिन पर भले-बुरे, सज्जन-असज्जन दोनों ही चलते हैं : उसी पथ को हम जीत कर उसे शत्रुहीन और तस्कर हीन करेंगे। जो शिवमय, मंगलमय है, उसके द्वारा ही हम सब को आनन्दित करो [१६४२]।

'जो लघु-गुरु, ऊँच-नीच, पुण्यात्मा-पापी सब की अन्तिम नियति का भार बिना किसी पक्षपात के सहन कर लेती है। वराह के साथ पृथिवी का मेल-मिलाप है, (किन्तु) वन्य शूकर के निकट स्वयं को पसार देती है [१६४३]।

[१६३८] शौ. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः, युध्यन्ते यस्याम् आक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः, सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान् असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु १२।१।४१।
व्यैलबाः — अनन्य प्रयोग। < ? वि+ऐल+ब अस्त्यर्थे। ऋ. में 'ऐल' अथवा इला के पुत्र पुरूरवा का विशेषण। निघ. में 'इला' पृथिवी (१।१)। पुरूरवा ऋक्संहिता के उर्वशी-पुरूरवा संवाद में सर्वमानव का प्रतिभू अथवा प्रतिनिधि। इससे समझा जा सकता है कि 'ऐल' मानव धर्म है। 'नाना धर्मा जनों' का उल्लेख आगे चल कर ही है (४५)। अतएव 'व्यैलबाः' विचित्र स्वभाव के लोग।... अगले मंत्र में अन्नदा कमला को नमन किया गया है। उसके बाद अभ्युदय के साथ ही निःश्रेयस की छवि है :
[१६३९] शौ. यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते, प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भाम् आशामाशां रण्यां नः कृणोतु १२।१।४३। प्रत्येक जीव का शरीर, विशेष रूप मनुष्य देह, देवताओं का धाम है तु. शौ. १०।२।३१)। यह वस्तुतः क्षेत्र भी है 'आबाद करले फले सोना' अर्थात् जोतने-बोने से सोना फलता है। जो देहतत्व एवं उसके माध्यम से आत्मतत्व को जानते हैं वे ऋक् संहिता के अनुसार 'क्षेत्रवित्' (१०।३२।७, ९।७०।९; सोम 'क्षेत्रवित्तरः' १०।२५।८; तु. गीता 'क्षेत्रज्ञ' १३।२)। अन्तर्यामी परम देवता 'क्षेत्रस्य पतिः' (ऋ. ४।५७।१-३), द्र. टी. १३००[१])। इस पार्थिव पुर एवं क्षेत्र का रहस्य जान लेने पर दसों दिशाएँ आनन्दमय हो उठती हैं (तु. ऋ. ४।५७।३)। इसी भावना की अनुवृत्ति अगले मंत्र में :
[१६४०] शौ. निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे, वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना १२।१।४४। जो गूढ़ गुप्त ज्योति पृथिवी के भीतर छिपी है उसे वह हम सब के लिए अपावृत करे। तु. ऋ. गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्व् अविन्दन् ७।७६।४।— 'निधि' गुप्तधन। 'गुहा वसु', जिससे पृथिवी वसुमती। 'मणि' विशेष रूप से आसुरी सम्पद (द्र. टी. १२६४[२]), अतएव यहाँ ऋद्धि का बोध होता है और 'हिरण्य' प्रज्ञा का बोधक है।... उसके बाद कई मंत्रों में कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य, राक्षस-पिशाच से घिरी हुई पृथिवी का वर्णन है :
[१६४१] शौ. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्, सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुर् अनपस्फुरन्ती १२।१।४५। पृथिवी अनेक प्रकार की जातियों की धात्री और ऐश्वर्यमयी कमला है। उसके धारावर्षण से प्रत्येक नाड़ी में आग जल उठती है। लक्षणीय — पृथिवी 'धेनु'।... अगले मंत्र में साँप-बिच्छू, कीट-पतंग, मकड़ी, मच्छर इत्यादि के बाहुल्य का वर्णन है। किन्तु उसके लिए ऋषि के मन में क्षोभ नहीं : वे आएँ, किन्तु बहुत नज़दीक न आएँ। उसके बाद :
[१६४२] शौ. ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश् च यातवे, यैः संचरन्त्य् उभये भद्रपापास् तं पन्थानं जयेमा-नमित्रम् अतस्करं यच् छिवं तेन नो मृड १२।१।४७। पृथिवी की प्रत्येक दिशा में कितने रास्ते हैं, उन पर भले-बुरे कितने लोगों का आना-जाना लगा रहता

'जिसके निकट दो पैरों वाले — हंस, चील, शकुन और नाना वर्ण के पक्षी उड़कर या दौड़कर आते हैं; जिसके ऊपर से आँधी तूफ़ान के रूप में मातरिश्वा धूल उड़ाता चलता है और पेड़-पौधों को उखाड़ फेंकता है। हवा के सामने बहना और उसके उलटे बहने के साथ-साथ बहती रहती है अग्निशिखा [१६४४]।

'द्युलोक और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष ने हमें अशेष, अफुरन्त यह वैपुल्य, विस्तार एवं मेधा दिया है : अग्नि सूर्य, अप् और विश्वदेव गण दिया है [१६४५]।

'(इसीलिए तो मैं सबको) पराजित करके वरेण्य वीर के रूप में भूमि के ऊपर हूँ। सामने लड़कर सब को परास्त करता हूँ — कहीं भी किसी को छोड़ता नहीं — प्रत्येक दिशा में विजय प्राप्त करता हूँ मैं सर्वजित हूँ [१६४६]।

है। वे सभी रास्ते निर्विघ्न, निरुपद्रव हों।

[१६४३] शौ० मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधानं तितिक्षुः, वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय १२।१।४८। सर्वसहा पृथिवी। भले-बुरे सभी उसके वक्ष-स्थल पर लहरों की तरह उठते-गिरते हैं। — 'मल्व' मलिन यहाँ 'गुरु' यानी भारी की प्रतितुलना में 'हलका' जो फेन की तरह ऊपर तैरता है'। **निधन** साम का शेष भाग, उसका समाप्तिसूचक (छा० २।२।२ ...)। 'वराह' ग्राम्य, सूकर आरण्य। (इसलिए सूकर मृग द्र० अगले मंत्र में 'आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः')। एक शुद्ध प्राण का प्रतीक है और एक अशुद्ध अमार्जित प्राण का। पृथिवी वराह को ही चाहती है किन्तु सूकर से ही वराह का उद्भव, अतएव पृथिवी की बाँहें उसके लिए भी फैली रहती हैं। ... उसके बाद दो मंत्रों में मनुष्य के साथ जिनकी शत्रुता है, उन सब पदार्थों का उल्लेख। 'उल' क्या उलूक? रक्षः पिशाच के साथ गन्धर्व-अप्सरा का उल्लेख लक्षणीय। ये सब उपदेवता नहीं, अपदेवता गन्धर्वों द्वारा स्त्रियाँ आविष्ट, आसक्त होती हैं। (तु० ऐब्रा० ५।२९, बृ० ३।७।१)। ब्रह्मद्वेषी भी लोगों के शत्रु, जैसे 'अराय' (< अन्/रा० देना) देवताओं को जो कुछ भी नहीं देता अर्थात् अयज्ञ एवं 'किमीदिन्' अथवा अदेव (द्र० टी० १२०४)। उसके बाद —

[१६४४] शौ० यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि, यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश् च्यावयंश् च वृक्षान्, वातस्य प्रवाम उपवाम अनु वात्य् अर्चिः १२।१।५१। सारे पक्षी पृथिवी की माया-ममता छोड़कर भी छोड़ नहीं पाते, उनको फिर पृथिवी की गोद में लौट आना पड़ता है। इस ओर परम व्योम से — मातरिश्वा यहाँ ही झंझावात के ताण्डव के रूप में उतर आता है। और तब उसकी दमकती, कौंधती अग्निशिखा बहती रहती है; इसलिए कि झंझावात को उस समय मैं अपने भीतर खींचकर ले आता हूँ और प्रत्येक नाड़ी में बिजली कौंध जाती है। — 'वयस्' पक्षियों का साधारण नाम; 'हंस' और 'सुपर्ण' मुख्यतः सूर्य के प्रतीक; 'शकुन' अशुभसूचक। अन्तिम चरण में प्रश्वास-निश्वास के साथ-साथ शरीर में अग्निस्रोत प्रवाहित होने की ध्वनि है (तु० श्वे० २।६)। ... उसके अगले मंत्र में पुनः कमला का वर्णन। उसके बाद सूक्त के अन्त तक ऋषि का उदात्त — ब्रह्मघोष :

[१६४५] शौ० द्यौश् च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः, अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवास् च संददुः १२।१।५३। पृथिवी में अग्निशिखा, अन्तरिक्ष में चिन्मय प्राण की धारा और द्युलोक में प्रज्ञान की सौरदीप्ति — इनके माध्यम से विश्वदेव गण ने

'हे देवि, देवताओं के कहने पर तुम सामने की ओर प्रसारित हुई महान हुई, उसी समय तुम्हारे भीतर सुभूति (मांगलिकता) आविष्ट हुई और तब तुमने प्रदिक् अर्थात चारों दिशाओं के कोण (नैर्ऋत, आग्नेय, ईशान, वायव्य) रचे [१६४७]।

'इस भूमि पर जितने भी ग्राम और अरण्य हैं, जितने भी हैं जन-समुदाय, जितनी भी हैं सभा-समिति, जितना है जन समावेश, उसके भीतर हम तुम्हारी चारुता, लावण्यमयता का उद्घोष करते रहें [१६४८]।

'अश्व जिस प्रकार धूल झाड़ता है, उसी प्रकार कितनी जातियों को उजाड़ फेंका है, कितनी आई-गईं इस पृथिवी पर वास करती रहीं जो उसकी उत्पत्ति होने के पश्चात। आनन्दमग्न होकर वह आगे-आगे चल रही है अपने भुवन में ज्योति की रक्षिका के रूप में, वनस्पतियों और ओषधियों को जकड़े-पकड़े [१६४९]।

मेरे भीतर व्याप्ति चैतन्य और अग्रया धी अथवा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर चेतना का प्रसाद उड़ेल दिया। **व्यच:** < वि √अच् 'चलना', हर ओर फैल जाना; तु. ऋ. इन्द्रं... समुद्रव्यचसम् १।११।१ और व्यचा: (इन्द्र) ३।५०।१, विश्वव्यचसम् (वही) ३।२६।४...। **मेधा** < मनस् + √धा 'निहित करना' मनोनियोग के फलस्वरूप किसी भी विषय में अनुप्रवेश करने का सामर्थ्य; योग में वही 'समाधि'; ऋक् संहिता में अग्नि 'मन्धाता' १०।२।२, यजमान अथवा ऋत्विक ८।३९।८, उसी नाम के ऋषि जिन्होंने अश्विद्वय के अनुग्रह से अर्थात क्षेत्रवित्, 'क्षेत्रपतित्व' (क्षैत्रपत्यम्) प्राप्त किया था अथवा सिद्ध हुए थे १।११२।१३। निघ. मन्धाता 'मेधावी' ३।१५। तु. AV. मज़्दा < मनस्(ज़)धा। पुराण में मान्धाता युवनाश्व के अर्थात समर्थ ओज:शक्ति के पुत्र। तु. शौनक संहिता के आरम्भ में ही अथर्व ऋषि का मेधाजनन सूक्त, देवता वाचस्पति। केवल व्याप्ति और वेधशक्ति ही नहीं बल्कि पृथिवी के अनुग्रह से मैं उत्तुंगता में भी सर्वोच्च।

[१६४६] शौ. अहम् अस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् अभीषाड् अस्मि विश्वाषाड् आशामाशां विषासहि: १२।१।५४। सब से परे, सब का अतिक्रमण करके पृथिवी पर सूर्य की तरह खड़ा हूँ। 'सहन' अथवा अभिभवन तम:शक्ति का। 'अभिषाट्' सामने तेजी से दौड़कर, 'विश्वाषाट्' किसी को छोड़े बिना, सब को परास्त करके 'विषासहि' सर्वजित्।

[१६४७] शौ. अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैर् उक्ता व्यसर्पो महित्वम् आ त्वा सुभूतम् अविशत् तदानीम् अकल्पयथा: प्रदिशश् चतस्र: १२।१।५५। ब्राह्मण में पृथिवी का प्रथन प्रजापति द्वारा। प्रजापति सर्वदेवमय। प्रथित पृथिवी में आविष्ट हुआ 'सुभूत' (जिसके विपरीत 'अभू' है जिससे कुछ होता नहीं, असम्भूति तु. ऋ. १।१२९।५, १४०।५...) अथवा सुमंगल रूपायित करने की संभावना (तु. नौड, 'सुभूत' २।७)। 'अकल्पयथा:' रचा, रूपायित किया (तु. ऋ. १०।१५०।३)।

[१६४८] शौ. ये ग्रामा यद् अरण्यं या: सभा अधि भूम्याम्, ये संग्रामा: समितयस् तेषु चारु वदेम ते १२।१।५६, पृथिवी सर्वत्र सुचारु-सुन्दर। — 'ग्राम' और 'अरण्य', सभा और समिति — ये सब जोड़े-जोड़े में। 'सभा' पौर, और समिति जानपद, जनपद सम्बन्धी। 'संग्राम' जन समावेश — जिस प्रकार मेले में।

[१६४९] शौ. अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं याद् अजायत, मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिर् ओषधीनाम् १२।१।५७। युग-युगान्तर से पृथिवी आनन्दमग्न होकर नृत्य करती हुई गतिशील है। उसी नृत्य के छन्द में कितनी जातियों का विकास और ह्रास हुआ। वे आईं, गईं, उठीं, गिरीं। अच्युत रहीं केवल ओषधियाँ-वनस्पतियाँ — प्रत्येक नाड़ी में अग्निस्रोत के साथ अविचलित

'जो मैं घोषणा करता हूँ, वह मधुमय होता है। जो मैं देखता हूँ, वही मुझे आनन्द देता है, मैं शक्तिमान, वीर्यवान हूँ, भाव प्रवण हूँ, तेजस्वी हूँ। जो मुझे हिलाते डुलाते हैं, भय दिखाते हैं, उनका मैं संहार कर देता हूँ। मैं रक्षक हूँ। [१६५०]।

'जो शान्तिमती सुरभी जैसी सुखदायिनी पयस्विनी है जिसके थनों से मधु रस झरता है, वही भूमि, वही पृथिवी मुझे सुख दे, स्नेहाशिष प्रदान करे — साथ ही उड़ेल दे दूध की धारा [१६५१]।

'जिसका अन्वेषण किया था आहुति द्वारा विश्वकर्मा ने, जब उन्होंने तरंगायित लोक में प्रवेश किया था, आनन्दोपभोग का रस पात्र अथवा अन्नपात्र गुहाहित था, वह प्रकट हुआ उनके निकट जिनकी माताएँ हैं [१६५२]।

रहते हैं सारे साधक। 'यात्' जब से। 'मन्द्रा' द्र. टी. १३२७। 'अग्रेत्वरी' < अग्र + √इ 'चलना' (त्) + वर + ई। इस मंत्र का अभिधालभ्य अर्थ : पृथिवी पर कितनी जातियाँ आती-जाती रहती हैं किन्तु प्रकृति स्थिर रहती है।

[१६५०] शौ. यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यद् ईक्षे तद् वनन्ति मा, त्विषीमान् अस्मि जूतिमान् अवान्यान् अस्मि दोधतः १२।१।५८। इसी शतरूपा के रूप का मार्यांजन मेरी आँखों में। उसी से मेरी वाणी मधुक्षरा। निश्चित रूप से तीव्र संवेग के साथ मैं उल्का के वेग में दिव्य धाम की ओर जल उठता हूँ।... 'मधुमत्' तु. तैउ. जिह्वा मे मधुमत्तमा १।४।१। 'यद् ईक्षे...' तु. ऋ. १।७०।६-८, टी. १६०७। **जूतिमान** < √जू 'तेज़ गति से दौड़ना' > 'जव' 'वेग', 'जवन' 'वेगवान', (फुर्तीला) √द्रु > 'द्रुत' टी. १३३६। 'त्विषि' और 'जूति' मिलाकर उल्का का चित्र प्राप्त होता है (तु. ऋ. १०।६८।४)। **दोधतः** < √धू 'काँपना' + यङ् लुक् + शतृ (ऋ. १।८०।५ सायणभाष्य), इसी अर्थ में तु. ऋक्संहिता में 'द्वयावी' द्विधायुक्त (१।४२।४, २।२३।५ [साथ-साथ है 'अराति' — देवता को जो देता नहीं; अतएव 'द्वयावी', जिसके देने में द्विधा हो], ७।८५।१)। मतभेद के कारण < √दुध क्रोध करना, निघ. २।१२, अतएव 'दोधत्' शत्रु, तु. ऋ. २।२१।४ (किन्तु तु. वाता इव दोधतः १०।११७।२, वहाँ 'वेग' का बोध होता है)। कम्पन की ध्वनि सर्वत्र है, इसलिए √धू से व्युत्पत्ति सम्भावित।

[१६५१] शौ. शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती, भूमिर् अधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह १२।१।५९। शान्ति के सौरभ से, मधुर धारा के साथ पृथिवी आज सुखदा। — **कीलालोध्नी** — निघण्टु में 'कीलाल' व्युत्पत्ति? अन्न। किन्तु ऋक्संहिता में अग्नि 'कीलालपा' (१०।७१।१४)। साधारणतः सोमरस का ही पान हुआ करता है। अतः 'कीलाल' यहाँ सोमरस अथवा मधुर रस होना संभव। इसके बाद का विशेषण 'सोमपृष्ठाय', सोम का अत्यधिक लेपन। दोनों विशेषण मिलाकर 'जिसके भीतर-बाहर सौम्य आनन्द' हो। तु. तैब्रा. कीलालं...मधु २।६।१२।४, कीलालाय सुराकारम् ३।४।४।१; द्र. तत्र-तत्र सायण।... इस मंत्र में धेनु की उपमा स्पष्ट है।

[१६५२] शौ. याम् अन्वैच्छद् हविषा विश्वकर्मा अन्तर् अर्णवे रजसि प्रविष्टाम्, भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यद् आविर् भोगे अभवन् मातृमद्भ्यः १२।१।६०। सृष्टि-यज्ञ में प्रजापति के आत्मदान द्वारा कारण सलिल की गहराई से सब के लिए स्तन्यभावातुरा माँ की तरह ये कमला प्रकट हुई। — 'विश्वकर्मा' प्रथमच्छद् अवराँ आ विवेश (ऋ. १०।८१।१, टी. १४४७)। द्र. ऋ. १०।८१, ८२ सूक्त। 'हविषा' तु. पुरुष की आत्माहुति से विश्व की सृष्टि १०।९०।६-१५। इस भावना के साथ और दो भावनाओं-

'भूमि, तुम नाना जातियों को चारों ओर फैला दो। तुम अदिति हो, तुम कामधेनु हो, विस्तृत होती जा रही हो। तुम में जो अल्प है, अपूर्ण है, उसको पूर्ण करें प्रजापति — जो ऋत के प्रथम जातक हैं' [१६५३]।

'ओ मां, भूमि, स्थापित करो मुझे तुम सुभद्रा होकर, सुप्रतिष्ठित करो। द्युलोक के साथ मिलकर, ओ, कवि, श्री में या श्रेय की भूमि पर मुझे स्थापित करो और भूति अथवा पार्थिव वैभव में सुप्रतिष्ठित करो [१६५४]।

ऋषि के स्वर में स्वर मिलाकर हम भी घोषणा करते हैं: 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।' मृण्मयी होकर भी वह चिन्मयी है — यही पृथिवी का रूप है। यहाँ वह सरलमना सुकोमला कन्या है जिसने सब के लिए अपनी श्यामल गोद बिछा दी है। उसकी छः ऋतुओं के नृत्यछन्द में अहोरात्र द्युलोक से सौम्य मधु की धारा झर रही है। उसके ग्रामों-अरण्यों में जीवन का विचित्र कोलाहल मुखरित हो रहा है, फिर पर्वत-पर्वत पर, हिमानी शिखर-शिखर पर गहरे मौन की महिमा पसरी है। ओषधि-वनस्पति में प्राण का निगूढ़ स्रोत, इसके अतिरिक्त नदियों में तथा मूसलधार वर्षण में उसका मुक्त उल्लास मुखर है। 'बभ्रु कृष्णा रोहिणी विश्वरूपा' है वह — उसे हम जितना देखते हैं उतना ही आँखों का आनन्द छलक पड़ता है।

का सम्मिश्रण हुआ है; पृथिवी कारण सलिल में निमज्जिता, प्रजापति अथवा विष्णु ने वराह का रूप धारण करके उसका उद्धार किया; और समुद्र-मन्थन करने पर कमला का आविर्भाव हुआ। ब्राह्मण और पुराण में दोनों भावनाओं का विस्तार है। 'अर्णवे रजसि' — तु. ऋ. पार्थिवं रजः १।५०।८; समुद्रो अर्णवः १०।१९०।१। 'अर्णव' यहाँ विशेषण है। 'भुजिष्यं पात्रम्' यहाँ मातृस्तन; तु. ई. 'हिरण्मय पात्र' १५, जो सम्भूति का उपमान है। पृथिवी भी 'हिरण्यवक्षा'। 'मातृमद्भ्य' — सब की ही मां है। वह मां इस पृथिवी की ही कन्या है, अतएव स्वरूपतः पृथिवी। पृथिवी विश्वजननी अदिति (६१)।

[१६५३] शौ. त्वम् अस्या वपनी जनानाम् अदितिः कामदुघा पप्रथाना, यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य १।१२।६१। पृथिवी पर चारों ओर लोग फैलते जा रहे हैं और कामधेनु की तरह उसका दोहन कर रहे हैं किन्तु अब भी मनुष्य की सर्वार्थसिद्धि हुई नहीं, प्रजापति के अनुग्रह से एक दिन होगी ही। — 'आवपनी' <√वप् 'फैला देना'। 'अदिति' पृथिवी का नाम निघ. १।१। इसी से पृथिवी की महिमा की परमता। 'ऊनम्' विश्वयज्ञ की सम्पूर्ण सिद्धि अभी भी नहीं दिखाई पड़ी। मानव जीवन में अब भी सारे देवता सिद्धरूप नहीं हुए, अनेक देवता 'साध्य' रह गए (ऋ. १०।९०।१६, द्र. वेमी. प्रथम खण्ड)। इस न्यूनता की पूर्ति प्रजापति करेंगे। उसके फलस्वरूप इस पृथिवी के वक्ष पर 'उत्तमराष्ट्र' स्थापित होगा (तु. १।१२।८)। वही 'धर्मराज्य', Kingdom of Heaven on EARTH।... उसके बाद पृथिवी के निकट हम सब यही कामना करते हैं कि उसकी गोद में जो जन्मे हैं उनमें से कोई हमारे अस्वास्थ्य का कारण न बने, हम दीर्घायु हों, और हमारी चेतना बोधिदीप्त हो ('प्रतिबुध्यमानाः' तु. ऋ. ४।५१।१० उषा के आलोक में जाग उठना); हम सब उसके निकट अर्थात् सर्वभूत के निमित्त 'बलि' प्रदान कर सकें (६२)। अन्तिम प्रार्थना:

[१६५४] शौ. भूमे मातर् नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्, संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् १२।१।६३। द्युलोक के साथ नित्य संगता तुम, मेरे प्रति सर्वतोभद्रा होओ। — 'भद्रया' भद्रभाव के साथ कल्याणदीप्ता होकर। 'श्री' श्रेयः, 'भूति' प्रेयः (तु. ऋ. ८।५०।८; क. १।२।१-२)।

उसके अंग अंग की गन्ध स्थावर-जंगम, जड़-चेतन सभी को उद्विग्न या चंचल करने वाले प्राण के कमल की सुगन्ध हो जैसे। सब की अन्नदात्री अन्नपूर्णा है वह, उसके सहिष्णु वक्ष पर पुण्यमय-पापमय या भले-बुरे सब के पथ चलने की अबाध मुक्ति भी वही है। फिर अन्तिम वेला में वह 'सर्वस्य प्रतिशीवरी' है अर्थात उतान लेटी अंग अंग से अंग सटाए सभी को खींच कर अपनी कोमल गोद में ले लेती है। उसके ग्रामों, समितियों, सभाओं और राष्ट्रों में मनुष्य के बल, वीर्य, ऐश्वर्य और उत्तमता की साधना चल रही है। तब वह सब का आश्रय है, पुष्टि है और अग्रगामिनी है। यही शान्ता, सौम्या ही फिर रुद्राणी है अर्थात् इतिहास के आदि काल से विचित्र भाषाओं, विचित्र धर्मों और कितनी विचित्र जातियों को झाड़-झकझोर कर दूर फेंकती, अलग करती जा रही है।

यहाँ की यह माटी की बेटी ही फिर वहाँ की वह ज्योतिकन्या आलोकदुहिता है— जो 'अदितिर् देवतामयी' है। तब हम देखते हैं कि सत्य द्वारा आवृत उसका हृदय परम व्योम में अमृत रूप में है। वह विश्वम्भरा है, समस्त चित्शक्ति का केन्द्र है और बृहत् चेतना के उद्भास से नित्य उपचीयमाना है, ऋद्ध-समृद्ध है। अन्तर्गूढ़ ज्योति का निधान है वह, अपने अकृपण दाक्षिण्य के साथ उस ज्योति को मनुष्य के ऊपर उड़ेल देती है जो आग की सहस्र धारा के रूप में उसकी प्रत्येक नाड़ी में प्रवाहित हो जाती है। दीर्घसत्र में उसके ही वक्ष-स्थल पर तप की अग्नि प्रज्वलित करके सप्तर्षिगण; व्याहृति मंत्र से विश्व को उत्सर्पी करते हैं। उसी आर्ष यज्ञ के अनुसार पृथिवी के परम अन्त में मनुष्य-यज्ञ का प्रवर्तन होता है जिसमें सुषुम्णाकाण्डवाही अग्निस्रोत का प्रतिरूप वानस्पत्य यूप प्रोथित होता है। और उसको पार करके इन्द्र स्वयंवरा यह सर्पराज्ञी वृत्र का अवरोध तोड़कर ऊपर की ओर सोम प्रवाहिनी के रूप में प्रवाहित होने लगती है। उसके अनुग्रह से मनुष्य तब '**अजीतोऽहतो** अक्षतः, आशामाशां विषासहिः'— अर्थात् सर्वजित होता है, दसों दिशाओं में जिसकी शक्ति सर्वजया होती है।

मृण्मयी पृथिवी '**असितज्ञू**' है— जिसका आँचल अथवा गोद श्यामल है। फिर वही चिन्मयी है, उस समय वह 'वैश्वानरं बिभ्रती अग्निवासा' योगिनी है।

'तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।' [१६५५]

पृथिवी और पृथिवीस्थान देवताओं का भी परिचय यहाँ समाप्त हुआ। इसके ही सम्बन्ध में इस बार आलोच्य है पृथिव्यायतन सत्व।

[१६५५] ऋषि अथर्वा ने जिस दृष्टि से पृथिवी को देखा था, हज़ारों साल बाद प्रकाश और छाया की सुषमा से मण्डित ऐसी समग्रता की एक छवि कविगुरु रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में प्रस्फुटित हुई। उनकी 'वसुन्धरा', (सोनार तरी) और 'पृथिवी', (पत्रपुट) में बयालीस वर्षों का अन्तर है। किन्तु दोनों कविता वैदिक भावना की सुगन्ध से सुवासित। इस युग के साहित्य में यह एक आनन्दचकित विस्मय है।

२ - पृथिव्यायतन सत्व

'पृथिव्यायतन सत्व' के अर्थ में ऐसे पदार्थों का बोध होता है जिनका आश्रय पृथिवी है। 'सत्व' यहाँ भाव और वस्तु दोनों का ही वाचक है; वस्तु भी चेतन अचेतन दोनों ही है। निघन्टु में इसप्रकार के छत्तीस सत्वों का नाम है [१६५५]। दुर्ग के कथनानुसार यह उपलक्षण मात्र है, सर्प, लाङ्गल, कुषुम्भक इत्यादि को भी इनमें सम्मिलित करना होगा।[1]

यास्क यहाँ एक प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि अश्व से ओषधि तक और उसके बाद आठ युग्म पदार्थों का कोई प्रत्यक्षतः देवता ही नहीं है किन्तु देवताओं की तरह ही इनकी स्तुति की जाती है — इसकी मीमांसा क्या है? [१६५६] उनके सिद्धान्त के अनुसार ये तथाकथित अदेवता एक ही आत्मा के विभिन्न रूप हैं। अग्नि इन्द्र सूर्य रूप में वही त्रिधाभूति एक देवता हैं; अन्यान्य सारे देवता उनके ही अंग हैं और अश्व इत्यादि प्रत्यंग हैं। फिर जो कुछ सत्व है, वह सब एक ही प्रकृति का बहुविध परिणाम है और प्रकृति सर्वनाम अर्थात सब की साधारण संज्ञा है। अतएव आपाततः जो अदेवता है वह भी आर्षदृष्टि में देवता है। सब कुछ ही एक परमतत्व अथवा पुरुष अथवा आत्मा की विभूति है।[1]

आधिभौतिक दृष्टि में जो अचेतन है, आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि में वह भी सचेतन है क्योंकि 'प्रथमच्छद् अवराँ आ विवेश', सब के पहले सभी को जिन्होंने आच्छादित कर रखा है वे उन सब में व्याप्त हैं जो उनके नीचे अवस्थित हैं। सब में उनको देखना एक सहज दर्शन है, आदिम दर्शन है; जिसे हमने बुद्धि की परिपक्वता के क्रम में खो दिया है। रामकृष्णदेव कहा करते थे कि 'बालक सब कुछ चिन्मय देखता है।' यूरोपीय पंडित कहेंगे कि 'आदिमानव भी वही देखता है।' उन्होंने इस दृष्टि को animatism, animism, fetishism इत्यादि का नाम दिया है। यह दृष्टि निश्चित रूप से विवेकहीन अप्राज्ञ की दृष्टि है। किन्तु इसके भीतर ही एक चिन्मय अविवेक अथवा सामरस्य के अनुभव का आभास निहित है जो रहस्यविदों, मर्मज्ञों का 'परमोते संदूक' है। कवि में यह दृष्टि खुलती खिलती है एवं अन्त में साक्षात्कृतधर्मा ऋषि में वह पूर्णता प्राप्त करती है। प्राज्ञ अथवा मनीषी का animism सर्वत्र एक चिन्मय महाप्राण का आवेश देखता है। वैदिक ऋषि की दृष्टि इसी कोटि की है। वह एक ही समय, साथ-साथ अवम एवं परम है।

[१६५५] द्र. निघ. ५।३। [1] नि. ७।१; द्र. ऋ. १०।१६।६, ४।२८।४, १।१७१।१५-१६।

[१६५६] द्र. नि. ७।४...। यास्क के इस कथन को सामान्य रूप में ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि युग्मों में द्यावापृथिवी अग्नि, वायु, सूर्य की तरह ही बहुस्तुत देवता हैं, शुनासीर का 'शुन' कृषि का कोई उपकरण नहीं, किन्हीं 'जोष्ट्री' एवं 'ऊर्जाहुती' को संहिता में ही देवी बतलाया गया है। तब भी कहा जा सकता है इन सब नामों का बोधक लौकिक पदार्थ है, उसमें देवत्व उपचरित है। किन्तु अन्यान्य अनेक देवताओं के सम्बन्ध में भी वही है। इस कारण जान पड़ता है कि निघन्टु में इन सब नामों का संकलन -

नव्यवेदान्त में हम इसी दृष्टि का विश्लेषण प्रतीकोपासना की विवृति में पाते हैं। ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द एवं शक्ति स्वरूप हैं। स्वरूप चिन्तन के द्वारा ब्रह्म की उपासना सहज साध्य न होने पर किसी प्रतीक के माध्यम से भी उनकी उपासना की जा सकती है। ब्रह्म ही सब कुछ हुए हैं अतएव सारी वस्तुएँ ही उनका प्रतीक हैं। प्रतीक को ऊपर-नीचे दोनों ओर से ही देखा जा सकता है। सूर्य की ज्योति को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। अब हम इस ज्योति का सहारा लेकर यदि ब्रह्म-ज्योति को कोटि सूर्यसमप्रभ रूप में स्मरण करने की चेष्टा करते हैं तो फिर यह नीचे से ऊपर की ओर देखना है या इसे आरोह-दृष्टि कहा जाएगा। यहाँ दृष्टि का प्रेषक, निदेशक बुद्धि है। इसे सम्पद्-उपासना कहा जाता है। और सूर्य को यदि अनिर्वचनीय ब्रह्मज्योति की ही छटा के रूप में स्मरण करें तो फिर वह अवरोह-दृष्टि होगी। इस दृष्टि से उपासना का नाम अध्यास-उपासना है। इसका प्रेषक अथवा निदेशक बोधि है। साधारणतः साधना के आरम्भ में सम्पद्-उपासना की ओर ही झुकाव होता है, अध्यासोपासना आगे चलकर ही सुसाध्य होती है।

यह कहने में कोई सन्देह नहीं कि सभी पृथिव्यायतन सत्व, देवता अथवा आत्मा अथवा ब्रह्म के प्रतीक (Symbol) हैं। इनमें कई तो यज्ञाङ्ग हैं और कई यज्ञांग के बहिर्भूत हैं। उनके मंत्र अथवा मनन के अन्तर्भुक्त करने का उद्देश्य है– उनमें चित् शक्ति के आवेश का अनुभव करके उसको विच्छुरित करना। यह मंत्र का कार्य अथवा सामर्थ्य का पक्ष है। और मनन के फलस्वरूप आत्मचैतन्य का उद्दीपन उसकी प्रज्ञा का पक्ष है। ब्रह्म अथवा मंत्र उभयधर्मा हैं [१६५८]।

निघन्टु में जिन कई पृथिव्यायतन पदार्थों का नाम है, उनमें अन्त के दो नाम छोड़ कर ऋक्संहिता में सब का परिचय प्राप्त होता है। फिर वहाँ 'अघ्न्या' और 'अग्नायी' के अतिरिक्त सभी सूक्तभाक् हैं या फिर किसी न किसी प्रकार से एक ही सूक्त के अन्तर्गत हैं। सम्भवतः इसीलिए ही विशेषरूप से उनका पृथक उल्लेख किया गया है। इनमें पशु-पक्षी, अरण्यानी, ओषधि, अप और नदी ये सभी हैं जो पृथिवी के अन्तर्भुक्त हैं; फिर कई यज्ञ के उपकरण, संग्राम के उपकरण, कृषि के उपकरण, अन्न और अक्ष हैं जो मनुष्य के उपयोग की वस्तुएँ हैं अथच मनुष्य का उल्लेख कहीं नहीं है किन्तु अन्तरिक्ष स्थान एवं द्युस्थान देवताओं के साथ ऋभुगण, पितृगण एवं ऋषिगण का

किया गया है, प्रायशः इनके सूक्तभाक् होने के कारण एवं इनमें अचेतन पदार्थों के बाहुल्य के कारण यास्क के उस विचार का प्रवर्तन। १ तु: १।१६४।४६, ८।५८।२, १०।८०।२; टीमू १२२८; 'अयम् अस्मि सर्वः' जहाँ देवता = आत्मा १०।६१।१८ टी.१३१७५।
[१६५८] दत्तील पृथिव्यायतन सत्वों में यास्क रात्रि से अग्नायी तक छः सत्वों को अचेतन रूप में ग्रहण नहीं करते हैं, यह लक्षणीय है। इनमें प्रथम चार सूक्तभाक् और अन्त के दो ऋग्भाक् हैं। अग्नायी स्पष्टतः ही देवता है और चिद्वृत्ति श्रद्धा भी वही। 'उषसानक्ता' जब युग्म देवता, तब नक्ता का पर्याय रात्रि भी देवता। अरण्यानी पृथिवी का ही एक महनीय रूप है, उस युग के ग्राम की अपेक्षा भी आयतन में बृहत्तर।

है — यह ध्यातव्य है। अप्रत्याशित रूप में इसके साथ यदि किसी पार्थिव सत्व (जैसे अहि, धेनु, सुपर्ण इत्यादि) का सन्धान प्राप्त होता है तो फिर उसको निस्सन्देह उपमान अथवा प्रतीक रूप में ग्रहण करना होगा।

अब पार्थिव सत्व का परिचय बहुत संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

निघण्टु में प्रथम नाम ही **अश्व** का है। यह अश्वमेध का अश्व है। ऋक्संहिता में दीर्घतमा औचथ्य के दो सूक्तों में उसकी स्तुति है [१६५८]। अधिभूत दृष्टि से वह पार्थिव सत्व है किन्तु देवता के निमित्त हव्य रूप में कल्पित होने से वह अधियज्ञ दृष्टि में दिव्य अश्व है। वह 'देवजात'[1] है, समुद्र से अथवा ज्योतिर्वाष्प से उड़कर आया है।[2] सब से पहले इसमें इन्द्र अधिष्ठित हुए थे, इसे ज्योति के देवता सूर्य से काट-छाँट कर गढ़ा था[3] यह वस्तुतः आदित्य सोम यम, वरुण एवं त्रित है,[4] इसके तीन बन्धन हैं — अप् में, समुद्र के गहराव में एवं द्युलोक में;[5] इसके पीछे रथ, उसके बाद एक तरुण, फिर गोयूथ, उसके बाद कुमारी कन्याओं का बन्धु भग और उसके बाद सखाओं का दल है।[6] इस वर्णन के अनुसार अश्व सर्व-देवमय सूर्याश्व है। बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रारम्भ में ही बतलाया जा रहा है कि अश्वमेध का यह अश्व विश्वरूप है अर्थात् उषा उसका मस्तक है, सूर्य चक्षु है, संवत्सर आत्मा इत्यादि, संक्षेप में 'समुद्र एवास्य बन्धुः, समुद्रो योनिः' है। वह मृत्युरूपी आदि अव्यक्त का मेध्य शरीर है एवं पुनर्मृत्युजय का साधन है।[7] इसके अतिरिक्त अश्वमेध का अश्व यजमान का ही प्रतीक है, उसकी गति परम सधस्थ की ओर है।[8] ध्यातव्य है कि यह अश्व ही पृथिव्यायतन सत्व होने पर भी देवता है; किन्तु 'दधिक्रावा' अथवा 'एतश' अश्व होकर[9] भी पृथिव्यायतन नहीं — इनमें एक अन्तरिक्ष स्थान है[10] और एक सूर्याश्व है।[11]

अश्व के बाद **शकुनि** अथवा पक्षी है। उसके सम्बन्ध में रचित गृत्समद के दो सूक्त हैं [१६६०] किन्तु कौन सा पक्षी है, उसका कोई नाम नहीं है। शौनक बतलाते हैं कि इन्द्र ही कपिंजल अथवा चातक रूप में ऋषि की यात्रा के समय बोल पड़े थे।[1] वह जो ही हो

जो चेतना में व्यापकता के बोध को उद्दीप्त करता है, वही देवता है। प्रकरण से लगता है, 'अप्वा' सप्तशती की चामुण्डा की तरह शत्रुमर्दिनी दिव्यशक्ति के रूप में देवता है।

[१६५८] ऋ. १।१६२, १६३ सूक्त। [1] १।१६२।१। [2] १।१६३।१, [3] २, [4] ३, ४, [5] ४। [6] तु. अनु त्वा रथो अनु मर्यो अर्वन्न् अनु गावोऽनु भगः कनीनाम्, अनु व्रातासस् तव सख्यम् ईयुः ...८; इस मंत्रांश में पौराणिक भागवत धर्म का बीज निहित है [विशेष द्रष्टव्य 'गग']। [7] बृ. १।१-२ ब्राह्मण; द्र. वेमी. प्रथम खण्ड। [8] तु. १।१६३।१३, द्र. टीमू १५८४। प्रथम अश्व सूक्त में क्रिया एवं द्वितीय में तत्व का प्राधान्य है। [9] द्रष्टव्य, निघ. १।१४। [10] निघ. ५।४। [11] तु. यद् ईम् (इसे अर्थात् सूर्य को) आशुर् (शीघ्रगामी) वहति देव एतशः ... ७।६६।१४। अनुरूप, 'तार्क्ष्य', 'पैद्व' आगे चलकर द्रष्टव्य।

[१६६०] ऋ. २।४२, ४३ सूक्त। [1] बृदे. ४।९३-९४।

इन दो लघु सूक्तों में किसी पक्षी का कलरव, उसका मधुर संगीत-मय स्वर सुनकर ऋषि का चित्त आनन्द से आप्लावित हो रहा है; लगता है उसका मधुर शब्द डाँड़ से खेने वाली नाव की तरह तैरता आ रहा है। वह मंगलमय है, शुभंकर है, कोई बाज़ अथवा व्याध उसे छू न पाए। उसका गान लगता है उद्गाता का सामगान है; या फिर जैसे सोमसवन में ब्रह्म-पुत्र का शंसन हो। उसका गान सुभद्र हो, पवित्र हो। वह यदि चुप भी रहे तब भी हम जताते रहेंगे अपने मन की प्रसन्नता।[२]

इसी प्रसन्नता का उच्छलन ऋषिकवि वसिष्ठ द्वारा रचित मंडूक-स्तुति में दिखाई पड़ता है [१६६१]। शकुनि सूक्त की तरह ही यह सूक्त प्रकृति-वर्णन का एक सुन्दर निदर्शन है। इसके पीछे कोई निगूढ़ अर्थ है कि नहीं, उसे लेकर यूरोपीय पंडितों ने माथा पच्ची की है। कुछ का कहना है, यह एक व्यंग्य कविता है— इसमें ब्राह्मणों के सामगान अथवा ब्रह्मचारियों के वेदपाठ की तुलना मेंढक की बोली टर्र टर्र के साथ की गई है। किन्तु कई जगहों पर ब्राह्मण अथवा शिक्षार्थी के साथ मेंढकों की तुलना किए जाने के बावजूद[१] समस्त सूक्त की अर्थ-व्यंजना से यह मत समर्थित नहीं होता। इस सूक्त में वर्षा के आरम्भ से जुड़ी अनुभूतिजन्य एक आनन्द की छवि है, किसी के प्रति कोई कटाक्ष अथवा आक्षेप नहीं, और अन्तिम ऋक् की प्रार्थना तो अवैदिक देव-निन्दकों की हो ही नहीं सकती। साम्प्रतिक मत यह है कि यह वर्षा के लिए टोने-टोटके का मंत्र (RAIN-SPELL) है, यद्यपि Geldner ने लक्ष्य किया है कि समस्त सूक्त में ऐसी एक उक्ति भी नहीं है जिससे वर्षा के लिए प्रार्थना का बोध हो। यास्क भी कहते हैं कि वर्षण की कामना करते हुए वसिष्ठ ने "पर्जन्य" का स्तवन किया। मंडूकों ने उनका अनुमोदन किया। मंडूकों को अनुमोदन करते देखकर उन्होंने यह स्तुति की।[२] वर्षण-कामना के दो सूक्त शौनक संहिता में हैं, उनमें से एक में इसी सूक्त का केवल प्रथम मंत्र लिया गया है।[३] मंत्र के मूल तात्पर्य की ओर ध्यान न देकर विशेष किसी भी प्रयोजन से उसके विनियोग की प्रथा अति प्राचीन है। इस प्रकार एक ही मंत्र निःश्रेयस एवं अभ्युदय दोनों अर्थ में ही विनियुक्त हो सकता है; यह मंत्र शास्त्र की साधारण रीति है। सायण भी इस सूक्त की व्याख्या के आरम्भ में कहते हैं,—

---

[२] आंशिक स्वच्छन्द अनुवाद। ऋक् संहिता में 'उद्गाता' का नाम केवल यहाँ ही है। 'ब्रह्मपुत्र' सायण के मतानुसार ब्रह्मगण का ब्राह्मणाच्छंसी। इस सूक्त को शुभ शकुनवाची न समझ कर कविहृदय का भावावेश अथवा उल्लास कहना ही संगत। अपशकुन के लिए द्र० ऋ० १०।१६५ सूक्त।

[१६६१] ऋ० ७।१०३ सूक्त। [१] शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः (५) इस मंत्रांश में आदि-वेदांग 'शिक्षा' की निरुक्ति प्राप्त होती है। आचार्य 'शाक्त' अथवा शक्तिमान, मंत्र के माध्यम से शक्तिसंचार में समर्थ; और अन्तेवासी 'शिक्षमाण'— वही शक्ति को ग्रहण करता है। 'शक्' धातु का प्रयोग लक्षणीय। यह शक्ति इन्द्र की 'शची', अथवा आचार्य की ओजशक्ति (तु० तैउ० शीक्षावल्ली १।४। [२] नि० ९।६। [३] शौ० ४।१५, ७।१८ सूक्त; शौ० ४।१५।१२ = ऋ० ७।१०३।१। यास्क ने शौ० ४।१५।१४ की भी व्याख्या की है।

'वृष्टिकामेनैव तत् सूक्तं जप्यम।' यह मतलब की बात हुई किन्तु यथार्थतः इस सूक्त का तात्पर्य क्या है?

प्रारम्भ में ही लक्षणीय है कि इस सूक्त के पूर्व ही दो पर्जन्य-सूक्त एवं उसके भी पूर्व दो विष्णु सूक्त हैं [१६६२]। प्रथम विष्णु सूक्त में इन्द्र-विष्णु का एक तृच है।[1] फिर उसी चिरप्रचलित संकेत की बात मन में कौंध जाती है— इन्द्र शम्बर के निन्नानबे पुरों का भेदन करते हैं[2] 'शुष्ण' अथवा अनावृष्टि के संतपन पर विजय प्राप्त करते हैं और द्युलोक से अमृत आनन्द की धारा बरसाते हैं। वही पर्जन्य का धारासार है जो तीन भुवन के तीन कोशों से झर पड़ता है।[3] इस देश में यही उस समय घटित होता है जब सूर्य उत्तरायण के चरम विन्दु पर होते हैं और विष्णु अपने परम पद में मधु के उत्स।[4] इस प्रकार जब इन्द्र, पर्जन्य और विष्णु का मिलन होता है, तब 'व्रतचारी ब्राह्मण'[5] का वज्रतेज अथवा ओजःशक्ति वृत्र की समस्त ग्रन्थियों को विदीर्ण-विकीर्ण करके अन्तरिक्ष के प्राण और द्युलोक की प्रज्ञा को जीवन के ऊपर अविराम बरसा सकता है। वह उसके एक परम आनन्द का दिन होगा। वासिष्ठ की मण्डूक स्तुति में उसी ज्योति के उत्सव की छवि है। भौम अत्रि के पृथिवी सूक्त की तरह यह भी पर्जन्य स्तुति का परिशेष है।

ब्रह्मोपलब्धि का वर्णन करते हुए रामकृष्ण देव ने कहा था, 'मुझे ऐसा लगा कि सच्चिदानन्द जैसे समुद्र और मैं उसमें जैसे एक मीन हूँ।' यहाँ भी वैसा ही वर्णन है। 'सूखे मशक या भिश्ती के चमड़े के थैले की तरह सरोवर में वे सोये हुए थे, उनके भीतर आकुलता थी, तृष्णा थी। दिव्य अप अथवा जलधारा उनके निकट तीव्र गति से आई, वे कोलाहल करने लगे' [१६६३]। वर्षाकाल में जब उनके ऊपर वृष्टि का निर्झरण हुआ तब जैसे पुत्र पिता की ओर किलकिलाते खिलखिलाते दौड़ पड़ता है वैसे ही वे अपनी बोली बानी में उछलते कूदते एक दूसरे की ओर दौड़ चले। वर्षा के थमते ही उनके आनन्द का क्या कहना; एक दूसरे से लिपट जाते हैं, उछलते-कूदते हैं— 'पृश्नि' अथवा रंग-बिरंगे, चितकबरे 'हरित' अथवा सुनहले रंगों वालों के साथ स्वर से स्वर मिलाकर बोलते हैं। संवत्सर का वही एक दिन, जिस दिन वृष्टि होती है, वे उसे भूलते नहीं। किनारे तक भरे-भरे सरोवर के चारों ओर वे बोलते रहते हैं— जिस प्रकार अतिरात्र सोमयाग में ब्राह्मण रात भर सामगान करते हैं।

[१६६२] द्र. ऋ. ७।९९—१०२ सूक्त। [1] ऋ. ७।९९।४-६। [2] ७।९९।५। [3] ७।१०१।४। पर्जन्य अन्तरिक्षस्थान होते हुए भी अग्नि त्रिषधस्थ। [4] तु. ऋ. १।१५४।५। [5] ७।१०३।१।

[१६६३] ऋ. दिव्या आपो अभि यद् एनम् आयन् दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्... यद् ईम् एनाँ उशतो अभ्य् अवर्षीत् तृष्यावतः ७।१०३।२, ३। लक्षणीय, 'एनम्' एवं 'एनान्' का सहचार। अमृत आनन्द एक जन ही पाता है किन्तु वह अनेकों के उपभोग में काम आता है। [1] तु. ७।१०३।३,४; ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णम् अभितो वदन्तः, संवत्सरस्य तद् अहः परिष्ठ यन् मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ७।

'संवत्सरस्य प्रावृषीणं अहः' — संवत्सर का वह दिन जिस दिन प्रथम वर्षा होती है। इस दिन के बारे में पहले भी बतलाया गया है। गुरुपूर्णिमा में, 'धर्मचक्रप्रवर्तन-तिथि' में, अम्बुवाची में, 'कजरी' अथवा 'हरियाली' तीज के उत्सव में आज भी इस दिन की स्मृति अक्षय, अक्षुण्ण है। इसी दिन की प्रतीक्षा में व्रतचारी ब्राह्मण संवत्सर काल (जैसे) सोकर व्यतीत करते हैं और इस दिन के आने पर पर्जन्य के धारासार वर्षण से प्राणमय वाणी में मण्डूकों की तरह मुखरित हो उठते हैं [१६६४]। समूचे वर्ष के बीतने तक वे 'ब्रह्म' अथवा बृहत् की चेतना का पोषण करते आए हैं, इस समय सौम्य आनन्द में परिषिक्त, आप्लावित होकर वे उसे वाक् अथवा वाणी में रूपायित करते हैं।[1] यह वाक् अनाहत श्रोत्रिय की ब्रह्मानन्दोपलब्धिजनित वही सामगान एवं ब्रह्मघोष है जिसका वर्णन हमें तैत्तिरीयोपनिषद्[2] में प्राप्त होता है। संवत्सर-व्यापी तपस्या के ताप से पसीने-पसीने होकर अध्वर्युगण सौरदीप्ति को अन्तर में सहेजते हुए बाहर आ जाते हैं। क्या ब्राह्मण, क्या अध्वर्यु कोई फिर आड़ में नहीं रहते हैं, सभी सब के निकट आविर्भूत होते हैं।[3] संवत्सर के इस अन्तिम महीने में निहित है 'देवहिति' अथवा देवता का दान अर्थात् अनुत्तर या लोकातीत ज्योति का प्रसाद; जिसकी वे इतने दिन रखवाली करते रहे हैं। आज जब इस दिन के आगमन पर उसको प्रकट करने की 'ऋतु' अथवा लग्न आई तब ऋत्विक होने के कारण ही उन्होंने उसका अतिक्रमण नहीं किया; मूसलधार वृष्टि के साथ-साथ महावीर की तरह तप के ताप और ज्योति को मुक्ति प्रदान की।[4] इन्होंने ही हमें ज्योति की जानकारी दी और अन्तर्ज्योति से मर्त्यजीवन के शतवर्ष को धन्य किया। अब द्युलोक से सहस्रधाराओं में निर्झरित सौम्य आनन्द के प्लावन से हम सब के जीवन को वे उत्तीर्ण करें अमृत के कूल पर।[5]

[१६६४] ऋ. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः, वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ७।१०३।१। संयम से शक्ति का संहरण, संचयन एवं यथासमय वाक् में उसका विच्छुरण। पर्जन्य के धारासार अथवा सौम्य आनन्द के निर्झरण से वाक् का जाग उठना। [1] ऋ. ब्राह्मणासः सोमिनो वाचम् अक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ७।१०३।८। [2] तु. तैउ, १।१०, ३।१०।५-६। [3] अध्वर्यवः घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ७।१०३।८। 'घर्म' सौरदीप्ति <√ घृ 'दीप्तिक्षरणयोः'। ब्राह्मण 'सोमिनः' अथवा सौम्य आनन्द के आधार हैं (द्र. ७।११३ सूक्त)। ब्राह्मण एवं अध्वर्यु तु. १०।७१।११। [4] तु. देवहितिं जुगुपुर् द्वादशस्य (द्वादशमासात्मक वत्सर का) ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्य् एते, संवत्सरे प्रावृष्य् आगतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ७।१०३।९। 'तप्ता घर्माः' श्लेष युक्त है— इससे बोध होता है उन व्रतचारी ऋत्विकों का जिन्होंने संवत्सरकाल सोमयाग करके तपःशक्ति एवं ज्योति का संचय किया है; फिर घर्म से ग्रीष्म ऋतु का भी बोध होता है, उसके बाद ही वर्षा (विसर्गः)। अग्निष्टोम के अन्तर्गत एक अनुष्ठान का नाम 'प्रवर्ग्य' है जो यजमान को दिव्य देह प्रदान करता है (ऐब्रा. १।२२)। इसी प्रवर्ग्य में देवताओं के निमित्त 'घर्म' की आहुति दी जाती है। महावीर नामक एक पात्र में घी के साथ दूध गरम किया जाता है, उसको 'घर्म' कहते हैं। यह 'घर्म' सूर्यस्वरूप एवं अमृतज्योति (मा. ३७।२)। यहाँ इस घर्म की ध्वनि का होना असम्भव नहीं। [5] ऋ. गोमायुर् अदाद् अजमायुर् अदाद् पृश्निर् अदाद् हरितो नो वसूनि, गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ७।१०३।१० मण्डूकों में कोई 'गोमायु'— जो गाय के रँभाने जैसा शब्द करता है, कोई 'अजमायु'— जो छागल या बकरे जैसा शब्द करता है; इसके अलावा 'गो' उषा का वाहन, 'अज' पूषा का (निघ. १।१५)।

यह कहना अतिशयोक्ति है कि सूक्त के अन्त का 'मण्डूक' और सूक्त के आरम्भ का 'ब्राह्मण' एक हैं। किन्तु यास्क की निरुक्ति को मानते हुए ब्राह्मण अथवा ब्रह्मविद् मण्डूक कह सकते हैं क्योंकि वे ब्रह्मानन्द में 'निमज्जित', 'प्रमुदित' अथवा 'मत्त' हैं [१६६५]। अन्त के शब्द की व्युत्पत्ति का बीज संहिता में ही है।[१]

इन तीन सचेतन पदार्थों के बाद अब 'ओषधि' तक अचेतन सत्त्वों का प्रसंग [१६६६] है। जिनमें प्रथम ही **अक्ष** है जिसका प्रसंग ऋक्संहिता के सुप्रसिद्ध अक्ष सूक्त में पाते हैं। सूक्त के ऋषि कवष ऐलूष हैं और दशम मण्डल का यह एक उपमण्डल उनकी रचना है।[१] यह अक्षसूक्त उपमण्डल के अन्त में है। यह ऋषि का आत्मविलाप है; द्यूतक्रीड़ा के प्रति उनकी आसक्ति की कोई सीमा नहीं, उसके फलस्वरूप सुखी संसार में आग लग जाने से मां-बाप द्वारा घर से बाहर निकाल देने की स्थिति, अन्त में सविता के अनुग्रह से सुमति प्राप्त होने पर जुआ खेलना छोड़कर खेतीबारी में मन लगाना— यह सब कुछ ही इस सूक्त में मर्मस्पर्शी भाषा में व्यक्त हुआ है। उनकी कवित्व शक्ति का विशेष परिचय अन्यान्य सूक्तों में भी प्राप्त होता है।

लगता है, कवष का जीवन बहुत कुछ रत्नाकर से वाल्मीकि होने की तरह विचित्र है। दुर्व्यसन छोड़कर वे गहरी साधना में रत हो गए। उनकी ही भाषा में 'निहित किया गया है जिनको सब के भीतर, अप्समूह अथवा जलधाराओं में जो निगूढ़ हैं, देवताओं के व्रतपति (वरुण) ने उनके बारे में यह बतलाया है। उसके बाद है अग्नि, इन्द्र ने मुझे बतलाया। उनके अनुशासन का पालन करते हुए ही मैं (तुम्हारे निकट) आया। जो क्षेत्रविद् नहीं है जब उसने क्षेत्रविद् से पूछा तब (उसके बाद ही तो) वह क्षेत्रविद् का अनुशासन मानकर आगे बढ़ जाता है। अनुशासन के इसी वैशिष्ट्य के कारण मनुष्य क्षिप्रगामिनी (अप् की) धाराओं को प्राप्त कर लेता है [१६६७]।' उन्होंने अपनी साधना

कोई 'हरित' अथवा हिरण्यद्युति अथवा आदित्यवर्ण अथवा सोनाली (सुनहले), कोई 'पृश्नि' अथवा चित्रवर्ण— मरुद्गण की माता की तरह। 'गवां शतानि' एक सौ किरणें:- शतवर्ष जीवन का प्रत्येक वर्ष ही ज्योतिर्मय (तु. ई. २)। 'सहस्रार' (तु. ऋ. ३।५३।७)- सहस्रवर्षव्यापी सवन अथवा सोमयाग, सृष्टि के आरम्भ में 'विश्वसृजामयनम्' नामक देवयज्ञ (द्र. ता. २५।१८ और तत्र सायणभाष्य)।

[१६६५] द्र. नि. ९।५। तु. श.ब्रा. एतद् वै यत्रैतत् प्राणा ऋषयोऽग्निं समस्कुर्वंस्तम् अद्भिर् अवोक्षंस, ता आपः समस्कन्दंस् ते मण्डूका अभवन् (९।१।२।२१) अर्थात् मण्डूक अग्निष्वात्त प्राण का प्रतीक। [१] तु. ऋ. अपां प्रसर्गे (तु. विसर्गम् ९) यद् 'अमन्दिषाताम्' ७।१०३।४। समस्त सूक्त में संवत्सरव्यापी 'गवामयन' सोमयाग की ध्वनि है। Jacobi के विचार से यहाँ वर्षा के आरम्भ में नववर्ष का संकेत है, (तु. ७)।

[१६६६] उसमें व्यतिक्रम 'वृषभः' (१७); 'ओषधि' सप्राण, किन्तु अचेतन (द्र. मी.सू. १।२।३१, ब्र.सू. २।१।५)। [१] ऋ. १०।३०-३४ सूक्त।

[१६६७] ऋ. निधीयमानम् अपगूळ्हम् अप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच, इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहम् अग्ने अनुशिष्ट आगाम। अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्य् अप्राट् स

और सिद्धि का परिचय स्वयं ही इस रूप में दिया है : मर्त्य मानव सब प्रकार से अग्निस्रोत का मनन करेगा और ऋत के पथ को प्रणति देकर अपने अधिकार में करना चाहेगा। और अपने सामर्थ्य के ऊपर ही आश्रित रहना होगा; श्रेयस्कर सृष्टि-सामर्थ्य को मनोयोग के साथ सहेज कर रखना होगा। ध्यान को स्थापित करते ही धाराएँ बह चलीं, घाट या किनारे पर जिस प्रकार आते हैं उसी प्रकार तिमिरनाशक के निकट आते हैं (देवतागण)। हम आ पहुँचे परमोपलब्धि के गौरव-शिखर पर और परम विज्ञान हुए चरम तत्व को जानकर, देवताओं का सान्निध्य प्राप्त किया।'१

किन्तु उनका कुख्यात अतीत प्रेत की छाया की तरह तब भी उनका पीछा करता है। ऐतरेयब्राह्मण में एक वर्णन के अनुसार सरस्वती के किनारे ऋषियों का सत्र आरम्भ हुआ। कवष उस सत्र में सम्मिलित होना चाहते थे। किन्तु ऋषियों ने कठोर कर्णकटु शब्दों में कहा 'दासीपुत्र, जुआड़ी, अब्राह्मण! हम लोगों के साथ यज्ञदीक्षा लेना चाहते हो?' वे सब उनको बलपूर्वक खींचकर बहुत दूर मरुभूमि में ले गए; वहाँ बैठा मरे प्यासा। कलेजा दहला देनेवाली हृदयविदारक प्यास से छटपटाते कवष ने अपोनप्त्रीय सूक्त में अप् देवता का आह्वान किया और सरस्वती का जल उनको घेर कर कल्लोलित हो उठा। ऋषियों की समाधि भंग हुई; 'देखते हैं कि सभी देवता इसे जानते हैं। अच्छा यही होगा कि हम इसे अपने सत्र में बुला लें [१६६८]।'

एक समय कवष त्रसदस्यु वंश के राजा कुरुश्रवण के प्रिय पुरोहित हुए थे। राजा की मृत्यु के बाद उनके पुत्र उपमश्रवस सम्भवत: कवष का अनादर करते हैं। इस एक सूक्त में इसे लेकर कुछ खेद प्रकट करने का उल्लेख है। वहाँ भी कहने का ढंग अपूर्व है [१६६९]। ऋक् संहिता के

प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः, एतद् वै भद्रम् अनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्य् अञ्जसीनाम् १०।३२।६-७। 'अपगूळ्हम् अप्सु' द्र. सौचीक अग्नि। 'क्षेत्रवित्' प्रज्ञावान आचार्य, जो क्षेत्र अथवा आधार की जानकारी रखते हैं (तु. 'क्षेत्रज्ञ', गी. १३।१-६, 'क्षेत्रस्य पतिः' ऋ. ४।५७।१-३, द्र. 'शुनासीर' आगे चलकर)। 'स्रुतिम् अञ्जसीनाम्' तु. 'अञ्जसव', द्र. 'उलूखलमुसल' आगे चलकर। और भी तु. बौद्धशास्त्र की 'सोतापत्ति'। १ ऋ. परि चिन् मर्तो द्रविणं ममन्याद् ऋतस्य पथा नमसा विवासेत्, उत स्वेन क्रतुना सं वदेत श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्। अधायि धीतिर् अससृग्रम् अंशास् तीर्थे न दस्मम् उप यन्त्य् ऊमाः, अभ्य् आनश्म सुवितस्य शूषं नवेदसो अमृतानाम् अभूम १०।३१।२-३। 'दक्ष' संकल्प सृष्टि-सामर्थ्य (टी. १३७६[३] वे.मी. द्वितीय खण्ड)। 'अंश'।। अंशु, किरण, सोम्य आनन्द की धारा (तु. टी. १५७२)। 'दस्म' परम देवता, जिनके आविर्भाव से सारा अँधेरा दूर हो जाता है, उनको जिस भूमि प्राप्त किया जाता है, वही परम तीर्थ है। उनको प्राप्त कर लेने पर सभी अपने आप आते हैं। उस समय सारे देवता 'ऊमाः' (< √अव् 'अगोरे रहना, रक्षा करना') नित्य सामीप्य द्वारा घेरे रहते हैं। 'सुवित' प्रतितुलनीय 'दुरित'; तु. ऋ. १।२।२४। **नवेदाः** जो जानते हैं वे ही विद्वान, चरम तत्त्व को जानने से जब सारा ज्ञान चुक जाता है तब उस समय वह न जानना ही वास्तविक जानना है (द्र. वेदमीमांसा प्रथम खण्ड टी. ६१४, ७३१)।

[१६६८] ऐब्रा. २।१९: अपोनप्त्रीय सूक्त ऋ. १०।३०, जिससे कवष रचित उपमण्डल का आरम्भ।

[१६६९] द्र. ऋ. १०।३३।४-९।

सप्तम मण्डल में दाशराज सूक्त में एक 'श्रुतं वृद्धम् अप्सु' कवष को पाते हैं, युद्ध में इन्द्र उनसे असन्तुष्ट हैं। यह कवष और दशम मण्डल के कवष दोनों का एक ही होना सम्भव है। तो फिर कवष एक विख्यात प्राचीन ऋषि हैं। यह अक्ष सूक्त सम्भवतः उनके अतीत की स्मृतियों का रोमंथन है। विख्यात ऋषि की रचना होने के कारण ही इसे अनायास ऋक् संहिता में स्थान प्राप्त हुआ है, नहीं तो अक्ष को देवता की श्रेणी में रखना कुछ बढ़ावा जैसा जान पड़ता है — 'आत्मा ही सब कुछ हुआ है' इस युक्ति से भी। किन्तु कवष के जीवन से एवं उनके अक्ष सूक्त से नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्ति की बहुत गुंजाइश है - यह बात अनस्वीकार्य है। फिर अक्ष 'धृति' अथवा नियति का प्रतीक है, पासे का दान किसके भाग्य में किस रूप में पड़ेगा, कोई नहीं बतला सकता। लगता है इसके पीछे किसी वृहत्तर शक्ति का स्वातंत्र्य है, मनुष्य जिसका खिलौना है। एक स्थान पर वशिष्ठ ने भी इस बात का उल्लेख किया है [१६६०]। यह शक्ति न अपदेवता है, न उपदेवता है — बल्कि जहाँ तक समझ में आता है उसी परम मायावी की एक दुर्बोध माया है। जिस मूजवान् पर्वत के शिखर से सोम उतर कर आता है, वहीं से अक्षक्रीड़ा की प्ररोचना भी आती है अतएव अक्ष भी 'मौजवत' — ऋषि-विकल्प के माध्यम से यह कात्यायन की एक निष्ठुर रसिकता या विनोद है कि नहीं, कहा नहीं जा सकता।[1]

अक्ष के बाद **ग्रावा** अथवा सोम को कूटने-पीसने का पत्थर है। यह यज्ञ का उपकरण है इसलिए इसमें देवभाव का आरोप स्वाभाविक है। ऋक् संहिता के दशम मण्डल के एक सूक्त में उसकी स्तुति है [१६६१]। ऋषि अर्बुद काद्रवेय सर्प के बारे में विस्तारपूर्वक पहले ही बतलाया गया है।[1] ब्राह्मण में 'ग्रावस्तुत' होतृगण के चतुर्थ ऋत्विक हैं। संहिता में 'ग्रावग्राभ'[2] हैं, वे दोनों हाथों की दसों उंगलियों से अभिषव के पत्थर को दाब कर रखते हैं। इस सूक्त में ही उसका विस्तृत वर्णन है।[3] पत्थर का 'सोनाली दबाव उलटाते-पलटाते चलता है' — यह जैसे सुनहले-सबुज रंग के भंग घोंटने की छवि है।[4] 'अन्धः' हुआ था जो गुहा के गह्वर में, वही दाब पाकर 'सोम' हुआ,

---

[१६६०] द्र. ऋ. ७।८६।६, टी. १२७६[2]। [1] कात्यायन की ऋषि विकल्पना का हेतु अक्ष सूक्त में ही है: ऋ. 'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदकः' — पासा खेलना मौजवत सोम के पीने जैसा लगता है (उन्मादन) १०।३४।१।

[१६६१] ऋ. १०।९४ सूक्त। और भी द्रष्टव्य १०।१७५ सूक्त, ऋषि ऊर्ध्वग्रावा सर्प आर्बुदि इसी अर्बुद के ही पुत्र। अथच पिता की तरह उनकी भी यह एक संज्ञा 'सर्प'; लगता है यह उनकी वंश-पदवी है। ऊर्ध्वग्रावा के सूक्त में सविता का उल्लेख लक्षणीय। सविता के प्रसव अथवा प्रेषणा से पत्थर सक्रिय होते हैं, यह गहरा संकेत है। सविता की प्रेषणा या प्रेरणा से भोर के अंधेरे से आलोक का आविर्भाव, और ग्रावा अथवा पत्थर के निष्पेषण से 'अन्धः' सोम का पवमान होते-होते 'अंशु' अथवा 'इन्दु' होना — यह दोनों एक ही कार्य। यह जैसे प्रज्ञा के समानान्तर आनन्द का उन्मेष। जो ओषधि थी, वह आलोक-धेनु हो जाती है, यह बात सूक्त में ही है (१०।१७५।२)। [1] द्र. टी. १२६५[2]। अर्बुद काद्रवेय को हम शतपथ ब्राह्मण में भी पाते हैं। अश्वमेध यज्ञ में 'पारिप्लव' आख्यान सुनाने की प्रथा है मुक्त अश्व एक वर्ष तक विभिन्न देशों में घूमता रहता है। तब तक यज्ञभूमि में होता सभी को प्रतिदिन पारिप्लव आख्यान सुनाते हैं। यह दस दिन की एक पारी या ओसरी (अवसर) की तरह घूम-घूम कर सुनाना पड़ता है। पाँचवें दिन का आख्यान अर्बुद-

पवमान अथवा धीरे-धीरे परिशुद्ध होकर 'अंशु' अथवा एक किरण हुआ। उसी 'अंशु के पीयूष' अथवा आप्यायनी, आनन्दमयी अमृतधारा का प्रथम स्वाद इन पत्थरों ने प्राप्त किया था, जो दुर्दम्य ढीठ बालक की तरह क्रीडा करते हुए बार-बार माँ को धक्का देकर ठेलता है।[६] ये पत्थर 'अद्रि' हैं, कोई उनको दीर्ण या विदीर्ण नहीं कर सकता, वज्र-मणि की तरह दूसरे को वे विद्ध करते हैं किन्तु उनको कोई विद्ध नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त वे 'पर्वत' अर्थात् लहरदार हैं[७] पक्षियों की तरह चहकते-चहकते आकाश की ओर जा रहे हैं और उनके दाब से, प्रचुर सूर्यश्वेत रेतोधार नीचे की ओर बहकर आ रही है।[८] यहाँ अधिदैवत वर्णन है जिसका अध्यात्म प्रतिरूप वज्र कन्द के निष्पेषण से आनन्द की भोगवती धारा को अलकानन्दा की ऊर्ध्वस्रोता धारा में रूपान्तरित करना है।

उसके बाद **नाराशंस** अथवा नर की स्तुति है [१६८२] यास्क के उदाहरण में ऋक् संहिता के प्रथम मण्डल का यह एक सूक्त उद्दिष्ट है।[१] यह और इसके पहले का ये दोनों दानस्तुति है। ऋक् संहिता के अष्टम मण्डल में अनेक सूक्तों के अन्त में छोटी-छोटी दानस्तुति हैं। सायण के कथनानुसार, 'या तेनोच्यते सा देवता' जब, तब दानस्तुति का देवता दान है।[२] वस्तुत: दान एक दैवी सम्पद अथवा दिव्य वृत्ति है।[३] दक्षिणा भी दान के अन्तर्गत है। प्रथम सूक्त के एक मंत्र में दक्षिणादान की स्तुति है।[४] संहिता के दानसूक्त की यह एक उक्ति साम्यवाद की प्रेरणा का संकेत दे सकती है; 'केवलाघो भवति केवलादी' जो अकेले-अकेले खाता है, वह अकेले ही पाप का भागी होता है।[५]

काद्रवेय का है, जो सर्पों के राजा हैं। वहाँ सर्पों एवं सर्पविदों का समावेश होता है एवं उनको सर्पविद्या के बारे में उपदेश दिया जाता है (श.ब्रा. १३।४।३।९)। आश्वलायन श्रौत सूत्र के अनुसार यह सर्पविद्या, विषविद्या (१०।७।६) है। किन्तु यह फिर अमृतविद्या भी हो सकती है। बंगाल के विषहरी (मा मनसा के उपासक) जिस प्रकार विषालु नेत्रों से देखकर मार देते हैं, उसी प्रकार फिर अमृतनेत्रों से देखकर जिला देते हैं। सर्पविद्या का प्रसंग छान्दोग्योपनिषद में भी है (७।१।२, २।२, ७।१)।[२] ऋ. १।१६२।५।[३] १०।७४।७-८। [४] तेषाम् आधानं (दाब, दबाव) पर्य् एति हर्यतम् ८। अधियज्ञ दृष्टि से सोमरस सुनहला, अध्यात्म दृष्टि से ओजोधारा ज्योतिर्मय; 'हर्यत' <√हृ 'झलमलाना, चमचमाना' > हरि 'सोनाली (सोनबरन) घोड़ा'। [५] त उ सुतस्य सोमस्याऽन्धसोंऽशोः पीयूषं प्रथमस्य भेजिरे ४; द्र. टी. १५७२। [६] आ क्रीलयो न मातरं तुदन्तः १४। [७] तृदिला (<√ तृद् 'विद्ध करना') अतृदिलासो अद्रयः ११, अद्रयः पर्वताः ९। [८] न्यङ् नियन्त्य उपरस्य (उपल, पाषाण; निघ. ५।१०) निष्कृतं पुरु रेतो दधिरे सूर्यश्वितः ५। रेतोधारा ऊर्ध्वस्रोता होने पर ही अमृतत्व का कारण होती है— यह योगियों की एक प्राचीन एवं सार्वजनिक प्रसिद्धि है। श्री रामकृष्ण देव के वर्णन के अनुसार, 'देखा कि आत्मा एक-एक कमल (चक्र) के साथ ठक-ठक करती हुई रमण कर रही है और अधोमुख कमल ऊर्ध्वमुख हो रहा है।' सन्धा भाषा में इसका एक वर्णन ऋक् संहिता में इस प्रकार है— सिञ्चन्ति नमसा वतम् उच्चाचक्रं परिज्मानम्, नीचीनबारम् अक्षितम्। अभ्यारम् इद् अद्रयः निषिक्तं पुष्करे मधु, अवतस्य विसर्जने ८।७२।१०-११। (देवताओं ने) सेचन किया नीचे आकर कूप के भीतर (सोमरस)— जिस कूप के ऊपर में चक्र है और नीचे द्वार है, जो फैल गया है चारों ओर अक्षय होकर। हाथ के पास ही हैं पत्थर; तब कूप से बहने लगी धारा, जब पुष्कर या पद्म में मधु निषिक्त हुआ। ऊपर का चक्र ही पुष्कर या पद्म है, अन्यत्र मूर्धन्य कमल है (६।१६।१३, टी. १३४८)। अधोमुख कूप हठयोग की भाषा में मूलाधार है, वहाँ अन्ध: सोम की भोगवती पाताल वाहिनी है। अवत 'परिज्मा', अर्थात् वह भी एक चक्र अथवा पद्म है, उसकी शलाकाएँ या पंखुड़ियाँ बाहर की ओर फैली हुई हैं।

नाराशंस अथवा दान स्तुति का उपलक्ष्य राजा है। इस प्रसंग में यास्क का मन्तव्य है: 'यज्ञ के साथ जुड़े रहने के कारण राजा की स्तुति की जा सकती है एवं राजा के साथ युक्त होने के कारण इसके बाद युद्धोपकरण की स्तुति है [१६६३]।' नाराशंस के पश्चात् **रथ** से लेकर **अश्वाजनी** अथवा चाबुक तक हमें नौ उपकरणों के नाम प्राप्त होते हैं।[1] रथ-स्तुति के इस तृच में[2] रथ को स्पष्टतः 'देवरथ' कह कर सम्बोधित किया गया है एवं उसे द्यावापृथिवी और अप् से उत्पन्न ओज के द्वारा निर्मित इन्द्र का वज्र कहा गया है।[3] अतएव वह धर्मयुद्ध का उपकरण है। आध्यात्मिक दृष्टि से शत्रु 'वृत्र' अथवा अविद्या, इन्द्र वज्रशक्ति से जिसका वध करते हैं।[4] यह देह ही उस समय रथ है।[5] इस तरह की एक ध्वनि इस तृच में पाई जाती है।[6] इसी सूक्त में रथ के साथ-साथ **दुन्दुभि** की भी स्तुति है।[7] अन्यान्य उपकरणों की स्तुति संग्राम सूक्त में है, जिसकी अन्तिम उक्ति है 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' — बृहत् की भावना और वीर्य ही मेरा आन्तर कवच है।[8]

इसके पश्चात् **उलूखल** एवं एक ही सूक्त में **उलूखल-मुसल** का उल्लेख है [१६६४]। इस सूक्त के रचयिता शुनःशेप अथवा देवरात हैं जिनकी कहानी ऐतरेय ब्राह्मण में प्रसिद्ध है।[1] वे 'अञ्जःसव' नामक एक विशिष्ट सोमसवन के प्रवर्तक हैं। इस सूक्त में उसकी ही विवृति है। 'अञ्जःसव' संज्ञा का अर्थ है क्रिया विशेष की बहुलता का वर्जन करके अति सहज उपाय द्वारा विद्युत गति से सोम का सवन एवं आहुति।[2] शुनःशेप उसका वर्णन सन्ध्या भाषा में प्रस्तुत करते हैं। सोम को "उलूखलसुत" कहा कहा जा रहा है। किन्तु यज्ञ में उलूखल-मुसल द्वारा पुरोडाश के लिए व्रीहि अथवा धान कूटा जाता है, और अधिषवण के दो फलकों पर गोचर्म बिछाकर फिर उस पर सोम रखकर 'ग्रावा' अथवा पत्थर के आघात से कूटा-पीसा जाता है। उसके बाद सोमरस मेषलोम के 'पवित्र'

[१६६२] द्र॰ टीमू १५११। [1] ऋ॰ १।१२६ सूक्त। [2] वही सूक्तभूमिका। [3] द्र॰ बृ॰ ५।२।२। वहाँ दान विशेष रूप से लोगों का धर्म, वही यहाँ दानस्तुति पृथिव्यायतन सत्व। [4] ऋ॰ १।१२५।६। इस प्रसंग में द्र॰ दक्षिणा सूक्त १०।१०७।२। [5] ऋ॰ १०।११७।६ लक्षणीय ऋषि भिक्षु आंगिरस, तु॰ बृ॰ भिक्षाचर्या ३।५।१, ४।४।२२। और भी तु॰ छा॰ ४।३।५-८।
[१६६३] नि॰ ९।११। [1] द्र॰ ऋ॰ ६।४७।२६-३१, ७५ सूक्त। अन्त का संग्राम सूक्त। इन सब उपकरणों के साथ 'आर्त्नी' को युक्त करना होगा, जो तालिका के अन्त में द्वन्द्व के अन्तर्गत (३३) है। [2] ऋ॰ ६।४७।२६-२८। [3] ६।४७।२६ (२८)। यहाँ अप् अन्तरिक्ष का; इसलिए कि यह रथ त्रिलोक के ओजः द्वारा निर्मित। तु॰ तै॰ब्रा॰ 'वज्रो वै रथः' १।३।६।१, श॰ ५।१।४।२; और भी तु॰ श॰ १।२।४।१। वस्तुतः रथ वनस्पति के 'सहः' अथवा सार द्वारा निर्मित (ऋ॰ ६।४७।२७, तु॰ ३।५३।२०), इसलिए रथ पृथिव्यायतन सत्व। इस मंत्र में 'ओजः' और 'वज्र' का समीकरण लक्षणीय। [4] तु॰ सायण का उद्धरण: 'इन्द्रो वृत्राय वज्रम् उदयच्छत्, स त्रेधा व्यभरत्, स्फ्यस् तृतीयं रथस् तृतीयं यूपस् तृतीयम्' (६।४७।२७)। [5] तु॰ क॰ १।३।३। [6] और भी द्रष्टव्य साधारण रथाङ्ग की स्तुति ऋ॰ ३।५३।१७-२०। संग्राम सूक्त में भी रथ का उल्लेख है ६।७५।८। [7] ६।४७।२९-३१। [8] ६।७५।१९। यहाँ तुलनीय क॰ १।२।२५ ब्रह्म एवं क्षत्र दोनों ही परमदेवता के ओदन (द्र॰ प्रथम खण्ड टीमू॰ ६४४)।
[१६६४] ऋ॰ १।२८ सूक्त। [1] द्र॰ ऐ॰ब्रा॰ ७।१५...। 'शुनःशेप' यह नाम रहस्यमय। 'श्वा' प्राण का प्रतीक, 'शेप' (तु॰ 'शिप्र') प्रजननाङ्ग, वीर्य। द्र॰ टी॰ शेष। [2] ऐ॰ब्रा॰ ७।१७। 'अञ्जस्' < √अञ्ज्

अथवा चालनी से छानकर 'द्रोणकलश' में ढाला जाता है और वहाँ से लेकर होम करना पड़ता है। इन सब का सुस्पष्ट परिचय इस सूक्त में है तब भी कहा जा रहा है कि 'अन्धः' सोम का सवन उलूखल और मुसल द्वारा हो।[3] इसके अतिरिक्त उनको 'वनस्पति'[4] कहने पर इस पूरे कार्य में अग्नि-सोम का युग्म सम्बन्ध ध्वनित हो रहा है। उसके अतिरिक्त सूक्त का प्रारंभिक वर्णन तो स्पष्टतः आदिरस या शृंगार रस पर आधारित है। जिस प्रकार अरणिमन्थन से अग्नि का 'प्रजनन'[5] होता है, उसी प्रकार यहाँ भी उलूखल और मुसल के संघट्ट अथवा संघर्षण से इन्द्रपान सोम का प्रजनन होता है। शतपथ ब्राह्मण की स्पष्ट उक्ति है, 'योनिर् उलूखलं... शिश्नं मुसलं।'[6] श्वेताश्वरोपनिषद में जिस प्रकार अपनी देह में ही अधरारणि एवं उत्तरारणि की सहायता से मन्थन द्वारा हमें अग्नि प्रजनन का उल्लेख प्राप्त होता है,[7] उसी प्रकार यहाँ भी वही है। राहस्यिक भाषा में यह 'ऊर्ध्वमन्थ' है, जो 'पुत्रमन्थ' के विपरीत है। यही शुनःशेप दृष्ट 'अञ्जःसव' है जो हठयोग की भाषा में योनिकन्द के निपीडन एवं आहनन के द्वारा सौम्य आनन्दधारा को ऊर्ध्वस्रोता करना है। शुनःशेप के वर्णन में 'पृथुबुध्न' अथवा विस्तीर्णमूल ग्रावा अभिषव के लिए दो जघन की तरह पास-पास रखे दोनों अभिषवण के फलकों पर ऊपर से उसी प्रकार नीचे की ओर आता है — जिस प्रकार मुसल उलूखल में ऊपर से नीचे की ओर आता है। उसी उलूखल में आसुत अथवा निचोड़े गए सोम की धारा ऊपर की ओर बह रही है,[8] और इन्द्र नीचे आकर बार-बार उसका पान कर रहे हैं।[9] स्त्रियाँ उलूखल (ओखली) में धान कूटती हैं। इसलिए कुशलता के साथ एक स्त्री को यहाँ ले आकर शुनःशेप कहते हैं: इस सवन के समय एक नारी एक बार अपच्युत और एक बार उपच्युत होकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करती है।[10] पहली दृष्टि में 'अपच्यव' है उलूखल अथवा ओखली से मूसल को उठाते हुए ऊपर की ओर ले जाना, और 'उपच्यव' है फिर उसे नीचे की ओर ले आना।

'व्यक्त होना, प्रकट करना' > 'अञ्जसा' क्षिप्रगति से (विद्युत की तरह)। [3] ऋ. १।२८।६,७। [4] ६,८। [5] द्र. ३।२९।१। [6] द्र. टीमू. १५८५[2]। [7] श्वे. १।१४। [8] सोम के ऊपर की ओर प्रवाहित होने का वर्णन ऋक्संहिता के अनेक स्थानों पर है, तु. ८।६४।२२, ६३।८... द्र. टी. १२५६[2]। इस क्रिया के साथ तु. उत्तरारणि एवं अधरारणि की सहायता से अग्नि-प्रमन्थन। [9] ऋ. यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे, उलूखलसुतानाम् अवेद् विन्द्र जल्गुलः (नीचे आकर हे इन्द्र, बार-बार पान करो)। यत्र द्वाव् इव जघनाधिषवण्या कृता, उलूखलसुतानाम्... १।२८।१-२। द्वितीय मंत्र के भाष्य में स्कन्दः 'यथा मैथुनकाले स्त्रीपुंस जघने, एवम् अभिषवकाले परस्परसम्पर्काद् अधिषवण फलक-ग्रावाणौ कृतौ।' किन्तु वस्तुतः अधिषवण फलक दो ही हैं एवं यहाँ जघन के साथ उनकी तुलना की गई है। दोनों फलकों पर ऊपर से नीचे की ओर आता है 'ग्रावा' (१)। Geldner ने 'पृथुबुध्न' विशेषण से इसको उलूखल मान लिया है किन्तु वस्तुतः वह नहीं है। ग्रावा मूसल, उसके नीचे की ओर कुछ मोटा। उनके द्वारा संकेतित मंत्र में 'उलूखलबुध्न यूप' का उल्लेख है, 'पृथुबुध्न उलूखल' का नहीं। यहाँ आदिरस (शृंगार रस) की ध्वनि सुस्पष्ट है। किन्तु यह कार्य या कर्म पुत्रमन्थ नहीं बल्कि ऊर्ध्वमन्थ है, इस बात को याद रखना होगा। [10] ऋ. यत्र नार्य् अपच्यवम् उपच्यवं च शिक्षते... १।२८।३। वेंकटमाधव कहते हैं, 'यत्र अभिषवप्रवृत्तं ग्रावाणं दृष्ट्वा स्त्री भर्तरि प्रवेशकौशलं निर्गमनकौशलं च शिक्षते।' किन्तु वस्तुतः पुरुष ही प्रवेश करता है, नारी नहीं। स्कन्दः 'यस्मिन्, मैथुनकाले स्वजघने नारीव पुरुषाय, एवो अभिषवग्रावा इतरस्मै ग्रावणे अपगमनम् उपगमनं च शिक्षते।' किन्तु मूल में नारी उपमान नहीं।

किन्तु वस्तुतः यह 'नारी' इन्द्रमाता[11] है अथवा शुनःशेप की इष्टदेवी देवजननी अदिति हैं[12] — जिनको अन्यत्र सामान्यतः 'योषा' अथवा नारी कहा गया है।[13] राहस्यिक अर्थ में अपच्यव है मुसल का उलूखल में ऊपर से नीचे आना जो साधारण क्रिया के विपरीत है किन्तु ऊर्ध्वमन्थ में पहले यही आवश्यक है जिसे साधनशास्त्र में शक्तिपात कहा जाता है।[14] लोकोत्तर से महाशक्ति मुसल के वेग के साथ उलूखल में नीचे आकर आधार के कन्दमूल पर प्रहार करके पुनः अपने स्वधाम में लौट जाती हैं। वही उनका उपच्यव है। अन्यत्र उनके इस अवरोहण-आरोहण अथवा उतार-चढ़ाव को 'सार्पराज्ञी का अपानन एवं प्राणन' कहा गया है।[15] उसके परिणाम स्वरूप सोम की धार 'अन्तर का शुभ्र पथ' पकड़ कर आरोहण-अवरोहण करती रहती है[16] एवं पथ के दो मेरुओं अथवा ध्रुवों के बीच बिजली की कौंध खेलती रहती है। यही अञ्जःसव का तात्पर्य है।

किन्तु यह क्रिया यहाँ ही समाप्त नहीं होती है। पूत सोम को समर्थ शक्तिशाली करने के लिए उसे 'त्र्याशीः' करना पड़ता है [१६६५]। अर्थात् उसके साथ एक के बाद एक तीन चीज़ें — 'यव' का सत्तू, 'गो' दुग्ध एवं दधि मिलाई जाती हैं, जो क्रमानुसार तारुण्य, विज्ञान एवं विज्ञानघनता के प्रतीक हैं।[1] इस क्रिया को मन्थकर्म कहते हैं[2] — जिस प्रकार सम्प्रति हम सब का भाँग घोंटना।[3] जिसके द्वारा घोंटना होता है वह 'मन्था' अथवा मन्थनदण्ड (मथानी) कहा जाता है। मंथन के समय, दण्ड को स्थिर

'शिक्षते' सायण कहते हैं 'अभ्यासं करोति'। किन्तु इस धातु का मूल अर्थ है 'समर्थ होना'। [11] तु. तम् (इन्द्र को) उ चिन् नारी नर्यं (पौरुष सम्पन्न को) ससूव ७।२०।५। और भी विवरण द्र. टीमू. १५६४। [12] द्र. शुनःशेप के उपमण्डल के आरम्भ में ही उनकी आकुल प्रार्थना : 'को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च' — कौन हमें महीयसी अदिति के निकट वापस ले जाएगा? मैं तो पिता और माता को देखना चाहता हूँ १।२४।१। शुनःशेप त्रिधा बद्ध (१।२४।१५) ऊपर, नीचे और मध्य — तीन ओर से बँधे हैं और 'अदिति' अबन्धना हैं। वे ही इष्टदेवी के रूप में शुनःशेप की माता हैं और वरुण पिता हैं — जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में उनको बन्धन से मुक्त किया (१।२५।१८, २१)। अदिति और वरुण महाशून्य में युगनद्ध परमपुरुष और परमा प्रकृति। विशेष द्रष्टव्य आगे चलकर। [13] द्र. १०।५३।११ टीमू. १४४०। [14] संहिता में इसी शक्तिपात को 'आवेश' कहा जाता है तु १०।८१।१। और भी तु. ऐउ. सीमानं विदार्य... १।३।१२। [15] द्र. ऋ. १०।१८९।२; टीमू. १२६९, २ १४६३। [16] द्र. ९।१५।२ टी. १२५६। ...प्रसंगतः कहा जा सकता है, 'शुनःशेप' संज्ञा सम्भवतः श्वमिथुन के दीर्घरत की व्यंजनावाही है, जिसे युगनद्ध शिव-शक्ति के नित्य सामरस्य के प्रतीक रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अञ्जःसव का परिणाम इसी सामरस्य के अनुभव में है। मध्यप्रदेश में खजुराहो का लक्ष्मणमन्दिर जिस वेदी पर प्रतिष्ठित है उसके दक्षिण-पूर्व कोण की भित्ति पर उत्कीर्ण उलूखल-मुसल के इस एक भास्कर्य अथवा मूर्तिकला में जान पड़ता है इसी सूक्त की विषयवस्तु की छाया पड़ी हुई है। यह मन्दिर दसवीं सदी का है।

[१६६५] तु. ऋ. ५।२७।५। [1] यव ॥ युवन् < √यु 'सोम भी होना'। 'गो' = पयः अथवा दूध, पञ्चामृत का प्रथम अमृत। शुभ्र होने के कारण यह सत्वशुद्धि का प्रतीक। दूध जमने पर दधि (दही) = विज्ञान (रहस्यज्ञान)। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे दूध को एकान्त में रखकर दही होने पर उससे मक्खन निकालने की बात। [2] तु. छा. ५।२।४। [3] अधिक सम्भावना है कि किसी समय में सोम भाँग था। तु. ऋ. गोभिर् भङ्गं परिष्कृतम् ९।६१।१३। 'गोभिः' गोजात दुग्ध से, रहस्यार्थ 'आलोक या ज्योति से।' 'भङ्ग' > भाँग। बंगाल का दुर्गोत्सव अश्वमेध का विकल्प। अश्वमेध एक सोमयाग। सोमयाग की प्रकृति अग्निष्टोम। अग्निष्टोम

रखने के लिए दोनों तरफ से दोनों हाथों द्वारा कस कर पकड़ना पड़ता है नहीं तो एक ओर किसी वस्तु के साथ रस्सी या डोरी से बाँध कर उलटी ओर डोरी लपेट कर बार बार आगे-पीछे करना पड़ता है। मंत्र में इसे 'मन्था का विबन्धन' कहा गया है।[४] उसका उद्देश्य यही है कि वह दण्ड इधर-उधर न झुके, सीधा रहे एवं उसका मूल दृढ़ता के साथ पात्र में संलग्न रहे। उससे मन्थन सुचारु होता है। अध्यात्म सोम के मन्थन के समय भी मेरुदण्ड की ऋजुता एवं मूलबन्ध आवश्यक है। शुनःशेप का कथन है कि अनुपान-मिश्रित सोम अश्व जैसा तेजस्वी एवं आशुगति होता है, विबन्धन द्वारा उसकी बागडोर तान कर रखनी पड़ती है— नहीं तो महावायु माथे पर चढ़ कर कोई मुसीबत खड़ी कर सकता है।[५]

इन चार मंत्रों में अञ्जःसव का प्रथमांश है। इन चारों मंत्रों के ही अन्त में एक टेक है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि इन चारों ऋचाओं द्वारा, प्रत्येक ऋचा के अन्त में 'स्वाहा' युक्त करके अञ्जःसव याग का होम किया गया था [१६७६]। वहीं यह संकेत प्राप्त होता है कि इसके अगले चार मंत्रों द्वारा शुनःशेप ने सोम का अभिषव किया था एवं अन्तिम ऋक् द्वारा उसे द्रोणकलश में ढाला था। यहाँ आहुति के मंत्रों को ही अनुष्ठान का क्रमभंग करके आरम्भ में विन्यस्त किया गया है इसलिए कि उत्तम अधिकारी के पक्ष में जिस प्रकार आत्मदर्शन श्रवण से ही सिद्ध हो सकता है उसी प्रकार अञ्जःसव भी एक सिद्ध कर्म है जो और किसी भी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता। आधार के उलूखल में सोम निचोड़ कर ही रखा हुआ है, अब तो देवता का नीचे उतर कर उसका पान करने ही भर की देर है। जिसके पक्ष में यह संभव नहीं, उस मन्द अधिकारी के लिए सूक्त के द्वितीय अंश में विशेष अभिषव का निर्देश दिया गया है। अञ्जःसव, बहिरंग अनुष्ठान निरपेक्ष एक अन्तर्याग है, इसी से ही उसका बोध होता है।[१]

पाँच दिन तक होता है, अन्तिम दिन सुत्यादिवस— सोम कूट-पीसकर उसके रस की आहुति देने का दिन। दुर्गापूजा भी वस्तुतः पाँच दिन का उत्सव है, षष्ठी के दिन बोधन से शुरू करके दशमी के दिन विसर्जन तक। यही अन्तिम दिन 'विजया'। इसी दिन दूध में घोलकर भाँग का शरबत पीने का रिवाज है। इस भाँग का नाम 'विजया' है। यह दिन हमें स्मरण दिला देता है, सोमपान से मत्त होकर इन्द्र की विचित्र-कीर्ति का प्रसंग (तु. ऋ. २।१५ सूक्त, विशेषतः १, ८, ९; और भी तु. सप्तशती में महिषमर्दिनी का मधुपान करके मत्त होना, फिर असुरवध। दुर्गापूजा इसी महिषमर्दिनी की पूजा, जिसके साथ तु. इन्द्र का वृत्रवध ऋ. २।१५।१)। उत्तराखण्ड के पहाड़ों में भाँग के पौधे प्रचुर मात्रा में अपने आप उगते हैं। [४] ऋ. यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन् (घोड़े की लगाम) यमितवा (संयत करने के लिए) इव १।२८।४। [५] वही। तु. वायु के प्रति काण्व : 'तीव्रा सोमास आ गह्याशीर्वन्तः (जौ का सत्तू, दूध एवं दही मिलाया हुआ) सुता इमे, वायो तान् प्रस्थितान् पिब' १।२३।१। सोम की मत्तता माथे की ओर ऊपर उठती जा रही है, वायु उसका प्रथम पान करेंगे, उसी से सोम शुचि अथवा निर्मल, निर्दोष होगा अर्थात् सौम्य आनन्द की रास खींचनी होगी वायु अथवा प्राण की सहायता से (तु. श्वे. वायुरोध एवं सोम का छलक जाना २।६, नीचे द्र.)। और भी तु. 'इन्दुः समुद्रमुदियर्ति वायुभिः'— इन्द्र समुद्र की ओर वायु के साथ उठते जाते हैं ९।८४।४।

[१६७६] ऐ ब्रा. ७।१७। [१] द्र. ऐब्रा. सायण भाष्य 'अञ्जसा' ऋजुमार्गेण 'सवः' सोमाभिषवः यस्मिन् यागे... सोऽयम् अञ्जःसवः, इष्टि पशु सांकर्यम् अन्तरेण... अनुष्ठितत्वात् ७।१७।

द्वितीय अंश में उलूखल-मुसल वनस्पति रूप में समस्त आधार-व्यापी नाड़ीतंत्र में प्रवाहित अग्निशिखा समूह का प्रतीक हैं। ऐसा लगता है मूसल जैसे उलूखल में ग्रथित या रोपित हो, दोनों मिलकर यह एक समूल वृक्षकाण्ड जैसा है। योग में इसे मूलाधार से उच्छ्रित वा उत्थित सुषुम्णकाण्ड कहा गया है और तंत्र में जिसका एक लोकातत अथवा लोकप्रचलित प्रतिरूप गौरीपट्ट से उद्गत स्वयम्भूलिंग है। शुनःशेप उलूखल को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, 'हे वनस्पति, यह वायु तुम्हारे अग्रभाग को विशेषरूप से संचालित कर रहा है। अतएव इन्द्र के पीने के लिए सोम का सवन करो हे उलूखल [१६७७]।' योग की व्याख्या के अनुसार योनिकन्द के निपीड़न अथवा आकुंचन के फलस्वरूप मूलाधार में स्थित कन्दर्पवायु सुषुम्णकाण्ड के भीतर से होकर ऊर्ध्वगामी होता है।[1] उपनिषद की व्याख्या है कि जहाँ अग्नि का अग्निमन्थन होता है, वहाँ वायु ऊपर उठकर निरुद्ध हो जाता है, जहाँ सोम छलक पड़ता है वहाँ मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है, पूर्णता प्राप्त करता है।[2] योगी के अनुभव में यही कुण्डलिनी के मूलाधार से शीर्ष पर उठना एवं उसके फलस्वरूप सहस्रारच्युत अमृत का क्षरण है। उलूखल और मुसल यहाँ युगनद्ध हैं। 'वे ऊर्ध्वविहारी, ज्योतिर्मय दो अश्व के रूप में चर्वण करते हैं अँधेरे का सोम'।[3]

इसके पश्चात **वृषभ** और **द्रुघण** हैं। ऋक्संहिता के **दशम** मण्डल के एक सूक्त में इनका उल्लेख है [१६७८]। इस सूक्त में ऋषि मुद्गल की विजय गाथा का वर्णन है कि किस प्रकार **उन्होंने रथ की दौड़** (बाजी में) में 'शतवत सहस्र गो' को जीत लिया था। उनका प्रतिद्वन्द्वी कौन था, उसका उल्लेख संहिता में नहीं है। बृहद्देवता में शौनक बतलाते हैं कि मुद्गल ने इन्द्र-सोम को हरा दिया था।[1] किन्तु मूल सूक्त में इन्द्र के निकट ही **उनकी** दो प्रार्थनाएँ एवं एक **कृतज्ञताज्ञापन** है।[2] दौड़ आरम्भ होने के पहले **प्रथम** प्रार्थना है कि इन्द्र उनके रथ की रक्षा करते रहें। उसके बाद ही दौड़ का एक साफ-सुथरा चित्र है; रथ तीव्र गति से जा रहा है, मुद्गल की पत्नी इन्द्रसेना उसकी सारथी है, हवा में उनका वस्त्र उड़ रहा है। साथ-साथ मुद्गल की प्रार्थना: 'रथ की गति में कोई शत्रु किसी प्रकार के **विघ्न** की सृष्टि न करे — भले ही वह दास अथवा हो आर्य हो।'

[१६७७] ऋ. उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्य् अग्रम् इत्, अथो इन्द्राय पातवे सुनु-सोमम् उलूखल १।२८।६। [1] इस क्रिया का अवलम्बन लेकर हठयोग में आसन का एक प्रकार है 'श्रृंगार-साधन'। [2] तु. श्वे. अग्निर् यत्राभिमथ्यते वायुर् यत्राधिरुध्यते तत्र सञ्जायते मनः २।६। ऋ. १।२८।६ सायण का मन्तव्य: 'त्वरोपेतमुसल प्रहारैव वायुर् विशेषेण प्रसरति खलु' स्वाभाविक एवं राहस्यिक दोनों अर्थों में ही लिया जा सकता है। [3] ऋ. 'आयजी वाजसातमा ता ह्युच्चा विजर्भृतः, हरी इव अन्धांसि बप्सता' — यहाँ ही वे यज्ञसाधक हैं, उनकी तरह कोई भी वाजशक्ति को छीन कर नहीं ला सकता, क्योंकि वे ऊर्ध्व में विहार करते हैं और दो ज्योतिर्मय अश्वों की तरह अन्धः सोम चर्वण करते हैं, १।२८।७। 'विजर्भृतः' (दोनों जबड़े) फैला कर (Geldner) ऋक्संहिता के किसी-किसी स्थान पर यही अर्थ। किन्तु सभी भाष्यकारों ने 'विहार करते हैं' यह अर्थ ही किया है। [१६७८] ऋ. १०।१०२ सूक्त। [1] बृहद्देवता ८।१२। [2] ऋ. १०।१०२।१,३,१२।

मुद्गलका यह रथ बड़ा विचित्र है। उसके जुआठे में एक ओर वृषभ जुता हुआ है और दूसरी ओर एक 'द्रुघण' अथवा मोंगरा (मुगदर) या मुद्गर है। ऐसे अद्भुत रथ की दौड़ में इन्द्र-सोम को पराजित करने वाले मनुष्य की एक ऐसी कीर्ति है [१६७९] जो देवता के प्रसाद या अनुग्रह बिना सम्भव नहीं — यह तो जैसे उनकी ही इच्छा के अनुसार उनको पीछे छोड़कर आगे निकल जाना है। सूक्त के अन्त में मुद्गल वही कह रहे हैं; 'हे इन्द्र! तुम विश्वजगत के चक्षु के भी चक्षु हो। इसलिए तो वृषभ तुम, वीर्यवर्षी के साथ क्लीव को जोड़कर रथ हांक कर संग्राम (बाजी) में तुम धन-सम्पद छीन लेना चाहते हो।'[1] रहस्य का केवल यह संकेत छोड़कर इस पूरे सूक्त में इस अद्भुत रथ-दौड़ का आश्चर्यजनक वर्णन है।

बृहद्देवता में शौनक का कथन है कि 'शाकटायन की दृष्टि में यह सूक्त एक इतिहास अथवा प्राचीन कहानी है [१६८०] यह यथार्थ दृष्टिकोण है। किन्तु किसी यथार्थ घटना में यदि अध्यात्म तत्व की व्यंजना है तो फिर केवल उसीकी स्मृति भर बचाए रख कर बाकी और सब भूल जाना इस देश में इतिहास-रचना की प्राचीन रीति रही है। जाति का इतिहास अन्तत: इस रूप में ही रचा जा सकता है।

मुद्गल की रथदौड़ का इतिहास कठोपनिषद की प्रसिद्ध उपमा का स्मरण करा देता है; 'आत्मा को रथी रूप में जानो और शरीर को रथ। बुद्धि को सारथी समझो।... और इन्द्रियों को अश्व कहा जाता है — [१६८१]' मुद्गल के रथ की सारथी है इन्द्रसेना अथवा इन्द्र की ही शक्ति। रथ के दो वाहन हैं, उसमें एक वृषभ है, वह प्राणवान है। संहिता में वृषभ इन्द्र का एक बहुप्रयुक्त विशेषण है जिस पर उनका एकाधिकार है। द्रुघण निष्प्राण है किन्तु इन्द्र के वज्र के साथ उसका सादृश्य आसानी से समझ में आता है। मुद्गल के रथदौड़ का रहस्य अब खुलता है। हम सभी मुद्गल अथवा वज्रधर इन्द्र के 'सयुक् सखा' हैं। हम सब के देहरथ में उनकी ही शक्ति कार्य करती है जड़ (अन्न)[1], प्राण और धी रूप में — यह सब कुछ वे ही हैं। उनकी प्रेषणा या प्रेरणा द्वारा ही उस रथ को दौड़ाना होगा 'शतवत् सहस्र-गोयूथ' अथवा अनन्त ज्योति को जीतने के लिए, जो सूर्य-सोम के भी उस पार है।[2]

[१६७९] वृषभ एवं द्रुघण दोनों ही मर्त्यमानव की आत्मशक्ति के प्रतीक हैं, इसलिए वे पार्थिव। आगे चलकर द्रष्टव्य। [1] ऋ. 'त्वं विश्वस्य जगतस् चक्षुर् इन्द्रासि चक्षुष:, वृषा यद् आजिं वृषणा सिषाससि चोदयन् वध्रिणा युजा' १०।१०२।१२। लक्षणीय — यह मंत्र नित्यवर्तमान का वर्णन है एवं क्रियापद सन्नन्त है, जिससे देवता के सत्य-संकल्प के नित्य स्फुरण का बोध होता है। 'चक्षुषश् चक्षु:' तु. के. १।२, ब्रह्म का लक्षण। [१६८०] बृहद्देवता ८।११। [१६८१] क. १।३।३-४। [1] 'द्रुघण' 'द्रु' अथवा वृक्ष का घन, अथवा शिलीभूत या अश्मीभूत रूप, वनस्पति अग्नि जिसके भीतर घनीभूत जड़ रूप में हैं। इसी जड़ की पारिभाषिक संज्ञा है 'अन्न'। (द्र. वेमी. प्रथम खण्ड)। [2] तु. क. २।२।१४। इन्द्र आदित्य, दिन की ज्योति, प्रकाश और सोम इस आदित्य के ऊपर रात की ज्योति। शतवत् सहस्र किरणें अहोरात्र के उस पार हैं। (द्र. टीप्र. प्रथम खण्ड)।

उसके बाद **पितु** अथवा अन्न है। ऋक् संहिता के प्रथम मण्डल के इस एक सूक्त में उसकी स्तुति है [१६८२]। पितु के अर्थ में अन्न एवं पानीय दोनों ही समझना होगा।[१] इस सूक्त में ही पितु को सोम कहा गया है। उपनिषद् में भी अन्नप्रशस्ति है।[२]

उसके बाद **नदी** एवं उसमें ही दो विशिष्ट नदी **विपाट्** एवं **शुतुद्रि** अर्थात पौराणिक विपाशा और शतद्रु हैं। ऋक् संहिता के तृतीय मण्डल के इस सूक्त में सिन्धु के साथ इनका उल्लेख है और नदी सूक्त दशम मण्डल में है [१६८३]। सरस्वती नदी भी है और देवी भी है; यह पहले ही बतलाया गया है।[१] अधिदैवत दृष्टि से नदी सूर्यरश्मि और और आध्यात्मिक दृष्टि से नाड़ी है।[२]

तत्पश्चात **'अप'** है। ऋक् संहिता में तीन अप् सूक्त हैं, जहाँ देवता अविकल्पित, अपरिवर्तित है [१६८४]। उसके अलावा तीन अन्य सूक्तों में देवताविकल्प है।[१] अग्नि, घृत, अपांनपात, सूर्य एवं गो (बहुबचन में) विकल्पित देवता हैं। आरम्भ के दो देवता पृथिवी स्थान हैं, तृतीय अन्तरिक्ष-स्थान और अन्त के दो द्युस्थान हैं। अतएव अप् तीनों लोकों में ही हैं। यास्क ने पृथिवीस्थान अप् का उदाहरण देने के लिए दशम मण्डल के नवम सूक्त को चुना है। उसके प्रथम तृच से हम परिचित हैं क्योंकि वह सन्ध्यावन्दना के अन्तर्गत है।[२] यहाँ पार्थिव जल के सम्बन्ध में ही कहा जा रहा है, जो हम सब की देह-व्याधि, मन-वचन के पापों और दुष्कर्मों को धो देता है;[३] किन्तु यह अप् ही तो दिव्य है जिसकी धारा में शिव-शक्ति के सामरस्य का आनन्द क्षरित होता है, ऋषि उसको भूलते नहीं।[४] अप् में 'रयि' अथवा संवेग[५] है इसलिए पार्थिव अप् का विशिष्ट निदर्शन 'नदी' है एवं निघण्टु में दोनों नाम पास-पास हैं — जबकि शतपथ ब्राह्मण में सत्रह प्रकार के अप् का उल्लेख है।[६] अन्तरिक्ष का अप् वृष्टि की धारा है;

[१६८२] ऋ. १।१८७ सूक्त। [१] तु. पितुं पपिवान् १।६१।७। [२] द्र. तैउ. ३।७-९; टी. १५१६।

[१६८३] ३।३३ सूक्त; १०।७५ सूक्त। [१] द्र. टीमू. १५५१...। [२] द्र. टीमू. १२५३।

[१६८४] ऋ. ७।४७, ४९, १०।९ सूक्त **अप्** ॥ अप् (> आप:) < आ√अप् 'चलना' > प्राप् 'प्राप्त करना', 'पहुँचना'। तु. श. सेदं सर्वम् आप्नोद् यद् इदं किं च, यद् आप्नोत् तस्माद् आप: ११।१।१।१४, २।१।१।४, ४।५।७।७। [१] द्र. ऋ. ४।५८ सूक्त, देवता 'अग्नि:, सूर्यो वा, आपो वा, गावो वा', घृतस्तुतिर् वा; १०।१९ सूक्त, 'आप: गावो वा'; १०।३० सूक्त, 'आप: अपांनपाद् वा' (द्र. कवष का आपोनप्त्रीय सूक्त टीमू. १६६६)। [२] आपो हि ष्ठा (हो) मयोभुवस् (आनन्दरूपिणी) ता न ऊर्जे (अन्तर्मुखता की शक्ति के सम्मुख) दधातन, महे रणाय चक्षसे (महाज्योतिर्मय आनन्द को जिससे देख पाएँ)। यो व: शिवतमो रस: तस्य भाजयते (शरीक करो, भागी या हिस्सेदार बनाओ) ह न:, उशतीर् (उद्विग्न, उतावला) इव मातर:। तस्मा (उनकी ओर, परमदेवता की ओर) अरं (एकाग्र होकर) गमाम वो (अर्थात वे तुम सब के प्रिय) यस्य क्षयाय (धाम की ओर) जिन्वथ (प्राणचंचला होकर दौड़ती हो), आपो जनयथा (नया करके जन्म दो) च न: १०।९।१-३। पुण्यस्नान का निगूढ़ तात्पर्य इस तृच में अभिव्यक्त हुआ है। [३] द्र. ५-८। [४] शं नो देवीर् अभिष्टय आपो भवन्तु पीतये, शं योर् अभि स्रवन्तु न:' — समस्त अप् देवियाँ हमारे अभियान के प्रति, पान के प्रति शिव मयी हों; हमारे भीतर शान्ति और शक्ति का संचार करें १०।९।४। **अभिष्टि** < अभि + √स्ति ॥ स्थि < स्था, उपसर्ग के योग से गति का बोध होता है (तु. उप-स्था, प्र-स्था;

उसके देवता 'अपांनपात्' एवं 'पर्जन्य' हैं। यास्क ने इसके ही सम्बन्ध में 'सरस्वती' और 'सरस्वान' के नाम का उल्लेख किया है। पहले के दोनों की व्यंजना प्राण की ओर है एवं उनके बाद के दोनों की व्यंजना प्रज्ञा की ओर है। निघन्टुकार ने अन्तरिक्षस्थान देवताओं के अन्तर्गत ही अप् के नाम का उल्लेख किया है। अन्तरिक्षस्थान वरुण भी जल के देवता हैं किन्तु मेघवाष्प रूप में। द्युस्थान अप संहिता में 'देवीर् आपः', 'स्वर्वतीर् आपः' हैं।[७] निघन्टु में वही द्युस्थान 'समुद्र' हुआ है अर्थात् ज्योति का वह तरंगायित पारावार जिसकी अचेतना अथवा चेतना के क्रमिक अभियान को सरस्वती हमारे भीतर प्राण और प्रज्ञा की दीप्ति में उद्दीपित करती हैं।[८] उसके देवता निश्चयही द्युस्थान 'वरुण' हैं। सप्तम मण्डल में वसिष्ठ की स्तुति विशेष रूप से अन्तरिक्षस्थान और द्युस्थान अप् के प्रति है। अध्यात्म दृष्टि से अप् प्राण की धारा है।[९]

अप् के पश्चात् **ओषधि** — जो अप का सार है अर्थात् जिसके भीतर पार्थिव अप् प्राणवन्त हुआ है [१६८५]। ओषधियों का राजा 'सोम' है जो पवमान होकर 'देवपान' के रूप में हमें अमृत का अधिकार देता है।[१] ऋक् संहिता का पूरा नवम मण्डल इसी दिव्य सोम की प्रशस्ति है। यहाँ पृथिव्यायतन ओषधियाँ वे हैं जो दवा बनाने के काम में लगती हैं। ऋक संहिता का यह एक सूक्त उनके सम्बन्ध में रचित है, जिसके ऋषि आथर्वण भिषक हैं।[२] इस एक सूक्त में सपत्नी बाधन (पीड़न) ओषधि का उल्लेख प्राप्त होता होता है।[३] इस प्रकार के अनेक सूक्त शौनकसंहिता में हैं। ओषधि के सम्बन्ध में चर्चा पहले ही हो गई है।[४]

अदेवता होते हुए भी देवता के रूप में जिनकी स्तुति की गई, उनके बारे में बतलाया गया। इसके बाद निघन्टु में छः ऐसे नाम हैं जो प्रत्यक्षतः देवता के ही नाम हैं। जिनके आदि में **रात्रि** का नाम है। ऋक् संहिता के दशम मण्डल का एक सूक्त उनके निमित्त रचित है [१६८६] यह रचना कुशिक सौभर की-

---

Ar. base stā, तु. Eng. still), अभियान। जल जब शान्त रहता है, उस समय नदी के जल में नाव तैराई जाती है।[५] निघ. में उदक नाम १।१२, उसके अन्तर्गत 'रयि' है, उदक नाम के बाद ही नदी नाम।[६] राजसूय में यजमान के अभिषेक के लिए सत्रह प्रकार के जल जुटाए जाते हैं। इसलिए कि प्रजापतियों की संख्या सप्तदश (सत्रह) है और प्रजापति यज्ञस्वरूप हैं। (श. ५।३।४।१-२२)। तु. ऋ. या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा स्वयंजाः, समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीर् इह माम् अवन्तु ७।४९।२।[७] तु. १।२३।१८, ८३।२, ३।२२।६, २४।८, ४।३।१२, ७।४७।३, ४९।१-४, १।१०।८, ५।२।११, ८।४०।१०, ११...। अधिदैवत दृष्टि में पार्थिव अप् भी 'देवी'।[८] ऋ. १।३।१२।[९] तु. तैब्रा. 'प्राणा वा आपः' ३।२।५।२, ता. ९।९।४, श. ३।८।२।४...।

[१६८५] तु. छा. एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसो, अपाम् ओषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः १।१।२। प्रति तु. श. आपो ह वा ओषधीनां रसः ३।६।१।७।[१] ऋ. ९।९६।२७।[२] १०।९७ सू.।[३] १०।१४५।[४] द्र. टीमू. १२५०, १२६०।

[१६८६] ऋ. १०।१२७ सू.। व्यु. <√रा 'दाने' + त्र + ई। तु. 'रा-का' पूर्णिमा की रात्रि। तो फिर 'रात्री' अमा-पूर्णिमा दोनों ही है — इसे ध्यान में रखना होगा।[१] इस देश में दुर्गा पूजा 'देव' पक्ष में होती है, उस समय आलोक या ज्योति का ज्वार। उसके पहले और बाद में क्रमशः 'पितृपक्ष' और 'प्रेत'पक्ष — दोनों में ही ज्योति का भाटा (उतार)। पहला हम सबके

अथवा रात्रि भारद्वाजी की है। अम्भृण कन्या वाक् की तरह भरद्वाज कन्या रात्रि यदि इस सूक्त की ऋषिका कवयित्री रही हों तो फिर यह उनकी आत्म-स्तुति अथवा आत्मोपलब्धि है। सप्तशती के प्रारम्भ में इसी रात्रि सूक्त का पाठ करके अन्त में वाक् सूक्त का पाठ किया जाता है। यह जैसे अव्यक्त की अनन्तता से व्यक्त की अनन्तता में उत्तीर्ण होना है।[1] उषसा-नक्ता के प्रसंग में नक्ता अथवा रात्रि के सम्बन्ध में पहले कुछ बतलाया जा चुका है।[2] वैदिक ऋषि मुख्यतः सूर्य के उपासक रहे हैं अतः उनके अधिकांश अनुष्ठान दिन के प्रकाश में हुआ करते। तब भी उन्होंने रात के अँधेरे की उपेक्षा नहीं की। अग्निहोत्र याग शुरू होता है सन्ध्या काल में— लगता है यह अँधेरे के सीने को चीर कर ज्योति के किनारे उस पार उतर जाने की साधना है। फिर पांचरात्र सोमयाग का केन्द्र-विन्दु 'अतिरात्र' है— जो रात्रि की साधना है। इस याग का उल्लेख ऋक् संहिता में भी है।[3] पांचरात्र में अनुष्ठेय और दो यागों की स्तोत्र-शस्त्र संख्या में रात्रि की भावना अनुस्यूत है— उक्थ में उनकी संख्या पन्द्रह और षोडषी में सोलह है। ये तो स्पष्टतः चन्द्रकला की संख्याएँ हैं।[4]

पृथिवी की तरह रात्रि भी 'जगतो निवेशनी' [१६८७] है। इन दोनों देवियों की गोद सब का विश्रामस्थल है— जिस प्रकार प्रतिदिन हम इनकी गोद में विश्राम करते हैं उसी प्रकार जीवन का अन्तिम विश्राम भी वहीं प्राप्त होता है। इसीलिए रात्रि 'दिवो दुहिता' होकर भी पृथिवीस्थान देवता है। इसके अलावा अघमर्षण सूक्त में देखते हैं कि रात्रि लोकोत्तरा है, कालातीता है देश-काल से परे है; सृष्टि के आरम्भ में सर्वतः समिद्ध तप से सत्य एवं ऋत की उत्पत्ति हुई—जो अधिष्ठान और छन्द के रूप में भव्यता की अव्यक्त अन्तःशक्ति या योग्यता (Potentiality) मात्र हैं। वह योग्यता या अन्तःशक्ति ही रात्रि के रूप में प्रादुर्भूत हुई, जिसके वक्ष में अव्यक्त ज्योति का समुद्र लहराने लगा।[2] इन लहरों का हिल्लोल अव्यक्त का वह शक्तिस्पन्द है, जिससे अक्षर का क्षरण होता है।[3] इसलिए रात्रि सूक्त में रात्रि भी 'ऊर्म्या' अथवा 'ऊर्मिला' है (जिसमें लहरें उठती हों)।[4] उसी तरंगायित समुद्र से संवत्सर रूप में काल की उत्पत्ति हुई: अहोरात्र के उजाले और अँधेरे का आविर्भाव हुआ, मानो विश्व ने आँख खोल कर देखा और उसी से काल के वश में हुआ।[5] यही कालातीतता रात्रि का परम स्वरूप— जिस प्रकार निद्रा में

मृत्युग्रस्त पार्थिव जीवन का प्रतिरूप है। उसके बाद 'दिव्य' अथवा ज्योति का जीवन— ऋषि जिसके उपासक थे। किन्तु ज्योति को जानने के पश्चात अन्धकार को भी जानना होगा, क्योंकि दोनों को मिलाकर अस्तित्व की पूर्णता है। इसलिए 'प्रेत' पक्ष में पुनः लोकोत्तर की अमानिशा में छलांग लगाना— मुनिगण जिसके साधक हैं। रात्री इन्हीं तीन पक्षों (देवपक्ष, पितृपक्ष, प्रेतपक्ष) की अधिष्ठात्री देवी है। कठोपनिषद् में प्रेत-पक्ष की 'प्रेति' का रहस्य ही नचिकेता की जिज्ञासा थी १।१।२०-२२। [2] द्र. टीमू. १५३३-३५। [3] तु. ७।१०३।८। [4] भागवतधर्म का बीज यहाँ ही है (द्र. 'भग')।

[१६८७] तु. शौनक संहिता में पृथिवी 'हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी' १२।१।६; ऋक् संहिता में 'ह्वयामि रात्रिं जगतो निवेशनीम्' १।३५।१, द्र. टी. ५२८५। लक्षणीयः रात्रि सूक्त में नि√विश् का प्रयोग ४,५। १०।१२७।८। [2] ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत, ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः १०।१९०।१। [3] तु. १।१६४।४१-४२। [4] १०।१२७।६; निघ. १।७। [5] तु. समुद्राद् अर्णवाद् अधि संवत्सरो अजायत, अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी १०।१९०।२।

समाधि में, मृत्यु में, प्रलय में। इसी अप्रकेतता अथवा सर्वनिरोध अथवा असम्प्रज्ञान में ही भारद्वाजी रात्रि की आलोपलब्धि का परिचय प्राप्त होता है। रात्रि सूक्त का अनुध्यान उसके ही अनालोक के आलोक में करना होगा।

रात्रि 'देवी' है, रात्रि 'दिवो दुहिता' है, आलोक-कन्या [१६८८] है। वह आलोक, ज्योत्स्ना का है, नक्षत्रों की टिमटिमाहट का है एवं उससे भी परे वारुणी शून्यता की वही परः कृष्ण आभा है जिसकी अनुभा में व्यक्त ज्योति की विभाति है।[1] यह रात्रि 'आयती' – आ रही है। यह आना इस प्रकार है जिस प्रकार आधी रात के गहनतम अँधेरे के कुहर से आलोक को स्पन्दित करते हुए उषा का आना, उसी प्रकार मध्याह्न की दीप्ति के अवक्षय के अन्तराल में एक अनालोक या अन्धकारमय सन्नाटे के फैलाव को गाढ़तर करते हुए रात्रि का आना है। सन्ध्या के कूल पर आकर व्यक्त ज्योति बुझ गई; अव्यक्त का ऐश्वर्य फूट पड़ा। — एक प्राचीन अजर एवं सुदृढ़ नक्षत्र जो पार्थिव चेतना का उद्भासक था उसके निर्वाण से द्युलोक से बहुत दूर संलग्न दृश्यपट पर लाखों नक्षत्रों के आलोक बिन्दुओं या ज्योतिः स्फुलिंगों में लाखों विश्व-भुवनों की सूचना प्राप्त होती है।[2] व्यक्त की नेपथ्यचारिणी उसी कृष्णवर्णा कन्या की अनगिनत आँखों के तारों (पुतलियों) में अव्यक्त का एक और रूप प्रस्फुटित हुआ – जिसकी श्री सर्वोपरि है, जो मर्म की गहराई में निहित होकर चुपचाप सौम्य आनन्द का निर्झर उत्सारित करती है।[3]

उसके बाद [१६८९] अँधेरा शान्त भाव से मृत्यु की तरह नीचे उतर आया। अचित्ति की सर्वनाशी आच्छन्नता में इन्द्रिय अनुभूतिशून्य हो गई।[1] अस्तित्व का ज्वार-भाटा व्याप्त रहा – एक 'अप्रकेतं ... गहनं गभीरम्'[2] वहाँ 'न चक्षुर् गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः'।[3] किन्तु अचित्ति की उस निःसान्द्रता के भीतर ही अनुभव करता हूँ कि देवी रात्रि की अमृतवर्ण ज्योति

[१६८८] ऋ. रात्री व्यख्यद् आयती पुरुत्रा देव्यक्षभिः, विश्वा अधि श्रियो धित १०।१२७।१।
[1] क. २।२।१५; छा. ११६।६। [2] द्र. ऋ. ६।६७।६, १०।८८।१३, ६८।११। लक्षणीय. सूर्य भी नक्षत्र। [3] तु. सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही (महिममयी), अथो नक्षत्राणाम् एषाम् उपस्थे (गोद में) सोम आहितः १०।८५।२। सोम की ज्योति रात में, जब दिन का कोलाहल शान्त होता है। सोम, प्रेम एवं प्रपंचोपशम की आनन्द चेतना है। वही रात्रि का दान है। यही आनन्द चेतना की धारा पृथिवी से आदित्य में, आदित्य से उस पार नक्षत्रों की टिमटिमाहट में ऊपर की ओर प्रवहमान है।
[१६८९] ऋ. 'ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वतः, ज्योतिषा बाधते तमः' — विशाल होकर व्याप्त हो गई अमर्त्या (वही) देवी, जो कुछ है गहराई में और है ऊपर की ओर। ज्योति द्वारा दूर कर दे रही है अँधेरा १०।१२७।२। 'ओर्वप्राः' = आ उरु अप्राः। 'नि-वत्' जो गहराई में अथवा अव्यक्त के गुहाशयन में है। 'उद्-वत्' = जो ऊपर है अर्थात् ऊर्ध्वस्रोता चेतना की उत्तुंग भूमि समूह में। अस्तित्व का व्यक्त मध्य पर्व या सोपान है ज्योति अथवा प्रकाश द्वारा स्फुरित जगत। उसके ऊपर-नीचे अव्यक्त के दो परार्ध हैं, प्रत्यक्चेतना अथवा अन्तर्मुख बोध के मध्यबिन्दु से एक नीचे की ओर उतर गया है, और एक ऊपर की ओर उठ गया है। व्यक्त को घेरे अव्यक्त की यह वर्तुलता ही रात्रि की वारुणी शून्यता है। इस अनुभव के साथ तु. उपनिषद का मृत्युकालीन वर्णन:- छा. ६।१५। वह भी अध्यात्म रात्रि का अनुभव है। [2] तु. ऋ. १०।१२९।३, १। [3] के. १।३।

धीरे-धीरे व्यक्त हो रही है जो तमिस्त्रा के संसर्पण को चुपके से दूर कर दे रही है। और जिससे असतकल्प सत्ता की सारी दिशाएँ अनालोक के आलोक में उद्भासित हो उठी हैं।

अवर्ण आलोक से गढ़ी गई वह कृष्णवर्ण कन्या चलती ही आ रही है [१६८०] उसके चलने के हिल्लोल में उसके ही भीतर से उसकी ही बहन उषा के रूप में एक और आलोक-कन्या का आविर्भाव हुआ। किन्तु पृथिवी पर हम प्रतिदिन जिस उषा को देखते हैं, यह उषा वह उषा नहीं है, वह तो आदित्य के उदयास्त के उस पार उस सकृद्-विद्युत की उद्दीप्ति है, जिसकी विभाति उपसानक्त की आवर्तहीन सकृद्-दिवा की अनिर्वाण दीप्ति है।[1] कहाँ है अन्धकार? वह देखो अपने आप ज्योति के भीतर लीन होता जा रहा है।[2]

इन तीन ऋचाओं में लोकोत्तर रात्रि का वर्णन किया गया है जिसे तंत्र और पुराण में महारात्रि अथवा महाकाली कहा गया है। उसके बाद चार ऋचाओं में लौकिक रात्रि का वर्णन है जिसे ऋषि अथवा ऋषिका उस लोकोत्तर भूमि से ही देख रहे हैं। उनका यह देखना मानो आकाश की तरह विविक्त या असम्पृक्त रह कर भी सब के भीतर उतर कर देखना है। वे कहते हैं :

'हे अपरूपा, हे अनिर्वचनीया, आज तुम हम सब के निकट आई मृण्मयी माँ की तरह अपनी सर्वश्रान्ति हरा गोद बिछा देने के लिए। थके माँदे पक्षी वृक्षों की डाल-डाल पर अपने नीड़ों, घोंसलों अथवा बसेरों की ओर लौट रहे हैं। हम सब भी तुम्हारे अतल में उतर जाते हैं, आँचल में छिप जाते हैं, और तुम भी अन्तःसलिला नदी की तरह हम सब को बहा ले जाती हो नई उषा के निकट तक [१६८१]।

'तुम्हारे वात्सल्य की गहराई में मैं जाग रहा हूँ हे, निशीथिनी। देख रहा हूँ, तुम्हारे भीतर पशु-पक्षी और मनुष्य सभी उतर गए हैं, अर्थात तुमने सब को अपने सुरमई आँचल से ढाँप लिया है। अमृत-सन्धानी जो पुरुष श्येन (बाज़) की तरह द्युलोक से सोम छीन कर लाने के लिए अतन्द्र तपस्या द्वारा अँधेरे के पार उतर जाना चाहते हैं, देख रहा हूँ वे भी तुम्हारी गोद में लुढ़क गए [१६८२]।

[१६८०] ऋ. 'निरु स्वसारम् अस्कृतोषसं देव्य आयती, अपेद् उ हासते तमः' — अपने भीतर से बहन उषा को बाहर किया (उसी) देवी ने आते आते। दूर चला जाना चाहता है अँधेरा — १०।१२७।३। 'अस्कृत' = अकृत। 'आयती' प्रत्यक् या अन्तर्मुखी चेतना में उतरते-उतरते।[1] द्र. छा. ३।११।१-३, ८।४।२; बृ. २।३।६। तु. तंत्र की ('स्थिरा सौदामिनी')।[2] इसके पहले के मंत्र में देखते हैं कि वे अँधेरे को रोक रही हैं (बाधते); किन्तु यहाँ अन्धकार स्वयं ही भाग जाना चाहता है (अप हासते)। उस समय चेतना 'चक्रवर्ती' अथवा 'स्वराट्' एवं 'सम्राट'।

[१६८१] 'सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्न् अविक्ष्महि, वृक्षे न वसतिं वयः' — वही (तुम) हम सब के भीतर उतर आओ कि तुम्हारे संचलन के भीतर हम प्रवेश कर जाएँ, वृक्षों के नीड़ों में पक्षियों की तरह १०।१२७।४। बहुवचन का प्रयोग लक्षणीय। ऋषि अथवा ऋषिका इस समय सब के साथ एक। 'यामनि' यात्रा-पथ पर। व्यक्त विभूति के अन्तराल में एक अव्यक्त असम्भूति का स्रोत बहता जा रहा है — निरुद्ध चेतना में सदृश परिणाम की भाँति। [१६८२] ऋ. 'नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः,

'जो रात बाहर है, वह रात भीतर भी है। देखते हैं कि अचित्ति अथवा अप्रचेतना की गहराई से निकलकर आ रही है भूखे प्राणों की उत्तालता, जो अद्वयतादात्म्य की अशेष एकात्मता को वृक-वृकी की तरह नोच-खसोट रही है — लगता है, कभी भी इन्हें जड़ से उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं। चुपके-चुपके निकल कर आती है निशाचर प्रमाद की अनवधानता जो हमारे आलोक-वित्त को चुरा लेती है। हे रात्रि, तुम इनको दूर खदेड़ दो। लहर-लहर में हिलोरें लेती तुम अँधेरे से उजाले के तट पर लगा दो हमारी नाव [१६५३]।'

इसके अगले मंत्र में [१६५४] सर्वात्म भाव की व्यंजना एक वचन के प्रयोग में और भी गहरी हुई है। 'मैं ही जैसे अविद्या की तमिस्रा से आच्छादित विश्व का प्रतिभू या प्रतिनिधि हूँ। वह तमिस्रा कहीं प्रकाश की लेशमात्र सूचना रहित परःकृष्णता में निःसान्द्र है, कहीं रंगों की माया से मनोलोभा, मनोहरा है और कहीं कृत्रिम प्रकाश का विरोचन या सूर्य है। इसे यदि दूर न कर पाऊँ तो मेरी अन्तर्ज्योति विश्व के निकट ऋणी होकर रह जाएगी। हे रात्रि, लोकोत्तरा तुम ही तो शाश्वती उषा की सकृद्-विभाति हो, विश्व के सामने से इस अपिधान अथवा आच्छादन को तुम ही अपावृत करो।'

इसके बाद अन्तिम मंत्र में सब के पुरोधा होकर यह एक सार्वजनीन प्रार्थना है: हे रात्रि, हे द्युलोक दुहिता, बिखरी, अलग-अलग आलोकरश्मियों को समेट कर ले आया हूँ तुम्हारे निकट; तुम इन्हें स्वीकार करो। तुम भी सर्वजया हो, तुम भी गोपा हो, इसलिए तुम्हारे भी निकट ये सब स्वरों के स्तवक हैं। तुम इन्हें ग्रहण करो [१६५५]।'

नि श्येनासश्चिद् अर्थिनः' — सारे गाँव निस्तब्ध हैं, विश्राम कर रहे हैं और निस्तब्ध हो गए हैं पाँव वाले, पंखवाले। यहाँ तक कि वे शिकारी बाज़ भी निस्तब्ध हो गए हैं जिन्हें किसी की चाह है १०।१२७।५। श्येन (बाज़ या गरुड़) द्वारा अमृत के आहरण की कहानी (द्र. ऋ. ४।२६ सूक्त। पुराण में यही श्येन गरुड़। तु. श. यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोमम् आहरत्, तेन सा श्येनः ३।४।१।१२ (१।८।२।१०)।

[१६५३] ऋ. 'यावया वृक्यं वृकं यवय स्तेनम् ऊर्म्ये, अथा नः सुतरा भव' — दूर खदेड़ दो वृकी और वृक को, दूर खदेड़ दो चुपके-चुपके आते चोरों-तस्करों को। उसके बाद हम सब आसानी से तुम्हें पार कर जाएँ १०।१२७।६। वृक और वृकी एक जोड़ा है, वे वंशवृद्धि करते चलते हैं। हम सब के आशय-अभिप्राय भी (complexes) वही (तु. वृत्रस्य शेषः १।५३।४, टी. १२३१; प्रजां विश्वस्य वृसयस्य मायिनः ६।६१।३; और भी तु. सप्तशती का 'रक्तबीज')। इनकी नैतिक अथवा मानसिक, बौद्धिक विवृति द्र. ५।८६।६, टी. १२८६[3]। अन्तर्जगत की ये सब दुःस्वप्नहीन रातें ही 'सुतरा' — वह चाहे अमानिशा भी हो।

[१६५४] ऋ. 'उप मा पेपिशत् तमः कृष्णं व्यक्तम् अस्थित, उष ऋणेव यातय' — हम सब के निकट अँधेरा आ गया, जो कृष्णवर्ण, रंगीन और झिलमिला है। ओ, उषा (वे तो) ऋण की तरह हैं (उनको) तुम दूर कर दो १०।१२७।७। 'कृष्ण' अन्धतामिस्र, गहरी अँधेरी रात। 'पेपिशत् (<√पिश द्र. टी. १४३६) जिस प्रकार भोर के आकाश में प्रकाश और छाया के बीच रंगों का खेल, उजाले-अँधेरे का चित्रण। 'व्यक्त' जिस प्रकार प्रातःकालीन आकाश और पृथिवी — उजाले का उत्स उस समय भी नेपथ्य में। तीन प्रकार के तमः सांख्य के तीन गुणों के प्रतीक। यह अविद्या से आक्रान्त जीवन की छवि। तु. सप्तशती के तीनों चरित्रों में तीन प्रकार के असुर; शब्रा. असुरों की तीन पुरी ३।४।४।३। उषा तु. ऋ. १।११३।८, १५।

रात्रि के बाद ही अरण्यानी [१६५६] है, जिसके भीतर दिन के प्रकाश में भी रात्रि का रहस्य ठहरा-सा रहता है। अरण्य के साथ आर्यसंस्कृति का सम्बन्ध सुविदित, सुविख्यात है, जो आज भी अटूट, अविच्छिन्न है। अरण्य विशेष रूप से मुनिपंथियों का तपःक्षेत्र अथवा तपोभूमि है। ध्यातव्य है कि अरण्यानी सूक्त के ऋषि-द्रष्टा देवमुनि हैं यद्यपि उनकी रचना में शौनक संहिता के पृथिवी सूक्त की तरह अरण्यानी सूक्त का वास्तविक रूप ही पूर्ण रूप से व्यक्त हुआ है। ऋषि कहते हैं—

'अरण्यानी, ओ अरण्यानी, तुम कहाँ अन्तर्हित होती जा रही हो, गाँव से तुम्हारा कोई सम्पर्क नहीं, उनके सम्बन्ध में कुछ पूछती नहीं हो। अच्छा, यह तो बताओ, क्या तुम्हें कभी भी डर नहीं लगता [१६५७]?

'अरण्यानी, सुनो— झिल्लियों और झींगुरों की चिच्चिक-झीं-झीं की झंकार वृषभ की हुंकृति जैसी उभर रही है। जिस प्रकार वीणा की झंकृति अर्थात गाजे-बाजे के साथ कोई राजा चलता है, उसी प्रकार वे भी अरण्यानी की महिमा को उजागर कर रहे हैं [१६५८]।

'वह देखो, जंगल से लौटे हुए पशु चारा-पानी ले रहे हैं; उधर देखो एक घर दीख रहा है। अरण्यानी, फिर साँझ होते ही बैलगाड़ी की चरर-मरर जैसी ध्वनि सुनाई पड़ती है [१६५९]।

'वह सुनो, लगता है कोई गायों को बुला रहा है। फिर सुनो, लगता है किसी ने कोई वृक्ष काटा है! साँझ के समय यदि कोई अरण्यानी में रहे तो वह यही समझेगा कि यह किसकी चीख है [१६००]।

[१६५५] ऋ. 'उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः, रात्रि स्तोमं न जिग्युषे'— तुम्हारे निकट गोयूथ की तरह लाया हूँ (इनको) वरण करो (इनको), द्युलोक दुहिता। हे रात्रि, (लाया हूँ इनको स्तोम की तरह — विजयी के निकट १०।१२७।८। 'उप√कृ' निकट ले आना, समेट कर लाना (जैसे 'अप√कृ' दूर हटा देना, तु. यजुःसंहिता के आरम्भ में ही 'वत्सापकरण' मंत्र)। किनको, उसका उल्लेख नहीं है। पूर्वमंत्र में सर्वात्म भाव एवं ऋषि-ऋण की व्यंजना होने के कारण 'विश्व के सभी को'। मुझे प्रकाश प्राप्त हुआ है। किन्तु वह प्रकाश सब के भीतर द्योतित न कर पाने तक मैं विश्व के निकट ऋणी रहूँगा। इसलिए सब को ही तुम्हारे निकट ले आया हूँ, तुम गोपा हो, ये सब गोयूथ जैसे हैं। तुम इनको वरण करो, मुझको ऋणमुक्त करो। (तु. क. ९।२।२३)। ये सब 'स्तोम' अथवा स्वर के स्तवक हैं (तु. ऋ. १।१५९।८), इनका जीवन तुम्हारी ही विजयगाथा है। 'जिग्युषे' काठक संहिता का पाठ 'जिग्युषी'— रात्रि का विशेषण (१३।१६; तु. तै.ब्रा. २।४।६।१० और तत्र सायण भाष्य)।

[१६५६] ऋ. १०।१४६ सूक्त। इस संज्ञा का अर्थ 'अरण्यपत्नी' अथवा 'महारण्य'। द्र. छा. ८।५।२ (द्र. टी.गृ. ५३८,) ५।१०।१; मु. १।२।११ द्र. टी.मू. ८५७।

[१६५७] ऋ. अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि, कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ३ १०।१४६।१

[१६५८] ऋ. वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः, आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते १०।१४६।२। 'वृषारव' साँड जैसी ज़ोरदार आवाज़ जिनकी — बड़े झींगुरों की आवाज़। 'चिच्चिक' छोटे झींगुरों की झीं-झीं। 'धावयन् [राजा अनुमेय], गाजे-बाजे के साथ लाव-लश्कर द्वारा धावा बोलना — यही उनकी महिमा है। उसी प्रकार अरण्यानी की भी महिमा का वर्णन।

[१६५९] ऋ. उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते, उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति १०।१४६।३। सायंकाल में अरण्यानी की स्तब्धता के अनेक विभ्रमों का वर्णन। अगले मंत्र में भी यही।

'अरण्यानी तो अकारण किसी का वध नहीं करती – यदि अन्य कोई उस पर आक्रमण नहीं करे। बल्कि निराश्रित व्यक्ति उसके सुस्वादु फल खाकर उसके आँचल में आश्रय प्राप्त करते हैं [१६०१]।

'कस्तूरी की सुगन्ध से सुवासित अरण्यानी कृषिहीना है फिर भी अन्नपूर्णा है। **मृगों** (पशुओं) की माता इस अरण्यानी की मैंने प्रशस्ति की [१६०२]।'

अरण्यानी के बाद ही **श्रद्धा** है – जो उपनिषद् के उस प्रसिद्ध कथन की याद दिला देती है जिसमें कहा गया है कि जो अरण्य में श्रद्धा एवं तपस्या का आश्रय लेकर उपासना करते हैं वे मृत्यु के पश्चात ज्योति के मार्ग से होकर चले जाते हैं; जो ग्रामों में रहकर इष्टापूर्त एवं दान की उपासना करते हैं उन्हें धूम्रपथ से जाना पड़ता है [१६०३] किन्तु ऋक् संहिता के श्रद्धासूक्त में श्रद्धा को यज्ञ और दान के साथ भी युक्त किया गया है। निश्चित रूप से यह दृष्टि ही प्राचीन एवं सम्यक दृष्टि है। द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ दोनों का ही आधार श्रद्धा है। कठोपनिषद के नचिकेता के आख्यान में स्पष्टतः यही कहा गया है। वाजश्रवस का श्रद्धाहीन यज्ञ उनको अनन्द अथवा आनन्दहीन लोक में ले जायेगा और नचिकेता के किशोर हृदय की श्रद्धा के आवेश ने उसके सामने लोकोत्तर का द्वार खोल दिया।[2] श्रद्धा से ही साधना का आरम्भ होता है इसलिए श्रद्धा पृथिव्यायतन सत्त्व है।

ऋक् संहिता के श्रद्धासूक्त की ऋषिका श्रद्धा कामायनी हैं। अर्थात श्रद्धा की उत्पत्ति काम से होती है। यह काम तो हृदय की आकूति है जिसका संकेत सूक्त के अन्तर्गत ही है [१६०४] निश्चय ही यह काम देवकाम का दिव्य काम है, उसके अमृतत्व की प्यास है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हम देखते हैं कि श्रद्धा 'कामवत्सा अमृतं दुहाना ... देवी प्रथमजा ऋतस्य, विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा, ईशाना देवी भुवनास्याधिपत्नी।' है। उसके निकट प्रार्थना है यह – 'सा नो लोकम् अमृतं दधातु।'[1]

श्रद्धा सूक्त में कहा जा रहा है : देवयजन अथवा साधना का प्रथम कृत्य ही अग्निसमिन्धन एवं उसमें स्वयं की आहुति देना है। इन दोनों के मूल में श्रद्धा है। अग्नि 'उषर्भुत्' – नवजीवन की उषा में अग्नि का जागरण। उषा प्रातिभ संवित का अरुण रूप है। नेपथ्य से सविता की प्रचोदना या प्रेरणा उसका परिणाम है। उसके बाद ही दिक्चक्रवाल अथवा दिग्वलय के ऊर्ध्व में भग का आविर्भाव होता है। श्रद्धा उनकी मूर्द्धा पर अर्थात पहले श्रद्धा, उसके बाद देवता का प्रत्यक्ष दर्शन [१६०५]।

[१६००] गाम् अङ्गैष आह्वयति दार्व् अङ्गैष अपावधीत्, वसन् अरण्यान्यां सायम् अक्रुक्षद् इति मन्यते १०।१४६।४।

[१६०१] ऋ. न वा अरण्यानिर् हन्त्य् अन्यश् चेन् नाभिगच्छति, स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथा कामं नि पद्यते १०।१४६।५। 'अन्यः' बाघ चोर इत्यादि (सायण)।

[१६०२] ऋ. आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नाम् अकृषीवलाम्, प्राहं मृगाणां मातरम् अरण्यानिम् अशंसिषम् १०।१४६।६। 'मृग' वन्य जन्तु।

[१६०३] तु. छा. ५।१०।१...। [1] ऋ. १०।१५१ सूक्त। व्युत्पत्ति. द्र. टी. १३४८।[2] और भी तु. श्रद् अस्मै धत्त स जनास इन्द्रः २।१२।५।[2] क. १।१।२, ३...। तु. ऐब्रा. श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः ७।१०; शां. श्रद्धैव सकृदिष्टस्याक्षितिः, स यः श्रद्दधानो यजते तस्येष्टं न क्षीयते ७।४।

[१६०४] ऋ. १०।१५१।४। [1] तैब्रा. ३।१२।३।१-२; और भी तु. २।८।८।८।

[१६०५] तु. ऋ. श्रद्धयाग्निः सम् इध्यते श्रद्धया हूयते हविः, श्रद्धां भगस्य मूर्धनि...१०।१५१।१।

सोमयाग के तीनों सवनों की आहुति वस्तुतः श्रद्धा की ही आहुति है।[1] देवता को जो देता है अथवा देना चाहता है वही वास्तविक उपभोग का अधिकारी है। श्रद्धा ही देवप्रशस्ति को उसके निकट प्रिय बनाती है।[2] हृदय की आकूति के साथ जो उपासना करता है, वही ज्योति का लक्ष्य प्राप्त करता है।[3] जो देवयज्ञ सृष्टि के मूल में है,[4] उसका आधार श्रद्धा ही है।[5] देवताओं की श्रद्धा उन ओजस्वी असुरों के प्रति है जिनके प्रमुख वरुण हैं।[6]

श्रद्धा के बाद **पृथिवी** है, जिसके बारे में पहले ही बतलाया गया है। ध्यातव्य है कि निघण्टुकार ने पृथिवी को अन्तरिक्षस्थान एवं द्युस्थान देवताओं के अन्तर्गत भी स्थान दिया है। यहाँ पृथिवी के प्रसंग में यास्क ने जिस ऋक् को उद्धृत किया है, वह यदि मृत्यु के बाद शव को समाहित या समाधिस्थ करने के उपलक्ष्य में रची गई है, तो फिर यह मृण्मयी पृथिवी ही उसका देवता है [१६०६]। अन्तरिक्ष स्थान पृथिवी का विवेचन पहले ही किया गया है।

पृथिवी के पश्चात देवता **अप्वा** हैं। ऋक् संहिता के इस एक संग्राम-सूक्त की एकमात्र इस ऋक् में इनका उल्लेख है। जिसमें शत्रुओं के चित्त को सम्मोहित करने, अंग-प्रत्यंग को खण्डित, अनुभूतिशून्य कर देने और हृदय में शोक की आग जला देने के लिए अप्वा से निवेदन किया जा है — जिससे वे अन्धतमिस्रा की गहराई में डूब जाएँ [१६०७] सप्तशती की असुरमर्दिनी देवी की तरह ही ये भयंकरी हैं। शौनक संहिता के **एक** मंत्र में अप्वा को उदरामय कहा गया है।[1] सायण 'पापाभिमानी देवता' बतलाते हैं। यास्क बतलाते हैं, 'व्याधिर् वा भयं वा।'[2] इनका प्रभाव पृथिवी में ही है, अन्यत्र नहीं।[3]

उसके बाद **अग्नायी** हैं। ऋक् संहिता में अग्निपत्नी के निमित्त कोई सूक्त नहीं है। अन्यान्य देवपत्नियों के साथ दो ऋचाओं में उनका उल्लेख है [१६०८] वेद के तैंतीस देवता ही सपत्नीक हैं।[1] अग्नि पृथिवी स्थान देवता हैं, उनकी पत्नी भी वे ही।

---

१ तु. श्रद्धां प्रातर् हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि, श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि ५। २ प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः, प्रियं भोजेषु यज्वस्व् अस्माकं उदितं (वाणी) कृधि २। ३ श्रद्धां हृदय्याय्‌आकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ४। ४ द्र. १०।९०।१५-१६। ५ श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते १०।१५१।४। वायु यहाँ मातरिश्वा, जो सृष्टि के आदि में अदिति हृदय का प्रथम उच्छ्वास (द्र. ३।२९।११, टी. १४९८[2]; लक्षणीय, मूल में 'वातस्य सर्गो अभवत् सरीमणि'; जैसे उसके पहले 'आनीद् अवातं स्वधया तद् एकम्' १०।१२९।२)। उनसे ही देवयज्ञ का प्रवर्तन होता है, इसलिए देवतागण 'वायुगोपाः'। ६ यथा देवा असुरेषु श्रद्धाम् उग्रेषु चक्रिरे १०।१५१।३। पुरुष का एकपाद सम्भूति है जिससे यह सब कुछ हुआ है; और उनका जो त्रिपाद द्युलोक में जाकर अमृत रूप में है, वह असम्भूति है (द्र. १०।९०।३-४; ई. १२।१४)। हम जानते हैं कि ऋक् संहिता में देवतागण भी असुर (द्र. टी मू. १२७८)। अतएव एक ही पुरुष सम्भूति में 'देव' एवं असम्भूति में असुर। सम्भूति 'सत्'-शब्द वाच्य, और असम्भूति 'असत्'-शब्दवाच्य। किन्तु हम यह भी जानते हैं, सत् के वृन्त का बन्धन असत् में है (ऋ. १०।१२९।४; टी. १२२६[1], १२४५, १२७९[4])। इसीलिए सृष्टियज्ञ के प्रवर्तन काल में देवताओं का श्रद्धाज्ञापन असुरों के प्रति।

[१६०६] ऋ. १।२२।१५, द्र. टी.मू. ४६२।

[१६०७] ऋ. अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्य् अप्वे परेहि अभि प्रेहि निर् दह→

इसके बाद आठ 'द्वन्द्व' अथवा युग्म देवताओं का नाम है। उनमें उलूखल-मुसल, द्यावा-पृथिवी, विपाट्-शुतुद्री एवं आर्त्नी की चर्चा पहले ही की गई है। बाकी – हविर्धान द्वय है।

हविर्धानद्वय अथवा सोमयाग में सोम इत्यादि ढोकर महावेदी में ले आने के लिए दो गाड़ियाँ हैं। हविर्धान यज्ञोपकरण है, उसके सम्बन्ध में ऋक्संहिता के द्वितीय मण्डल में एक तृच एवं दशम मण्डल में एक सूक्त है [१६०९]। इस तृच में है कि 'द्यावा-पृथिवी हमारे इस सिद्ध द्युलोकस्पर्शी यज्ञ को देवताओं के निकट अर्पण करें।'[1] इसी से ऐतरेय ब्राह्मण में दोनों हविर्धान शकट में द्यावा-पृथिवी की दृष्टि का विधान है क्योंकि 'द्यावा-पृथिवी देवताओं के हविर्धान' हैं अर्थात् द्युलोक-भूलोक दिव्य अमृत के वाहन हैं एवं अमृतमय अथवा आनन्दमय हैं।[2] तैत्तिरीय संहिता के सायण भाष्य के एक स्थान पर यजमान एवं उनकी पत्नी हविर्धान द्वय के साथ एकात्मक हैं – इस प्रकार का एक संकेत है।[3] इस भावना का समर्थन ऋक्संहिता में विश्वामित्र-मण्डल के आरम्भ में ही प्राप्त होता है।[4] अन्तर्यामी चाहते हैं कि मनुष्य सौम्य आनन्द का वीर्यवान, बलवान वाहन हो। हविर्धान सूक्त में सन्ध्या भाषा के माध्यम से इसी भावना का पल्लवन है। प्रथम दो मंत्रों में गाड़ी के चलने का वर्णन है एवं उसमें कहा जा रहा है कि उसकी परमगति वही 'उरुलोक' है जो देवकाम मनुष्यों का लक्ष्य है। तृतीय मंत्र में अमृत सन्धानी के अध्यारोह का वर्णन है जिसकी चर्चा पहले ही की गई।[5] चतुर्थ मंत्र में मृत्यु एवं अमरत्व का द्वन्द्व एवं उसके समाधान का वर्णन इस रूप में हुआ है – 'देवताओं के लिए ही (उन्होंने) मृत्यु को वरण किया किन्तु प्रजा के लिए अमृत को वरण नहीं किया। बृहस्पति को यज्ञ एवं ऋषि किया। यम प्रिय शरीर को पार कर आगे बढ़ गए।'[6] ऋक् के प्रथमार्ध में अनुक्त कर्त्ता परम-पुरुष हैं 'जिनकी छाया अमृत और मृत्यु दोनों ही हैं।'[7] देव यज्ञ में देवताओं के लिए उनका मृत्युवरण उनकी आत्माहुति है जिसके फलस्वरूप विश्व की रचना हुई।[8] किन्तु यह उत्पन्न विश्व मृत्यु का वशवर्ती हुआ, उसको उन्होंने अमृत करना नहीं चाहा।[9] इधर परमपुरुष स्वयं अमृत एवं मृत्युरूप आत्मा हैं इस कारण मनुष्य के भीतर अमृत की पिपासा जागी। फिर उस पिपासा की तृप्ति यज्ञ से ही हुई और मनुष्य ने **सोमपान** के द्वारा अमृत का अधिकार प्राप्त किया।[11] यह यज्ञ भी देवेषित, किन्तु वह विसर्ग नहीं बल्कि उत्सर्ग अर्थात् आत्माहुति द्वारा मनुष्य का ऊपर उठ जाना है। इस यज्ञ के पुरोधा बृहस्पति अथवा मंत्रशक्ति अथवा वे ही यज्ञस्वरूप हैं।[12] किन्तु सोमयाग के फलस्वरूप-

---

हत्सु शोकैर् अन्धेना मित्रास् तमसा सचन्ताम् १०।१०३।१२। [1] शौ. ८।८।१९। [2] नि. ६।१२। याास्क द्वारा व्युत्पत्ति : यद् एनया विद्धो ऽपवीयते (√वी; तु. IE. √uei 'to go')। [3] तु. क. स्वर्गे लोके न भयं किं चनास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति १।१।१२।

[१७०८] ऋ. १।२२।१२, ५।४६।८। [1] पत्नीवतस् त्रिंशतं त्रींश् च देवान् ३।६।९, द्र. टी. १२८१

[१७०९] ऋ. १०।१३ सूक्त; २।४१।१९-२१। [1] द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रम् अद्य दिविस्पृशम्, यज्ञं देवेषु यच्छताम् २।४१।२०; [2] ऐ.ब्रा. १।२९। देवयज्ञ की अनुकृति ही मनुष्य यज्ञ। [3] तै.स. ४।१।१।२। [4] ऋ. सोमस्य मा तवसं वक्ष्य् अग्ने वह्निं चकर्थ विदथे यजध्यै ३।१।१। 'वह्निम्' का अन्वय 'वक्षि' एवं 'चकर्थ' इन दो क्रियाओं के साथ। [5] द्र. टीम् १६०२[9]। [6] देवेभ्यः कम् अवृणीत मृत्युं प्रजायै कम् अमृतं नावृणीत, बृहस्पतिं यज्ञम् अकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस् तन्वं प्रारिरेचीत् १०।१३।४। [7] १०।१२१।२। [8] द्र. १०।९०।६, ९...। [9] इस प्रसंग में तु. बृ. १।२ ब्रा.। [10] तु. बृ. १।२।७। [11] ऋ. ८।४८।३, टी. १२५०-१२५५। [12] 'बृहस्पति' 'ब्रह्मणस्पति' 'वाचस्पति' सभी उस वाक् के अधीश्वर हैं जो बृहत् चेतना अथवा ब्रह्मचेतना के वाहन हैं। यह वाक् ही मंत्र एवं मंत्र योग का का मुख्य-साधन है।

जो अमृतत्व प्राप्त होता है, वह वैवस्वत यम का दान — अर्थात यह मर्त्य देह जितनी ही प्रिय क्यों न हो, उसके परे आदित्य वर्ण पुरुष को जानना एवं उनका सायुज्य प्राप्त करना है।[13] उसके बाद अन्तिम ऋक् में हविर्धानस्थित शिशु सोम की प्रशस्ति है अर्थात आधार में सप्तसिन्धु एवं मरुद्गण द्वारा शिशु अग्नि की तरह ही प्रत्येक कला में उनका आप्यायन, संवर्धन।[14]

उसके बाद एक और द्वन्द्व या युग्म है **शुनासीर**। ऋक् संहिता में वामदेव के कृषिसूक्त में इन दोनों का उल्लेख प्राप्त होता है [1610] इस सूक्त के आरम्भ में ही एक तृच में क्षेत्रपति की प्रशस्ति है। निघन्टु में क्षेत्रपति अन्तरिक्ष स्थान देवता है। अध्यात्म दृष्टि से देह ही क्षेत्र है।[1] अध्यात्म साधना के साथ भूमिकर्षण की उपमा हमें ज्ञात है। इस देश की लोक परम्परा में शिव को कृषिजीवी और योगेश्वर बलराम को हलधर कहा जाता है। ऋक् संहिता में भी हम देखते हैं कि 'मिट्टी में हल चलाते हैं कविगण अथवा क्रान्तदर्शी, जुये में बैल जोतते हैं अलग ढंग से ध्यानी, सुकर्मी — देवताओं के निमित्त आनन्द की कामना में।'[2] कृषिप्रधान देश में खेती या कृषि की उपमा सहज ही मन में आती है।

यास्क का मत है कि कृषि सूक्त के शुन एवं सीर आधिदैविक दृष्टि से क्रमशः वायु एवं आदित्य [1611] हैं। पृथिव्यायतन सत्व की भूमिका में 'सीर' लाङ्गल (हल) एवं 'सीता' लाङ्गलपद्धति (कूँड़ अथवा हल से जोती गई रेखा) हैं।[1] सीर से ही सीता; इसलिए सीर में आदित्य दृष्टि स्वाभाविक रूप में ही माध्यन्दिन-संहिता की सुषुम्ण सूर्यरश्मि का स्मरण दिला देती है। किन्तु 'शुन' क्या है? सूक्त में इस शब्द के दो प्रयोग हैं। एक क्रियाविशेषण के रूप में एकक प्रयोग है जिससे 'बिना प्रयास के, आनन्द के साथ' इस अर्थ का बोध होता है।[2] किन्तु सीर के साथ समासबद्ध होकर शुन से जिस प्रकार 'आनन्द' का बोध हो सकता है उसी प्रकार 'प्राण' का भी बोध हो सकता है। यह अर्थ ऋक् संहिता में ही पाया जाता है।[3] अध्यात्म दृष्टि से जो प्राण है, वही अधिदैवत दृष्टि से वायु है। अतएव 'शुन' वायु एवं अन्तरिक्ष स्थान होने से वे ही अन्य मत से क्षेत्रपति हैं। 'शुनासीर' इन्द्र।[4]

---

13 द्र. मा. 31।18। आलोच्य मंत्र के यम और वरुण एक हैं (तु. ऋ. 10।14।7, टी. 1224)। ल. यह हविर्धान सूक्त यम मण्डल में विन्यस्त हुआ है। यजमान एवं यजमानपत्नी यदि अपनी देह को हविर्धान कर सकें तो फिर यहाँ ही वे मृत्युंजय होंगे (तु. श्वे. 2।12)। और भी ल., सूक्त के ऋषि 'आङ्गि हविर्धान' अथवा 'विवस्वान आदित्य' अर्थात सोमवाहन हैं, जिनका सूर्यत्व हो गया है। 14 तु. ऋ. 31 सूक्त।

[1610] ऋ. 4।57।5, 8। [1] तु. ऋ. 10।22।7; गी. 13।2-3। द्र. टी. 1667। [2] ऋ. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्, धीरा देवेषु सुम्नया 10।101।4; द्र. 3; और भी द्र. सायण भाष्य 10, 11। यह समस्त सूक्त ही यज्ञ विषयक है। 'सीर' हल की फाल, हल।

[1611] नि. 9।40। [1] द्र. ऋ. 4।57।6, 7। [2] निघ. में 'शुन' सुख 3।6। [3] ऋ. 8।46।28 (टी.मू. 336)। शुन। श्वन् 'कुकुर (कुत्ता)', घ्राणशक्ति की तीव्रता के कारण जो प्राण का प्रतीक है। [4] बृदे. वायुः शुनः सूर्य एवात्र सीरः शुनासीरौ वायुसूर्यौ वदन्ति, शुनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने, सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः 5।8। किन्तु यास्क ऐसा कुछ नहीं कहते हैं अथवा शाकपूणि के मत का भी उद्धरण नहीं देते हैं। किन्तु तैत्तिरीय संहिता 1।8।7।1 एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण 1।7।1।1 में इन्द्र शुनासीर अर्थात शुन एवं सीर समन्वित, संयुक्त (सा.)।

[1612] द्र. श. 2।6।3 ब्रा.; कात्यायन श्रौत सूत्र पंचम अध्याय; टी. 1459। [1] श. 2।6।3।2 का रहस्यार्थ। [2] तु. प्र. 2।13। [3] श. 2।6।3।5-9। [4] द्र. ऋ. शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद् दिवि चक्रथुः पयः, तेने माम् उप सिञ्चतम्' — हे शुन एवं सीर, इस वाक् से सुतृप्त होओ 'तुम दोनों,

ब्राह्मण में संवत्सरव्यापी चातुर्मास्य याग के चार पर्वों के अन्त में शुनासीरीय पर्व है [१६१२]। साकमेध याग के बाद शुनासीरीय है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है — साकमेधयाग के फलस्वरूप देवतागण वृत्र पर विजय प्राप्त करके श्रीमन्त हुए, वही 'शुन' है; और संवत्सर को जीतकर वे रसिक हुए, वही रस 'सीर' हुआ। जो शुनासीरीय याग करता है, वह इस श्री और रस दोनों को ही प्राप्त करता है।[1] अर्थात शुनासीरीय याग के फलस्वरूप आदित्यद्युति की साधना सार्थक हुई, अविद्या का अन्धकार दूर हो गया और जीवन में श्री एवं प्रज्ञा[2] अथवा अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति हुई। शुनासीरीय पुरोडाश द्वादशकपाल अथवा बारह खर्पर (तसले के आकार जैसे मिट्टी के बर्तन जिसमें पुरोडाश पकाया जाता है) स्पष्टतया आदित्य के द्योतक हैं। उसके बाद ही वायु के निमित्त दूध की आहुति दी जाती है क्योंकि वायु ही वृष्टि को आप्यायित अथवा तुष्ट करते हैं, उसी से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें खाकर माँ के स्तनों में दूध छलकने लगता है। अर्थात संवत्सर के एक पूरे भाग में हम प्रकृति में प्राण या जीवन का जो उच्छलन देख पाते हैं, उसके मूल में वायु अथवा महाप्राण का प्रसाद है। 'वायव्य पय' के बाद एक कपाल या खर्पर में पुरोडाश देना पड़ता है। आकाश में एक सूर्य, वे सब के 'गोपा' एवं 'विधाता' हैं। इसलिए उनके निमित्त एक कपाल पुरोडाश। इस याग की दक्षिणा एक सफ़ेद घोड़ा है, यदि वह प्राप्त न हो तो एक सफ़ेद साँड की दक्षिणा[3] दी जाती है। शतपथ ब्राह्मण के कथनानुसार यह उसी सूर्य का प्रतीक है। यह परिकल्पना शुनासीरीय याग के अनुष्ठान से समर्थित हो रही है कि शुन वायु एवं सीर आदित्य है। यह याग फाल्गुन मास में किया जाता है। एक बरस की फ़सल घर में आई है, फिर नई फ़सल की तैयारी की चेष्टा करनी होगी — यही भावना चातुर्मास्य याग की पृष्ठभूमि में रही है एवं वामदेव के कृषि सूक्त में बाहर भीतर इन दोनों फ़सलों की क्रिया को मिला दिया गया है। सूक्त में शुनासीर के निमित्त दो मंत्र हैं — एक में भीतर की कृषि और दूसरे में बाहर की कृषि का इंगित है।[4] सूक्त के आरम्भ में क्षेत्रपति की प्रशस्ति में भूलोक, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक सब के मधुमय हो जाने का वर्णन है।[5] यह मानव जीवन की खेती करके सोने की फ़सल उगाने के उल्लास जैसा है।

क्योंकि तुम दोनों ने द्युलोक में आप्यायनी धारा की रचना की है। उसके ही द्वारा इसको (भाक को) निकट आकर सिक्त करो ४।५७।५। आदित्य पृथिवी के रस को द्युलोक में आकर्षित करता है, वह मेघ होता है। वायु की सहायता से वही वर्षा के रूप में झर पड़ता है, पृथिवी सुजला और शस्यश्यामला हो जाती है। यह एक नैसर्गिक घटना है। आध्यात्मिक जगत में भी ऐसा ही होता है। ऊर्ध्वस्रोता प्राण द्युलोक से ज्योति की धारा होकर जीवन में झर पड़ता है, उसके छिड़काव से आधार की शुष्कता एवं बाँझपन दूर हो जाते हैं। यह भीतर का कर्षण या कृषिकर्म है। बाहर के कर्षण का वर्णन ऋक् संहिता में इस प्रकार है— 'शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं, शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः, शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनम् अस्मासु धत्तम्' — स्वच्छन्दता पूर्वक, हमारे हल के फाल भूमि की जोताई करें, स्वच्छन्दता पूर्वक किसान बैलों को लेकर चले आएँ। स्वच्छन्दता पूर्वक पर्जन्य (मिट्टी भिगो दें) मधु से और दूध की धाराओं से। शुन एवं सीर प्राण को हमारे भीतर निहित करें, हमें सुख-समृद्धि प्रदान करें ४।५७।८। ५ द्र. टी. १३२८[1]।

सब के अन्त में **देवी जोष्ट्री** एवं **देवी ऊर्जाहुती** ये दो युग्म हैं। ऋक् संहिता में इन देवियों का कोई उल्लेख नहीं, यद्यपि 'ऊर्जाहुति' यह शब्द एक स्थान पर है [१६१३]। यजुः संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में ये अनुयाज देवता हैं।[1] अनुयाज देवता स्वरूपतः अग्नि हैं, अतएव ये सब अग्नि की विभूति होने के कारण पृथिवीस्थान हैं और इसीलिए पृथिव्यायतन सत्वों के अन्तर्गत इनका समावेश किया गया है। संहिता के अनुसार दो जोष्ट्री में एक पाप और द्वेष दूर करती हैं और एक वरेण्य ज्योति लेकर आती हैं। इसीलिए तो वे 'जोष्ट्री' अर्थात आत्मा के तर्पण की देवता हैं। और ऊर्जाहुति द्वय में एक एषणा (इष्) एवं अन्तर्मुखता की शक्ति (ऊर्ज्) लेकर आती हैं और एक अन्नपूर्णा रूप में पुरानी फ़सल के साथ नई फ़सल का मिलन करवाती हैं जिसके फलस्वरूप सब के खान-पान का सुयोग प्राप्त होता है। कोई कहता है, स्वरूपतः ये देवियाँ द्यावापृथिवी हैं और कोई इन्हें अहोरात्र कहता है। कात्थक्य का कहना है कि इनमें एक शस्य और एक संवत्सर हैं; अर्थात जीवन का मूल अन्न में एवं रूपान्तर ज्योति में है, — ये वही हैं।[2]

पृथिवीस्थान देवताओं का परिचय यहाँ समाप्त हुआ। हमने देखा कि पृथिवी में एक ही ज्योति, एक ही देवता अग्नि हैं। पृथिवी अग्निगर्भा है, इसलिए वह भी देवी है। जातवेदा रूप में अग्नि हमारे प्राण हैं, हमारी लोकोत्तर एषणा के आदिम संयोग हैं, हमारी तपःशक्ति हैं और हमारी अभीप्सा की शिखा हैं। वस्तुतः वे 'त्रिषधस्थ' अर्थात जिस प्रकार वे पृथिवी में हैं उसी प्रकार अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में हैं। मनुष्य और देवता के बीच वे दूत के रूप में हैं — जिस प्रकार मनुष्य को देवता के निकट ले जाते हैं, उसी प्रकार वे देवता को मनुष्य के भीतर उतार कर ले आते हैं। प्रत्येक आधार में वे गुहाहित अर्थात अन्तरात्मा में अन्तर्यामी के रूप में प्रच्छन्न हैं। मन्थन की शक्ति द्वारा उनको आविष्कृत करना ही हमारा प्रथम पुरुषार्थ है। पृथिवी की अग्नि को द्युलोक में ले जाना होगा अथवा पृथिवी की अग्नि ही हमें द्युलोक में ले जायेगी — अर्थात अग्निज्योति उद्दीप्त होकर सौरज्योति में परिणत होगी; आत्मचेतना ब्रह्मचेतना में प्रसारित होगी।

पृथिवी और द्युलोक के मध्य अन्तरिक्ष है। वेद में अन्तरिक्ष द्यावापृथिवी की तरह देवता नहीं बन पाया — वह 'लोक' अथवा देवता-धाम है। पृथिवी शान्ता, द्युलोक शान्त है, किन्तु अन्तरिक्ष नित्य क्षुब्ध अर्थात तमः और सत्व के मध्य में सांख्य के रजोगुण की तरह है। यही क्षोभ आदित्य का क्षोभ एवं देवासुर संग्राम है। वेद में इन दोनों को ही सन्धा भाषा के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

निघन्टु में अन्तरिक्षस्थान अथवा मध्यस्थान सत्तर देवताओं का नाम है। जो अन्तरिक्ष लोक के अनिपद्यमान नायक हैं। उनको इन तीन पर्यायों अथवा समानार्थक क्रमों में सजाया गया है — आरम्भ में अलग-अलग देवता, उसके बाद देवगण एवं अन्त में स्त्री देवता। हम भी निघन्टु के इसी परिगणन का अनुसरण करेंगे, किन्तु समझने की सुविधा के लिए अनेक स्थानों पर क्रम तोड़ने की ज़रूरत होगी।

[१६१३] ऋ॰ ८।३८।४, द्र॰ टी॰ १४२३। [1] द्र॰ टी॰ १४२०; मैसं॰ ४।१३।८; तैब्रा॰ ३।६।१३। [2] द्र॰ नि॰ ८।४१-४३।

घ. अन्तरिक्षस्थान देवता १: वायुवर्ग

निघन्टु में अन्तरिक्ष स्थान देवताओं के आरम्भ में ही वायु का नामोल्लेख किया गया है [१६१४]। यास्क भी अन्यत्र बतलाते हैं कि निरुक्तकारों के मतानुसार पृथिवी में अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु अथवा इन्द्र और द्युलोक में सूर्य — मात्र यही तीन देवता हैं। वे महाभाग (महेश्वर) हैं अत: उनमें से प्रत्येक के अनेक नाम हैं।[1] फिर यही तीन देवता भी तो एक सत् की ही विभूति हैं, यह हमने पहले ही देखा है। यास्क के कथनानुसार अन्तरिक्ष में देवता विकल्प का कारण क्या है, उसका भी इसके पहले विवेचन किया गया है।[2] निघन्टु में वायु का नाम आरम्भ में होने पर भी अन्तरिक्ष में तो इन्द्र का ही प्राधान्य है, इसे यास्क ने स्पष्ट रूप से ही बतलाया है।[3] इन्द्र का विशिष्ट कर्म है वृत्र का वध करके उसके बन्धन से प्राण को मुक्त करना एवं आधार को रसानुषिक्त करके उसके बन्ध्यात्व को दूर करना। इसके लिए बल की आवश्यकता होती है इसलिए जो कुछ बलकृति है, वह इन्द्र का कर्म है। जिसे वायु का भी कर्म कहा जा सकता है।[4] अन्तरिक्षस्थान समस्त देवताओं का यह एक साधारण कार्य है। वे सब महाप्राण की विभूति हैं।

निघन्टु में वायु के पश्चात वरुण, रुद्र, इन्द्र और पर्जन्य का नाम है। एक के बाद एक इन पांच देवताओं का उल्लेख तो वृष्टिपात के रूप में एक नैसर्गिक घटना की ओर संकेत करता है। दुर्गाचार्य की इस परिकल्पना की चर्चा भी इसके पहले की गई है [१६१५] जिस प्रकार ज्योति का स्फुटन द्युलोक की घटना है, उसी प्रकार वर्षण अन्तरिक्ष की घटना है। आध्यात्मिक दृष्टि से एक का अभिप्राय प्रज्ञा से है और दूसरे का प्राण से।[1] सभी देवताओं का ही स्वरूप ज्योति है। अन्तरिक्ष में हम दो नैसर्गिक ज्योति को प्रत्यक्ष रूप में देख पाते हैं - जिनमें एक विद्युत और एक चन्द्रमा है। एक प्राण की ज्योति[2] और एक प्रज्ञा की ज्योति है। इन दोनों ज्योतियों को दृष्टि में रखकर हम अन्तरिक्ष स्थानी नैसर्गिक देवताओं के ये दो वर्ग पाते हैं — एक वर्ग में वायुप्रधान वात, वरुण, रुद्र, अपांनपात, इन्द्र, मरुद्गण और पर्जन्य और दूसरे में सोमप्रधान इन्दु, चन्द्रमा, अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू एवं और भी कई द्युस्थान देवता हैं — जिनको विशेष कारणों से अन्तरिक्ष के अन्तर्गत सन्निविष्ट किया गया है। यह नैसर्गिक ढाँचा अन्तरिक्ष स्थानी देवताओं का तात्त्विक आधार है। इसको ध्यान में रखकर ही हम उनके स्वरूप का विवेचन करेंगे।

अन्तरिक्ष का मूल तत्व वायु है। इस तत्वरूपी वायु को हम दिन-रात निरन्तर निःश्वास के साथ भीतर खींच कर जिन्दा हैं। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से वायु प्राण है। लगता है हम एक अपार अतल प्राण के समुद्र में मछली की तरह उसमें ही डूबते-उतराते हुए विचरण कर रहे हैं। जो वायु बाहर है, वह ही भीतर है। जो प्राण सब के भीतर है, वही प्राण मेरे भी भीतर है। विश्ववायु के साथ ऐसा प्रत्यक्षनिविड़ और परिव्याप्त सम्बन्ध संभवत: अन्य किसी भी तत्व के माध्यम से हुआ नहीं — केवल आकाश के अतिरिक्त। इसलिए इस प्रत्यक्षत:

[१६१४] निघ. ५।४। १ नि. ७।५। २ द्र. वेमी. प्रथम खण्ड। ३ नि. ७।१०। ४ तु. के. ३।८-९।
[१६१५] द्र. टी. १३८६। १ ल. कौषीतकी उपनिषद में इन्द्र युगपत प्राण एवं प्रज्ञा, और तत्वत: ये दोनों एक हैं ३।२-३। संहिता में विद्युत के अधिष्ठातृ देवता 'अपां नपात' (ऋ. २।३५, १०।३० सूक्त; निघ. ५।४

बोधगम्य सम्बन्ध को अनुभवगोचर करना आत्मचैतन्य को विश्वचैतन्य में व्याप्त करने का एक अमोघ साधन है। उसके ही पक्ष में हम ब्रह्मवादियों के कंठ से उपनिषद् की यह उदात्त घोषणा सुनते हैं — 'वायुर् अनिलम् अमृतम्' — (मेरे निकट) यह आयु प्राणनमय अमृत; 'नमस्ते। वायो, त्वम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वाम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि' — नमस्कार तुम्हें, हे वायु; तुम ही हो प्रत्यक्ष ब्रह्म; तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म रूप में घोषणा करूँगा [१७१६] वायु अथवा प्राण या उसकी सहज प्रत्यक्ष क्रिया श्वास-प्रश्वास आदियुग से आज तक इस देश की अध्यात्म-साधना के एक विराट अंश से जुड़े हुए हैं — किन्तु उसके बारे में आगे चलकर बात करेंगे। अभी केवल इतना ही प्रणिधेय है कि वैदिक भावना में पृथिवीस्थान अग्नि से अन्तरिक्ष स्थान वायु में उत्तरण आध्यात्मिक प्रगति का मध्य पर्व और व्याप्ति चैतन्य का प्रथम पाठ है। अभीप्सा की अग्निशिखा लपलपाकर फैल जाती है और वायु में मिल जाती है।[1] वह जिस प्रकार देह को तपस्वान् करती है उसी प्रकार आस-पास के वायुमण्डल को प्रतप्त करती है। यह भावना समिद्ध चैतन्य की तेजस्क्रिया एवं सामर्थ्य का परिचायक है।

वैभव-भेद की दृष्टि से संहिता में एक ही वायु की विभिन्न संज्ञाएँ हैं — जिस प्रकार अग्नि के सम्बन्ध में देखा है। संहिता में इस प्रकार ये तीन संज्ञाएँ — वात, मरुद्गण एवं मातरिश्वा हैं। निघण्टु में देवताओं के नामों की तालिका में 'मातरिश्वा' अनुमेय है, अनुक्त है, यद्यपि यास्क ने प्रसंगतः निरुक्त में इस शब्द की व्युत्पत्ति दी है [१७१७] निघण्टुकार द्वारा वायु को अन्तरिक्ष स्थान देवताओं के आरम्भ में स्थान देने पर भी विवेचन की सुविधा के लिए हम इन संज्ञाओं को वात, वायु, मरुद्गण और मातरिश्वा — इस क्रम से सजा सकते हैं। इसमें प्रथम तीनों संज्ञाओं में सूक्ष्मता का तारतम्य है — जैसे एक वायु ही त्रिषधस्थ होकर पृथिवी के सन्निकट, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के उपान्त्य में विराजमान हैं। मातरिश्वा उनकी एक अति प्राचीन एवं महनीय संज्ञा है।

पहले **वात** के देवत्व का परिचय प्राप्त करें। एक ही धातु से निष्पन्न वात एवं वायु में देवता की हैसियत से कोई अन्तर न रहने पर भी संहिता में जहाँ देवता का आधिभौतिक रूप उद्दिष्ट है, वहाँ 'वात' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। उस समय 'वात' के अर्थ में 'वातास' का बोध होता है — जिस प्रकार इन वर्णनों में देखते हैं : 'मधु वाता ऋतायते', 'यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः', 'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति', 'धुनोति वातो यथा वनम्' 'उदनः शिपालम् इव वातः', 'वातो वहति वासम् अस्याः', 'वृष्टिं परिज्मा वातो ददातु' इत्यादि [१७१८]। इन सब स्थानों में वात प्रत्यक्षगोचर निसर्ग शक्ति है,

---

[१७१६] ऐ. १८, तै. ३।१।१। [1] तु. छा. वायुर् वाव संवर्गः, यदा वा अग्निर् उद्वायति वायुम् एवाप्येति यदा सूर्योऽस्तम् एति वायुम् एवाप्येति, यदा चन्द्रोऽस्तम् एति वायुम् एवाप्येति ४।३।१।

[१७१७] नि. ७।२६।

[१७१८] द्र. ऋ. १।९०।६, ५।७८।७, ८, १०।२३।४, ६८।५, १०२।२, ७।४०।६। तु. वात के साथ अग्नि का सम्बन्ध १।१४८।४, ४।७।१०, ७।३।२, १०।१४२।४। [1] तु. आत्मेव वातः १।३४।७, ७।८७।७, १०।१६।३ (यहाँ 'वात' स्पष्टतः देवता)। द्र. टी. १५००। [2] तु. बृ. २।४।१०, ४।५।११। [3] द्र. ऋ. १०।१२९।१-२। [4] द्र. टी. १४२९। [5] ऋ. ३।२९।११।

सरीमन् < √ सृ 'सरसराना, बहना' (तु. 'सलिल')। ※ सरिल, पुराण की भाषा में कारणवारि,→

केवल अन्त के उदाहरण में वह देवता हो गया है। इसके अलावा यह वात ही हम सब के भीतर आकर 'आत्मा'[1] अथवा निःश्वास-प्रश्वास में संचरणशील जीवचैतन्य हुआ है। इसी जीवचैतन्य के उत्स के रूप में वात देवता हैं। वे हमारे निश्वसित के मूलभूत वही 'महतो भूतस्य निश्वसितम्' हैं[2] जिन्होंने सृष्टि के आरम्भ में अप्रकेत, अस्पष्ट सलिल की दुर्गम गहराई में 'आनीद् अवातम्'— अर्थात वातास नहीं था तब भी साँस ली।[3] उसी निश्वसित का प्रकट रूप यह सृष्टि है। हमने उसकी अभिव्यक्ति के तीन पर्वों की चर्चा अन्यत्र की है।[4] उसके ही अगले पर्व में 'वातस्य सर्गो अभवत् सरीमणि'— अर्थात वात की सृष्टि हुई, जब सब कुछ सरसराने लगा।[5] इस प्रकार स्रोत की तरह जो सरसर करते बहता जाए, वही कारण-'सलिल' हुआ — गौरीरूपिणी वाक् अपने हम्बारव (रंभण) द्वारा जिसको तक्षण (काट-छाँट) करके अव्याकृत अप्रकट विश्व को व्याकृत अथवा प्रकट करती हैं[6] और फिर उसी निःसृत विश्वभुवन को सीने से लगाए तेज़ हवा की तरह (वात इव) बहती चलती हैं।[7] वात के देवत्व का यही महत्तम परिचय है।

किन्तु यह घटना अन्तरिक्ष की है। शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि द्युलोक और भूलोक सृष्टि के पूर्व एकाकार थे— जिस प्रकार उपनिषद् के वर्णन में सृष्टि के पहले 'आत्मा' और 'इदम्' एकाकार थे। ये दोनों लोक जब पृथक् होने लगे, तब उनके बीच जो आकाश दिखाई पड़ा, वही अन्तरिक्ष हुआ [१६१९] यही आकाश नाम-रूप का निर्वाहक है।[1] उसका आविर्भावजनित क्षोभ ही ब्रह्मक्षोभ है।[2] संहिता के वर्णन में वह 'वातस्य सर्गः' है। और इस कारण यह 'वात' अन्तरिक्षचारी है।[3] वे वरुण की आत्मा हैं— जो वरुण अव्याकृत महाशून्य के देवता हैं।[4] उसी अव्याकृत का निश्वसित सृष्टि है। यही समझाने के लिए निघण्टु में हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, त्वष्टा एवं प्रजापति को अन्तरिक्ष में स्थान दिया गया है। ये सभी विसृष्टि, अर्थात विचित्र रूपों में व्यक्त होकर शक्ति के उच्छलन अथवा निर्झरण के देवता हैं। इनमें त्वष्टा की भावना सर्वापेक्षा प्राचीन एवं समृद्ध है। निघण्टु में त्वष्टा के बाद ही वात का स्थान, ध्यातव्य है।

स्वाभाविक कारणों से ही ऋक् संहिता के कई स्थानों पर वात के साथ पर्जन्य का संस्तव देखा जाता है [१६२०]। वात-पर्जन्य, जान पड़ता है एक प्रत्याहार है, जिसके अन्तर्गत पूर्वोल्लिखित अन्तरिक्षस्थान सारे नैसर्गिक देवता ही हैं।

तु. ऋ. १।१६४।४१, १०।१२९।३) + ईमम् (तु. 'वरीमन्', 'भरीमन')। यही 'अक्षर' का क्षरण' तु. १।१६४।४२।[5] १।१६४।४२, द्र. टी. १२६७।[7] १०।१२५।८।

[१६१९] श. ७।१।२।२३। तु. ऐउ. १।१।१।[1] छा. ८।१४।१।[2] उपनिषद् की उपमा 'आदित्य का क्षोभ' छा. ३।५।३।[3] तु. ऋ. १।१६१।१४ टी. १३०२। और भी तु. 'सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्, अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः' १०।१५८।१। यहाँ वात = वायु। सूर्य, वायु, अग्नि परम देवता की तीन विभूति (तु. के. २।२।५-११)। कौ. में ये तीनों अध्यात्म दृष्टि से क्रमशः प्रज्ञा, प्राण और भूत हैं यद्यपि वहाँ प्राण में ब्रह्मदृष्टि हेतु उसका ही प्राधान्य है (३।८)। ऋक् संहिता में यही तीन देवता— 'त्रयः केशिनः' (१।१६४।४४)।[4] तु. 'आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत्' आत्मा तुम्हारा वातास रूप में भुवन (प्रतिध्वनित) करता है। गरजते हुए चला ७।८७।२। नवीनोत् <√ नु 'शब्द करना' भृशार्थे, तु. 'प्रणव' अथवा द्यावा-पृथिवी वियोगजनित 'स्फोट' अथवा आदि वाक्। उसी से सृष्टि। उसके कारण सृष्टि अन्तरिक्ष का कार्य।

[१६२०] ऋ. ६।५०।१२, १०।६५।९, ६६।१० — अन्यान्य देवताओं के साथ। केवल यही दोनों 'पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः पुरीषाणि जिन्वतम् अप्यानि'— हे पर्जन्य एवं वात, पृथिवी पर हे वीर्यवर्षी अप् से उत्पन्न कुहासों को प्राणवन्त करो तुम दोनों ६।४९।६।→

पुरवाई (पुरवैया) बहने लगी, आकाश मेघाच्छन्न हो गया, सुनाई पड़ा गुरु गम्भीर गर्जन, चमकी बिजली — इन्द्र के वृत्र संहार के उन्मादन से प्राण का अन्तरिक्ष थर-थरा उठा। अन्त में कबन्ध मेघ के विदीर्ण वक्ष से पर्जन्य का मूसलधार वर्षण होने लगा। प्राण की विजयमहिमा की यह प्राचीन छवि वात-पर्जन्य के प्रत्याहार के अन्तर्गत सुरक्षित है। अतएव वे सर्वापूरक चिन्मय प्राण के सिंचन वर्षण द्वारा पृथिवी का बन्ध्यात्व दूर करते हैं;[1] उनके हाथ में महाज्योतिर्मय वज्र है;[2] हमारी ज्योतिरेषणा को वे अपने संवेग से आप्यायित करते हैं।[3] एक लम्बे समय तक अनावृष्टि के बाद प्राण के अन्तरिक्ष में जब मेघवाष्प की आर्द्रता फैल जाती है तब वे उसमें आसन्न वर्षण का संवेग संचारित करते हैं, और उस समय ही हमारी यथार्थ आकृति से प्रसन्न मरुद्‌गण नये रूप में हमारे जगत को रचते हैं — क्योंकि वे सब कवि हैं, जगत के अधिष्ठान हैं।[4]

ऋक् संहिता में वात के सम्बन्ध में दो लघु सूक्त दशम मण्डल के अन्त की ओर पाए जाते हैं [1621]। ऋषि के नाम में सायुज्य की भावना का संकेत है। प्रथम सूक्त के ऋषि 'वातायन अनिल' हैं — जो ईशोपनिषद में उल्लिखित सिद्ध प्राण के अमृतानुभव की बात का स्मरण करा देते हैं।[1] द्वितीय सूक्त के ऋषि 'वातायन उल' प्राण की सर्वव्यापिता के सूचक हैं।[2] अनिल कहते हैं —

'अब मैं वात के रथ की महिमा का वर्णन करता हूँ। सब तोड़ते-फोड़ते तीव्र गति से धावित रथ का निर्घोष वज्रनाद जैसा है। द्युलोक का स्पर्श करते हुए जा रहा है, सब कुछ अरुणवर्ण से रँगते हुए। फिर तीव्र वेग से चला जाता है पृथिवी की धूल उड़ाते हुए चारों ओर [1622]।

'प्रत्येक दिशा में आगे-पीछे चलती हैं वात की विचित्र विभूतियाँ। इनके निकट आती हैं वे — जिस प्रकार मेले में आती हैं कन्याएँ। उन संगिनियों के साथ एक ही रथ में चलते हैं इस विश्वभुवन के राजा होकर [1623]।'

'अप्यानि पुरीषाणि' सृष्टि के आरम्भ में महाप्राण का ज्योतिर्बाष्प भी (Shimmering light), तु॰ (पितरं...दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् 1।164।12)। पुरीष 'पृणातेः पुरयतेर् वा' नि॰ 2।22 (तु॰ IE. Pele to fill, Lat. Plere 'to fill')। [1] 6।49, 6। पर्जन्यवाता वृषभा पुरीषिणा - 10।55।8। [2] वाता पर्जन्या महिषस्य तन्यतोः (धर्तारौ) 10।66।11। [3] पर्जन्यवाता पिप्यताम् - इषं नः 6।50।12। [4] द्र॰ टीका का प्रारम्भ + सत्यश्रुतः कवयो यस्य गीर्भिर् जगतः स्थातर् जगद् आ कृणुध्वम्' — सत्यश्रवणकारी हे कविगण, जिसकी वाणी से (तुम सब प्रसन्न) हे जगत के अधिष्ठान (मरुद्‌गण), (उसके) जगत को आकार दो तुम सब 5।48।6। 'कवयः' मरुद्‌गण; वे ही एकवचन में 'स्थातः' — 'गण' के बोध के लिए।

[1621] ऋ॰ 10।168, 186 सूक्त। अनुक्रमणिका में देवता 'वायु'; किन्तु सूक्त में 'वात'। [1] ई॰ 16। [2] 'उल' ॥ 'उर' < √वृ, 'ढक लेना, छा जाना'।

[1622] ऋ॰ वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्न् एति स्तनयन्न् अस्य घोषः, दिविस्पृग् यात्य् अरुणानि कृण्वन्न् उतो एति पृथिव्या रेणुम् अस्यन् 10।168।1। गाल्डनर की 'आँधी' को चित्र। —— वात जैसे रथ हो — यह ध्वनि भी है (Geldner)।

[1623] ऋ॰ सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः, ताभिः सयुक् सरथं देव ईयते अस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा 10।168।2। ल॰ √ईर के ये तीन उपसर्ग हैं - 'सम' (तु॰ 'समीर') 'प्र' 'अनु' इनसे आँधी के विशृंखल झटके-झपाटे का बोध होता है (तु॰ 1।164।31)। वे ही वात के शक्ति रूप 'विष्ठाः' अर्थात जिनकी विचित्र स्थिति हो (तु॰ यावद् ब्रह्म विष्ठितं' तावती वाक् 10।114।8)। समन 'संग्राम' निघ॰ 2।17; मूलतः 'सम-मेलन', उपसर्ग यहाँ अन्तर्निहित धात्वर्थ एवं उसके बाद ही प्रत्यय (सम्+अन; तु॰ नि-म्न, अवस्ते, प्र-तम ...), अथवा धातु कल्पना निष्प्रयोजन। आँधी चलने के बाद पत्तों की मर्मर ध्वनि में, वृक्षों के हिलने के झूलने में, नदियों के वक्ष के कम्पन में जैसे नृत्य, गीत, वाद्य और चँवर डुलाने के साथ राज-समारोह का चित्र उभर आता है।

'अन्तरिक्ष के रास्तों पर चलते हुए वे कहीं रुकते नहीं, एक दिन के लिए भी। अप् के सखा हैं ये (सृष्टि के) प्रथम जातक और ऋतवान हैं- कहाँ हुआ है उनका जन्म, कहाँ से हुए आविर्भूत [१६२४] ?

'आत्मा हैं वे देवताओं की, विश्व के प्राण हैं, इच्छानुसार विचरण करते हैं ये। निर्घोष ही इनका सुनाई पड़ता है, रूप तो दिखाई नहीं देता। उसी वात के निमित्त हम सब की आहुति का अभियान चलता रहे [१६२५]।

आँधी और शृंखलाहीन हवा की उन्मत्तता से विश्व प्राण के दोलन से ऋषि का हृदय आन्दोलित हो उठा है। यह जैसे सृष्टि के प्रथम मुहूर्त में वही 'महतो भूतस्य निश्वासितम्', जैसे अरूपा 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती' है।

अगले सूक्त में यह एक सार्वभौम प्रार्थना है। जिसमें दार्शनिकता नहीं बल्कि विप्र के कम्प्रहृदय की आकूति है। ऋषि कहते हैं:

'वात ले आएँ वह औषध जो शान्तिस्वरूप, आनन्दस्वरूप हो हमारे हृदय में। हम सब की आयु का प्रतरण हो उनके अनुग्रह से, वे हमें दीर्घ जीवन प्रदान करें [१६२६]।

'इसके अतिरिक्त हे वात तुम पिता हो हम सब के, फिर भ्राता, फिर सखा समान भी हो। इस रूप में तुम वह करो जिससे हम जीवित रहें [१६२७]।'

'सुनो, हे वात, तुम्हारे घर में अमृत का संचय निहित है, उसमें से अमृत देकर हमें जीवन दान दो [१६२८]।'

[१६२४] ऋ. अन्तरिक्षे पथिभिर् ईयमानो न नि विशते कतमच् चनाहः, अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज् जातः कुत आ बभूव १०।१६८।३। 'अपां सखा', तु. वृष्टिं परिज्मा वातो ददातु ८।४०।६, द्र. टीभू. १६१८। और भी तुलनीय, वात-पर्जन्य का संस्तव। प्रथमजा तु. ३।२९।११, द्र. टीभू १६१८२। 'प्रथमजा ऋतस्य' विश्वमूल तत्व : तु. १।१६४।२६, प्रथमजा ऋतावा ६।७३।१ (बृहस्पति), प्रथमजा ऋतस्य १०।५।७ (अग्नि), ६१।१९ (वही), प्रथमजा ऋतेन १०९।१। ऋक् का अन्तिम चरण तु. १०।१२९।६। 'न नि विशते' तु. 'अनिपद्यमानम्' १।१६४।३१।

[१६२५] ऋ. आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः, घोषा इद् अस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम १०।१६८।४। वात यहाँ उपनिषद में उक्त उसी महाभूत का निश्वसित। समस्त जगत एक प्राणस्पन्दन (तु. क. यद् इदं किं च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् २।३।२)।

[१६२६] ऋ. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे, प्र ण आयूंषि तारिषत् १०।१८६।१।

[१६२७] ऋ. उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा, स नो जीवातवे कृधि १०।१८६।२। अन्त के चरण की 'जिजीविषा' वैदिक अध्यात्म भावना का वैशिष्ट्य; तु. 'जीवातवे' प्रतरं साधया धियो अग्ने १।९४।४, अयम् अग्निः ... देवो जीवातवे कृतः १०।१७६।४...। यह जीवित रहना, ज्योति के भीतर जीवित रहना : तु. मा ज्योतिषः प्रवसथानि गन्म वि षू मृधः (अवज्ञाकारियों की) शिश्रथः (श्लथ कर दो, जिससे वे ढीले पड़ जाएँ, उन की शान्ति भंग हो जाए) जीवसे नः २।२८।७। और भी तु. असो शतं शरदो जीवसे धाः २।२६।१० (द्र. शौ. पश्येम शरदः शतम् ... १९।६७) ऋ. यस्य ते द्युम्नवत् पयः (ज्योतिर्मय आप्यायनी धारा) पवमाना, भृतं दिवः, तेन नो मृल (आनन्दित करो) जीवसे ९।६६।३०। स्मरणीय. ई. २।

[१६२८] ऋ. यद् अदो वात ते गृहे ऽमृतस्य निधिर् हितः ततो नो देहि जीवसे १०।१८६।३।

शारीरिक स्वास्थ्य, हृदय में शान्ति और सुख तथा आत्मीय रूप में देवता को जानना, उनके अमृत का साझीदार होना — यही तो जीवन की कृतार्थता है।

वात के पश्चात् **वायु**, जो निघण्टु में अन्तरिक्षस्थान देवताओं के प्रथमगामी हैं। उनके सम्बन्ध में सामान्य विवेचन इस प्रकरण के आरम्भ में ही किया गया है। अब उसके आधार पर उनकी विशिष्टता का विस्तार पूर्वक विवरण प्रस्तुत है।

पहले ही लक्षणीय है कि अन्तरिक्ष स्थान देवताओं के पुरोधा के रूप में वायु और इन्द्र के विकल्प के बावजूद संहिता में इन्द्र की तुलना में उनकी पुरुषविधता बहुत ही अस्पष्ट है। भूत रूप अथवा तत्व रूप में वे नीरूप हैं [1625], किन्तु देवतारूप में 'दर्शत' अथवा दर्शनीय एवं 'केशी' हैं। तब उनके केश[1] विद्युद्दाम हैं। तत्वतः मरुद्गण वायु के ही प्रकार भेद हैं किन्तु संहिता में उनका भी चित्रण इन्द्र की भाँति प्रोज्ज्वल है। वायु के वर्णन में नीरूपता की ओर जो झुकाव है, लगता है, वह सहज ही अध्यात्म दृष्टि में प्राण के साथ उनके समीकरण के अनुकूल हुआ है। विराट पुरुष के प्राण से वायु की उत्पत्ति होती है, इसका उल्लेख संहिता में ही प्राप्त होता है।[2] ब्राह्मण में, विशेषतः उसके उपनिषद भाग में प्राण का प्रसंग वायु को भी लाँघ गया है — यह लक्ष्य करने योग्य है। इसे हम यज्ञभावना के अध्यात्म रूपान्तर के सूचक के रूप में मान ले सकते हैं। क्रमशः यही एक विशिष्ट साधना की धारा में पर्यवसित हो गया — जिसके प्रचारक मुनिगण हुए। ऋक् संहिता के मुनिसूक्त में वात एवं वायु के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध में इसका संकेत प्राप्त होता है।[3] वहाँ हम देखते हैं मुनियों को 'वातरशना' के रूप में — वातास उनका कटिबन्ध अथवा लगाम है, अर्थात वे नग्न एवं प्राणसंयमन के साधक हैं।[4] जब देवतागण उनके भीतर आविष्ट होते हैं तब वे वातास के संवेग का अनुगमन करते हैं।[5] वे कहते हैं, 'तुम सब मर्त्य हमारे शरीर को ही (केवल) देखते हो — (हम सब को नहीं)'[6]

[1625] तु॰ ऋ॰ त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्, विश्वम् एको अभि चष्टे शचीभिर् ध्राजिर् एकस्य ददृशे न रूपम् — ये तीन केशवान देवता ऋतच्छन्द में संवत्सर के रूप में परिदर्शन करते हैं; इनमें एक प्रतिवर्ष निराभरण कर देते हैं (पृथिवी को) अर्थात उसका मुंडन करवा देते हैं विश्व की ओर एक देखते रहते हैं अपनी समग्र शक्ति के साथ; एक का संवेग ही दिखाई देता है, — रूप नहीं 1।164।44। ये तीनों देवता क्रमशः अग्नि, सूर्य एवं वायु हैं। अग्नि का केश उनकी अर्चि या लपट है वायु का केश विद्युत और सूर्य का केश उनकी रश्मि है (बृदे॰ 1।94)। शीत काल के अन्त में प्रति वर्ष पहाड़ों में आग लग जाती है, वे मुंडितकेश या अनावृत दिखते हैं — यह उत्तराखण्ड की भी एक साधारण घटना है। उसे ही यहाँ कहा गया है पृथिवी को मुंडित केश कर देना। **शची** < √ शक् 'समर्थ होना', शक्ति (निघ॰ 'कर्म' 2।1, वाक् 1।11, प्रज्ञा 3।9) इन्द्र 'शक्र', उनकी शक्ति 'शची' अतएव वे 'शचीव' शचीपति (ऋ॰ 8।26।1-6...) पुराण में शची इन्द्राणी, ऋक् संहिता में भी उनका संकेत मिलता है, उनके पुत्र शत्रुघ्न, उनकी कन्या विराट, वे संजया हैं (10।159।3)। आँधी-तूफान की उन्मत्तता में वायु की गति ही दिखाई पड़ती है किन्तु रूप नहीं दिखता। अन्यत्र वातास का निर्घोष ही सुनाई पड़ता है — रूप नहीं दिखाई पड़ता 10।168।4। [1] द्र॰ टी 1364[1]; तु॰ अपश्यं गोपाम् अनिपद्यमानम् 1।164।31। 'दर्शत' 1।2।1। किन्तु इस संज्ञा का अर्थ 'दर्शनीय' एवं 'दर्शक' दोनों ही हो सकता है। [2] प्राणाद् वायुर् अजायत 10।90।13। [3] द्र॰ 10।136 सूक्त। [4] 10।136।2, तै॰ आ॰ 2।7।1 द्र॰ टी॰ मू॰ 244, 305। यहाँ सायण का मन्तव्य: 'प्राणोपासनया प्राणरूपिणो वायुभावं प्रपन्ना इत्यर्थः।' [5] ऋ॰ वातस्या, नु ध्राजिं यन्ति यद् देवासो अविक्षत 10।136।2। श्वेताश्वतर उपनिषद में यही अग्निमंथन के परिणाम स्वरूप वायु के अधिरोहण का फल, जिसको योगियों ने 'महावायु का माथे पर चढ़ना' कहा है।

शारीरिक स्वास्थ्य, हृदय में शान्ति और सुख तथा आत्मीय रूप में देवता को जानना, उनके अमृत का साझीदार होना — यही तो जीवन की कृतार्थता है।

वात के पश्चात् **वायु**, जो निघण्टु में अन्तरिक्ष स्थान देवताओं के प्रथमगामी हैं। उनके सम्बन्ध में सामान्य विवेचन इस प्रकरण के आरम्भ में ही किया गया है। अब उसके आधार पर उनकी विशिष्टता का विस्तार पूर्वक विवरण प्रस्तुत है।

पहले ही लक्षणीय है कि अन्तरिक्ष स्थान देवताओं के पुरोधा के रूप में वायु और इन्द्र के विकल्प के बावजूद संहिता में इन्द्र की तुलना में उनकी पुरुषविधता बहुत ही अस्पष्ट है। भूत रूप अथवा तत्व रूप में वे नीरूप हैं [१७२८], किन्तु देवतारूप में 'दर्शत' अथवा दर्शनीय एवं 'केशी' हैं। तब उनके केश[१] विद्युद्दाम हैं। तत्वतः मरुद्गण वायु के ही प्रकार भेद हैं किन्तु संहिता में उनका भी चित्रण इन्द्र की भाँति प्रोज्ज्वल है। वायु के वर्णन में नीरूपता की ओर जो झुकाव है, लगता है, वह सहज ही अध्यात्म दृष्टि में प्राण के साथ उनके समीकरण के अनुकूल हुआ है। विराट पुरुष के प्राण से वायु की उत्पत्ति होती है, इसका उल्लेख संहिता में ही प्राप्त होता है।[२] ब्राह्मण में, विशेषतः उसके उपनिषद् भाग में प्राण का प्रसंग वायु को भी लाँघ गया है — यह लक्ष्य करने योग्य है। इसे हम यज्ञभावना के अध्यात्म रूपान्तर के सूचक के रूप में मान ले सकते हैं। क्रमशः यही एक विशिष्ट साधना की धारा में पर्यवसित हो गया — जिसके प्रचारक मुनिगण हुए। ऋक् संहिता के मुनिसूक्त में वात एवं वायु के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध में इसका संकेत प्राप्त होता है।[३] वहाँ हम देखते हैं मुनियों को 'वातरशना' के रूप में — वातास उनका कटिबन्ध अथवा लगाम है, अर्थात् वे नग्न एवं प्राणसंयमन के साधक हैं।[४] जब देवता गण उनके भीतर आविष्ट होते हैं तब वे वातास के संवेग का अनुगमन करते हैं।[५] वे कहते हैं, 'तुम सब मर्त्य हमारे शरीर को ही (केवल) देखते हो — (हम सब को नहीं)'।[६]

[१७२८] तु· ऋ· त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्, विश्वम् एको अभि चष्टे शचीभिर् ध्राजिर् एकस्य ददृशे न रूपम् — ये तीन केशवान देवता ऋतच्छन्द में संवत्सर के रूप में परिदर्शन करते हैं; इनमें एक प्रतिवर्ष निराभरण कर देते हैं (पृथिवी को) अर्थात् उसका मुंडन करवा देते हैं विश्व की ओर एक देखते रहते हैं अपनी समग्र शक्ति के साथ; एक का संवेग ही दिखाई देता है, — रूप नहीं १।१६४।४४। ये तीनों देवता क्रमशः अग्नि, सूर्य एवं वायु हैं। अग्नि का केश उनकी अर्चि या लपट है वायु का केश विद्युत और सूर्य का केश उनकी रश्मि है (बृहद्दे· १।९४)। शीत काल के अन्त में प्रति वर्ष पहाड़ों में आग लग जाती है, वे मुंडित केश या अनावृत दिखते हैं — यह उत्तराखण्ड की भी एक साधारण घटना है। उसे ही यहाँ कहा गया है पृथिवी को मुंडित केश कर देना। **शची** <√ शक् 'समर्थ होना', शक्ति (निघ· 'कर्म', २।१, वाक् १।११, प्रज्ञा ३।९) इन्द्र 'शक्र', उनकी शक्ति 'शची', अतएव वे 'शचीव' 'शचीपति' (ऋ· ८।३६।१-६...) पुराण में शची इन्द्राणी, ऋक् संहिता में भी उनका संकेत मिलता है, उनके पुत्र शत्रुघ्न, उनकी कन्या विराट्, वे संजया हैं (१०।१५९।२)। आँधी-तूफान की उन्मत्तता में वायु की गति ही दिखाई पड़ती है किन्तु रूप नहीं दिखता। अन्यत्र वातास का निर्घोष ही सुनाई पड़ता है — रूप नहीं दिखाई पड़ता १०।१६८।४। [१] द्र· टी १३६४[१]; तु· अपश्यं गोपाम् अनिपद्यमानम् १।१६४।३१। 'दर्शत' १।२।१। किन्तु इस संज्ञा का अर्थ 'दर्शनीय' एवं 'दर्शक' दोनों ही हो सकता है। [२] प्राणाद् वायुर् अजायत १०।९०।१३। [३] द्र· १०।१३६ सूक्त। [४] १०।१३६।२, तै· आ· २।७।१ द्र· टी· मु· २४४ ३०८। यहाँ सायण का मन्तव्य: 'प्राणोपासनया प्राणरूपिणो वायुभावं प्रपन्ना इत्यर्थः।' [५] ऋ· वातस्या, नु ध्राजिं यन्ति यद् देवासो अविक्षत १०।१३६।२। श्वेताश्वतर उपनिषद् में यही अग्निमंथन के परिणाम स्वरूप वायु के अधिरोहण का फल, जिसको योगियों ने 'महावायु का माथे पर चढ़ना' कहा है।

वस्तुत: देवता की प्रेरणा से मुनि जैसे वातास के घोड़े, वायु के सखा हों। इसी लिए वे इन दो समुद्रों को ही छाये रहते हैं— जो पूर्व में और पश्चिम में हैं।[6] वायु ने उनके निकट आकर मन्थन किया और कुब्जिका अथवा कुण्डलिनी का पेषण किया— केशी अथवा जटाधारी मुनि ने विषपात्र लेकर जिसका पान किया रुद्र के साथ।[7] अन्त के इस मंत्र में हठयोग के प्राणनिरोध, कुण्डलिनी जागरण एवं विषपान में शिव के मृत्युंजय होने का सुनिश्चित, स्पष्ट संकेत है। विष संभवत: ऋषियों के सोम जैसा ऐसा कोई मादक पेय है जिसका प्रभाव नाड़ीतंत्र में झंझावात की तरह फैलकर जैसे आग लगा देता है।[8]

वायु और प्राण की एकता का ऋक्संहिता में स्पष्ट उल्लेख होने पर भी हमें वहाँ उपनिषद् के पञ्चवृत्तिक प्राण का सन्धान नहीं प्राप्त होता— जबकि प्राण संज्ञा का उल्लेख एकाधिक स्थान पर है [1630]। ऋक्संहिता के एक स्थान पर प्राण और अपान इन दो मुख्य प्राणों का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] यजु:संहिता में प्राण, अपान, व्यान एवं उदान का उल्लेख है।[2] संहिता में समान का सन्धान नहीं प्राप्त होता।[3] शौनक संहिता के प्राणसूक्त में[4] प्राण की दार्शनिक व्याख्या है किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में वात-पर्जन्य की छवि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिभूत वात, अधिदैवत वायु और अध्यात्म प्राण संहिता में ओत-प्रोत रूप में है। वायु के प्रसंग में इस बात को हमें ध्यान में रखना होगा।

---

6 ऋ. उन्मदिता मौनेयेन वातॉं आ तस्थिमा वयम्, शरीरे.द् अस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ 10।136।3। 'मौनेय', तु. बृ. ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्या.थ मुनि:, अमौनं च मौनं च निर्विद्या.थ ब्राह्मण: 3।5।1। 7 ऋ. वातस्या.श्वो वायो: सखा.ऽथो देवेषितो मुनि:, उभौ समुद्राव् आ क्षेति यश् च पूर्व उता.पर: 10।136।5। 'वातस्य अश्व:' वातास ही जैसे घोड़ा हो; तु. 10।168।1, टी. 1622। अश्व के उल्लेख में वात के नैसर्गिक रूप का संकेत प्राप्त होता है। 'वात' एवं 'वायु' का भेद लक्षणीय। हठयोग की 'अश्विनी'-मुद्रा में महावायु ऊपर की ओर उठता है। किन्तु क्रिया के मूल में देवता या दिव्य भावना की प्रेषणा अथवा प्रेरणा होनी चाहिए। वह प्रेरणा देते हैं प्रजापति— हुंकार रूप 'अनिरुक्त संचर त्रयोदश स्तोभ' के द्वारा (छा. 1।13।2, द्र. टी. मू. 336, प्रजापति 'अनिरुक्त' अर्थात अनिर्वचनीय ऐ.ब्रा. 6।20, तै.ब्रा. 3।3।8।5, ता. 18।6।8, श.ब्रा. 1।1।1।13...)। मुनि पूर्वापर इन दोनों समुद्रों को छाये रहते हैं— सूर्य की तरह; पूर्व में उनका उदय, पश्चिम में अस्तमयन (तु. अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपा.वचाकशत् 4)। 8 वायुर् अस्मा उपामन्थत् पिनष्टि स्मा कुनन्नमा, केशी विषस्य पात्रेण यद् रुद्रेणा.पिबत् सह 10।136।7। मुनि ने रुद्र के साथ विष के पात्र में विषपान किया। उस विष को पेषण किया कुनन्नमा ने। इस संज्ञा की व्युत्पत्ति सायण द्वारा: — 'कुत्सितम् अपि भृशं नमयित्री, स्वयं नमयितुम् अशक्या माध्यमिका वाक्, कुपूर्वात् नमयते: पचाद्यच् यङो लुक्।' किन्तु इस धातु की णिजन्त कल्पना अनावश्यक— 'कुत्सितं यथा स्यात् तथा भृशं नमति' यह व्याख्या ही सहज है। 'कुनन्नमा' 'कुरूपा कुबड़ी कन्या।' तंत्र में कुण्डलिनी को 'कुब्जिका' कहा जाता है क्योंकि वह स्वयंभूलिंग को साँप की तरह लपेटे रहती है। वेद में वही 'अहि: बुध्न्य:'। अध्यात्म दृष्टि में मूलाधारस्थित योनिकन्द। उसके पेषण अथवा आकुंचन से 'अन्ध:' अथवा सोम की भोगवती धारा वायु के द्वारा आलोड़ित होकर ऊपर की ओर बहने लगती है। यही वायु का 'उपमन्थन' है। जिसके फलस्वरूप अन्ध: शुचि सोम हो जाता है— जो विष था, वह अमृत हो जाता है। वही रुद्र का विषपान से अमर होना है। हठयोगियों में कुण्डलिनी योग का विशेष प्रचलन है एवं वे मुनिपंथी और शैव हैं। 9. विष √ विष् 'सक्रिय होना, फैल जाना'। विषपान से मृत्यु होती है। और योग की समाधि भी जीवित मृत अवस्था है। इसलिए वह मानो अलौकिक विषपान है। नशे के द्वारा बाहर की चेतना को आच्छन्न करके अन्तश्चेतन होना आज तक इस देश में आध्यात्मिक साधना का अंग है। ऋषियों का सोम भाँग था। मुनियों का विष क्या शिव का प्रिय धतूरा था?... ऋक्संहिता में विष प्रसंग द्र. 1।191।10-16। [1630] ऋक्संहिता में साधारण अर्थ में प्राण का→

ऋक् संहिता में वायु के सम्बन्ध में कुल दो सूक्त हैं [१६३१]। उसके आस-पास और अन्यत्र भी कई इन्द्र-वायु सूक्त हैं जिनमें ये दोनों देवता इस प्रकार मिले हुए हैं कि उन्हें पृथक करना कठिन है। परन्तु देखा जाता है कि — अनेक स्थानों पर वायु का धर्म या गुण ही इन्द्र में उपचरित हुआ है।[१] इसके अतिरिक्त वायु के बारे में कुछ प्रकीर्ण मंत्र हैं।[२]

इन सब सूक्तों एवं मंत्रों में वायुके सर्वदेव साधारण गुण के अलावा इन तीन विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है — 'वायु श्वेत' हैं, वायु 'नियुत्वान' हैं, वायु सोम के 'शुचिपा' एवं 'पूर्वपा' हैं।' अब हम एक-एक करके इन तीन विशेषणों की जाँच-पड़ताल करेंगे।

वसिष्ठ वायु को 'श्वेतं वसुधितिं निरेके' बतलाते हैं — अर्थात वे शुभ्र होकर शून्यता में ज्योति निहित करते हैं [१६३२] और तभी निर्मेघ निर्मल उषा की ज्योति से चारों दिशाएँ झिलमिला उठती हैं, विपुल ज्योति प्राप्त करते हैं योगी-ध्यानी, गुहाहित रश्मि की विपुलता को अपावृत करते हैं उद्विग्न साधकगण और उनके आवरणविमोचन के साथ-साथ भोर की ज्योति में बहती चलती हैं प्राण की धाराएँ।[१] यहाँ फलश्रुति समेत प्राण के ध्यान की एक विस्मयकर विवृति प्राप्त होती है, जिसका विचित्र प्रपंचन हम औपनिषद भावना में देखते हैं। मूल बात है 'निरेक' अथवा भीतर को एकबारगी खाली कर देना! नैसर्गिक नियम में यही सुषुप्ति का समय होता है। उस समय मन नहीं रहता किन्तु प्राण की आग अतन्द्र रहकर उस शून्यतामें जलती या जागती रहती है,[२] उसकी ज्योति ही परमलोक में अधिष्ठित पुरुष की स्वयंज्योति अथवा विशुद्ध 'आत्मबोध' है।[३] इस बोध का नैसर्गिक प्रतीक है नीरूप वायु की शुभ्रता — जिस प्रकार इस मंत्र में वर्णित भोर के उजाले में चमकते अन्तरिक्ष की रिक्तता में प्रतीत होता है। अन्तरिक्ष बिल्कुल शून्य नहीं, वहाँ प्राण रूप में देवता हैं, जिनका तनु स्वच्छ से भी स्वच्छ है, वह द्युलोक के प्रकाश को कभी भी नहीं रोकता।

उल्लेख : आयुः प्राणः १।६६।१, विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे १।४८।१०, यम् उद्विभ्रस् तम् उ प्राणो जहातु २।५३।२१, १०।८०।१२, यो विपश्यति यः प्राणिति १२५।४, इन्द्रः 'विश्वस्य जगतः प्राणतस् पतिः १।१०१।५। [१] १।१२८।२; द्र. टी. १४६३, १२६५[२]। [२] मा. १५।६४। [३] ऋक् संहिता में 'समान' अनेक हैं, किन्तु वह 'स-मान' है। [४] शौ. ११।४।

[१६३१] ऋ. १।१३४, ४।४८ सूक्त। [१] तु. १।१३५, ४।४६, ४७, ७।९०, ९१, ९२, इन दोनों देवताओं का प्रकीर्ण उल्लेख ५।५१।४-७, १०१ १।२१-२, २३।१, २४१।१, २, ८।२६।२०-२५, ४६।२५-२८, १०१।८-१०।

[१६३२] ऋ. ७।९०।३। निरेक < √रिच् 'सब कुछ खाली कर देना', शून्यता (तु. वै प.); द्र. ऋ. ८।२४।३, आ निरेकम् उत प्रियम् इन्द्र दर्षि जनानाम् (जिस रिक्तता को लोग प्यार करते हैं उसके आवरण का उन्मोचन करो; यह रिक्तता शम है) ४, ३३।२, शीर्षन् इन्द्रस्य क्रतवो निरेके (मूर्धन्य शून्यता में उनका जितना सृष्टिवीर्य है) ८।६।३, ददाशद् असन् निरेके अद्रिवः सखा ते सब तुम्हें देकर रिक्त होकर तुम्हारा सखा होता है, हे वज्रधर) ७।२०।८, १।५१।१४। इसी से 'धनाभाव' ८।१८।२२। [१] तु. उच्छन् उषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर् विविदुर् दीध्यानाः, गव्यं चिद् ऊर्वम् उशिजो वि वव्रुस् तेषाम् अनु प्रदिवः सस्रुर् आपः ७।९०।४। 'सुदिन' ज्योतिर्मय, दीप्त, जिस प्रकार 'दुर्दिन' मेघाच्छन्न दिन (तु. इन्द्र ... चोदि, सुदिनत्वम् अह्नाम् २।२१।६)। 'अरिप्रा' < √रिप् ॥ लिप् 'लेपन करना, मैल लेपना'। [२] प्र. ४।३...। [३] बृ. ४।३।९-२०। [४] तुलनीय. मा. 'यो देवानां चरसि प्राणथेन' ११।३९। समग्र वायुमण्डल जैसे प्राण का तरंगविस्तार हो, और यह विश्वदेवता का निश्वसित है। [५] योगसूत्र २।५२। [६] शौ. वायो यत् ते तपः ... हरः ... अर्चिः ... शोचिः ... तेजस् तेन तम् अतेजसं कृणु यो अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः २।२० सूक्त। यह एक शत्रुनाशन सूक्त है। अन्त की यह उक्ति वेद के अनेक स्थानों पर प्राप्त होती है। जो अहिंसा को महाव्रत के रूप में →

ज्योति यदि प्रज्ञा का प्रतीक हो तो फिर वायु में प्रज्ञा और प्राण एकाकार हैं– जिस प्रकार कौषीतक्युपनिषद में इन्द्र के सम्बन्ध में देखा है। इसलिए कह सकते हैं कि प्राण की स्वच्छता ही प्रज्ञा का अबाध प्रकाश है। पतंजलि का प्राणायाम उसका ही साधन है; उसका फल प्रकाशावरण का क्षय है।[५] वेद में वायु की इस नीरूप स्वच्छता की संज्ञा है 'निरेक' और उसके भीतर होते हुए प्रज्ञा के स्वच्छन्द प्रकाश के फलस्वरूप वे 'दर्शत' एवं 'श्वेत' हैं। वायु की यही ज्योतिःस्वरूपता शौनक संहिता के एक सूक्त में एवं तैत्तिरीय संहिता में वायु के निमित्त श्वेत पशु के आलम्भन के विधान में द्योतित हुई है।[६]

वायु 'नियुत्वान' हैं, वसिष्ठ की भाषा में 'श्वेत... नियुताम् अभिश्रीः' अर्थात् वे शुभ्र हैं, सब नियुत उनके आश्रय हैं, वे उनके अधिष्ठाता हैं[१६३३]। निघण्टु में वायु के वाहनों की संज्ञा 'नियुत' है।[१] किन्तु ऋक् संहिता में कहीं-कहीं इन्द्र भी नियुत्वान् हैं, वह वायु के साथ इन्द्र के घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण हो।[२] इसी कारण से एक स्थान पर मरुद्गण भी नियुत्वन्तः।[३] इसके अतिरिक्त सोम, अश्विद्वय एवं मित्रावरुण के सम्बन्ध में भी नियुत का उल्लेख प्राप्त होता है।[४]

वायु के वाहनों का नाम 'नियुत' क्यों हुआ? यह शब्द स्पष्टतः ही 'यु' धातु से आया है जिसका एक अर्थ 'युक्त करना' होता है। यास्क अर्थात् यह व्युत्पत्ति देकर भी कहते हैं कि नियमन अथवा नियंत्रण अर्थ भी इसके भीतर है[१६३४]। उनकी इस परिकल्पना का समर्थन संहिता में ही प्राप्त होता है।[१] किन्तु 'यु' धातु का एक अन्य अर्थ 'वेष्टन करना' होता है जिससे 'यो-नि' अथवा 'गर्भाशय' निष्पन्न हुए हैं।[२] 'नि-युत' में इसी अर्थ की ध्वनि है। तो फिर उपसर्ग की व्यंजना सहित इस शब्द का अर्थ 'भीतर का गर्त' स्थिर होता है– जो वायु को घेरे या लपेटे है। यह गर्त हम सब की सुपरिचित नाड़ी ('नाली') है, जिसका अर्थ है नल। हठयोग (एवं आयुर्वेद में भी वायु का वाहन नाड़ी है। वेद में अप्, अग्नि→

घोषणा करते हैं (द्र. ग्रोसु. २।३१) वे कोई एक गाल पर थप्पड़ लगने पर दूसरा गाल सामने करदेने की बात कहेंगे। किन्तु इसमें बुद्ध की सम्मति के बावजूद कृष्ण की सम्मति नहीं। वेदपंथियों की नीति है कि हम किसी के प्रति वैरभाव का पोषण नहीं करेंगे। किन्तु कोई यदि निरर्थक विद्वेष का भाव रखता है तो हम उसका समुचित उत्तर देंगे। यह क्षात्र धर्म है एवं ब्राह्मण्य के साथ उसका विरोध नहीं। द्र. टी. १६३२...। इस सूक्त के पहले अग्नि के सम्बन्ध में ऐसा ही एक सूक्त है एवं बाद में सूर्य, चन्द्र और आपः के निमित्त एक ही साँचे के तीन सूक्त हैं। संभवतः अग्नि सूक्त ही आदिम है और अगले सब उसकी अनुकृति हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, विश्व के मन और प्राण आत्मबल से सन्दीप्त हो उठें, सारे ब्रह्मद्वेषी निर्वीर्य, निस्तेज हों — प्रार्थना का यही तात्पर्य है... तु तैस. २।१।१।१, द्र. टी. १४८२।

[१६३३] ऋ. ७।७१।२ **अभिश्री** — तु. (वैश्वानरः) राजा हि कं भुवनानाम् अभिश्रीः १।९८।१, विराण् मित्रावरुणयोर् अभिश्रीः १०।१३०।५, ७।७७।५, ८।१२८...। [१] निघ. १।१५। [२] ऋ. १।१०१।७, ४।४७।३, ६।२२।११, ४०।५, ८।७३।२०...। [३] ५।५४।८; अथ यद् एषां नियुतः परमाः समुद्रस्य चिद् धनयन्त (तीव्र गति से चलते हैं) पारे (अन्तरिक्षस्थ प्राण समुद्र के अन्तिम छोर के निकट तक) १।१६७।२।(तु. ६।६२।११)। [४] २।४१।२, ७।८७।६; ६।६२।११, ७।७२।१, १०।२६।१, ३।५८।७; १।१८०।६।

[१६३४] तु. नि. नियुतो नियमनाद् वा नियोजनाद् वा ५।२८। [१] तु. नियुवाना नियुतः इन्द्रवायू ७।७१।५, ४०।२; और भी तु. १०।७०।१० (यु√)। [२] द्र. नि. योनिर् एतस्माद् एव, परियुतो भवति २।८। आधुनिक व्युत्पत्ति धातुसम्पर्कहीन IE. ieu-ni, iouni 'right place' AV. yaonem 'place, home'। किन्तु इस अर्थ में भी इस शब्द के धातुज होने में कोई बाधा नहीं क्योंकि घर की वेष्टनी है। √यु 'संयुक्त करना अथवा वियुक्त करना'→

एवं वायु ये तीनों ही प्राण के प्रतीक हैं एवं आध्यात्मिक दृष्टि से यही तीनों नाड़ी के भीतर से होकर आवागमन करते हैं — इस अनुभव के साथ हम सब का परिचय है। तो फिर नियुत्वान् वायु नाड़ीसंचारी सूक्ष्म प्राण है। नियुत्वान् मरुद्गण एवं इन्द्र उसकी ही सूक्ष्मतम व्यंजना अथवा प्रकाश हैं।[४]

नाड़ी के साथ नदी के साम्य की चर्चा पहले ही की गई है। अतः नियुत् एक ही साथ नाड़ी एवं उसका अन्तःसंचारी प्रवाह है। तभी तो हम देखते हैं कि वायु जब नियुत् के अधीश्वर के रूप में उन्हें तीव्र गति से दौड़ाते चलते हैं तब बिजली की कौंध से उनका पथ जगमगा उठता है [१६३५] यह वायु की उदान गति के फलस्वरूप प्रत्येक नाड़ी में ज्योतिर्मय प्राणसंचरण का वर्णन है। उस समय वायु हमारे आधार में सम्भोग या सुखद आनन्द की तेज धारा प्रवाहित कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप उसकी गहराई में प्रज्ञा और प्राण की शक्ति सिद्ध होती है।[१] किन्तु स्वभावतः नाड़ीजाल पीपल के पत्तों की शिराओं की तरह आधार में सर्वत्र फैला हुआ है। इसलिए संहिता में ये नियुत् 'शतिनी' एवं 'सहस्रिणी' अर्थात शत एवं सहस्र संख्यक हैं।[२] उनके भीतर प्रवाहित प्राण की धारा को एक प्रणाली (नाली, नाड़ी) में समेट कर ले आना योग की मुख्य साधना है।[३] नियुत् संज्ञा की व्युत्पत्ति में उसका संकेत है।[४] नियुत तब शत, सहस्र नहीं बल्कि केवल एक होता है। ऋक्-संहिता में उसका नाम 'र्णा', शौनक और यजुःसंहिता एवं उपनिषद में 'पुरीतत्' है।[५]

दोनों का ही बोध होता है (तु. ऋ. १।१८७।१७। योनि भी गर्भग्रहण एवं मोचन दोनों ही करती है। [३]'नियुत्' केवल प्राण प्रवाह नहीं बल्कि उसका सहचरित ध्यानप्रवाह भी है, तु. धियो न नियुतः ६।३५।३। स्मरणीय. तंत्र में नाड़ी आज्ञावहा एवं संज्ञावहा दोनों ही (Sensory & Motor Nerve)। शतपथ ब्राह्मण में 'उदानो वै नियुतः' ६।२।२।६। उपनिषदों में उदान सुषुम्णा-काण्ड में संचरणशील प्राण का ऊर्ध्व प्रवाह है (प्र. ३।७, छा. ८।६।५; द्र. टी. मू. १००४।[४]इसलिए मरुद्गण के नियुत 'परमा' हैं १।१६७।२।

[१६३५] तु. ऋ. 'वह वायो नियुतो याहि' ७।९०।१ (१।१३५।२; 'वह' = वाहय); (वायुः) द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः ६।४९।४। [१]तु. प्र याभिर् यासि दाश्वांसम् अच्छा (सब देता है जो उसकी ओर) नियुद्भिर् वायव इष्टये (प्रेषणा, प्रेरणा देने में तु. के. १।१) दुरोणे (सोमपात्र में, आधार में), नि नो (हम सब के लिए) रयिं सुभोजसं युवस्व (बहा दो) नि वीरं (वीर्य) गव्यम् (अर्थात ज्योति की) अश्व्यं च (अर्थात 'प्राण' की ओजस्विता की) राधः (ऋद्धि) ७।९२।३। यहाँ नि√यु से नियुत् की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है: 'जिसे गहराई में योजित अथवा प्रवाहित किया जाता है' (तु. ७।९१।५, ४०।२)। वायु का प्रवाह जैसे 'अप् की रयि' अथवा प्राण का संवेग। यह प्रवाहण मित्रावरुण का भी कार्य है (१।१८०।६)। [२]द्र. १।१३५।१, ३, ७।९२।५; तु. २।४१।१। मा. के अनुसार: 'एकया च दशभिश् च स्वभूते ('हे स्वयम्भू', वायु का सम्बोधन) द्वाभ्याम् इष्टये विंशती च, तिसृभिश् च वहसे त्रिंशता च नियुद्भिर् वायव् इह ता वि मुञ्च २७।३३। नदियों की तेज़ धारा समुद्र में जाकर जिस प्रकार शान्त हो जाती है, उसी प्रकार प्राण का संवेग हृद्य अथवा मूर्धन्य समुद्र में गहरे बैठ जाता है (तु. ऋ. ४।५८।११, ८।९६।२)। तंत्र में नाड़ी की अनेक संख्याएँ और नाम दिए गए हैं। [३]तु. सध्रीचीना नियुतो दावने धिय उप ब्रुवत ईं धियः' — सम्मिलित रूप में नियुत के दान के लिए ध्यानवृत्तियाँ प्रार्थना करती हैं उनके (वायु के) निकट १।१३४।२। चित्त एकाग्र होने पर प्राण का स्रोत एक प्रणाली (नाली, नाड़ी) में प्रवाहित होता रहता है — विशेष रूप से सुषुम्णा के मार्ग में, यह योगी का साधारण अनुभव है। यहाँ महाप्राण के निकट उपासक की प्रार्थना है कि 'मेरे प्रत्यय या बोध की एक नाड़ी के भीतर से होकर तुम प्रवाहित होओ।' यह जिस प्रकार वायु के सम्बन्ध में उसी प्रकार अप के सम्बन्ध में होता है — क्योंकि दोनों ही प्राणस्रोत हैं (तु. ऋ. ७।५८।५, टी. १२७३[६]; ११, टी. १३५६[४])। [४]<नि√यु. तु. तं नो अग्ने ... रयिं नि वाजं श्रुत्यं युवस्व: हमारे भीतर हे अग्नि, वह संवेग एवं ओजः जुटा कर ले आओ, जो श्रुति का साधन अथवा श्रुतिलभ्य होगा ७।५।९; ५।२।२, टी. १६२५। [५]तु. 'वि सूनृता ददृशे रीयते घृतम् आ पूर्णया नियुता याथो अध्वरम्'

उसे एक स्थान पर प्राणस्रोत का 'नवीनतर नियुत्' अथवा नाली कहा गया है।[६] एक और स्थान पर वह इन्द्र का वज्र है– जिसे त्वष्टा ने द्युलोक को स्तंभित या निश्चल करके काट-छाँट है।[७] पृथिवी स्थान देवता होने पर भी अग्नि की शिखाएँ नियुत् हैं।[८] इसके अलावा सोम भी नियुत्वान् हैं, क्योंकि भीतर के इस एक शुभ्र पथ से वे विशेष रूप से लाए जाते हैं।[९] संक्षेप में ये नियुत् त्रिषधस्थ हैं: तीन लोक के तीन देवता अग्नि, इन्द्र और सोम के अन्तर्गत ही प्राण ऊर्ध्वस्रोता है। अत: शतपथ ब्राह्मण में नियुत् को उदानवायु कहा गया है। चेतना की इन तीन भूमिओं के भीतर से प्रसृत उनकी एक ज्योति: सरणि है जिसे पार कर अशिवक्षय पत्थरों की आड़ में अवरुद्ध आलोकधारा का पथ खोलते-खोलते आधार में उतर आते हैं।[१०] इसे ही अन्यत्र आनन्द के देवता मित्रावरुण के द्वारा नियत का संहरण एवं स्व-प्रतिष्ठा के भाव और धर्म से परिपूर्ण ध्यानचेतना का सर्जन कहा गया है।[११]

वायु की अथवा प्राण की ऊर्ध्वगति के परिणाम के सम्बन्ध में एक वायव्य मंत्र में उसका वर्णन इस प्रकार है: 'जाग्रत करो तुम पूर्णता के ध्यान को— प्रणयी जिस प्रकार (जगाता है) निद्रित प्रिया को; आँखों के सामने द्युलोक और भूलोक को प्रकाशित करो, उजागर करो उषाओं को, श्रुति के निमित्त प्रकाशित करो उषाओं को [१७३६]।' ध्यानचेतना के पूरे उद्बोधन में पृथिवी से→

— वह देखो, सुन्दरी दिख गई, बह रही है ज्योति की धारा; तुम दोनों (इन्द्र और वायु) पूर्ण नियुत से चल कर या पार कर आओ अध्वर में (जहाँ कुटिलता सहज, सुबोध्य हो गई है) १।१२५।७। **सूनृता**॥ 'सूनरी' < सुन्दरी > * सुनरी; < √ स्वद्॥ सानुनासिक स्वन्द्, अतएव 'सुन्दर', 'मूलत: स्वदनीय' (SWEET)। मूल में √ * नृ॥ नृत् है; इस परिकल्पना से निष्पन्न तिर्यक रूप 'सुनृत'। ल. निघण्टु में 'सूनृता' उषा (१।८) फिर अन्न २।७, स्वादु अर्थ में)। यहाँ 'उषा'। मन और प्राण की एकतानता या एकाग्रचित्तता की मध्यनाड़ी पार करके ज्योति की धारा ऋजु होकर बहने लगी, उषा की ज्योति फूटी। उषा की चर्चा अगले मंत्र में ही है। यही मध्यनाड़ी या 'पूर्ण नियुत्' अन्यत्र 'वेतस' ६।४।५८।५ टी. १२७३। **पुरीतत्** द्र. शौ. ५।७।११; १०।५।३५, मा. २५।८, काठक. २७।८।१, तैस. ५।७।१६।१; कौ. ४।१८, बृ. २।१।१९। साधारणत: उसका स्थान हृदय में निर्धारित किया गया है, जो वायु का अधिष्ठान है। [६] तु. ऋ. 'ताम् अनु त्वा नवीयसीं नियुतं राय ईमहे'— इसी कारण तुम्हारे निकट संवेग का वह नवीनतर नियुत हम चाहते हैं (हे पूषा) ऋ. १।१३८।३। योग की भाषा में इसे 'मेधा नाड़ी' कहा जाता है, जो साधना के फलस्वरूप आधार में नये रूप में खुल जाती है एवं दृष्टि के सामने अलख का द्वार मुक्त करती है (तु. ई. १५)। [७] ऋ. 'तक्षद् वज्रं नियुतं तस्तम्भद् द्याम्' १।१२१।३। यह नाड़ी जैसे द्युलोक को थामे रखने का स्तम्भ हो (तु. शौ. स्कम्भ ब्रह्म १०।७ सूक्त)। स्म. तंत्र की 'वज्राणी' नाड़ी। [८] तु ऋ. १०।३।६, ८।६, अपो गा अग्ने 'युवसे नियुत्वान्' (प्राण और ज्योति के साथ नाड़ी-संचारी अग्नि का सम्बन्ध, इन्द्र उनके सहचर हैं) ६।६०।२। [९] शुक्रस्य ... गवाशिर: = नियुत्वत: (सोमस्य) २।४१।२, असत् (होने दो) न उत्स गृणते (स्तोता के समय) नियुत्वान (नाड़ीसंचारी) ७।८७।६; ७।१५।२, टी. ११४२। [१०] आ परमाभिर् उत मध्यमाभिर् नियुद्भिर् यातम् अवमाभिर् अर्वाक् दृळ्हस्य चिद् गोमतो विव्रजस्य दुरो वर्तं गृणते चित्रराती ६।६२।११, टी मू. १५२५। यहाँ नियुत् जिस प्रकार 'परम', 'मध्यम' एवं 'अवम', उसी प्रकार अन्यत्र देखते हैं कि वरुण के पाश भी उत्तम, मध्यम एवं अधम हैं १।२५।२१। इन पाशों को इस मंत्र में 'गोमान् व्रज' अथवा ज्योति का अवरोध कहा गया है— उपनिषद में जिनको 'गुहाग्रन्थि' कहा जाता है (तु. मु. ३।२।९, २।१।१०, २।८, छा. ७।२६।२, क. २।३।१५)। यही ऐतरेय उपनिषद में सीमा के विदारण द्वारा आधार में ज्योति का अनुप्रवेश १।३।१२। तु. तंत्र का 'शक्तिपात'। [११] तु. ऋ. 'नि यद् युवेथे नियुत: सुदानू उप स्वधाभि: सृजथ: पुरन्धिम्'— जब समेट कर ले आते हो सारे नियुत तुम दोनों हे, कल्याणदाता, तभी आत्मनिहिति अथवा स्व-प्रतिष्ठा की शक्ति से प्रवर्तित करते हो पूर्णता का ध्यान; १।१८०।६।

[१७३६] ऋ. 'प्रबोधया पुरन्धिं जार आ ससतीम् इव, प्रचक्षय रोदसी वासयोषस: श्रवसे वासयोषस:' १।१३४।३। **श्रव:** दिव्य श्रुति, परमव्योम में सहस्राक्षरा गौरी के नाद को सुनना।

परमव्योम तक सब ज्योति के द्वारा ज्योतिर्मय हो जाने की यह सुन्दर छवि ही ज्योतिरग्र आर्य का परम पुरुषार्थ, आधियाज्ञिक दृष्टि से सोमयाग की फलश्रुति है। इसलिए वायु के साथ सोम का एक विशेष सम्बन्ध है।[२] इन्द्र जिस प्रकार 'सोमपातम' अथवा सोमपान करने वालों में अनुत्तम (अत्युत्तम) हैं; उसी प्रकार वायु भी 'शुचिपा' हैं।[३] यह विशेषण वायु में निरूढ़ है। पहले ही हमने देखा है कि 'शुचि' विशेष रूप से अग्नि का विशेषण है। अतएव वायु के सम्पर्क में सोम को शुचि कहने में उनके साथ अग्निसम्बन्ध ध्वनित हो रहा है। तो फिर शुचि सोम अग्निशोधित 'पवमान' सोम है।[४] यह सोम 'गौर' या 'शुभ्रवर्ण' — तपस्या की आग्नि में परिपूत निर्मल आनन्द है।[५] जब कि उसमें विशेष रूप से इन्द्र का भाग है लेकिन वायु ही सब से पहले उसको पीते हैं।[६] वायु के इस प्रथम पान (पूर्वपीति) का तात्पर्य है प्राण के शोधन के द्वारा सोम की भोगवती अन्धधारा का शोधन।[७] वेद में जो वायु अथवा प्राण; सांख्य-योग में वही इन्द्रिय है। इन्द्रिय संयम के द्वारा शुद्ध होती है। योग का इन्द्रियसंयम एवं प्राणायाम और वेद की अधियज्ञ दृष्टि से यूप में आलभनीय पशु का संज्ञपन[८] एक ही साधना की अलग धाराएँ हैं। सारे पशु वायव्य — अर्थात् आरण्य एवं ग्राम्य उनके दो भेद हैं।[१०] आरण्य पशु को वश में करके ग्राम्य करना वायु का काम है जिसको हम प्राण अथवा इन्द्रिय का शोधन कहेंगे। अतएव वायु भी सोम की तरह 'पवमान' है। अन्ततः ब्राह्मण में यही भाव सुस्पष्ट है — जहाँ 'कोऽयं पवते' वायु का साधारण वर्णन है।[११] यही पवमान वायु पवमान सोम का पान करता है जो शुचि किया जाए तब वह 'देवपान' या 'इन्द्रपान' कहा जाता है।[१२]

रहस्यविद् अथवा मर्मज्ञ आकाश में रूप की ज्योति देखते हैं, फिर उसे पीछे छोड़ते हुए अरूप की झंकार सुनते हैं। वेद की भाषा में वही क्रमानुसार 'चक्षुः' एवं 'श्रवः' है। १ द्र॰ ८।११३, ११४ सूक्त। २ इन्द्र में यही विशेषण निरूढ़ १।८।७, २९।१, ६।४२।२, ८।६।४०, १२।१,२०। सोम का माध्यन्दिन सवन विशेष रूप से इन्द्र का अभीष्ट। सूर्य उस समय, मूर्धन्य आकाश में, इस कारण सोम का उत्सवन भी चरमोत्कर्ष पर होता है। तब प्रज्ञान और आनन्द का परम अनुभव। और इन्द्र उसके अधिदेवता हैं। ३ द्र॰ ७।९०।२, ९।१।४, ९।२।१, १०।१००।२। ४ द्र॰ आप्री सूक्त ९।५, टी॰ १२३२[१]। और भी तु॰ पवमान सोम के साथ पवमान अग्नि का वर्णन ९।६६।१९-२४, टी॰ १३१२। ५ तु॰ 'प्रराणं सु भरत भागमृत्वियं प्र वायवे शुचिपे क्रन्ददिष्टये, गौरस्य यः पयसः पीतिमानशे' — (देवता के) आवेश के लिए स्वेच्छानुसार लेकर आओ उनका कालोचित भाग, आगे बढ़ा दो वह वायु के निकट — जो शुचिपायी एवं एषणामुखर हैं शुभ्र पयःपान का प्राप्त किया है जिन्होंने अधिकार १०।१००।२ भर < √भृ ॥ हे॰ 'वहन करना', तु॰ नि॰ भरतेर्वा हरतेर्वा ४।२४. IE. bher- 'to bear', GK. phero। '[bear]'। निघन्टु में 'संग्राम' २।१७), किन्तु कैसे वह स्पष्ट नहीं। ऋक्संहिता का 'भरे भरे पुरोयोधा (इन्द्रावरुणौ ७।८२।९) — यहाँ संग्राम अर्थ सहज में ही प्राप्त होता है। किन्तु इस शब्द का मूल अर्थ है 'आवेश'; तु॰ 'भरूण > भ्रूण', गर्भिणी के भीतर जो निहित एवं वह जिसको वहन करती है; अग्नि जिनके भीतर आविष्ट हैं एवं उनको जो वहन करते हैं, वे 'भरत'। इस समय आधार में देवता के आवेश में उनके एक संग्राम की सूचना होती है। इससे भर में संग्राम की ध्वनि आ सकती है किन्तु वस्तुतः वह साधन-समर है। ऋक्संहिता में यह शब्द विशेष रूप से इन्द्र, मरुद्गण एवं सोम के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम दोनों देवता अन्तरिक्षस्थान एवं हमारे साधन-समर के नायक हैं। उनसे सम्बन्धित 'भर' आवेश एवं तज्जनित संग्राम अथवा उत्तालता दोनों का ही बोध हो सकता है किन्तु सोम से सम्बन्धित 'आवेश' अर्थ ही संगत है विशेष रूप से सोम को जब 'भरेषुजा' कहा जा रहा है (ऋ॰ १।९१।२१, अनन्य प्रयोग) ल॰ अभी भी बाँगला में आवेश को 'देवता का भर' कहा जाता है। 'गौरस्य पयसः' तु॰ गवाशिर सोम। 'शुक्र' शुक्ल अथवा सोम का विशेषण अनेक स्थानों पर। और भी तु॰ ४।५८।२। ६ तु॰ १।१३४।१, सोमानां प्रथमः पीतिम् अर्हसि ६, १३५।१, ४, त्वं हि पूर्वपा असि ४।४६।१। ७ तु॰ पिबा सुतस्यान्धसो अभिप्रयः (देवताओं →

इस प्रकार इन्द्र की तरह ही वायु के साथ सोम का एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ है संहिता के अनेक मंत्रों में। वायु 'सोमरभः' — सोम को वे ही कस कर पकड़े रखते हैं [१६३६]। वायु द्वारा गृहीत होकर सोम की धारा ऊपर की ओर बहती रहती है। इस आध्यात्मिक प्रक्रिया का आधिदैश रूप वायु के निमित्त पवमान सोम की आहुति है। उसका वर्णन कुछ इस प्रकार है— 'पवित्र होते-होते बहते-चलते हो सृष्टिबीज के साधन होकर देवता के पान के लिए, हे हिरण्मय — मरुद्गण और वायु को तुम उन्मत्त कर देते हो। हे पवमान, ध्यान के द्वारा निहित तुम— (अदिति की) योनि की ओर शब्द करते-करते अपने धर्म के अनुसार वायु में आविष्ट हो ओ। (यही तो) देवताओं के साथ शोभायुक्त हैं, वीर्यवर्षी एवं (हमारे) प्रिय कवि उस योनि में— जो वृत्रघाती हैं देवत्व का सम्भोग-उपभोग जिनका अनुत्तम है।'[1] यहाँ सोम्य आनन्द महावायु का प्रेरक है। वायु के साथ-साथ सोम अपने धर्म अथवा रीति के अनुसार परमव्योम की ओर धारा के प्रतिकूल बहते जा रहे हैं वहाँ पहुँचने के बाद परमदेवता के सायुज्य में अन्धकार सदा के लिए लुप्त हो गया, कवि की दृष्टि एवं अभिनव सृष्टि की निपुणता विकसित हुई। एक स्थान पर इसका भी उल्लेख प्राप्त होता है कि सोम का आवेश वायु को उन्मत्त कर देता है, उनके भीतर एषणा और ऋद्धि-समृद्धि का संवेग जागता है।[2] अन्यत्र देखते हैं कि 'पवित्र से या चलनी से छानने के बाद सोम वायु, इन्द्र और सूर्य की किरण के साथ मिलित होते हैं।[3] मेषलोम से निर्मित पवित्र संज्ञावहा सूक्ष्म नाड़ीजाल है जिसको संहिता में ही 'अण्वि धी' अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्यानवृत्ति कहा गया है।[4] उसके भीतर से होकर वायुवाहित 'सोम्य' आनन्द-धारा एवं इन्द्रपूत होकर सोम की सहस्रधारा सूर्यरश्मि की तरह ऊपर की ओर बह रही है — यह रहस्यवेत्ताओं के अनुभव का वर्णन है।

के सन्तोष और प्रेम के लिए) ५।५१।५। [8] तु. क. १।३।३-५। [9] द्र. टीमू. १५८४[3], १५८८। [10] ऋ. १०।५०।८। तु. मा. वायवः स्थ १।१। [11] श. २।६।३।७, १।१।४।२२, २।५।१।५, ऐब्रा. ४।२०, २६, १।७...। ऋक् संहिता में सोम ही 'पवमान' है। सब मिलाकर अग्नि, वायु, सोम सब के साथ पवित्रता का अटूट सम्बन्ध है। ऋ. ८।१०१।१४ में 'पवमान' शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वायु है २।५।१।४। [12] ऋ. ५।५७।२७, ५६।३, १३, १०।३०।५।

[१६३६] तु. ऋ. 'वायोश् चिद् आ सोमरभस्तरेभ्यः' (सोम को कूटने-पीसने वाले पत्थर) सोम को वायु से भी अधिक गाढ़ता के साथ जकड़े रहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से यह योनिमुद्रा के द्वारा आधारकन्द का निपीड़न है, जिससे वायु सुषुम्णा नाड़ी के भीतर से ऊपर की ओर बह सके। और भी तु. वायुः सोमस्य रक्षिता १०।८५।५। [1] पवस्व दक्ष साधनो देवेभ्यः पीतये हरे, मरुद्भ्यो वायवे मदः। पवमान धिया हितोऽभि योनिं कनिक्रदत्, धर्मणा वायुम् आ विश। सं देवैः शोभते वृषा कविर् योनाव् अधि प्रियः वृत्रहा देववीतमः ९।२५।१-२। योनि (अदिति का उपस्थ (द्र. ९।२६।१) अर्थात् परमव्योम, जो दक्ष का जन्मस्थान है १०।५।७ द्र. टीमू. १३३६, १३१६[1])। 'कनिक्रदत्' तु. रेतोधा पर्जन्य (५।८३।१)। इसलिए सोम 'दक्ष साधन'। यहाँ वृषभ-धेनु के रूपक के भीतर से आदिमिथुन की व्यंजना (तु. वृषा [३]। ल. देववीतम् विशेषतया सोम। [2] तु. मत्सि वायुम् इष्टये राधसे च ९।९७।४२। वायु में सोम का आवेश ९।४६।२, ६३।२२, ६५।१८, ९६।१६, ९७।१७ (बहुवचन लक्षणीय) २५, ४७, १३।१ (यहाँ सहस्रधारा का उल्लेख है)। [3] सम् इन्द्रेणोत वायुना सुत एति पवित्र आ, सं सूर्यस्य रश्मिभिः ९।६१।८। [4] द्र. ९।२६।१। तु. क. अग्र्यया बुद्ध्या १।३।१२। धी का वाहन नाड़ी-जाल जैसे 'केशः सहस्रधा भिन्नः' (बृ. ४।२।३; उसके साथ तुलनीय पवित्र के सम्बन्ध में 'अण्व' अथवा 'अण्वी' शब्द का बहुल प्रयोग (९।१६।२, १।३।४...)।

वायुसम्पृक्त सोम के वर्णन में और भी देवताओं का नामोल्लेख किया गया है। वायु के साथ इन्द्र तो हैं ही, उसके अतिरिक्त मरुद्गण, भग, पूषा, विष्णु, मित्रावरुण एवं वरुण भी हैं [१७३८]। इन देवताओं का सामान्य परिचय हमने पहले ही प्राप्त किया है। उससे हृदय, भ्रूमध्य, मूर्धा एवं उसके भी ऊपर परमव्योम तक वायुवाहित आनन्दधारा के यात्रापथ का संकेत प्राप्त होता है।[१] ऊपर की ओर प्रवाहित यह धारा अग्निस्थान से शुरु होती है। वहाँ अग्नि-वायु के सहचार का वर्णन संहिता में इस रूप में है: 'खेलते-खेलते हम सबके भीतर हे रश्मि, आविर्भूत हुई हो तुम— तुम्हारी सचेतनता आई अग्निष्वात्त वायु के संवित अथवा बोध के साथ। प्रवाह में स्थित इनकी (ज्वाला की) तरंगें तीक्ष्ण धार-वाली दुर्निवार जैसी हों।'[२] वायु की प्रेषणा से नाड़ी संचारी अग्निशिखाएँ सभी ग्रन्थियों को विदीर्ण, विकीर्ण करके अधृष्य अजेय गति से लपलपाने लगती हैं। उनके मध्य में वृक्ष के तने की तरह एक रश्मि है— जिसकी तुलना 'वेतस' अथवा 'स्कम्भ' के (स्तम्भ के) साथ की गई है।[३] यह रश्मि न ही 'अन्तः शुभ्रवान् पथ' है जिसके भीतर से होकर सोम की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। वह धारा भगस्थान हृदय में आती है। वहाँ अनन्तता— असीमता की देवी अदिति का प्रसाद रिक्तता के रूप में उतरता है। उसके कुहर या रन्ध्र में वायु के नियुत की प्रेषणा से भग का आनन्द ऊपर वरुण, मित्र और अर्यमा के दिव्य आवेश की ओर प्रवाहित होने लगता है।[४] इस प्रकार वायु के सौमनस्य अथवा प्रशान्तवाहिता से 'अन्तःपवित्र' के तन्तु-तन्तु में शुभ्र सोम की धारा जब संचारित होती है तब तारुण्य, ज्योति एवं प्रज्ञानघनता के द्वारा सम्पृक्त होकर वह हमारे उत्सर्ग की साधना को द्युलोकस्पर्शी करती है।[५]

किन्तु हमने पहले ही बतलाया है कि इन्द्र के साथ वायु का सम्बन्ध विशेष रूप से अध्यात्मदृष्टि में सब से अधिक घनिष्ठ है। वसिष्ठ कहते हैं—

[१७३८] द्र. ऋ. ७।२७।२, ६३।१०, २५।१, ३४।२, ६५।२०, ४४।५, ६१।८, ६३।६, ३३।३, ७०।८, ८५।६, १०८।१६, ८४।१, ५।४३।७। [१] आध्यात्मिक दृष्टि से भग हृदय में, पूषा भ्रूमध्य में, विष्णु और मित्र मूर्धा में, वरुण उसके भी ऊपर की ओर। मरुद्गण एवं इन्द्र भ्रूमध्य में। [२] क्रीळन् नो रश्म आ भुवः सं भस्मना वायुना वेविदानः, ता अस्य सन् धृषजो न तिग्माः सुसंशिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः ५।१९।५। 'रश्म' तु. मा. सुषुम्णः सूर्यरश्मि १८।४०; तंत्र में सुषुम्णा अग्निनाड़ी है। 'क्रीळन्' तु. सुषुम्णा में विद्युत्तंतु की तरह कुण्डलिनी का उद्दीपन (दीपनी या कौंध)। **भस्म** <√ भस् 'खा जाना, चबाकर खाना', ईंधन का अवशेष जो अग्निष्वात्त (तु. ई. अथेदं भस्मान्तं शरीरम् १७)। यहाँ वायु का विशेषण तुलनीय 'भस्मनादता' १०।११५।२। **वक्षी**॥ वक्षणा (निघ. नदी १।१३) <√ वह् 'वहन करना, प्रवाहित होना'। 'वक्षणा' या 'वक्षण' नदी का प्रवाह, नाड़ी में अग्निस्रोत। 'वक्षी' उसी स्रोत का प्रवहमान वीचिभंग, तरंगायन। [३] ऋ. ४।५८।५ (टी. १२७२[६], १०।५।६, मा. १८।४०। [४] तु. ऋ. 'मित्रस्तन्नो वरुणो रोदसी च द्युभक्तम् इन्द्रो अर्यमा ददातु, दिदेष्टु देव्यदिती **रेक्णो** वायुश्च यन् नियुवैते भगश्च'— वरुण, मित्र, अर्यमा, इन्द्र एवं रोदसी द्युलोक का वही आवेश हम सब को प्रदान करें और देवी अदिति रिक्तता की दिशानिर्देशिका हों —— वायु और भग जब समेट कर ले आते हैं सारे नियुत ७।४०।२। मंत्र में उल्लिखित देवताओं के क्रम से देवयानपथ का संकेत प्राप्त होता है। वे आदित्य हैं— अदिति सब से ऊपर की ओर महाशून्य में। यहाँ इन्द्र-वायु का सहचार लक्षणीय। [५] तु. आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः (सौमनस्य के साथ) अन्तःपवित्रे उपरि श्रीणानो (त्र्याशिर, यव दूध और दही मिश्रित सोमरस) अयं शुक्रो अयामि (नियत अथवा निश्चित धारा में प्रवाहित किया गया, <√ यम् 'नियंत्रित करना, देना') ते (तुम्हारे निमित्त) ८।१०१।९। तु. आशीर्वान् सोम १।२३।१। वायु उस समय शतधार, १०।१०७।४।

'जब तक सांस है शरीर में, जब तक है ओजस्विता, जब तक नर-वीर आँखों के माध्यम से ही ध्यान करते हैं, तब तक शुचिपा इन्द्र-वायु शुचि सोम पान करें हमारे भीतर (हृदय के) बर्हि पर आसन बिछाकर [१६३९]।' यह कहना कुछ ज़्यादती होगी कि देह का यह संवेग वायु का धर्म है और ओज अथवा वज्रतेज इन्द्र का धर्म है। इसके अतिरिक्त हम अन्यत्र देखते हैं कि वायु के साथ इन्द्र विजयी होते हैं गोमती की धाराओं में, उसके दुर्निवार वेग में (साधक को) और भी ज्योति की ओर ले जाते हैं।[1] यह गोमती एक नदी है जिसका व्युत्पत्तिगत अर्थ ज्योतिष्मती एवं वह पर्वतमाला की ओट में छिपी है।[2] इसके भीतर 'वल' अथवा वृत्र के द्वारा अवरुद्ध प्राण की धाराओं की मुक्ति की ध्वनि है, जो इन्द्र का यह विशिष्ट कार्य है। इस देश के रहस्यविदों ने इन्द्र-वायु के सहचार को 'मन-पवन की नाव' कहा है। इस नाव में चढ़कर ऊपर की ओर प्रतिकूल धारा में अमृत-समुद्र में पहुँचा जा सकता है। संहिता की भाषा में 'इन्द्र का हृद्य यह इन्दु समुद्र की ओर ऊर्ध्व स्रोत रूप में प्रवाहित होता है वायुओं के साथ-साथ।'[4]

अध्यात्म साधना की दृष्टि से वायु को हमेशा एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होता आया है। उससे पृथिवी स्थान अग्नि, अन्तरिक्ष स्थान वायु एवं द्युस्थान सूर्य को लेकर एक त्रयी का उल्लेख संहिता में भी प्राप्त होता है [१६४०]।

[१६३९] ऋ. यावत् तरस् तन्वो यावद् ओजो यावन् नरश् चक्षुसा दीध्यानाः, शुचिं सोमं शुचिपा पातम् अस्मे इन्द्र वायू सदतम् बर्हिर् इदम् ७।९१।४। **तरः** < √तृ 'पार जाना — जैसे सीने से लहरों को ठेलते हुए तैरते समय; उसीसे सब को अभिभूत करते हुए आगे बढ़ते जाना'। आँखें मूँद कर ध्यान नहीं बल्कि आँखें खुली रखकर ही ध्यान — जिस प्रकार कबीर की सहज समाधि में। यही वैदिक साधना का वैशिष्ट्य है। देवता वहाँ 'ओषधिषु वनस्पतिषु' — केवल अतीन्द्रिय नहीं हैं बल्कि चिन्मय प्रत्यक्ष के गोचर हैं। [1]तु. यो वायुना जयति गोमतीषु प्र धृष्णुया नयति वस्यो अच्छ ४।२१।४। **वस्यः** < वसीयस: < वसु (ज्योतिर्मय) + ईयस्, ज्योतिष्मत्तर। तु. उत्तर-ज्योति १।५०।१०, टी. १२८९। [2]वस्तुतः गोमती एक, किन्तु शाखा-प्रशाखा में अनेक, अतः 'गोमतीषु', तु. 'एष क्षेति रथवीतिर् मघवा गोमतीर् अनु, पर्वतेष्व् अपश्रितः' — रथ में जिनका आनन्द, वही महिमावान देवता यही तो गोमती की शाखाओं की प्रत्येक धारा में वास करते हैं, पर्वतों का आवरण दूर करके ५।६१।१९। यहाँ 'रथवीति' सुतसोम एक ऋषि (१८), सायुज्यबोध में देवता के साथ एकरूप हो जाने के कारण देवता भी 'रथवीति' (तु. १०।१०१।१ टी. १२६३, १५००)। 'गोमती' नाड़ीतंत्र की ग्रन्थि। इन्द्र उसको विदीर्ण, विकीर्ण करते हैं। वही उनकी गोमती समूह पर विजय है एवं इस एक सूक्त में वे 'अप्सुजित' संज्ञा द्वारा प्रसिद्ध (८।३६)। [3]तंत्र में मन और मरुत् को एक करके जप का विधान है। वही साँस-साँस में अर्थभावना के साथ जप है, जिसका पर्यवसान 'अजपा' में। [4]तु. इन्दुः समुद्रम् उद् इयर्ति वायुभिः ९।८४।४। ल. 'वायु' बहुवचन में, उसी प्रकार 'गोमती' भी।

[१६४०] तु. ऋ. १।१६४।४४ टी. १६२९; १०।१५८।१ टी. १६११।[3] ... ब्राह्मण में वायु 'पवमान', यह पहले ही बतलाया गया है। उसके अतिरिक्त वायु के सम्बन्ध में ये उक्तियाँ ध्यातव्य हैं: वायु 'तेज' (तै. ३।२।५।१) 'समुद्र' (श. १४।१।२।२, द्र. मा. ३८।७), 'अन्तरिक्षसत्-वसु' (५।७।३।११, द्र. मा. १२।१४), 'विश्वकर्मा' (श. ८।१।१।७। द्र. मा. १५।१६), 'प्राण' (ऐ. २।२६, ता. ४।६।८, तै. ३।१०।८।४, श. ४।४।१।१५ ...), सारे देवों की 'आत्मा' (श. १४।३।२।७), सूर्य से पवमान (श. ५।१।२।६), शुक्ल (श. ६।२।२।७)। उपनिषद् में उनका विशेष लक्षण, वे 'संवर्ग' हैं (छा. ४।३।१ ...) अथवा 'परिमर' रूप में (कौ. २।१२) लयस्थान।

वायु के बाद मरुद्गण, किन्तु निघन्टु में उनका उल्लेख वायु के बाद नहीं है, बल्कि 'मध्यस्थान देवगण' के प्रकरण में है – यद्यपि वहाँ वे वायु की तरह ही प्रथमगामी हैं [१५४१]। मरुद्गण वेद के मुख्य देवताओं में अन्यतम हैं। ऋक्संहिता के अनेक मंत्रों में जहाँ-तहाँ उनके उल्लेख के अतिरिक्त अनन्तः तीस पूरे सूक्त उनके सम्बन्ध में रचे गए हैं।[1] आर्षमण्डलों में सर्वत्र वे विशेष रूप में स्तुत हैं – एकमात्र वामदेव मण्डल में उनका उल्लेख प्रासंगिक है, हालांकि अन्यत्र गोतम एवं उनके वंश के ऋषियों द्वारा रचित मरुत् सूक्तों का अभाव नहीं है।[2] ऋषियों में अत्रिवंश के ऋषि ही मरुद्गण की स्तुति में मुखर हैं। इसी वंश के श्यावाश्व ने उनके निमित्त एक पूरा उपमण्डल रच डाला है और विष्णुसहचरित मरुद्गण के एक सूक्त द्वारा अत्रिमण्डल का समापन भी किया गया है जो आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष व्यंजनावह है।[3] ये सभी, देवमण्डली में मरुद्गण की प्रधानता एवं महत्व के सूचक हैं।

साधारणतः वेद में वसुगण, रुद्रगण और आदित्यगण ये तीन देवगण प्रसिद्ध हैं। उनमें रुद्रगण को ही मरुद्गण के रूप में माना जा सकता है। ऋक्संहिता में स्पष्ट रूप से ही 'रुद्रिय' अथवा रुद्र के पुत्र रूप में उल्लेख होने पर भी [१५४२], एकाधिक स्थानों पर उनको 'रुद्राः' कहा गया है।[1] निघन्टु में यही मध्यस्थान अन्यतर देवगण की संज्ञा है।[2] आध्यात्मिक दृष्टि से मध्य या अन्तरिक्ष स्थान देवताओं का स्वरूप प्राण है। वात, वायु एवं मरुद्गण ये तीनों ही प्राण के स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर रूप हैं। आधिभौतिक वायुमण्डल जिस चित्शक्ति द्वारा आविष्ट है, वही 'वात' है – जो देवता रूप में हम सब की प्राणक्रिया के आश्रय हैं।[3] वायु उनका ही सूक्ष्म अध्यात्म रूप है। अधिरोही वायु जब भ्रूमध्य भेदकर महाशून्य में उठ जाता है तब कपालमण्डल में ज्योति के अंधड़ की तरह जिस ज्योतिर्मय विश्वप्राण का अनुभव होता है, वही मरुद्गण है। वायु का अनुभव व्यष्टिगत है, उसका संकेत 'संवर्ग' अथवा अन्तर में सिमट आना प्रलय की ओर है।[4] और मरुद्गण का अनुभव समष्टिगत है, उसका संकेत आत्म चैतन्य के विच्छुरण और व्याप्ति की ओर है। मुनिपंथा में वायु जिस प्रकार एक प्रधान साधन है, उसी प्रकार ऋषिपंथा में मरुद्गण प्रमुख साधन है।

[१५४१] द्र. निघ. ५।४।१, ५।५।८, नि. ११।२। [1] ऋ. १।३७-३९, ६४, ८५-८८, १६६-१६८, १७२; २।३४; ५।५२-५९, ८७; ६।६६; ७।५६-५९; ८।७, २०, ९४; १०।७७, ७८ सूक्त। द्र. नोधा गौतम १।६४, गोतम राहूगण १।८५-८८ सूक्त। तृतीय मण्डल के छब्बीसवें सूक्त के तीन तृच में क्रमशः वैश्वानर अग्नि, मरुद्गण एवं आत्मा की प्रशस्ति लक्षणीय। यह विश्वचेतना की भूमि पर देवता के साथ सायुज्यानुभव का एक उत्कृष्ट निदर्शन है। अग्नि यहाँ वैश्वानर और मरुद्गण भी विश्वप्राण हैं, दोनों का सहचार व्यंजनावह। मरुद्गण के सम्बन्ध में मात्र एक तृच है किन्तु उसमें ही निविद की भाँति उनकी विशेषताएँ प्रभविष्णुता के साथ व्यक्त हुई हैं। 'अग्नेर्भामं (विभा) मरुताम् ओज ईमहे (हम चाहते हैं)' इस संक्षिप्त उक्ति में अग्नि-मरुद्गण के सहचार का तात्पर्य सुस्पष्ट है (३।२६।५)। [2] द्र. श्यावाश्व आत्रेय ५।५२–६१ सूक्त (६० सूक्त आग्नामारुत; ६१ सूक्त मरुद्गण का एवं उपाख्यान सूक्त); एवयामरुत आत्रेय ५।८७ (एवयामरुत विष्णु की संज्ञा है और ऋषि का भी वही नाम है; टीमू. १७६५)।

[१५४२] द्र. ऋ. १।३८।७, ११४।६,९, २।३३।१, ३४।१०, ५।६०।५ ...। [1] २।३४।९, ५।५४।४, ६०।६ ...। [2] निघ. ५।५।५। [3] तु. ऋ. आनीद् अवातम् १०।१२९।२। [4] तु. छा. ४।३।१-४। [5] बृ. ३।३।२। [6] श. ७।३।१।७; तु. ऋ. मरुद्भिः ... विश्वमिन्वेभिर् (विश्वव्यापी) आयुभिः ५।६०।८। संहिता में आयु प्राण का एक प्रकार विशेष। [7] तु. एतत् त्यन् न योजनम् (योगयुक्तता) अचेति (किसी को भी नजर नहीं पड़ी [न अचेति]), सस्वर् (गोपणा की) ह यन् मरुतो गोतमो वः, पश्यन् हिरण्यचक्रान् अयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून् १।८८।५।

संहिता की दृष्टि अधिदैवत अर्थात आधिदैविक है, इसलिए वहाँ मरुद्गण का प्राधान्य है और उपनिषद की आध्यात्मिक है, इसलिए वहाँ वायु का प्राधान्य है— यद्यपि उसके एक स्थान पर प्रसंगत: व्यष्टि और समष्टि वायु का उल्लेख भी है।[५] ब्राह्मण में प्राणा वै मारुता:।[६] यहाँ हम अधिदैवत से अध्यात्म भावना में अवरोहण का संकेत पाते हैं। इसके अलावा संहिता में मरुद्गण तो प्राण हैं जिसकी सूचना गोतम राहूगण के एक दर्शन में प्राप्त हुई है: उन्होंने देखा कि मरुद्गण चारों ओर वराह की भाँति तीव्र गति से धावमान हैं; उनके बदन पर गोल-गोल सुनहली धारियाँ हैं, उनके दाँत लोहे के हैं।[७] वराह प्राण का प्रतीक है जिसकी चर्चा पृथिवी के प्रसंग में की गई है।[८]

पहले ही हमने देखा है कि वायु वस्तुत: अदृश्य हैं इसपर भी देवता रूप में वे 'दर्शत' हैं— निश्चय ही भावुक की दृष्टि से। किन्तु तब भी संहिता में उनके रूप का पक्ष सुस्पष्ट नहीं। ऋक्संहिता में ऋषियों ने मरुद्गण को मनस्तुष्टि के लिए आभरण और प्रहरण दोनों ही से सजाया है—जिस प्रकार शक्तिसाधक शक्ति को सुसज्जित करते हैं। उन्होंने उनके सिर पर 'शिप्रा उष्णीष (पगड़ी), कन्धे पर मृगचर्म, बाँहों में केयूर (बाजूबन्द) हाथ में कंकण (कंगन, कड़ा) पाँव में नूपुर (सब का ही नाम 'खादि') गले में सोने का हार और फूलों की माला, वक्ष पर सोने का वर्म (कवच) दिया है; प्रहरण के नाम पर हाथ में कुठार और धनुष— कभी-कभी वज्र या पीठ पर तूणीर; फिर हाथ में विशेष रूप से 'ऋष्टि' अथवा वर्शा (बरछा), जो विद्युत से निर्मित है [१८४२]। लगता है वेद में अन्य किसी भी देवता का रूप इतना स्पष्ट होकर व्यक्त नहीं हुआ है। मात्र उषा के अतिरिक्त अन्य किसी के भी चित्रण में ऋषियों का इतना उल्लास दिखाई नहीं पड़ता। रुद्र की भाँति ही मरुद्गण निस्सन्देह झड़ या आँधी-तूफ़ान के देवता हैं। किन्तु वह झड़ जिस ज्योति का झड़ है, उसके सम्बन्ध में उनके वर्णाढ्य चित्रण से किसी प्रकार के संशय की गुंजाइश नहीं। उनको लेकर केवल विद्युत का विकीर्णन[१], जिसकी अभ्रिभि: अथवा हर झलक या कौंध में वे वायु की ही भाँति 'तनुषु शुभ्रा:' हैं।[२]

मरुद्गण यहाँ ऊर्ध्वस्रोता हैं, पार्थिवचेतना का जड़त्व विदीर्ण करके ऊपर की ओर प्रवाहित हो रहे हैं (द्र. ७।५८।१)। आध्यात्मिक दृष्टि से मध्यनाड़ी के पथ पर उनका चलना संभवत: प्रकाशस्तम्भ जैसा है। उसके ही प्रत्येक सोपान पर एक-एक ज्योतिर्मय भुवन के प्रकाश को यहाँ 'हिरण्यचक्र' कहा गया है। तु. शौ. अष्टचक्रा देवानां पु:...तस्यां हिरण्मय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत: १०।२।३१। योजनम् उनका अन्योन्ययोग जनित वितान या परम्परा, तु. तद् वीर्यं वो मरुतो तन् महित्वनं (महिमा) दीर्घं ततान सूर्यो न योजनम् (अर्थात् पुंजीभूत सूर्यरश्मि के वितान की तरह) ५।५४।५। उनका 'निधावन', मध्यनाड़ी से शाखानाड़ी समूह तक में विद्युत जैसा विसर्पण है। [८] द्र. टी. १६००।

[१८४२] तु. ऋ. विद्युद्धस्ता अभिद्यव: (द्युति जिनकी छिटक रही है) शिप्रा: शीर्षन् हिरण्ययी:, शुभ्रा व्यञ्जत (कौंधे, व्यक्त हुए) श्रिये (यह क्या उनकी श्री है!) ८।७।२५, २०।११, १।६४।४, १।१६६।१०, ऋष्टिविद्युत: १।१६८।५, ५।५२।१३, ५३।४, अंसेषु व ऋष्टय: पत्सु खादयो वक्ष:सु रुक्मा मरुतो रथे शुभ:, अग्नि भ्राजसो विद्युतो गभस्त्यो: (दोनों हाथ में) शिप्रा: शीर्षसु वितता हिरण्ययी: ५।५४।११, वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिण: सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिण: ...५७।२, गणं... खादिहस्तम् ५८।२...।[१] द्र. ८।७।२५, १।६४।५, ८, १६८।५, अन्वेनाँ अह विद्युतो मरुतो जज्झतीर इव इन (जैसे झिलमिला रहे हैं)। भानुर् अर्त त्मना दिव: (प्रभा अपने आप द्युलोक से फैल गई ५।५२।६, १३, ५४।११), स्वविद्युत: —७३...। आँधी-तूफान के देवता तु. वातान् विद्युतस् तविषीभिर् अक्रत (किया) १।६४।५।[२] १।८५।३ (७।५६।११); तु. ८।७।८,

यह शुभ्रता आकाश में जिस एक स्निग्ध, कोमल आलोक के परिमण्डल की रचना करती है, उस की पारिभाषिक संज्ञा है 'भानु'।[3] मरुद्गण 'स्वभानवः' — आँधी और वर्षा के थम जाने के बाद प्रसन्न-निर्मल आकाश के मल हैं।[4] यह भानु ही धीरे-धीरे सूर्य की तरह प्रज्वलित हो उठता है, उस समय मरुतगण 'पावकासः शुचयः सूर्या इव', सूर्य की रश्मियों की तरह झिलमिलाते[6] सुनहली स्थिरदीप्ति से दीप्तिमान, तेजवान[7] अर्थात वे 'सूर्यत्वच आदित्यासः' हैं।[8] देह के इस ज्योतिरुद्भास से ही उनका नाम 'मरुत' हुआ है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ 'विद्युत की दीप्ति से झलमल'।[9] इसका ही रूपान्तर हुआ 'मर्य' अथवा तारुण्य से सुदीप्त, जो उनका बहुप्रयुक्त विशेषण है।[10]

ब्राह्मण में मरुतों को 'रश्मयः' कहा गया [१८४४]। किन्तु रश्मियाँ पृथक्-पृथक् विच्छुरित नहीं — बल्कि वे सभी मिलकर एक पुंजभाव की सृष्टि करती हैं अतएव उनके भीतर भेद दुर्निरीक्ष्य है। इसलिए मरुद्गण में छोटे-बड़े-मझले का भेद नहीं है, वे सभी एक समान हैं।[1] इसी से वैदिक अद्वैत भावना के वैशिष्ट्य का परिचय प्राप्त होता है। मरुतों को 'दिवस्पुत्रासः' — अर्थात द्युलोक के समव्याप्त आलोक से आविर्भूत बतलाया गया है।[2] किन्तु इस आविर्भाव में 'वि-भूति' या अलग-अलग होना नहीं — 'सम्-भूति' अथवा सब कुछ एक साथ होना है। सम्भूति अर्थात् अव्याकृति से व्याकृति का प्रथम धाप है। उस समय का अनुभव है 'संवित्', किन्तु 'संज्ञान' नहीं।[3] अतः हम देखते हैं कि ऋक्संहिता में मरुद्गण की संख्या दी गई है किन्तु नाम नहीं है।[4] यही बात 'देवीर् आपः' के बारे में भी है। अप् और मरुत् दोनों से ही प्राण का बोध होता है किन्तु साधारणतः एक पृथिवी की ओर नीचे उतर आता है और दूसरा द्युलोक की ओर ऊपर उड़ जाता है। इसलिए मरुद्गण 'अनवभ्रराधसः' हैं,[5] उनकी ऋद्धियाँ

१४, २५, २८, १।१६७।४, ७।५६।१६, ८।२०।४। इस प्रसंग में 'शुभे' (शुभ्रता के लिए, ज्योतिर्मयता के अर्थ में) पद का बार-बार प्रयोग द्रष्टव्य : १।८७।२, ८८।२, १६७।६, ५।५२।८, ५७।३, 'नैतावद् अन्ये मरुतो यथेमे भ्राजन्ते रुक्मैर् आयुधैस् तनूभिः, आ रोदसी विश्वपिशः पिशानाः समानम् अञ्ज्य् अञ्जते (अंज्यजते) शुभे कम्' — अर्थात इस प्रकार अन्य मरुत तो झिलमिलाते नहीं, जिस प्रकार ये सब (अर्थात मैंने जिनका दर्शन प्राप्त किया है) — झिलमिलाते हैं सुनहले आयुध, आभरण और तनुश्री के साथ; वे विश्वरंजन हैं, द्यावापृथिवी को प्रसन्न करते हुए एक ही प्रकार से कौंधते, चमकते हैं शुभ्र ज्योति को व्यक्त करने के लिए ७।५७।३। [2] तु. क. 'अनुभा' २।२।१५; ऋ. 'श्रियसे कं भानुभिः सं मिमिक्षिरे ते रश्मिभिस् त ऋक्वभिः सुखादयः' — अर्थात भानु-भानु से, रश्मि-रश्मि से एवं शिखा-शिखा से उनका मेल-मिलाप है, संसर्ग है — जिनके पाँवों में सुन्दर नूपुर हैं. १।८७।६। ऋक्व ॥ 'अर्चिः < √ऋच् 'शिखा होकर जल उठना; गीत गाना। शिखा अग्नि की, रश्मि सूर्य की, और आलोकप्लावित आकाश के भानु की तरह।[4] तु. १।३७।२-८।२०।४, ५।५३।४, ५४।१, ६।४८।१२, १।८२।२। तु. उषा ६।६४।४। किन्तु यह विशेषण मरुद्गण में निरूढ़। इसके अतिरिक्त वे 'चित्रभानवः' १।८५।११।[5] १।६४।२; तु. ५।५२।[6] विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः ५।५५।३, महित्वनं (महिमा) दिदृक्षेण्यं (दर्शनीय) सूर्यस्येव चक्षणम् (दर्शन) ४।[7] स्वारश्मानो हिरण्ययाः ५।८७।५।[8] द्र. ७।५९।११+१०।७७।२।[9] < √स्मृ ॥ मृ ॥ मर् 'दिपना, चमकना, झिलमिलाना'; तु. 'मरीचि' किरण, संगमर्मर (श्वेत पत्थर) — Gk. marmaírein 'to shine', Eng. morn। तु. 'प्रति स्मरेथा (सामने झिलमिलाने पर) तुजयद्भिर् एवैः (सतर्क करने, जगा देने के अन्दाज़ में)' ... इन्द्रासोमा ७।१०४।७। √स्मृ का अर्थ इसी से 'स्मरण करना, याद आना'; 'स्मृति' अर्थात् प्रकाश की झलक। छान्दोग्य में सनत् कुमार का 'स्मर' वही आकाश में अभिनव की विद्युद्दीपनी ७।१३।१ (द्र. टीमू. ५२२[2]। ल. निघन्टु में 'मरुत्' हिरण्य। यास्क की व्युत्पत्ति : मरुतो ऽमित राविणो वामितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा (नि. ११।१३), अर्थात् वे गर्जन के साथ चलने वाले ज्योति के अन्धड़ हैं।

सिद्धि का ह्रास नहीं होता, उनका प्रसाद आधार में वृष्टि के प्रबल वर्षण में उतर आने पर भी वह चेतना को उद्दीप्त ही करता है। वे निर्ऋति या दुर्व्यवस्था के अकूल, असीम समुद्र से ऊपर उठकर विशोक नाक अथवा स्वर्ग या आकाश में पहुँचते हैं। यह व्याख्या हठयोग की भाषा में अव्यक्त के गुहाशयन से भ्रूमध्य के ऊपर की ओर विश्वचेतना में व्यक्ति-चेतना के विस्फोट की सूचना देती है। अन्यत्र उसका ही वर्णन इस प्रकार है : 'सिरज देते हैं वे ओजःशक्ति से एक रश्मिपथ सूर्य के जाने के लिए, (और उसके बाद वही) वे भानु की आभा-प्रभा में फैल गए।... (तब) पृश्नि होकर (पृश्नि के पुत्र) दोहन करते हैं वज्रधर के लिए मधु के तीन सरोवर जलभरे मशक की तरह उसी उत्स से।' और इस प्रकार आधार में निगूढ़ रूप में जो तमिस्रा है उसको वे समस्त लोलुपता के विरुद्ध अभियान चलाकर दबा देते हैं और जिस ज्योति के लिए हम व्यग्र हैं उसे व्यक्त करते हैं।[९] तब हम सर ऊँचा करके खड़े हों, नया जीवन जिएं।[१०] उस समय हमारे मूर्धन्य आकाश में सूर्य उदित हुआ है। उसकी प्रभा में उस समय मरुद्गण ज्योति-पुरुष, आनन्दमग्न द्युलोक के वीर — हमारे भीतर उनका सुषम, सन्तुलित आवेश होता है।[११] हमारी सौरचेतना में तब वे सर्वाति भाव की महिमा प्रकट करते हैं।[१२] उसके बाद एक समय हम देखते हैं कि यह शुक्ल भाति जैसे परःकृष्ण की नीलिमा में मिल जाती है तब भी मरुद्गण की गति का वेग थमना नहीं चाहता — वारुणी शून्यता में पंक्तिबद्ध हंसों जैसे उड़ते जाते हैं जिनके वक्ष सफेद हैं किन्तु पीठ नीली है।[१३]

यह व्युत्पत्ति अर्थ विषयक है। [१०] तु. ऋ. १।६४।२, ५।५२।३ ५८।६, ७।५६।१। इन ऋचाओं का 'दिवो मर्याः' और 'रुद्रस्य मर्याः' यदि समानार्थक हों तो फिर रुद्र = द्यौः। ल. तंत्र में शिव का आकाशबीज (हं)।

[१७४४] तु. ता. १४।१२।७, श. ७।३।१।२५। [१] ऋ. ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदो (मिट्टी फोड़ कर जो उगते हैं तु. वराह टी. १७४२[६]) ऽमध्यमासो महसा (ज्योति की शक्ति और महिमा में) वि वावृधुः ५।५९।६, ६०।५। [२] १०।७७।२। [३] तु. बौद्ध दर्शन में नाम-धातु के पूर्व 'वेदना' (Sensation) उसके बाद 'संज्ञा' (Perception)। तैत्तिरीय संहिता में नाम है किन्तु वे केवल नाम के लिए ही नाम हैं (द्र. टीपू. १७४६[४], १७४७)। [४] तु. ऋ. प्र स्कम्भदेष्णा अनवभ्रराधसो अलातृणासः' — स्कम्भ अथवा प्रकाशस्तम्भ (तु. शौ. स्कम्भ ब्रह्म १०।७ सू. वहाँ 'यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद, स वै गुह्यः प्रजापतिः' ४१; इस प्रसंग में तु. ऋ. ४।५८।५ टी. १२७३[६]) जिनके दान, जिनकी महिमा का कोई ह्रास या कमी का संकेत नहीं (तु. 'अवभृथ' यज्ञ की समाप्ति पर यजमान का स्नान एवं यज्ञपात्रों को नदी के जल के उतार के समय विसर्जित कर देना जिससे वे समुद्र में पहुँच सकें; समुद्र अवश्य ही परिप्लावी, परिपूर्ण बृहत् चैतन्य का प्रतीक है), जो अनायास ही विद्ध करते हैं प्राण का अवरोध (< अलम् + आ √तृद् 'विद्ध करना' नि. ६।२; तु. राजा 'प्रतर्दन' कौ. ३।१। **अलातृण** यह संज्ञा संहिता में दूसरी बार मात्र 'वल' अथवा वृत्रानुचर, आवरिका शक्ति के विशेषणरूप में है ऋ. ३।३०।१०; वहाँ व्युत्पत्ति कर्मवाच्य में 'इन्द्र जिसको आसानी से ही विद्ध और विदीर्ण करके ज्योति की धारा को मुक्त कर सकते हैं') १।१६६।७। और भी तु. २।३४।४, ३।२६।६, ५।५७।५। [६] वृष्टि का वर्णन तु. १।३८।७-९, ५।५५।५, ५८।७, वर्ष निर्णिजः ३।२६।५। यहाँ मरुद्गण एवं अप् की समता, दोनों ही ऊसर या अनुर्वर आधार में प्लावन लाते हैं तु. शौ. ४।१५।५-१०। और भी तु. ऐब्रा. 'आपो वै मरुतः' ६।३०। [७] ऋ. नक्षन्तो नाकं निर्ऋतेर् अवंशात् ७।५८।१, 'ऋत' COSMOS, (सुव्यवस्था) **निर्ऋति** CHAOS; (दुर्व्यवस्था) तु. श. कृष्णा वै निर्ऋतिः ७।२।१।७; ब्राह्मण में अनेक स्थानों पर 'निर्ऋति पृथिवी' जो तंत्र में मूलाधार है (तु. तैब्रा. निर्ऋत्यै मूलबर्हणी १।५।१।४, तत्र सायण। शैव दर्शन में निवृत्ति कला अथवा भूत का शेष तात्त्विक परिणाम है)। वंश या बाँस

इस प्रकार मरुद्गण जिस प्रकार रुद्रगण हैं, उसी प्रकार फिर आदित्य-गण भी हैं। अर्थात उपनिषद की भाषा में इन्द्र की ही तरह प्रज्ञात्मक प्राण हैं[१७४५]। किन्तु मुख्य आदित्यगण के साथ उनका प्रभेद है— उनके नाम, रूप, गुण और कर्म का भेद है किन्तु इनमें नहीं है। यह मानो अव्याकृत प्राण की समरसता से व्याकृत चैतन्य की विशिष्टता में उत्तीर्ण होना है। और उसी विशिष्टता का आधार अन्तरिक्ष के अन्तिम छोर के निकट इन्द्र और द्युलोक की मूर्द्धा में विष्णु हैं- जिनके साथ मरुद्गण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु उसकी चर्चा आगे चलकर करेंगे।

अब उनकी संख्या के बारे में बात करेंगे। ऋक् संहिता के एक स्थान पर उनकी संख्या 'त्रिसप्त' अथवा इक्कीस बतलाई गई है और शौनक संहिता में भी वही है [१७४६]। किन्तु दूसरे स्थान पर वे 'सप्त... सप्तशाकिनः' अर्थात उनचास शक्तिधर देवता हैं।[1] जान पड़ता है, सप्त आदित्य की भाँति मूलतः सात मरुतों का यह एक गण है।[2] जिस प्रकार अन्यत्र देखते हैं 'आपो मातरः सप्त', 'सप्तापो देवीः', अथवा सप्तसिन्धु[3] जो सभी प्राण की धारा अथवा समुद्र हैं। लोकभेद अथवा धामभेद के कारण वे इक्कीस अथवा उनचास हुए हैं। माध्यन्दिन संहिता के एक स्थान पर छः गणों का एवं दूसरे स्थान पर एक और गण का नाम सहित उल्लेख प्राप्त होता है।[4] सारे नाम बहुत कुछ मरुद्गण के विशेषण की तालिका जैसे हैं— विशेषतया 'ईदृङ्', 'अन्यादृङ्', 'सदृङ्', 'प्रतिसदृङ्' इत्यादि नाम उनमें एक अस्पष्ट स्वगत भेद भर का संकेत देते हैं। ... ब्राह्मण ग्रन्थों में मरुद्गण, सप्तगण में विभक्त हैं[5] एवं उनका उद्दिष्ट पुरोडाश भी सप्तकपाल है।[6] मुण्डकोपनिषद का कथन है, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् ... सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः २।१ सप्त सप्त'।[7]

अव्याकृत मूल से पोर-पोर में ऊपर की ओर उठ जाता है (तु. ऋ. १।१०१,२); अवंश वही अव्याकृत (तु. १०।१२९।१-२; और भी तु. २।१५।२, ४।५६।३)। [8] सृजन्ति रश्मिम् ओजसा पन्थां सूर्याय यातवे, ते भानुभिर् वि तस्थिरे। ... त्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे वज्रिणे मधु, उत्सं कबन्धम् उद्रिणम् ८।७।८,१०। तीन सरोवर तु. उपनिषद के तीन 'आवसथ' (ऐ. १।३।१२) जो क्रमानुसार मूर्द्धा, भ्रूमध्य और हृदय हैं (तु. गी. ८।१०, १२-१३)।
[9] तु. ऋ. गोतम राहूगण की प्रार्थना: गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वम् अत्रिणम्, ज्योतिष् कर्ता यद् उश्मसि १।८६।१०। अत्रिन् <√ अद् 'खाना' तु. 'क्रव्याद्' १०।८७।२,५) राक्षसी शक्ति द्र. टी. १२२३। उन्हें 'निगूहित' करना होगा पाताल में ताकि वहाँ से फिर सर न उठा सकें (तु. ७।१०४।२,३ द्र टी. १२३२)।[10] तु. अगस्त्य मैत्रावरुणि की प्रार्थना: ऊर्ध्वान् नः कर्त जीवसे १।१७२।३।[11] तु. यन् मरुतः सभरसः स्वर्णरः सूर्य उदिते मदथा दिवो नरः ५।५४।१०। 'सभरसः' सम्बोधन में, समान 'भरस्' अथवा आवेश (<√ भृ 'वहन करना', तु. 'भ्रूण' 'भर') जिनका हम सब के भीतर है। अनन्य प्रयोग।[12] अच्छा सूरीन् सर्वताता (लक्ष्यार्थे सप्तमी) जिगात (तीव्र गति से चलो) ७।५७।७। सूरि < 'सूर' 'सूर्य' ॥ 'स्वर'।[13] तु. सस्वश् चिद् धि तन्वः शुम्भमाना आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन् ७।५९।७। सस्व छिपे-छिपे, अन्तर्हित (तु. निघ. ३।२५, तत्र दुर्ग 'सुप्तम् इव' <√ सस् (सोना, शयन); ऋ. ७।५८।५, ६०।१०) सब से छिपकर उड़ जा रहे हैं— शरीर शुभ्र किन्तु पीठ नीली। उनकी गति तब भी थमती नहीं ५।५४।१०।
[१७४५] तु. कौ. ३।२।
[१७४६] तु. ऋ. (इन्द्रः) सत्वभिस् त्रिसप्तैः १।१३३।६; शौ. त्रिषप्तासो मरुतः १३।१।३।
[1] ऋ. ५।५२।१७। [2] तु. सप्त-सप्त मारुता: गणाः ७।३।१।२५। [3] ऋ. ८।९६।१, १०।१०४।८; १।३२।१२, २।१२।३, ४।२८।१ ...। [4] मा. १७।८०-८५, ३९।७। किन्तु तैत्तिरीय संहिता में पाँच गण का उल्लेख प्राप्त होता है। [5] श. २।५।१।१३, ५।४।३।१७, तै. १।६।२।३, २।७।२।२। [6] ता. २१।१०।२३, श. २।५।१।१२, ५।३।१।६। [7] मु. २।१।८। इतिहास-पुराण में 'उनचास पवन' प्रसिद्ध।

इसके अतिरिक्त ऋक्संहिता के एक स्थान पर हम देखते हैं कि 'त्रिः षष्टिः ... मरुतो वावृधाना उस्रा इव राशयः'— तीन साठ मरुद्गण वृद्धि पर हैं जो ज्योतिपुंज की तरह बढ़ते जा रहे हैं [१६४७]। तीन साठ को अनेक पंडितों ने तिरसठ (तरेसठ) बतलाया है क्योंकि उसमें सात का गुणांक पाया जाता है किन्तु जान पड़ता है 'तीन साठ' — यहाँ एकसौ अस्सी का बोधक है और वह सूर्य के उत्तरायण के दिनों की संख्या की ओर लक्ष्य करता है। उस समय आलोक का क्रमिक उपचय होता है जो ज्योतिर्मय प्राण का ही उपचय या वृद्धि है। उसी से मरुद्गण 'वावृधानाः' हैं।१ सायण ने 'तीन साठ' (त्रिः षष्टिः) को तिरसठ मानकर नौ गणों का उल्लेख किया है एवं संहिता और आरण्यक से प्रमाण उद्धृत किया है। किन्तु अनेक कारणों से वह संगत नहीं जान पड़ता।२

पहले ही हमने देखा है कि देवता त्रिषधस्थ हैं। किसी एक लोक में उनका विशेष प्रकाश या प्रभाव होने पर भी वे उस लोक में ही रुके नहीं रहते। अतएव मरुद्गण भी अन्तरिक्ष स्थान देवता होकर भी बढ़ते जाते हैं पृथिवी में, विपुल अन्तरिक्ष में, महाद्युलोक के सधस्थ में अथवा चित्केन्द्र में— नदियों के प्रत्येक घुमाव में [१६४८]। इसे ही अन्य प्रकार से कहा गया है कि वे

[१६४७] ऋ॰ ८।९६।८। यहाँ Geldner टी॰ द्र॰।१ तु॰ साकं जाताः सुभ्वः साकम् उक्षिताः श्रिये चिद् आ प्रतरं वावृधुर् नरः, विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः शुभं यातास् अनु रथा अवृत्सत— एक साथ जन्म लिया उन्होंने, सुमंगल है उनका आविर्भाव; एक साथ ही वे बढ़ते चलते हैं। श्री की ओर ही और भी विशेष रूप में बढ़ते जाते हैं (ये) सब वीर; चमचमाते हैं वे सूर्य की रश्मि जैसे; शुभ की दिशा में वे चले जब, पीछे-पीछे तब चल पड़े सारे रथ ५।५५।३। ऋचा का चौथा चरण सूक्त की टेक है। मरुद्गण के आलोकझंझा की गति तीव्र से क्रमशः तीव्रतर होती रहती है। उसका लक्ष्य है 'श्री' एवं 'शुभ' में पहुँचना। ये दोनों संज्ञाएँ ऋक्संहिता में बहुप्रयुक्त हैं— दूसरी संज्ञा 'शुभ' विशेष रूप से मरुद्गण के सम्बन्ध में (तु॰ ३।२६।४, १।६४।४, ८७।३, ८८।२, १२७।६, १६७।६, ५।५२।८, ५७।३, ६३।५, ७।५७।३...; सर्वत्र लक्ष्य की द्योतना या व्यंजना है; द्र॰ टीमू॰ १६४३२)। यह शुभ अथवा 'शुभ्र शोभा' ज्योति की शुभ्रच्छटा है जिसको हम सौरकरोज्ज्वल नीलाकाश के लावण्य के रूप में देख सकते हैं। नीलाकाश विष्णु और उनमें 'नित्याश्रित' यह शुभ्र लावण्य ही उनकी श्री है। उपनिषद् में वही आदित्यवर्ण पुरुष का 'नीलं परः कृष्णम्' और 'शुक्लं भाः' है। ये दोनों मिलकर विष्णु का 'परमपद'। विश्वप्राण के आलोक की आँधी तीव्र गति से उसी ओर जा रही है। उसी से विष्णु की एक संज्ञा 'एवयामरुत्' है। द्र॰ टीमू॰ १६६५; अश्विद्वय के सन्दर्भ में भी 'श्री' और 'शुभ' का सहचार द्र॰ ६।६३।६।... और भी तु॰ ऋ॰ १४।१२।५, श॰ ७।३।१।२५। २ द्र॰ सायणभाष्य। वस्तुतः तैत्तिरीय संहिता में पाँच गणों में मात्र पैंतीस नाम पाए जाते हैं (४।६।५।५-६); माध्यन्दिन में और भी दो गण अधिक हैं (१७।८५; ३९।७) तैत्तिरीय आरण्यक के दो अनुवाकों में (४।२४-२५) सात + सात + पाँच कुल उन्नीस नाम पाए जाते हैं। उनमें चार नाम पुनरुक्त हैं। इसके अलावा माध्यन्दिन के नामों की तालिका के चार नाम तैत्तिरीय आरण्यक में पुनरुक्त हैं। माध्यन्दिन का 'सासह्वान्' और तैत्तिरीय आरण्यक का 'सहसह्वान्' यदि एक हो तो फिर और भी एक नाम कम हो जाता है। अतएव नामों की संख्या तिरसठ किसी तरह भी सम्भव नहीं — आरण्यक की पुनरुक्ति को छोड़कर माध्यन्दिन और आरण्यक की केवल संख्या साठ होती है। ऋक्संहिता का 'तीन साठ' उत्तरायण की तीन ऋतुओं में उसकी ही त्रिगुणित संख्या है कि नहीं — विवेच्य।

[१६४८] ऋ॰ ये वावृधन्त पार्थिवा य उरावन्तरिक्ष आ, वृजने वा नदीनां सधस्थे वा महो दिवः (५।५२।७; 'नदीनां वृजने' उपनिषद् की भाषा में गुहाग्रन्थि में, हठयोग में एक चक्र में नाड़ियों के संगम स्थल में, तु॰ 'अपाम् अनीके समिथे' ४।५८।११ टी॰ १२५६४); त्यान् नु पूतदक्षसो (शुभ संकल्प, सत्य संकल्प) दिवो वो मरुतो हुवे, अस्य सोमस्य पीतये। त्यान् नु ये वि (पृथक् करके) रोदसी तस्तभुर् (स्तम्भ की तरह धारण किए हुए) मरुतो हुवे, अस्य...

'पृश्निमातर:' हैं द्युलोक में — क्योंकि पृश्नि बृहत् का संस्पर्श है; वे 'सिन्धुमातर:' हैं अन्तरिक्ष में — क्योंकि सिन्धु चिन्मय प्राण की धारा है; वे 'गोमातर:' हैं पृथिवी में, क्योंकि गो पृथिवी में अवरुद्ध चिज्ज्योति है।[१] अवश्य वे मुख्यत: 'अन्तरिक्षभाजना ईश्वरा:' हैं।[२] किन्तु अन्तरिक्ष में रहने पर भी उनकी प्रज्ञा और शक्ति का आहरण द्युलोक से हुआ करता है, अत: द्युलोक के साथ उनका सम्बन्ध इन्द्र के सम्बन्ध जैसा घनिष्ठ है। इन दोनों देवताओं को ही रोदसी के अन्तिम छोर पर जो द्युलोक का निकटवर्ती है — वहाँ स्थापित करना पड़ता है। इसलिए मरुद्गण लगता है अनायास द्युलोक से उतर आते हैं।[३] उसके निकट विशोक नाक को वे दीप्त पिप्पल की तरह निर्धारित करते हैं और विष्णु के परमपद में मधु के उत्स को छलकाते हैं।[४] वे श्रेष्ठतम नर हैं, सुदूर के अन्तिम छोर से एक-एक करके आते हैं।[५] जिस महाव्योम में वे उत्तुंग पर्वत की भाँति निषण्ण थे।[६] वहाँ से वे पृथिवी पर तेज़ हवा के झोंकों में, बिजली की कौंध में और मूसलधार वृष्टि में नीचे उतर आते हैं। उस समय उनके चलने के वेग से यह पृथिवी विपुला होती है; भर्ता जिस प्रकार भार्या का गर्भाधान करता है, उसी प्रकार वे अपने वीर्य के उपचय को उसमें निहित करते हैं।[७] इस प्रकार द्युलोक से ही उनके शक्तिपात से आधार का बाँझपन दूर होता है। उस समय मरुद्गण द्युलोक और भूलोक के बीच सेतुस्वरूप हैं, जिस प्रकार चेतन और जड़ के बीच प्राण सेतु है।

पृथिवी पर पर्वतों और नदियों के साथ मरुद्गण का विशेष सम्बन्ध है। जिसमें संहिता के अनुसार नदियों के सम्बन्ध पर विशेष ज़ोर दिया गया है। इसका नैसर्गिक कारण सुस्पष्ट है। पहाड़ की चोटियों पर घनीभूत मेघों के पिघलने से पहाड़ी नदियों में बाढ़ आ जाती है — सूर्य के उत्तरायण के अन्त में यह उत्तराखण्ड की एक साधारण घटना है। इस घटना को मरुद्गण के सन्दर्भ में एक अध्यात्म व्यंजना के वाहन के रूप में ग्रहण किया गया है। पर्वत की अक्षोभ्यता और तुंगता — विशेषत: सर्वदा हिमाच्छादित

त्यं नु मारुतं गणं गिरिष्ठां (पार्थिव चेतना की मूर्द्धा में, तु. टी. १५८२[१]) वृषणं हुवे, अस्य... ८।९४।१०-१२। [१] तु. 'यद् यूयं पृश्निमातरो मर्तास: स्यातन, स्तोता वो अमृत: स्यात्' — हे, पृश्निमातृकगण (पृश्निपुत्रो) यदि तुम सब मर्त्य होते तो तुम सब का स्तोता अमृत होता (तो फिर वह तुम सब को इस प्रकार दुख नहीं देता) यह एक गर्वोक्ति है जिसके भीतर देवता और मनुष्य के सम्बन्ध की प्रगाढ़तम व्यंजना है। द्र. टीमू. १३५४) १।३८।४, 'अत: परिज्मन् (चारों ओर से तीव्रगति से आ रहे हो; गण उद्दिष्ट इसलिए एकवचन) आ गहि दिवो वा रोचनाद् अधि (द्युलोक की दीप्ति से) १।६।९, ८।७।३, १७, १।८५।२, ५।५९।६ (फिर इस मंत्र में उनको 'उद्भिद:' कहा गया है, उस समय वे पृथिवी के पुत्र); 'सिन्धुमातर:' १०।७८।६ ('सिन्धु' यहाँ सरस्वती, उनके साथ मरुद्गण का घनिष्ठ सम्बन्ध द्र. टीमू. १५५६; सरस्वती में जिस प्रकार प्राण और प्रज्ञा का समाहार, मरुद्गण में भी वही है। इस सूक्त में एक ऋक् के अतिरिक्त प्रत्येक ऋक् के प्रत्येक चरण में मरुद्गण का विचित्र उपमान द्रष्टव्य); 'गोमातर:' १।८५।३ ('गो' यहाँ पृश्नि अथवा पृथिवी दोनों ही हो सकते हैं; समान भावना तु. ५।५९।६)। [२] द्र. शां.ब्रा. ७।८। [३] तु. ऋ. १।१६८।४, ५।५९।१, यद् उत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद् वावमे सुभगासो (आवेश जिनका अनायास) दिविष्ठ ५।६०।६ (तीन द्युलोक क्रमानुसार नाक, स्वर् एवं दिव्)। [४] तु. ५।५४।१२ टी. १२५९[२]। [५] तु. १।१५४।५ + ५७।१। 'के ष्ठा (उपस्थित हो रहे हो) नर: श्रेष्ठतमा य एकएक आयय, परमस्या: परावत: (अर्थात् विश्वातीत महाशून्य से, जिसके उस पार और कुछ भी नहीं तु. १०।१२९।१) ५।६१।१। यह ऋषि श्यावाश्व का एक दर्शन। [६] तु. ५।८७।९। [७] प्रथिष्ट यामन् पृथिवी चिद् एषां भर्तेव गर्भं स्वम् (आत्मप्रतिरूप) इच्छवो धु: ५।५८।७।

[१७४९] तु. ऋ. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा १०।१२१।४, शं न: पर्वता ध्रुवयो भवन्तु ७।३५।८। [१] छा. ७।६।१। [२] तु. ऋ. ५।८७।१, और भी तु. दिव: शर्धाय (द्युलोक के गणदेवता के →

हिमवान की चोटियों ने उसे एक गौरव प्रदान किया है[१८४९]। उपनिषद में भी पर्वत को ध्यानमग्नता के उपमान के रूप में ग्रहण किया गया है।[1] संहिता के एक मारुत सूक्त में देवता के उद्देश्य से 'मति' अथवा मनन को 'गिरिजा' कहा गया है अर्थात् भ्रूमध्य में निहित अग्र्या या सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बुद्धि से उत्पन्न।[2] यजुःसंहिता के रुद्र 'गिरिशन्त'[3] और उपनिषद में महाशक्ति 'हैमवती' हैं।[4] ऋक्संहिता में इन्द्र, सोम और विष्णु सभी 'गिरिष्ठाः' हैं— अर्थात भ्रूमध्य अथवा मूर्द्धन्य चेतना में प्रतिष्ठित हैं।[5] चेतना के उत्तरायण का एक रूपक है 'पर्वत के शिखर से शिखर पर आरोहण'।[6] अतएव द्युलोक या उसके निकटवर्ती छोर पर स्थित मरुद्गण 'पर्वत पर विराजमान' हैं,[7] वे भी 'गिरिष्ठा'[8] हैं, एक ओर जिस प्रकार वे महाव्योम में पर्वत की तरह अचल प्रतिष्ठ हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर वे उद्दाम झंझा के वेग से पहाड़ को भी कँपा देते हैं, हिला देते हैं।[9] पहाड़ वहाँ वृत्र के अन्धतामिस्र की अचलता है। इन्द्र के वृत्रवध में मरुद्गण ही उनके सहयोगी हैं।

नदी के साथ मरुद्गण का सम्बन्ध और भी घनिष्ठ है। 'मरुद्वृधा' नदी का एक साधारण विशेषण अथवा सरस्वती का नामान्तर है। सरस्वती का नामान्तर होने की सम्भावना ही अधिक है [१८५०]। अभीप्सा के ऊर्ध्वमुखी वेग अथवा आवेश के उतरते बहाव में जहाँ 'नदीनां वृजने'[1] अथवा नदी के घुमाव में अर्थात नाड़ी के मार्ग में प्राण का स्रोत अवरुद्ध होता है वहाँ ही मरुद्गण छलकते हुए सारी बाधाएँ बहा ले जाते हैं। उसके लिए ही शर्यणावत, सुषोमा और आर्जीकीय में रथचक्र को गहराई में उतार देते हैं।[2] उस समय प्रत्येक नाड़ी में विश्वप्राण की धारा 'सहस्रियासो अपां नोर्मयः'— अर्थात हज़ारों प्रवहमान जल-तरंगों की तरह प्रतिभासित होती है।[3] 'परुष्णी' नाड़ी के पोर-पोर में तब मरुद्गण का रथचक्र वज्रशक्ति से अद्रि का अवरोध तोड़ता चलता है,

निमित्त) शुचयो मनीषा गिरयो नाप उग्रा (पर्वत की भाँति, प्रवाह की तरह वज्रतेज से) अस्पृध्रन् (स्पर्द्धित हो उठा) ६।६६।११ (अर्थात सारी बाधाओं को दूर करके द्युलोक की ओर ऊपर उठ गया, फिर वहाँ से नीचे उतर आया प्लावन के प्रवाह में, उपमार्थीय 'न' का अन्वय उभयतः। द्र. क. ५।१।१२। (१।२।१२)। [2] मा. १६।२, ३; तैसं. ४।५।१।१। [4] के. ३।१२, अर्थात हिमवान की पुत्री; 'हिमवान' पार्थिव चेतना की अक्षोभ्य मूर्द्धन्य शुभ्रता का उपमान। [5] ऋ. इन्द्र १०।१८०।२; सोम ५।१८।१, ६२।४, ८५।१०, तं मर्मृजानं (परिमार्जित, विशुद्ध) महिषं न सानौ (पर्वत-शिखर में ज्योतिःशक्ति की तरह; तु. सप्तशती में महिषासुर के वध के पहले देवी का आविर्भाव; **महिष** प्राण का प्रतीक— जिस प्रकार 'गो' प्रज्ञा का, 'अश्व' ओज का प्रतीक; संहिता में अनेक स्थानों पर देवता 'महिष', 'असुर' की भाँति उसके अर्थ का अपकर्ष हुआ है) अंशुं दुहन्त्युक्षणं (ओजःशक्ति रूपी किरणों को दुहते हैं प्रज्ञावान; 'उक्षन्' < √वज्, सामर्थ्य में जोश या आवेश से भर जाना; साँड़— (अश्व जैसा ही ओजशक्ति का प्रतीक) गिरिष्ठाम्, तं वावशानं (उतावले, व्यग्र सोम को) मतयः सचन्ते (कसकर पकड़ लेता है) त्रितो बिभर्ति वरुणं समुद्रे (और तब मनस्वान (मनस्वी) साधक त्रित रूप में धारण करते हैं वरुण को समुद्र में; त्रित, कुत्स की तरह इन्द्र के सहचर सिद्धपुरुष अथवा दिव्य पुरुष, द्र. टीमू. १४०५। सोम ही यहाँ वरुण अथवा अव्यक्त आनन्त्य के देवता हैं; 'समुद्र' सर्वव्यापी प्राणचेतना का प्रतीक) ५१।४; विष्णु १।१५४।२। [6] तु. १।१०।२। [7] ८।७।१। [8] ८।९४।१२, टी. ६०४। [9] १।३०।१२, ३७।५, ८।७।४, ५।५७।७, ३।२६।४...। [3] १।१६८।२। और

[१८५०] द्र. टीमू. १५५६। [1] ऋ. ५।५२।७, टी. १७४८। [2] द्र. टीमू. १२५३। भी तु. 'धारावरा मरुतः (प्रवहमान प्राण का दिव्य स्रोत) भृमिं धमन्तो अप गा अवृण्वत (गुहाग्रन्थि में फूँक द्वारा किरणों को अपावृत किया) २।३४।१ (भृमि <√भृ वहन करना, धारण करना, भर्ता तु. १।२१।१६, ४।३२।२, ७।५६।२०; तु. 'भरत' अग्निवाहक, टीमू. १५६३; जो वहन किया जाता है, वह 'भ्रूण'; अतएव 'भृमि', चिदग्नि का आशय; Geldner की उपस्थापना है, 'बाँसुरी जैसा कोई वाद्ययंत्र, तु. ३।३०।१०) सम्भवतः यहाँ ध्वनित (सुषुम्णा-काण्ड के साथ श्रीकृष्ण की वंशी का गहरा रहस्यमय सम्बन्ध है)। [4] उत स्म ते परुष्ण्याम्

और उसी संक्षोभ में उनका शुद्ध प्राण नदी के वक्ष पर मांमोरियेदार ज्योति की नीहारिका की सृष्टि कर रहा हो।[4] असिक्नी की कृष्ण धारा में, सिन्धु के शुभ्र स्रोत में एवं उससे भी दूर उत्तरोत्तर समुद्र के कूल हीन विस्तार में जो सर्वरोगहर औषध है उसे मरुद्गण वहन करते हैं अपने तनु में।[5] अतः त्रिस्रोता सोम की अन्धः धारा को वे प्राण की शुभ्र धारा में रूपान्तरित करते हैं जो अन्त में स्वयं को प्रचेतना के महार्णव की क्रमिक विपुलता में विलीन कर देती है।[6] उस समय मरुद्गण की उदारता से असिक्नी अथवा यमुना की कृष्णधारा ही प्रज्ञा और ओज की ऋद्धि का वाहन होती है।[7]

ऊर्णा (मेष लोम) वसत (पहन लिया) शुन्ध्यवः (सब शुद्ध सत्व), उत पव्या रथानाम् अद्रिं भिन्दन्त्यो. जसा ५।५२।९। नदी की तेज धारा में उसके वक्ष पर वाष्पसृष्टि की तुलना मुलायम ऊन के साथ की जा रही है। ऊर्ध्वस्रोता प्राण उसके गतिपथ पर ज्योति का कुहासा रचते हुए तीव्र गति से जा रहा है — मन में यह चित्र उभरता है। ऐसा ही वर्णन वज्रक्षेपी इन्द्र के सन्दर्भ में: श्रिये (श्री को प्राप्त करने के लिए, द्र. टी. १७४७), परुष्णीम् उषमाण (इसके बाद हैं जो) ऊर्णाम् (मुलायम ऊन की तरह) यस्याः पर्वाणि (जिसके पोरों या पर्वों को; यही 'पर्व' अन्यत्र 'वृजन' या मोड़, घुमाव, योग की नाड़ीग्रन्थि अथवा चक्र) सख्याय (उपासक को सायुज्य देने में) विव्ये (आस्वादन किया है, ८√ वी + लिट् में) ४।२२।२। ऐन्द्री चेतना की आनन्दधारा का महाशून्य की ओर ऊपर प्रवाहित होने का वर्णन। परुष्णी आधुनिक इरावती या रावी। यहाँ निश्चित रूप से 'धमन्यानां मध्या' अथवा मध्य नाड़ी का प्रतीक है। ऋषि जब जिस नदी के किनारे रहते तब वही उनकी सुषुम्णा होती। जिस प्रकार अभी भी उत्तराखण्ड की अनेक नदियों का नाम 'गंगा' है।[5] यत् सिन्धौ यद् असिक्न्यां यत् समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः (बृहत् की एषणा है जिनके भीतर), यत् पर्वतेषु भेषजम्। विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा ... ८।२०।२५-२६। **असिक्नी** की धारा कृष्ण और सिन्धु की धारा शुभ्र है। लक्षणीय– यमुना और गंगा के सन्दर्भ में भी ऐसा है। रहस्य की दृष्टि से एक मृत्यु धारा (तु. यमुना॥ यमी), और दूसरी जीवन की धारा है किन्तु भेषज अथवा अमृत दोनों के ही भीतर है। असिक्नी से भेषज उद्धरण तु. 'अयं चक्रम् इषणत् सूर्यस्य न्येतशं रीरमत् ससृमाणम्, आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ। असिक्न्यां यजमानो न होता' — इन्होंने (इन्द्र ने) तीव्र गति से चला दिया सूर्य का चक्र; (फिर) एतश को रोक दिया, जब वह चल रहा था; (तब) कुण्डलित कृष्ण (सोम) इन्हें अभिषिक्त करते हैं जहाँ त्वक् (त्वचा) का गहरा बोध है — इस प्राणलोक की (उस) योनि में, (उस) **असिक्नी** में यजनशील होता (अग्नि के) जैसा ४।१७।१४-१५। तात्पर्य: जितनी देर तक दिन है, उतनी देर तक ज्योति के अमृत से इन्द्र का अभिषेक। किन्तु जब दिन नहीं रहता तब इन्द्र की इच्छा से ही सूर्याश्व एतश दुलक पड़ता है वारुणी शून्यता के अन्धतामिस्र में, किन्तु तब भी अमृत का क्षरण होता रहता है बिना किसी अवरोध के। वह सौम्य धारा सूर्य की किरणों जैसा उज्ज्वल 'इन्दु' नहीं बल्कि असिक्नी के कृष्ण जल में बहती हुई 'अन्धः'– सोम की धारा है। इस असिक्नी का स्थान स्पर्शचेतना के उत्समूल = उपस्थ में है (तु. बृ. सर्वेषां स्पर्शानां त्वग् एकायनम् ... सर्वेषाम् आनन्दानाम् उपस्थ एकायनम् २।४।११; तैउ. प्रजातिर् अमृतम् आनन्द इत्युपस्थे ३।१०; कौ. केना. नन्दं रतिं प्रजातिम् इति उपस्थेनेति १।७), योग की भाषा में मूलाधार या योनिकन्द में। प्राकृत चेतना में यही अन्धः- ओषधि की भोगवती धारा है। उसे पवमान सोम में अथवा इन्दु में रूपान्तरित करना ही 'अतिरात्र' याग का रहस्य है (तु. ऋ. ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णम् अभितो वदन्तः ७।१०३।७ द्र. टीमू. १६६३; ये ही ब्राह्मण 'मण्डूक' अथवा आनन्दमत्त। विशेष द्रष्टव्य 'भग' प्रसंग में)। रात के अँधेरे में कहीं कोई उजाला नहीं, किन्तु तब भी असिक्नी के कूल पर अग्निहोत्री के प्राण-देवता अग्नि होता के रूप में जागते रहते हैं (तु. प्र. ४।२-३। उनके आनन्दयाग का कहीं विराम नहीं। वामदेव गौतम का यह आभासित या निरूपित तत्त्व ही आगे चलकर भागवत धर्म के 'दिन में गोष्ठ और रात में रास में' प्रपंचित →

नदी के साथ मरुद्गण के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण वे 'सिन्धुमातरः' हैं — सिन्धु उनकी माता है [१७५१] आध्यात्मिक दृष्टि से नदी तो नाड़ी का प्रतीक है, यह हम पहले ही देख चुके हैं।[1] सिन्धु नदियों की एक सामान्य संज्ञा है और भौगोलिक सिन्धु नदियों में मुख्य है। आधिदैविक दृष्टि में सिन्धु अन्तरिक्ष में स्यन्दमान या प्रवहमान प्राण प्रवाह है, जिसे परम पुरुष ने जगती छन्द द्वारा द्युलोक में स्तम्भित कर रखा है[2] अर्थात

हुआ है। देवता की आनन्द लीला अहोरात्र जारी है। मंत्र में प्रयुक्त 'कृष्ण' वासुदेव कृष्ण की याद दिला देता है।... ऋ. ८।२०।२५ का भेषज मरुद्गण का रुद्र से सम्बन्ध सूचित करता है। घोर अथवा कान्त जो भी क्यों न हों, किन्तु वे शुभ्र प्राण होने के कारण आरोग्य के निदान हैं (तु. छा. १।२।७)। ६ तु. ऋ. १।३।१२। विवेचित मंत्र में सिन्धु में सरस्वती की व्यंजना है क्योंकि वे ही 'नदीतमा' हैं २।४१।१६ टी. १५५२)। ७ तु. 'सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः, यमुनायाम् अधिश्रुतम् उद् राधो गव्यं मृजे, नि राधो अश्व्यं मृजे' — सात सात (उनचास जन; तु. तै.सं. २।२।११।१; द्र. अत्र सायण. पौराणिक प्रसिद्धि यही है कि इन्द्र ने अदिति के गर्भ में स्थित वायु को उनचास भागों में विभाजित किया अर्थात परम व्योम के अव्याकृत महाप्राण को लोकसंस्थान के निमित्त व्याकृत किया) एक-एक शक्तिधरों ने सौ-सौ (गो और अश्व) मुझको दिया है; अतः यमुना के किनारे आलोक की विश्रुत ऋद्धि को ऊपर में मैं परिमार्जित करता हूँ और ओजस्विता की ऋद्धि को नीचे परिमार्जित करता हूँ ५।५२।१७। यमुना और असिक्नी तत्वतः एक हैं, दोनों की ही कृष्णधारा भोगवती मरणावगाहिनी अन्ध धारा है। इसी धारा को ऊपर की ओर बहाना मरुद्गण का कार्य है। जिसे वे शतक्रतु की शक्ति द्वारा सम्पन्न करते हैं — यही ध्वनि मंत्र के 'शता' में है। गो और अश्व अथवा प्रज्ञा और प्राण की ऋद्धि तब वृद्धि पर होती है। प्रज्ञा के मूल में प्राण है, यह कौषीतकी उपनिषद् की प्रसिद्धि है। इसलिए मध्यनाड़ी-वाही प्रज्ञा का स्थान ऊर्ध्व में ('उत') है और प्राण का स्थान नीचे है ('नि'; इसके साथ तु. 'ओ. र्व प्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वत' १०।१२७।२, टी मू. १६८९; यमुना की तरह रात्रि भी कृष्णवर्णा कन्या)। प्रज्ञा और प्राण दोनों ही सोम की धारा हैं। किन्तु प्राकृत अथवा भौतिक चेतना में वे अतिशुद्ध हैं। पवमान सोम की तरह ही दोनों को परिमार्जित करना पड़ता है (ल. ऋक् संहिता में सोम से सम्बन्धित 'मृज्' धातु का अधिक से अधिक प्रयोग हुआ है; तु. धी का मार्जन १।७५।१-८, टी. १७६१ प्रथम खण्ड, 'स्तोम का उन्मार्जन' १०।१६७।४)। उसके फलस्वरूप जो प्राप्त करते हैं, वह 'राधः' अथवा ऋद्धि है। पौराणिक या पुराण वेत्ता कहेंगे कि यमुना की धारा को ऊर्ध्वस्रोता करके प्रज्ञा और प्राणरूपिणी 'राधा' को प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है।

[१७५१] तु. ऋ. सूरयः (सूर्यप्रभ) सिन्धुमातरः १०।७८।६। यह संज्ञा विशेषण है- सरस्वती का (द्र. टी. १५५४), सोम का ९।६१।७, अश्विद्वय का १।४६।२ एवं इन्द्र के बारे में (तु. गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः १०।३०।८)। १ द्र. टी. १२५२। २ १।१६४।२५, टी. १२७३।

सिन्धु – एकवचन और बहुवचन दोनों में ही प्रयुक्त। निघ. 'सिन्धवः' नद (१।१३)। नि. व्युत्पत्ति <√ सृ (५।२७, सम्भवतः 'सर्तवे सप्त सिन्धून्' इस मंत्रांश से), अथवा <√ स्यन्दी (१०।५)। प्रायः सर्वत्र अर्थ 'प्रवहन्त (प्रवहमान) जलराशि' (इसी अर्थ में 'अप्' का विशेषण. ऋ. १।१२५।५, ३।३६।६, ७।२।४, ६६।१३)। समुद्र और सिन्धु अलग हैं (तु. ३।३६।७, ६।१७।५, २६।३, ८।६।४, २५, ४४।२५, ७।८८।६, १०।६५।१३...), यद्यपि दो एक स्थानों पर सिन्धु जैसे समुद्र का आभास देता है। भौगोलिक सिन्धु का नाम अनेक स्थलों पर है (३।२३।२, ५, ५।५३।७, ८।२६।१८ (श्वेतयावरी, शुभ्रप्रवाहा) १०।६४।७), किन्तु उसमें भी सरस्वती की तरह ही प्रतीक का संकेत प्राप्त होता है। 'वृत्र' अथवा अविद्याशक्ति के द्वारा अवरुद्ध सिन्धु प्राण की धारा है जिसे

अर्थात सरस्वती का ऊर्ध्वमुख स्रोत जिस प्रकार विनशन में मिल जाता है उसी प्रकार सिन्धु की भी धारा पृथिवी से ऊपर की ओर बहते बहते द्युलोक के ज्योति-सागर में निश्चल हो जाती है।[3] फिर वृत्र के अवरोध से मुक्त सप्तसिन्धु की धारा मित्रावरुण की अनन्तता से बाहर निकलती है[4] — अर्थात देवता के शक्तिपात अथवा आवेग की ओर से यह भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार भूलोक और द्युलोक के बीच ज्वार-भाटे में अग्नि का दौत्य है उसी प्रकार प्राण के प्रवहण में भी ज्वार-भाटा अथवा चढ़ाव-उतार है। तब सिन्धु अन्तरिक्ष स्थान मरुद्गण, इन्द्र और

इन्द्र मुक्त करते हैं, इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर है (४।१८।१, १८।८, १०।५, ८।३२।२५...)। इसी प्रसंग में सप्तसिन्धु का उल्लेख (१।३२।१२, २।१२।१२; और (म तु. १।३५।८, १०२।२, २।१२।३, ४।२८।१, ८।५४।४, 'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिराम् इव (वरुण के काकुद अथवा तालु से सप्तसिन्धु की धारा अनुक्षण क्षरित हो रही है जैसे खोखले किन्तु जलते हुए एक लौहस्तम्भ के भीतर से होकर, तु. मा. १७।७६, तत्र महीधर; **सूर्मी** स्तम्भ की आकृति जैसी अग्निशिखा ७।१।२, पदपाठ में अवग्रह नहीं है; व्युत्पत्ति < 'स्वर्' ज्योति अथवा 'सु+ऊर्मि' ताल-ताल पर छन्दबद्ध लहरें उठ रही हैं जिसमें, **तु.** नदी या समुद्र की सतह पर जलस्तम्भ जो मध्य नाड़ी का उपमान हो सकता है) ८।६९।१२, ७।६६।६...। सूर्य ने सिन्धुओं को आतत किया है अपनी रश्मि द्वारा, और उनके लिए लहरदार रास्ता तैयार किया है (७।४६।४ टी. १२५३[2]); ये सूर्य की किरणें ही उपनिषद में हृदय से प्रतत या प्रसारित नाड़ीजाल अथवा स्नायुतंत्र (तु. कौ. ४।१९)। मधु का उत्स इन्द्र इन्हीं सिन्धुओं की सन्तान (ऋ. १०।३०।८) — अर्थात् नाड़ियों में प्राणस्रोत के ऊपर की ओर प्रवाहित होने से ही दिव्यचेतना का आविर्भाव होता है (तु. विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः १।१५४।५ टी. भू. १२३३)। और भी तु. सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुम् अतर इन्द्र पूर्भित्, नवतिं स्रोत्या नव च स्रवन्तीर् देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः — ये सात अप, जो ज्योतिर्मयी, आनन्दमयी एवं अक्षता हैं, जिनके द्वारा तुम्हारा सिन्धुतरण, हे पुरन्दर इन्द्र, (तुम्हारा पार होना) निन्यानवे बहते स्रोत; (इस प्रकार) देवताओं और मनुष्यों के लिए रास्ता खोज निकाला तुमने (१०।१०४।८; यहाँ सिन्धु मध्य नाड़ी है जिसके स्रोत में वृत्रशक्ति के निन्यानवे अवरोध हैं, इन्द्र ने उन्हें तोड़कर धारा को प्रवाहित कर दिया और उसी से रचित हुआ मनुष्य के लिए देवयान का मार्ग; ये सात अप, विश्वप्राण की चिदानन्दमय धाराएँ हैं)। कुत्स आंगिरस के सूक्त (१।९४...) की टेक में सिन्धु स्पष्टतः पृथिवी और द्युलोक के बीच में अन्तरिक्षचारिणी प्राणधारा और यह अन्तरिक्ष योगियों का हृदय समुद्र/ [illegible] आनन्त्य चेतना (४।५८।५) है। मित्रावरुण (विशेष रूप से वरुण) 'सिन्धुपती', के उस समुद्र में समस्त नाड़ी स्रोतों का पर्यवसान होता है ७।६४।२; तु. यः सिन्धूनाम् उपोदये [उत्समूल में] सप्तस्वसा [सात सिन्धु वरुण की सात बहनें] स मध्यमः [मध्यस्थान] ८।४१।२, ७।७०।२; इन्द्र भी एक ही कारण से 'पतिः' 'सिन्धूनाम् अदिते रेवतीनाम्' [वेगवती, खरस्रोता] १०।१८०।१ सोम भी ९।१५।५, ८६।३३...)। जिस 'अवि' अथवा मेषलोम की चलनी से सोम को छानकर परिष्कृत और पवित्र किया जाता है एक स्थान पर वह भी 'सिन्धु':- 'हरिर् (ज्योतिर्मय सोम) मित्रस्य सदनेषु (जहाँ से होकर चलते हैं, उसके प्रत्येक पर्व पर अनन्तता की व्यक्त ज्योति का प्रस्फुटन होता है) सीदति मर्मृजानो ऽविभिः सिन्धुभिर् वृषा ९।८६।११। यहाँ 'अवि' अथवा सूक्ष्म नाड़ीजाल सोम्य आनन्दधारा का वाहन है (और भी तु. 'अयं सिन्धुभ्यो अभवद् उ लोककृत' अर्थात आनन्दधारा समुद्र के अनिबाध वैपुल्य में जा मिलती है २१)। अग्नि 'श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु' (८।३९।८, टी. १३६३) — यहाँ सिन्धु स्पष्टतः नाड़ीवाहित शक्तिस्रोत है। फिर 'सिन्धु' वायुवाही नाड़ी तंत्र है: द्वा विमौ वातौ (अर्थात्

और सरस्वती इन तीनों की ही माता अर्थात् प्राण, ओज और प्रज्ञा का उत्स है। 'परावत' अथवा परमव्योम की उस दूरी से विश्वप्राण की उमड़ती धारा ब्रह्मरन्ध्र को विदीर्ण करके जब आधार में उतर आती है तब वह जैसे द्युलोक का गर्जन सुनकर भय से चीख पड़ती है।[५] धारा आर्जीकि के शतधार उत्स से सुषोमा के प्रणाल (नाली) से होते हुए शर्यणावत में गहरी होकर उतर आती है। और उसी से प्रत्येक नाड़ी में प्राण का शुभ्र संवेग मुक्ति प्राप्त करता है; मरुद्‌गण की उदारता से हमारे भीतर महिमा का विकास होता है।[६] नाड़ी-वाहित यह प्राणसंवेग ही मरुद्‌गण का वाहन 'नियुतः' — वायु की तरह है,

---

निःश्वास एवं प्रश्वास) वात आ सिन्धोर् (यही प्रश्वास, नाड़ीतंत्र से ऊपर की उठकर महाशून्य में मिल जाता है) आ परावतः (एक निःश्वास महाशून्य से आविष्ट होता है नाड़ीतंत्र में) दक्षं (सामर्थ्य) ते अन्य आ वातु (यहाँ बहाकर लाए) परान्यो वातु यद् रपः (आमय (रोग) कष्ट; प्रश्वास के साथ महाशून्य में मिल जाएगा) १०।१३७।२। उसी प्रकार सोम भी 'सिन्धोर् उच्छ्वासे पतयन्तम् उक्षणम्' — प्राणस्रोत के उच्छ्वसन से उड़ते चलते हैं ओजस्वान् (९।८६।४३; और भी तु. 'सिन्धोर् ऊर्मा' १२।३, १४।१, २१।३, ८५।१०, सिन्धुष्व-अर उक्षित: ७२।७, सिन्धुषु श्रित: ८६।८); 'जगता सिन्धुं दिव्य-स्तभायत' जगती छन्द द्वारा द्युलोक में सिन्धु को स्तंभित किया (१।१६४।२५)। किसने किया, इसका उल्लेख नहीं। देवता के अनिरुक्त होने से 'प्रजापति' अथवा स्रष्टा ईश्वर का बोध होता है। सिन्धु को अर्थात् सरस्वती अथवा प्राण और प्रज्ञा की ऊर्ध्वस्रोता धारा को द्युलोक में स्तब्ध या निश्चल करना उनका शाश्वत विधान है। जगती दीर्घतम मात्रा का छन्द है, उसके बारह अक्षर एक परिपूर्ण आदित्यायन के प्रतीक हैं। उसके द्वारा द्युलोक में स्तम्भित करने का अर्थ उपनिषद की भाषा में जीवन की पूरी परिक्रमा के अन्त में सूर्यद्वार भेद कर अव्ययात्मा पुरुष को प्राप्त करना है, उनमें समापन्न होना है (तु. मु. १।२।११; और भी तुलनीय. गै. २।५२।५, उसका ही नाम है 'सिन्धुतरण')। ३ कुत्स के सूक्त की टेक का (अ. टी. १३७३) यही तात्पर्य है: वहाँ वरुण, मित्र, एवं अदिति अनन्तता के तीन देवता हैं और पृथिवी, सिन्धु (अथवा अन्तरिक्ष) और द्यौः ये तीन लोक आसपास हैं। यहाँ पृथिवी ने अदिति होकर हम सब को अपनी गोद दी है। वहाँ से प्राण की श्वेतयावरी, सिन्धु की धारा 'मित्रयातित' (मित्र द्वारा नियोजित (१।१३६।३, ३।५९।५, ८।१०२।१२; देवयान मार्ग में उनकी ज्योति ही दिग्दर्शक) होकर वारुणी शून्यता में मिल जाती है। और वही जीवन को 'महत्' करते हैं। ४ इसलिए वे 'सिन्धुपती' ७।६४।२, टी. १६५१)। ५ तु. उशना ('गण' अनुमेय, इसलिए एकवचन, जबकि क्रिया बहुवचन में है) यत् परावत उक्ष्णो रन्ध्रम् अयातन, द्यौर् न चक्रदद् (कर्ता यजमान, अनुमेय; 'क्रद' द्युलोक का गर्जन और मनुष्य का क्रन्दन — दोनों का ही बोध होता है; 'द्यौ' का उपमेय मरुद्‌गण) भिया ८।७।२६। 'उक्ष्णः रन्ध्रः ब्रह्मरन्ध्र; 'उक्षा' द्युलोक, तु. 'उक्षपुर' (द्युलोक की देवता, 'उक्षा' और 'पृश्नि' एक युग्म है, 'उक्षन्' में पृश्नि की ध्वनि है) अप्रीणात (अग्नि को) ऋषिः ८।२३।१६। ताण्ड्य ब्राह्मण में 'उक्ष्णोरन्ध्रः' एक ऋषि का नाम, नाम के भीतर ही साधना का संकेत है, तु. 'मूर्धन्वान्' ऋ. १०।८८ सूक्त। उनके द्वारा रचित साम का नाम 'औक्ष्णयरन्ध्र' (साम संहिता ५१७ ... ऋ. ९।१०७।२१...), उससे ही "अञ्जसा स्वर्गं लोकम् अपश्यत" (ता. १३।९।१९)। उसमें समुद्रगामी सोमधारा की चर्चा है। यह सोम की ऊर्ध्वमुखी धारा है, नीचे उतरने में उस 'उक्ष्णः रन्ध्रः' से ही ऐतरेय उपनिषद का 'विदृति' अथवा 'नान्दन द्वार' (१।३।१२)। ६ तु. ऋ. आ नो मखस्य (महिमा के ८√मह् महान होना, तु. नियुत्वता रथेना याहि दावने वायो मखस्य दावने १।१३४।१) दावने अश्वैर् हिरण्यपाणिभिः (पाणि कर = किरण, तु. सविता हिरण्यपाणि) देवास उपगन्तन। यद् एषां पृषती (मरुद्‌गण का वाहन नि. १।१५ गौरवर्णा और रूपवती मृगी तु. पंख फैलाए कार्तिक का मयूर, तारों से जड़ित आकाश का प्रतीक; और भी तु. द्वीपिचर्म अथवा व्याघ्रचर्म

जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। द्युलोक के अन्तिम छोर पर एक ज्योति का समुद्र है। उसके पार जब मरुद्गण के 'परमा नियुत' चंचल हो उठते हैं तभी हम समझ जाते हैं कि वे आ रहे हैं हमारे निकट अपना प्रसाद लेकर, बृहत् द्युलोक व्यापी अति उत्तम ज्योतियों के साथ सुमाया होकर।[७] उस समय हमारे जीवन में अभ्युदय एवं नि:श्रेयस दोनों ही उतर आते हैं — द्युलोक के उस पार कुण्डलित ज्योति को हम अनायास विकीर्ण कर सकते हैं।[८]

मरुद्गण की यह एक विशेषता है कि उनमें घोर एवं कान्त दोनों रूपों का ही समावेश हुआ है। इसका नैसर्गिक कारण सुस्पष्ट है। वस्तुत: वे तीव्र वायुप्रवाह के देवता हैं। आँधी-तूफ़ान के समय आकाश जिसप्रकार 'घोर' 'उग्र' एवं 'घोरवर्पा (घोरवर्पस:) अथवा चण्डमूर्ति हो जाता है, उसी प्रकार झंझावात के थम जाने पर प्रशान्त, मसृण और स्निग्ध हो जाता है। यही दोनों भाव बारी-बारी से हम रुद्र और शिव में भी देखते हैं। झंझावात के समय आकाश में रुद्र 'शिक्वान' अर्थात शक्ति का खेल दिखलाते हैं और झंझावात के बाद उसी आकाश में वे 'स्ववान् शिव:' अथवा आत्मस्थ शिव हो जाते हैं। संहिता में रुद्र एक प्रख्यात देवता हैं। किन्तु वहाँ पौराणिक शिव का स्थान वरुण ने ले रखा है क्योंकि दोनों ही प्रशान्त, प्रसन्न एवं अनिबाध आकाश के देवता हैं। संहिता में रुद्र और शिव मरुद्गण में मिले हुए हैं और वे ही पौराणिक शिव-भावना के मूल में हैं जिनमें मरुद्गण की तरह घोर और कान्त दोनों रूप मिले हुए हैं।[२]

(बाघम्बर) पहने रुद्र) रथे प्रष्टिर (पुरोगामी वाहन) वहति रोहित: यान्ति शुभ्रा रिणन् (बहाकर, 'यह प्रवाह ही रयि') अप:। सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति, ययुर् निचक्रया नर: (द्र. टी. १२५३[२]; आर्जीक 'पस्त्यावान' अर्थात बहुशाखा नाड़ी युक्त, तु. ऊर्ध्वमूल अवाक् शाख अश्वत्थ, जो विश्वमूल प्राण है क. २।३।१-२) ८।७।२७-२९। [७] ऋ. आ नो अर्वाभिर् मरुतो यान्त्व-च्छा ज्येष्ठेभिर् वा बृहद् दिवै: (तु. अमाय [दुर्दमनीय < 'अम' बल] वो मरुतो यातवे द्यौर् जिहीत उत्तरा बृहत् [क्रिया विशेषण, 'बृहत् होकर'] ८।२०।६, ब्रह्म भाव का वर्णन) सुमाया:, अध यद् एषां नियुत: परमा: समुद्रस्य चिद् धनयन्त (< √धन् 'तेज़ रफ़्तार से चलना' > 'धन' लक्ष्य, अर्थ) पारे १।१६७।२। मरुद्गण का निजी वाहन 'पृषती', प्रत्येक का एक-एक। वायु की विभूति के रूप में 'नियुत' भी उनका वाहन। इसके अलावा अग्नि-मरुत का संस्तव प्रसिद्ध है (तु. १।१९ सूक्त, ३।२६।४)। किन्तु सम्भवत: मरुद्गण, पृषती ऋष्टि, वसूला (लकड़ी छीलने का औज़ार) और अञ्जि (विद्युत् शिखा) लेकर ही जन्म लेते हैं (१।३७।२) ये पृषती, हिरण्मय (सुनहले) हैं (५।५५।६)। [८] ना.स्य वर्ता (वारण अथवा निषेध करने वाला) न तरुता (पराजित करने वाला) न्व.स्ति मरुतो यम् अवथ वाजसातौ (ओज:सिद्धि से) तोके वा गोषु तनये यम् अप्सु, (सर्वत्र लक्ष्यार्थे सप्तमी) स व्रजं दर्ता पार्ये अध द्यो: ६।६६।८। तोक॥ त्वच् 'बृहत् का स्पर्श' उसी से आधार में नवजातक रूप में देवता का आविर्भाव, जो धीरे-धीरे बढ़ते जाएँगे अपने धार में (१।१।८, टी. १३१४[२])। उनके इस आवेश का सन्तनन अथवा अनुवर्तन हुआ — तनय। 'गो' प्रज्ञा, 'अप्' प्राण। यह सब 'वाज' अथवा ओज: शक्ति की साधना द्वारा प्राप्त होते हैं।

[१७५२] तु. ऋ. १।१६७।४; १६६।६, ८, ५।५४।३, ६।६६।५, ६, ५।५५।१, ८।२०।१२; १।१९।५, ६४।२ (मरुद्गण में निरूढ़)। [१] द्र. ऋ. १०।९२।९, टीमू. ३०४। [२] ल. मरुतों के गण को व्रात कहा जाता है (तु. व्रातं व्रातं गणं गणं ३।२६।६, ५।५३।११) फिर इधर शिवोपासकों को भी व्रात्य कहते हैं। जान पड़ता है वे ही पौराणिक शिव के प्रमथगण हैं जिनमें वैदिक मरुद्गण की छाया के होने की 'आधिक' सम्भावना है। पौराणिक गणपति में बृहस्पति और रुद्र आकर मिल गए हैं, यह पहले ही बतलाया जा चुका है (टीमू ११३४) । हाथी का मस्तक →

मरुद्गण का घोर रूप उनकी गति में अर्थात कँपा देने वाले, हिला देने वाले झंझावात के उद्दाम वेग में प्रकट हुआ है। मरुत सूक्तों में उसका विस्तारित वर्णन है [१६५२] वह गति (याम) जैसे 'उग्रमन्यु' अथवा देवता का रुद्र रोष है — जिसके सामने लोग नत हो जाते हैं और झुक जाते हैं पर्वत और गिरि।[1] जो कुद्ध पृथिवी पर अचल-अटल रूप में स्थित है वह उनके निर्घोष (गर्जन) से काँपता रहता है।[2] उनके चलने के वेग से डर के मारे थरथराने लगते हैं ओषधि, वनस्पति, पहाड़ और मनुष्य — सारी पृथिवी ही जैसे हिल रही हो।[3] उस समय वे 'त्वेषयामा:' हैं — अर्थात उनके चलने से शक्ति में उफान आ जाता है: प्रत्येक पर्वत में निर्घोष ध्वनित होता है, द्युपृष्ठ डगमगाने लगता है, भयग्रस्त हो जाते हैं सारे वनस्पति, ओषधि लतागुल्म मानो रथ हाँकते हुए आगे की ओर भागते हैं।[4]

उनके इस दुर्धर्ष अभिमान में 'वीर्यवर्षी पौरुष' की जो व्यंजना है वह उस 'वृत्रतूर्य' के लिए सन्दीप्त होती है जिस वृत्र ने हमारे भीतर प्राण की धारा को अवरुद्ध एवं प्रज्ञा की ज्योति को आवृत कर रखा है। उस बाधा अथवा अवरोध को तोड़ने के लिए मनुष्य और देवता का युद्ध अविराम जारी है। उस युद्ध में ये मरुद्गण ही 'शुष्म' और 'क्रतु' की, प्राण और प्रज्ञा की आपूर्ति करते चलते हैं। वे आधार में प्राण का महाप्लावन उतार ले आते हैं, भूलोक और द्युलोक के बीच प्रज्ञा के सूर्य को संस्थापित करते हैं और पोर-पोर में वज्र की शक्ति निहित करते हैं। फिर उसी से पोर-पोर में वृत्र को विदीर्ण करके जिन पर्वतों की ओट में वह छिपा रहता है उन्हें अनाथ कर देते हैं [१६५४]।

वृत्रतूर्य के समय जो मरुद्गण झंझावात के ताण्डव में दुर्धर्ष एवं घोर होते हैं वे ही फिर झंझावात के थम जाने पर शान्त एवं कान्त हो जाते हैं। उस समय वे 'वीरास: ... मर्यासो भद्रजानय:' — वीर तो हैं ही, साथ ही तरुणिमा से दीप्त हैं वे और कल्याणी पत्नियाँ उनके साथ हैं [१६५५]। उस समय उनके रथ पर आयुध, कन्धे पर बरछा, बाँहों में बल, चित्त में ओज

तिब्बतियों के मुखौटाधारी प्रेतनृत्य का स्मरण करा देता है। पौराणिक शिव नटराज। इसके अलावा ऋक् संहिता में देखते हैं कि मरुद्गण भी 'नृतो रुक्मवक्षस:' ८।२०।२२ (इस प्रसंग में तु. सृष्टि के पहले देवताओं के नृत्य से ... पांशु [cosmic dust] की उत्पत्ति १०।७२।६)।

[१६५२] तु. ऋ. १।३७।६-८; ३८।६-१०, ३९।५-६, ६४।२, ५।५४।३-४...।[1] नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे, जिहीत पर्वतो गिरि: १।३७।७। इस 'उग्र मन्यु' के साथ तु. ऋक् संहिता के दो मन्यु सूक्त (१०।८३, ८४), सप्तशती में जिनका विस्तार।[2] तु. अध स्वनान् मरुतां विश्वम् आ सद्म पार्थिवम्, अरेजन्त प्र मानुषा: १।३८।१०।[3] १।३९।५, ८।७।४, ३४, १।८५।४, ८, ८७।३...।[4] यत् त्वेषयामा नदयन्त पर्वतान् दिवो वा पृष्ठं नर्या अचुच्यवु:, विश्वो वो अज्मन् भयते वनस्पती रथीयन्तीव प्र जिहीत ओषधि: ५।६०।२।

[१६५४] तु. ऋ. सम् उ त्ये महतीर् अप: सं क्षोणी सम् उ सूर्यम्, सं वज्रं पर्वशो दधु: (ओज:शक्ति द्वारा विभिन्न पोरों अथवा आधार की भूमियों को संहित करते हैं अर्थात जोड़ देते हैं)। वि वृत्रं पर्वशो ययुर् वि पर्वतॉं अराजिन:, चक्राणा वृष्णि (नित्य निर्झरित) पौंस्यम्। अनु त्रितस्य युध्यत: शुष्मम् आवन्न् उत क्रतुम्, अन्वि-न्द्रं वृत्रतूर्ये ८।७।२२-२४। आधार के पोर-पोर में जहाँ भी वृत्र का अवरोध है वहाँ ही वे वज्रतेज उड़ेल देते हैं। पोर-पोर में सुप्त होने के कारण यह वृत्र 'पर्वतवासी शम्बर' (द्र. टी. १४२६)। 'त्रित' इन्द्र सहचर आप्त्या देवता, फिर ऋषि भी हैं (द्र. टीप्. १४०४)।

[१६५५] तु. ऋ. ५।६१।४। 'मर्य' <√मृ॥ स्फु 'झिलमिलाना, कौंधना' > 'मरुत्'।

शीर्ष पर पौरुष रहते हुए भी विश्वश्री उनके शरीर में रंगों की छटा बिखेर देती है।[1] उस समय वे केवल ज्योति, केवल शोभा, केवल श्री हैं।[2] उनके तनु में तब उस सर्व रोगहर औषधि अथवा आरोग्य का उत्स होता है जिसका आहरण करते हैं वे सिन्धु की शुक्ल और असिक्नी की नील धारा से, पर्वत की गुहा से, समुद्र के विस्तार से।[3] उनके नित्य सहचर हम सब के लिए भी तब निर्धारित होती है शान्ति, शक्ति, प्राण की धारा, उषा की ज्योति और औषध।[4] उनका निर्घोष उस समय संगीत में रूपान्तरित होता है[5] और प्रचण्ड वेग, स्तनपायी शिशु की क्रीड़ा में।[6] यही देवशक्ति का स्वाभाविक परिणाम है— दुर्धर्ष तारुण्य से क्रीड़ोच्छल शैशव में लौट जाना, फिर स्वप्रतिष्ठा के भाव और धर्म के लीलायन में शिशु जैसा हो जाना।[7]

मरुद्गण के इस साधारण परिचय के बाद उनके जन्म-रहस्य एवं अन्यान्य देवताओं के सहचार का वर्णन।

मरुद्गण 'रुद्रियाः' एवं 'पृश्निमातरः' अर्थात् 'रुद्र' उनके पिता एवं 'पृश्नि' माता हैं [१७५६] इस एक मंत्र में कहा जा रहा है: जब बन्धुत्व चाहा मैंने, तब सूर्यप्रतिम जो उन्होंने धेनु को घोषित किया माता के रूप में, पृश्नि को घोषणा की माता के रूप में, उसके बाद संवेगी रुद्र को पिता के रूप में बतलाया उन शक्तिमानों ने।[1] और एक स्थान पर है: सुकर्मा रुद्र इनके युवा पिता हैं और आलोकदीप्त पृश्नि इनके निकट सुदुघा हैं।[2] रुद्र के साथ मरुद्गण की आत्मीयता इतनी घनिष्ठ है कि एकाधिक स्थान पर 'रुद्राः' रूप में उनका उल्लेख है, यह शुरू में ही बतलाया गया है। रुद्रगण और मरुद्गण एक ही प्राणतत्व के दो पहलू हैं— रुद्रगण में अथवा रुद्र में उसका घोर रूप प्रकट, शान्त रूप नेपथ्य में; और मरुद्गण में दोनों स्पष्ट हैं। रुद्र वेद के एक प्रख्यात अन्तरिक्ष स्थान देवता हैं उनके बारे आगे चलकर बात करेंगे। किन्तु पृश्नि कौन है?

वे नित्य तरुण हैं, इसलिए 'बृहद् वयो दधिरे' ५।५५।१।[1] ऋष्टि... मरुतो अंसयोर् अधि सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम्, नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीर् अधि तनूषु पिपिशे ५।५७।६।[2] यही भाव ५।५५ सूक्त की टेक में है— शुभं यातामनु रथा अवृत्सत, द्र. टी. १७४७।[3] द्र. टीमू. १७५०।[4] अति.याम (पार हो जाऊँगा) निदस् (देवद्रोहिता, द्र. टीमू. ११७८) तिरः स्वस्तिभिर् हित्वा वद्यम् अरातीः (वित्तशाठ्य, कार्पण्य) वृष्ट्वी (बरसा कर) शं (शान्ति) योर् (शक्ति) आप उस्रि (√वस् 'दीपना, चमकना') भेषजं (रुद्र सम्बन्ध सूचित करता है) स्याम मरुतः सह ५।५३।१४।[5] तु. ये उग्रा (वृत्रवध के समय) अर्कम् आनृचुः (अग्नि साम गाने लगे वृत्रवध के बाद) १।१९।४, १६६।७, ८५।२, ५।५२।१।[6] ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीळिनः पयोधाः (√धे 'स्तनपान करना') ७।५६।१६; 'हर्म्य' (ज्योतिर्मय, शुभ्र हिमशिखर; कैलास का स्मरण करा देता है) ७।५६।१६, १।३७।१, ५, ८७।३, १६६।२, शिशूला न क्रीळयः सुमातरः १०।७८।६।[7] आद् (उसके बाद ही अर्थात् आधार में ज्योति और श्री प्रकट करके ही द्र. ४) अह स्वधाम् अनु (आत्मस्थित का सामर्थ्य है इसीलिए) पुनर् गर्भत्वम् एरिरे (उषा के आलोक में जन्मे शिशुरूप में द्र. २; कार्य के अन्त में फिर वही शिशु हो गए) १।६।४। तु. बृ. ३।५ ब्रा. टीमू ८७८।
[१७५६] द्र. ऋ. १।३८।७, २।३४।१०, ३।२६।५, ५।५७।७, ७।५६।२२...; रुद्रस्य पुत्राः ५।५७।८, ६।६६।३, रुद्रस्य मर्याः १।६४।२, ७।५६।१, रुद्रस्य सूनवः ८।२०।१७, १।८५।१...। पृश्निमातरः १।३८।४, ८५।२, ५।५७।२, ५९।६...। और भी द्र. १।१६८।९, ५।५२।१६, ५८।५...।
[1] प्र यामे बन्ध्वेषे गां वोचन्त सूरयः पृश्निं वोचन्त मातरम् अधा पितरम् इष्मिणं रुद्रं वोचन्त शिक्वसः ५।५२।१६। ल. पृश्नि के सन्दर्भ में 'सौरकरोज्ज्वल', और रुद्र के सन्दर्भ में शक्तिमान् हो गए। माता के निकट से उनकी प्रज्ञा और पिता के निकट से प्राण उपलब्ध। प्रथम दृष्टि में,

पृश्नि के गो अथवा धेनु रूप का वर्णन ऋक्संहिता के एकाधिक स्थानों पर है। वे सर्वत्र दिव्य धेनु– अर्थात् वृषभ-धेनु रूपी आदियुग्म की अन्यतर हैं [१७५८]। किन्तु उस रूप में पृश्नि का मौलिक अर्थ धेनु नहीं है। निघण्टु में पृश्नि को आदित्य एवं द्युलोक का साधारण नाम बतलाया गया है।[1] यास्क इस शब्द को प्र√अश या √स्पृश् से व्युत्पन्न बतलाते हैं।[2] द्वितीय परिकल्पना ही समीचीन जान पड़ती है। आकाश एवं ज्योति अथवा आकाश व्यापी ज्योति सब कुछ को छुए हुए हैं, लपेटे हुए हैं; इसलिए आदित्य एवं द्यौः 'पृश्नि' हैं।[3] संहिता में 'मध्ये दिवो निहितः पृश्निर् अश्मा' एवं 'गौः पृश्निः' से सूर्यपिण्ड एवं आदित्य का बोध होता है।[4] इसी से पृश्नि का अर्थ है 'आदित्यवर्ण' 'उज्ज्वल'। मण्डूक सूक्त में मेढकों के वर्ण के सन्दर्भ में 'पृश्नि' और 'हरित' का प्रयोग किया गया है।[5] वहाँ 'पृश्नि' आदित्यवर्ण अथवा उज्ज्वल स्वर्णाभ, और 'हरित' सबुज सुनहला है। तो फिर मरुद्गण की माता पृश्नि विश्व की वह आदिजननी हैं जिन्होंने द्युलोक और भूलोक में परिव्याप्त ज्योति के रूप में सब को छुआ है।[6] जिस माता के भीतर विश्व के आदिम प्राण मातरिश्वा स्फीत हो उठते हैं, वे वही अदिति हैं। जो स्वरूप में जिस प्रकार अखंडिता, अबन्धना रूप में द्युलोक में हैं उसी प्रकार विन्स्पा होकर पृथिवी में अवरुद्ध चित्ज्योति अथवा 'गो' रूप में हैं। अतएव मरुद्गण 'गोमातरः' अथवा 'गोबन्धवः' हैं।[8] संहिता में

यहाँ मातापिता के स्वरूप का विपर्यय।[2] युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ५।६०।५। यहाँ भी एक जैसा भाव। पिता शक्ति, मां ज्योति। पृश्नि की भूमिका अदिति की तरह शान्त है और रुद्र प्राणचंचल हैं।

[१७५८] द्र. ऋ० ४।३।१० (टी. १२१४[4]), ५।६०।५, १।१६०।३ (टी. १६०१[6]) ४।५।७ (टी. १२५६[6]) १।१६४।४३। [1] निघ. १।४। [2] नि. 'पृश्निर् आदित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः; संस्प्रष्टा रसान् संस्प्रष्टाभासं संस्पृष्टो भासेति वा' २।१४। यूरोपीय परिकल्पना MOTTLED अथवा चित्रवर्ण (चितकबरा) का आभास इस में नहीं है।[3] तु. 'पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीर् आ विवेश' ऋ. १।९८।२, टी. १३७६[3]; अग्नि का विशेषण 'पृष्टबन्धु' २।२७।३ (इन्द्रः) 'धर्ता दिवो रजसस् पृष्ट ऊर्ध्वः' ४।१७।४ (सायण.- पृष्टः सर्वत्र वर्तमानः)। 'पृश्नि' भी वही। और भी तु. 'पृक्ष', टी. १५४५।[4] ५।४७।३, १०।१८९।१। यह शब्द अन्यत्र पुंलिंग। 'गौः' वृषभ (तु. ६।६।४ 'द्युलोक')।[5] ७।१०३।४, ६, १०

[6] तु. वाक् की उक्ति: 'अहं सुवे पितरम् अस्य मूर्धन् मम योनिर् अप्स्व् अन्तः समुद्रे, ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि' — मैं जन्म देती हूँ पिता को इस (जगत की) मूर्धा में, मेरी योनि अव्यक्त जलधाराओं के गहरे समुद्र में है; वहाँ से फैल जाती हूँ विश्वभुवन के सर्वत्र, और उस द्युलोक को नित्य निर्धारित तुंगता द्वारा छूए रहती हूँ १०।१२५।७। 'पिता' परम व्योम में जो विश्व के अध्यक्ष हैं — (१०।१२९।७)। अदिति रूप में वाक् उनकी भी जननी हैं। यही उनका लोकोत्तर स्वरूप है: तब वे असम्भूति, और पिता सम्भूति — जिस प्रकार पृश्नि ज्योति, रुद्र शक्ति हैं। असम्भूति होकर भी वे विश्वसम्भूति की प्रचोदिका अथवा प्रेरयिता हैं, इसलिए जननी हैं। 'योनि' से गर्भाशय और गर्भ दोनों का ही बोध होता है, क्योंकि वे स्वयम्भू — स्वयं ही स्वयं को जन्म देती हैं। 'अप्' अव्याकृत कारण सलिल (तु. १।१६४।४१-४२)। उनका विश्वभुवन रूप में फैल जाना विश्वपिता होकर। अथच वे 'अतिष्ठाः' (तु. अत्य तिष्ठद् दशांगुलम् १०।९०।१), सब से परे रहकर भी विश्वप्रक्रिया की प्रवर्तिका के रूप में द्युलोक से उद्गत हुई हैं। द्युलोक को इस रूप में स्पर्श करने के कारण वे 'पृश्नि' हैं।[7] द्र. ३।२९।११, टी. १४८८[2]। [8] 'गोमातरः' १।८५।३। तु. 'गोभिर् वाणो अज्यते सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये, गोबन्धवः सुजातास इषे भुजे महान्तो नः स्परसे नु' — ज्योतिर्मय हृदय की वंशी सम्पृक्त हो जाती है सोभरि के (ऋषियों का नाम) — (यही उनके) रथ में (जो संभवतः)

ही वे रहस्यमयी हैं[८]: 'वही हो एक ज्योति का कुहासा उसके निकट, जो मनोयोग के साथ देख सका: एक ही धेनु, किन्तु (सबकी) ईश्वरी है। मर्त्यों के निकट एक का (थन) उच्छलित हो उठा; (और) एक बार ही शुक्र (ज्योति) झर पड़ी पृश्नि के थन से'।[१०]

निघन्टु में रुद्र अन्तरिक्ष स्थान रूप में निर्दिष्ट होने पर भी यजुःसंहिता में वे परम देवता हैं [१०५८] वे तो विशेष रूप से मुनियों के देवता हैं जिसका संकेत हमें ऋक्संहिता में ही प्राप्त होता है।[१] वहाँ उनके शिवरूप का संधान भी प्राप्त होता है।[२] यदि रुद्र को हम शिव का घोर रूप मान लें और शिव यदि स्वरूपतः आकाश[३] अथवा 'द्यौः पिता' हों — तो फिर मरुद्गण तो रुद्र और पृश्नि के पुत्र हुए, जिसकी पौराणिक विवृति के अनुसार मरुद्गण गिरीश और गिरिजा के पुत्र हैं जिनके एक घनीभूत रूप की झलक हमारे सुपरिचित देवसेनापति कुमार में मिलती है। अतः हम कह सकते हैं कि देवसेनापति की देवसेना ही मरुद्गण, जो संहिता में इन्द्र के 'दैवीर् विशः'[४] एवं वृत्रवध में उनके नित्य सहचर हैं। उनके कुमार रूप का वर्णन इस प्रकार है — वे हर्म्यस्थित शिशुओं की भाँति शुभ्र हैं, स्तनपायी बच्चों की तरह खेलते हुए विचरण करते हैं।[५] ऋग्वेद में विशेष रूप से दो 'शिशु' देवताओं का सन्धान प्राप्त होता है: एक अग्नि और एक मरुद्गण। दोनों का संस्तव भी प्रसिद्ध है। इनमें एक शिशु पार्थिव और एक दिव्य है। बड़े जतन से लाड़-प्यार में पला एक लाड़ला शिशु है और एक अजेय शक्ति की सहजता में शिशु है। दोनों ही अदिति के पुत्र हैं। पुराण में कुमार अग्नि; उनका नक्षत्र अग्निपुंजवत कृत्तिका है। अग्नि भी दिव्य वृषा और धेनु के पुत्र हैं।[६]

हिरण्मय, स्वर्णमय कोश; ज्योति के साथ बन्धन है जिनका, वे (उसमें) अनायास उत्पन्न हुए एषणा और भाग के लिए, महान (हुए) हम सब की विजय के लिए (अथवा उद्दीपन के लिए) अभी-अभी ८।२०।२। **वाण** वस्तुतः बाँस की बाँसुरी। यहाँ हृदय का बोध होता है। बाँसुरी में छेद होते हैं, हृदय में भी उसी प्रकार पाँच 'देवसुषि' अथवा ज्योतिर्मय छेद हैं जिनके भीतर से होकर पंचप्राण प्रवाहित होते हैं (छा. ३।१३।१ ... और भी तु. प्र. 'वयम् एतद् बाणम् अवष्टभ्य विधारयाम: २।२; शौ. 'आ योनिः गर्भ एतु ते पुमान् बाण इवेषुधिम् ३।२३।२, गर्भ अथवा जीव जैसे 'बाण', लोकोत्तर या लोकातीत से मातृयोनि में निक्षिप्त)। वाण॥ बाण दोनों ही शर से। तंत्र में 'बाणलिंग' शिव हृदय में। हृदय देह के 'रथ' में है। यह रथ एक हिरण्मय कोश अथवा ज्योति का भंडार है (द्र. ८।२२।५; तु. मु. 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् २।२।९)।' **स्परस्** < √स्पृ॥ स्पृत्॥ पृत् 'जय करना' > (अ)प्सरस्, जो बिजली की कौंध जैसे? श. मरुद्गण का अभियान 'शुभ और श्री' के उद्देश्य से।... निघन्टु में अदिति पृथिवी (१।१) द्र. शौ. पृथिवी सूक्त। फिर गो = अदिति एवं वाक् (ऋ. ८।१०१।१४-१५)। [९]तु. एतानि धीरो (ध्यानी) निण्या (रहस्य) चिकेत पृश्निर् यद् ऊधो (थन में; सप्तमी...) ही जभार (मरुतों का) ७।५६।४। [१०] वपुर् नु तच् चिकितुषे चिद् अस्तु समानं नाम धेनु पत्यमानम्, मर्तेष्व् अन्यद् दोहसे पीपाय सकृच् छुक्रं दुदुहे पृश्निर् ऊधः ६।६६।१। लः 'धेनु', क्लीव लिंग, 'ब्रह्म' की तरह जिसमें पुरुष-प्रकृति दोनों ही हैं। शुक्र ज्योति का 'सकृद्'-दोहन तु. छा. सकृद् दिवा ३।११।३, सकृद् विभाति ८।४।२; बृ. सकृद् विद्युत्तं २।३।६। [१०५८] तु. मा. शतरुद्रिय मंत्र समूह, अध्याय १६; और भी तु. श्वे. एको हि रुद्रो न →

मरुद्गण की माता पृश्नि जो आदि जननी अदिति हैं, उसका आभास इस मंत्र में प्राप्त होता है: 'कृतवर्षण अथवा अभीष्टवर्षी रुद्र के जो पुत्र हैं, जिनके भरण-पोषण में सम्भवत: (विश्व-) धात्री ही समर्थ हैं — इसलिए कि महाज्योति की माता होने के कारण वे प्राप्त करती हैं (उनसब को), ऐसी महिमा है ~~उनकी~~ — उस पृश्नि ने ही तो सम्भूति के लिए (स्वयं ही स्वयं का) गर्भाधान किया [१७५८]।' रुद्र यहाँ मरुद्गण के पिता होकर भी मानो सांख्य के पुरुष की तरह बीजनिषेक के समय तटस्थ अथवा 'आत्मन्यवरुद्ध सौरत:' हैं — उनकी सृष्टि केवल दृष्टि की प्रेषणा या प्रेरणा में है। अत: अदिति ने स्वयं ही स्वयं का गर्भाधान किया, उसी से वे कुमारी रहकर ही जननी — अर्थात एक साथ वृषभ एवं धेनु दोनों ही हैं। अक्षर के क्षरण के मूल में यही रहस्य है। दर्शन की भाषा में यहाँ निमित्त एवं उपादान अभिन्न हैं। वही यहाँ 'सु-भू' जिसे उपनिषद में 'सम्-भूति' कहा जाता है।[1] उस समय अदिति ने स्वयं के भीतर ही एक 'मह:' अथवा ज्योतिपुंज प्राप्त किया, जिसका विच्छुरण है 'साकं जाता: सुभ्व: साकम् उक्षिता:' मरुद्गण — जो सम्भूति रूप में एक साथ जन्मे, ओजस्वी हो उठे एक साथ 'विरोकिण: सूर्यस्येव रश्मय:' अर्थात सूर्य की रश्मियों की तरह दीप्तिमान।[2]

सारे देवता ही 'पत्नीवान्' हैं [१७६०]। अतएव 'शिशु' मरुद्गण 'मर्य' अथवा तरुण होकर 'भद्रजानि' हुए — अर्थात जिनकी जाया कल्याणी, शुभदा है।[1] संहिता में इस मरुतपत्नी का नाम 'रोदसी' है। इस शब्द के आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त दोनों रूप प्राप्त होते हैं। उसमें आद्युदात्त रूप द्यावा-पृथिवी की प्रसिद्ध संज्ञा है। मरुद्गण के साथ एक स्थल पर छोड़कर[2] सर्वत्र अन्तोदात्त रूप का प्रयोग किया गया है। यह पद निघण्टु के दैवत काण्ड में संकलित है, यास्क ने जिसका अर्थ 'रुद्रस्य पत्नी' किया है।[3] किन्तु यास्क की इस व्याख्या में एक समस्या की सृष्टि होती है। संहिता में केवल इतना ही संकेत प्राप्त होता है कि रोदसी मरुद्गण की सहचरी हैं। वे किसकी पत्नी हैं, उसका कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। मरुद्गण 'भद्रजानि' — केवल इसी से हम अनुमान करते हैं कि रोदसी ही वह सुभद्रा जाया है। यास्क की व्याख्या यदि सत्य होती है तो फिर रोदसी और पृश्नि एक हो जाती हैं। पृश्नि मरुद्गण की माता हैं फिर वे उनकी पत्नी कैसे हो सकती हैं?

द्वितीयाय तस्थे ३।२ (तैस. १।५।६।१)। [1] द्र. ऋ. १।१३६।७, टीमू १७२८। [2] द्र. १।८५।८, रुद्र 'शिक्वस' अथवा शक्तिमान, फिर वे ही 'शिव: स्ववान्' अथवा आत्मस्थ शिव — मरुद्गण उनके सहचर, द्र. टीमू. ३०४। [3] तंत्र में शिवबीज हं = आकाश। [4] तु. मा. १८।८६। [5] ऋ. ७।५६।१६, द्र टी. १७२८[1]। [6] ल. 'पृषती' चित्रवर्ण, और 'मयूर' भी वही। — तु. सायण - पृषत्य: श्वेतबिन्द्वंकिता मृग्य इत्यैतिहासिका:, नानावर्णा मेघमाला इति नैरुक्ता: १।६४।८। पूर्व की परिकल्पना तारिकाओं से चित्रित आकाश का उपमान।

[१७५८] ऋ. रुद्रस्य ये मीळ्हुष: (<√ मिह्, बरसना, वर्षण करना, तु. 'मेघ') सन्ति पुत्रा यांश्चो नु दाधृविर् भरध्यै, विदे हि माता महो (मरुद्गण की पुंजज्योति; तु. मह इति आदित्य: १।५।२) मही षा, सेत् पृश्नि: सुभ्वे (< सु √भू 'होना' सुखप्रसव, सम्भूति; प्रतितुलनीय. अभ्वे क्रुद्ध न होना, विनाश, निर्ऋति, असम्भूति तु. द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् १।१८५।२ टेक; निघ. 'महत्' ३।२ किन्तु अत्र सा महतो भय हेतो: पापात्) गर्भम् अधात् (गर्भाधान किया स्वयं ही स्वयं का — क्योंकि वे ही शिव, वे ही शक्ति; तु. Virgin Mother, तंत्र की 'कुमारी' पुराण की 'सती', संहिता की 'वशा' — सब के मूल में यही रहस्य) ६।६६।३ और भी तु. →

लौकिक दृष्टि से इसका समाधान नहीं — किन्तु मर्मज्ञों की दृष्टि से है। वहाँ सम्बन्धों का अतिचार हो सकता है। उस समय हम देखते हैं कि देवता अपनी दुहिता में ही गर्भाधान करते हैं — जो नन्दिनी (कन्या) वही दयिता (पत्नी) है [१७६१]; रुद्र की बहन अम्बिका उनकी जाया है[1] — क्योंकि शिव-शक्ति एकही सत्ता के वृन्त में दो फूल की तरह हैं; अदिति दक्ष की जननी, फिर दक्ष अदिति के पिता हैं[2] — क्योंकि सिद्ध और साध्य के बीच का सम्बन्ध एक ही शक्ति के ज्वार-भाटे का सम्बन्ध है। यही मरुद्गण जिस प्रकार 'रुद्रिय' अथवा रुद्र के पुत्र हैं, उसी प्रकार फिर वे ही 'रुद्र' हैं अर्थात पुत्र ही समर्थ होने पर पिता होता है। अदिति एक ही साथ पिता, माता एवं पुत्र हैं।[3] बंगाल के लोक-पुराण में हम देखते हैं कि महाशक्ति ने ब्रह्मा-विष्णु-शिव को जन्म देकर कहा, 'तप करो।' उसके बाद जब वे तपोमग्न, तब उनके निकट आकर कहा — 'अब मुझको शक्ति रूप में ग्रहण करो।' ब्रह्मा-विष्णु उत्तर नहीं दे पाए किन्तु शिव ने माता को ही जायारूप में ग्रहण किया। प्रख्यात मनोवैज्ञानिक JUNG के अनुसार जगत के समस्त HERO-MYTH का बीजभाव है कि HERO मात्र ही परशुराम की तरह मातृहन्ता हैं। अर्थात जिस शक्ति से हम उत्पन्न हुए हैं, शैशव में जिसके आश्रय में रहे, एक दिन उसको अपने वश में कर लेना ही यथार्थ पौरुष है। सप्तशती में हम देवी को यह कहते हुए सुनते हैं कि जगत में जो मेरा प्रतिस्पर्द्धी हो सकेगा और संग्राम में जीतकर मेरा दर्प दूर करेगा, वही मेरा भर्ता होगा।[4] अविद्या का जातक जीव अविद्या का नाश करके ही शिव होता है। वीरों के इसी मातृवध का परिवर्तित रूप हुआ जननी-शक्ति को जायाशक्ति में रूपान्तरित करना। उसी से जो शिशु मरुद्गण एक समय 'पृश्निमातरः', वे ही फिर सामर्थ्यवान होने पर 'वीरासः ... मर्यासो भद्रजानयः' हैं। और यह सुभद्रा जाया रुद्रपत्नी, रोदसी अथवा पृश्नि अथवा अदिति स्वयं हैं।

ऋक् संहिता में सुभद्रा रोदसी का यही परिचय है : मरुद्गण के साथ-साथ उनके ही रथ में वे खड़ी हैं सुमंगल आनन्द के साथ। वे सुजाता हैं, सुभगा हैं और सुवृष्टा हैं — अतएव महिममयी हैं, मरुद्गण की नित्य-संगिनी हैं [१७६२]। मरुद्गण के रथ में वे बिजली की तरह कौंधती हैं रथ के आसन पर बैठी रहती हैं प्रच्छटा की तरह सुदर्शना।[1] भूलोक और

रुद्र मीळ्हुष्टम् १।४३।१, उसके पश्चात ही अदिति का उल्लेख, ध्यातव्य। [1] तु. ई. १२-१४; और भी द्र. ऋ. वाक् की उक्ति : एतावती महिना सम् बभूव' १०।१२५।८। [2] ५।५५।३।

[१७६०] तु. ऋ. ३।६।९ [1] ५।६१।४। [2] ऋ. १।६४।७ ३ निघ. ५।५; नि. ११।५०।

[१७६१] द्र. १।७१।५, १६४।३३; टी. १२४२[1]। [1] मा. ३।५७; तैस. 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थौ ... एष ते रुद्र भागः सह स्वस्रा-म्बिकया तं जुषस्व १।८।६।१। [2] ऋ. १०।७२।४-५, टी. १२७६[3]। [3] १।८९।१० टी. १३१७[3]। [4] द्र. ५।१२०।

[१७६२] तु. ऋ. आ यस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती, सचा मरुत्सु रोदसी ... यस्मिन्त् सुजाता सुभगा महीयते सचा मरुत्सु मीळ्हुषी ५।५६।८-९। श्यावाश्व आत्रेय के एक दर्शन का परिशेष। [1] आ बन्धुरेष्वमतिर् न दर्शता विद्युन् न तस्थौ मरुतो रथेषु वः १।६४।९ अमति निघ. 'रूप' (३।७; मध्योदात्त ; आद्युदात्त 'मनन का अभाव' तु. आरे अस्मद् अमतिं आरे अंहः ४।११।६, ३।१६।५, ७।१।१९ ...)। मध्योदात्त; अमतिर् न सत्यः १।७३।२, अमतिं न श्रियं →

और द्युलोक को मरुद्गण मुक्त करते हैं जब, तब अपनी शिखा में स्वयं दीप्त होकर उनके भीतर वे खड़ी रहती हैं प्रभास या दीप्ति की तरह।[२]

अगस्त्य मैत्रावरुणि के एक मरुत सूक्त में हैं: रोदसी संश्लिष्टा, युगनद्धा होकर हैं मरुद्गण के साथ— जो सुनिविष्टा, ज्योतिरभिसारिणी, हिरण्यवसना, निश्चला हैं—मुट्ठी में पकड़े बरछे की तरह; गुहासंचारिणी हैं वे— मनुष्य की तरह; सभा में उच्चारिता वाक् की तरह, जो सम्भवतः विद्या का परिणाम है [१७६३]। मरुतगण आकर इस युवती के साथ हिल-मिल गए— वे उस समय जैसे साधारणी (नारी); (और) वे शुभ्र हैं, अश्रान्त, अक्लान्त हैं। रोदसी को उन्होंने अस्वीकार नहीं किया; घोररूप इन देवताओं ने आस्वादन किया उस बृहती का सख्य के लिए।[१] संसक्ति के लिए आस्वादन किया जब, इनकी यही असुरोपमा रोदसी— जो एलोकेशी, मुक्तकेशी, पौरुष जिनके मनन में है तब वे सूर्या की तरह आई लक्ष्यवेध करने वालों के रथ पर झिलमिलाती ज्योति की छटा होकर— नीहारिका की चाल जैसी।[२] स्थापित किया (रथ में) उस युवती को युवकों ने— शुभ्रता के लिए जो पूरी तरह हिल-मिल गई (उनके साथ), जो विद्या की साधना में बलरूपा हैं। हे मरुद्गण, गीतकी शिखा जब तुम सबके निमित्त (उद्दीप्त हुई) हवि के साथ, गीत गाया सोमसवन करने वाले ने तुम सब को प्रज्वल करने के लिए।[३] कहने योग्य जो यथार्थ महत्व है इस मरुद्गण का, मैं उसका ही प्रवक्ता हूँ: वर्षण का प्रवेग जिनके मनन में, जो आप्तकाम एवं स्थिर हैं, वही (रोदसी) देखो साथ लिए जा रही हैं सौभाग्यवती मातृकाओं को।'[४]

---

[१] ...५।४५।२, पृथ्वीम् अमतिं सृजानः ७।३८।२... सर्वत्र ही अर्थ है दीप्ति अथवा बल (तु. अम ५।५६।३)। तु. नि. अमतिर् अमामयी मतिर् आत्ममयी ६।१२, आद्युदात्त 'बल' का बोधक यास्क उदाहरण देते हैं "ऊर्ध्वा यस्या मतिर् भा अदिद्युतत् सवीमनि (प्रेरणा के समय) साम संहिता ५।२।२।८। टीका में दुर्ग: 'एवम् अमति शब्देनात्म प्रकाशगतम् आदित्य निधानम् उच्यते, स हि प्रकाशसतत्व एव नान्यत् प्रकाशान्तरम् अपेक्षते।' अतएव 'अमति' सावित्र द्युति का बल, छटा, रूप।[२] ऋ. उभे युजन्त रोदसी सुमेके अध सौन्षु रोदसी स्वशोचिर् आमवत्सु तस्थौ न रोकः ६।६६।६। मूसलधार वृष्टि में आकाश और पृथिवी जैसे एकाकार हो गए। उसके बीच विद्युत की दीप्ति की तरह रुद्रपत्नी रोदसी का आविर्भाव। तु. के. इन्द्र 'तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियम् आजगाम बहुशोभमानाम् उमां हैमवतीम्' ३।१२ एवं 'तस्यैष आदेशो यद् एतद् विद्युतो व्यद्युतद् आ३ इतीन् न्यमीमिषद् आ३ ४।४।' यहाँ प्रथम 'रोदसी' आद्युदात्त इससे द्यावापृथिवी का बोध होता है, जो सब देवताओं का प्रत्याहार है (द्र. टी. १२८२)। वर्षा के द्युलोक-भूलोक के एकाकार होने से विश्वव्यापी अमृतचेतना की मूसलाधार वर्षा का बोध होता है (तु. ऋ. १।८०।६-८, टी. १६०७)। उसमें विद्युत प्रभास की द्वितीय रोदसी का आविर्भाव। यह संज्ञा तब अन्तोदात्त। स्वर में भेद रखकर एक ही संज्ञा का प्रयोग रुद्रपत्नी की विश्वव्यापकता एवं सर्वदेवमयता का बोधक है (तु. क. अदितिर् देवतामयी २।१।७)।

[१७६३] ऋ. 'मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची हिरण्यनिर्णिग् उपरा न ऋष्टिः, गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक्' १।१६७।३। सुधिता, युगनद्धा। घृताची < घृत + अञ्च 'चलना', ज्योति की ओर जिनकी गति है ('घृत' द्र. टी. १२०७; तु. १।२।७)। उपरा < 'उप' निकट; तु. 'अवर' नीचे। सायण 'मेघमाला' (तु. निघ. 'उपरः' मेघ ॥ 'उपलः' १।१०)। मरुद्गण का बरछा विद्युत का। 'उपरा ऋष्टि' तु. तंत्र में 'स्थिरा सौदामिनी'। 'गुहा चरन्ती योषा' तु. तंत्र 'शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव'। यह साधनदशा में। सिद्धि दशा में यह योषा ही 'सभावती' सब के सामने प्रकट ब्रह्मघोष रूप में, जो संभवतः विद्या का फल है। रोदसी यहाँ वाक् अथवा सरस्वती, जो 'मरुद्वृधा' हैं (तु. टीमू. १५५६)। और भी तु. ऋ. वाक् की आत्मघोषणा १०।१२५ सूक्त। [१] परा (दूर से आकर) शुभ्रा →

अगस्त्य की इस रोदसी-प्रशस्ति में हम सप्तशती की देवी और तंत्र की काली का आभास पाते हैं। विश्वप्राण की जननी रुद्रपत्नी यही रोदसी शाक्तों की महाशक्ति हैं। रुद्रपुत्र को रुद्र में रूपान्तरित करने की अमोघ शक्ति उनमें ही है। अम्भृण कन्या वाक् की तरह वे ही कह सकती हैं, 'जिस-जिसको मैं चाहूँ, उसे मैं ही उग्र, ब्रह्मा (स्रष्टा) ऋषि (द्रष्टा) सुमेधा (बुद्धिमान) बना सकती हूँ [१८६४]।' इस रोदसी और पृथिवी-रूपिणी रोदसी में[1] कोई अन्तर नहीं — एक चिन्मयी है, और एक मृण्मयी है। स्वर में भेद इतना ही समझने के लिए है। पृथिवीरूपिणी रोदसी भी रुद्रपत्नी है उसका परिचय तंत्र के गौरीपट्ट और शिवलिंग के प्रतीक में प्राप्त होता है — विरूपाक्ष (शिव) जहाँ स्वयम्भू एवं ऊर्ध्वलिंग हैं। इस भावना का समर्थन अगस्त्य द्वारा मरुद्गण को दिए गए एक अनन्यपर विशेषण में प्राप्त होता है — जहाँ वे 'स्कम्भदेष्णाः' हैं।[2] अगस्त्य की शाक्त भावना का परिचय उनके द्वारा रचित इन्द्र सूक्तों और अश्वि सूक्तों के ठीक मध्य में स्थापित अगस्त्य-लोपामुद्रा के संवाद में प्राप्त होता है — जो तंत्र के भोग-योग-समन्वयवाद का पुरोधा है।[3]

अब हम मरुत सहचर देवताओं के बारे में बात करेंगे। ऋक् संहिता में विशेष रूप से मरुद्गण के सहचर के रूप में इन चार देवताओं का उल्लेख किया गया है: अग्नि, इन्द्र, पूषा और विष्णु। उसके अलावा शौनक-संहिता में अप् का सहचार भी उल्लेखनीय है [१८६५] अन्यान्य

अयासो (< √ यस 'श्रान्त होना', तु. आयास) यव्या (< 'यवी' युवती, तु. 'यव' तारुण्य का प्रतीक < √ यु 'संगत होना, यौवनावस्था प्राप्त करना') साधारण्येव (अनेक मरुतों की एक पत्नी, जिस प्रकार पंचपाण्डव की द्रौपदी; तु० सांख्य में बहुपुरुष की एक ही प्रकृति; अथवा सप्तशती में अनेक देवताओं की शक्ति के पुंजन से एक देवी का आविर्भाव; रोदसी माँ थी, पत्नी हुई — आपाततः यह अनाचार है), न रोदसी अप नुदन्त घोरा (जिस प्रकार शिव ने महाशक्ति को अस्वीकार नहीं किया) जुषन्त वृधं सख्याय देवाः ४। यहाँ रोदसी अन्तोदात्त होकर भी कर्म में द्वितीया का द्विवचन है अतः द्यावा-पृथिवी की ध्वनि है।[2] जोषद् यद् ईम् असुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणाः, आ सूर्येव विधतो रथं गात्, त्वेषप्रतीका नभसो ने.त्या (इत्या' < √ इ 'चलना') ५।[3] आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम्, अर्को यद् वो मरुतो हविष्मान् गायद् गाथं सुतसोमो दुवस्यन् ६।[4] प्र तं विवक्मि वक्म्यो य एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति, सचा यद् ईं वृषमणा अहंयुः स्थिरा चिज्जनीर्वहते सुभागाः ७। जनीः अन्यान्य माताएँ अथवा मातृशक्तियाँ जो रोदसी के परिकर, परिजन हैं (तु० तंत्र में शक्ति अष्टनायिका)। मरुद्गण जब अलग-अलग, तब एक-एक मरुत् की एक-एक जाया या पत्नी। वे रोदसी की ही विभूति हैं। मरुद्गण जब एक 'पुंजज्योति' हैं तब इस 'जनी' अथवा जननी समूह में रोदसी एक रुद्र की एक पत्नी हैं — यह भाव भी है।

[१८६४] तु. ऋ. १०।१२५।५, शौ. ४४४।[1] रोदसी < पुंल्लिंग विशेष रूप से प्रणिधान योग्य 'रोदस' (आद्युदात्त)। 'रोदाः' एवं 'रोदसी' दोनों के एकशेष द्वन्द्व (समास) में 'रोदसी' स्त्रीलिंग में। निघण्टु में द्यावापृथिवी के जितने एकशेष नाम हैं उनमें प्रायः सारे स्त्रीलिंग-एकशेष हैं — यह लक्ष्य करने योग्य है। ऋक्संहिता में पुंलिंग-एकशेष का एकमात्र उदाहरण 'रोदसोः' ५।२२।२)। यास्क की दृष्टि में 'रोदसी = रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात् (रोके रखने, पकड़े रखने के कारण) रोधः कूलं, निरुणद्धि स्रोतः' (नि. ६।१)। अर्थात रोदसी जैसे दो कूल, किसके दो कूल? अन्तरिक्ष अथवा प्राणसमुद्र के। अन्तरिक्ष रुद्रभूमि है; उसके एक छोर पर पृथिवी और एक छोर पर द्युलोक है। उसी से रोदसी का संकेत रुद्रभूमि के दो अन्तिम छोर की ओर है — एक पृथिवी का →

देवियों में रोदसी का विवरण अभी-अभी प्रस्तुत किया गया। इसके पहले सरस्वती की चर्चा हो चुकी है।[1] एक स्थान पर इन्द्राणी का कथन है, 'उता हम् अस्मि वीरिणीर् इन्द्रपत्नी मरुत्सखा।'[2] इसमें इन्द्र के साहचर्य की अनुवृत्ति है। चेतना के उत्तरायण की दृष्टि से प्रथम लक्षणीय सहचार है मरुतगण के साथ अग्नि का। ऋक् संहिता में दो आग्नामारुत सूक्त हैं एक के द्रष्टा मेधातिथि काण्व हैं और दूसरे सूक्त के द्रष्टा श्यावाश्व आत्रेय हैं।[3] दोनों में ही मरुद्गण के वर्णन की प्रमुखता है। प्रथम सूक्त में 'मरुद्भिर् अग्न आ गहि' की एक टेक या स्थायी है। इसमें स्पष्टतः शक्तिपात की सूचना प्राप्त होती है— 'अग्नि यहाँ दिव्य हैं, वे द्युलोक से मरुद्गण को इस जगह अर्थात जीवन की इस यज्ञवेदी में ज्योति की आँधी के साथ नीचे उतार लाते हैं। द्युलोक की उत्तम भूमि अथवा तृतीय द्युलोक[4] जिसे नाक कहते हैं, उसकी ही झिलमिलाती ज्योति में वे बैठे हुए हैं। वे लहराते समुद्र के ऊपर से गुज़रते हुए पर्वतों को आन्दोलित, अस्थिर कर देते हैं। और वे स्वयं को आतत या प्रसारित करते हैं (उसी समुद्र के ऊपर से होकर ओजस्विता में।'[5] अन्तरिक्ष के प्राण चंचल ज्योतिः समुद्र के ऊपर वृत्र की माया मेघों की तरह छा गई है। द्युलोक के आलोक के अन्धड़ मरुद्गण उसको उड़ा ले जाते हैं और वज्रसूचिका ऋष्टि (बरछा) के विद्युतफलक से विदीर्ण करके ज्योति रूप में चंचल प्राण के रन्ध्र-रन्ध्र में फैल जाते हैं। इसलिए मरुद्गण को ही यहाँ अग्नि लेकर आते हैं।... मेधातिथि के इस चित्र को श्यावाश्व एकबारगी पृथिवी के वक्ष पर उतार ले आए हैं। 'दुर्धर्ष वनानी (अरण्यानी, महावन) आन्दोलित हो उठती है तुम सब के भय से, पृथिवी का कम्पन, स्पन्दन प्रभावित करता है पर्वतों को भी। विशाल उत्तुंग पर्वत भी तो भयाक्रान्त हो उठते हैं, द्युलोक की शिखर-भूमि काँपती है तुम सब के गर्जन से। जब तुम सब क्रीड़ा करते हुए विचरण करते हो बरछा लेकर, तब जलप्लावन की तरह अनेक धाराओं के समवेत रूप में तीव्र गति से चलते हो। हे अग्नि, हे विश्ववेदा मरुद्गण, उत्तर-द्युलोक से जब तुम सब का आगमन उतरता है एक शिखर से दूसरे शिखर को पार कर, तब आनन्द में मत्त तुम सब घोर गर्जन से सारी विदारक रेखाएँ विलुप्त करके आनन्द निहित करते हो उस यजमान के भीतर— स्वयं को जिसने निचोड़ दिया है।'[6]

अन्त, और एक द्युलोक का आरम्भ है। आध्यात्मिक दृष्टि से ये दोनों क्रमशः उपनिषद के 'जागरितान्त' और 'स्वप्नान्त'—(क. २।१।४; छा. ६।८।१; बृ. ४।३।१८, वहाँ 'बुद्धान्त' और 'स्वप्नान्त') नामक दो सन्धि भूमि। दोनों के मध्य 'चिन्मय प्राणभूमि', जो अध्यात्मचेता का भावलोक है। मृण्मयी रोदसी वहाँ चिन्मयी है। [2] ऋ. १।१६६।७, टी. १६४४। [3] १।१७९ सूक्त तुलनीय तत्र: अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजाम् अपत्यं बलम् इच्छमानः, उभौ वर्णाव् ऋषिर् उग्रः पुपोष (सायण. कामं च तपश्च)...६। तंत्र में अगस्त्य का शक्तिसूत्र एवं लोपामुद्रा अथवा हादि विद्या दोनों ही प्रसिद्ध। [१७६५] द्र. शौ. ४।१५।५-१०, वर्षा का सुन्दर वर्णन। [1] द्र. टी १५.. ऋ. १०।८६।९। [3] १।१९, ५।६० सूक्त। [4] उत्तम द्युलोक तु. यद् उत्तमे मरुतो मध्यमे वा, यद् वा वमे सुभगासो दिवि ष्ठ ५।६०।६। [5] तु. 'ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते, ये ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रम् अर्णवम्... आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस् तिरः समुद्रम् ओजसा १।१९।६-८। द्युलोक की मूर्धन्य चेतना के आलोकदीप्त विश्वप्राण का अन्धड़ हृदय समुद्र के उत्तरंग विस्तार पर उतर रहा है— यह उसका वर्णन है। [6] वना चिद् उग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद् रेजते पर्वतश् चित्। पर्वतश् चिन् महि वृद्धो बिभाय दिवश् चित् सानु रेजत स्वने वः। यत् क्रीळथ मरुत ऋष्टिमन्त आप इव सध्र्यञ्चो धवध्वे। अग्निश् च यन् मरुतो विश्ववेदसो दिवो

पृथिवीस्थान अग्नि के बाद मरुद्गण का संस्तव अन्तरिक्षस्थान इन्द्र के साथ है। इन्द्रसाहचर्य, मरुद्गण का एक लक्षणीय वैशिष्ट्य है। इसी से संहिता में इन्द्र की एक निरूढ़ संज्ञा मरुत्वान् हुई [१७६६]। मरुत्वान् इन्द्र के निमित्त कुत्स आंगिरस द्वारा रचित एक पूरा सूक्त ही है जिसकी टेक है 'मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।'[1] मरुद्गण की सहायता से ही इन्द्र ने वृत्र का वध किया था, इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में प्राप्त होता है।[2] इन्द्र 'गणेषु गणपतिः' — वह गण है मरुद्गण।[3] नित्य सहचर इस गण की सहायता से वृत्र का वध करने पर भी ऐसा एक समय आता है जब इन्द्र 'केवल' अथवा निःसंग हो जाते हैं। सप्तशती में भी हमें अनुरूप भावना का परिचय प्राप्त होता है। निशुम्भवध के पश्चात शुम्भ ने देवी के प्रति कटाक्ष करते हुए कहा था, 'तुम तो दूसरों के बल का सहारा लेकर युद्ध कर रही हो।' देवी ने उसके उत्तर में कहा था, 'इस जगत में एक मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त दूसरा और कौन है? यह देखो, मेरी विभूतियाँ मेरे भीतर ही प्रवेश कर रही हैं।'[4] यह उसी वैदिक अद्वैतवाद की विशिष्ट भंगिमा है, जिसकी आलोचना हम पहले विस्तारपूर्वक कर चुके हैं। यही भावना अगस्त्य मैत्रावरुणि द्वारा रचित एक संवाद सूक्त में इस रूप में व्यक्त हुई है। मरुद्गण इन्द्र से कहते हैं— 'हमारी स्वधा अथवा आत्मस्थिति के अनुकूल होने से ही तो तुम्हारी भूति अथवा आत्मोपलब्धि।' उत्तर में इन्द्र ने कहा, मरुद्गण! तुम सब की वह स्वधा कहाँ थी जब अकेले मुझको तुम सबने नियुक्त कर दिया अहि की हत्या में? मैं तो तब ओजस्वी, ज्योतिष्मान् एवं बलवान होकर शत्रु के सभी

वहध्व उत्तराद् अधि ष्णुभिः, ते मन्दसाना धुनयो रिशादसो वामं धत्त यजमानाय सुन्वते— ५।६०।२, ३, ७। **रिशादस**<रिश (<√रिश् 'विदीर्ण करना' विदाररेखा + √अद् (खाना, निगलना), जो सारे भेदचिह्न विलुप्त कर दें। तु· श्रीरामकृष्ण देव की व्याख्या है कि 'अन्धड़ उठने पर कौन सा आम का पत्ता है और कौन सा इमली का पत्ता है वह पहचान में नहीं आता।' और भी तु· ई· 'शुक्रम् अकायम् अव्रणम्' ८।··· अग्नि-मरुद्गण का प्रासंगिक उल्लेख ८।१०३।१४।

[१७६६] यही विशेषण फिर सोम और रुद्र के सन्दर्भ में प्राप्त होता है। तु· ऋ· 'पवमाना असृक्षत पवित्रम् अति धारया, मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधाम् अभि प्रयांसि च' — पवमान (समस्त सोम) बह चला पवित्र के भीतर से होकर धारा रूप में; वे मरुत्वान्, आनन्दमत्त, इन्द्र के अश्व; (चले वे) मेधा की ओर, प्रेम की ओर ९।१०७।२५ (**पवित्र** अर्थात् अशुद्ध 'अन्धः' सोम को जो शुद्ध करती है, वह है मेषलोम की छलनी, आध्यात्मिक दृष्टि से नाड़ीजाल; 'धारया' तु· ९।१४।२ टी· १२५६[2]; 'इन्द्रिया: हयाः' तु· क· इन्द्रियाणि हयान् आहुः १।३।४; तो फिर हम सब की परिचित 'इन्द्रिय' इन्द्रशक्ति का बहिर्विच्छुरण, इन्द्र आत्मा; यहाँ इन्द्रिय मार्ग में सौम्य आनन्द के बहिःप्रकाश को लक्ष्य किया जा रहा है — मधुचेतना में जो होता है तु· ऋ· ११७०।६-८; 'मेधा' निःश्रेयस प्राप्ति के लिए मनःसमाधान, और 'प्रयः' प्रेयः तु· क· १।२।२; सोम, निःश्रेयस एवं अभ्युदय दोनों ही देंगे); 'अयं विदच् चित्रदृशीकम् अर्णः शुक्रसद्मनाम् उषसाम् अनीके, अयं महान महता स्कम्भनेनोद् द्यामस्तभ्नाद् वृषभो मरुत्वान्' — इन्होंने प्राप्त किया विचित्र दर्शन उस अस्थिर, चंचल सरोवर का, जो है शुक्लसदना उषाओं के पुंजभाव में, ये महान हैं — महास्तम्भ रूप में थामे रहे द्युलोक को, वीर्यवर्षी और मरुत्वान होकर ६।४७।५ (सोम की धारा ज्योति के झंझावात रूप में ऊपर की ओर बहती हुई, मूर्द्धन्य चेतना के परमव्योम में जा पहुँचती है; वह एक जलस्तम्भ की तरह है; 'अर्णः' ९।३।१२, टी· १५३७)। 'रुद्र' द्र·। [1] द्र· १।१०१ सूक्त। टेक है १-७ तक; अन्त के चार मंत्रों में तीन में भी मरुद्गण का →

अस्त्रों को झुका दिया अपने प्रहरण के प्रहार से। मैंने ही मनु अथवा विश्वमानव के लिए इस निखिलानन्द ज्योतिर्मय अप् को (प्राणधारा को) सुगम कर दिया है वज्रबाहु होकर।' मरुद्गणने यह बात स्वीकार करते हुए कहा, 'हे महाज्योति, तुम्हारी (शक्ति) अनिरुद्ध, अबाध तो है ही; इसमें कोई सन्देह नहीं। कोई नहीं है, तुम्हारे जैसा कोई नहीं है देवताओं में (उसप्रकार — जिसप्रकार) हम सब तुमको जानते हैं।'[५]

संवत्सरात्मक गवामयनयाग के उपान्त्य (अन्तिम से पूर्व) दिन को महाव्रत का अनुष्ठान करना पड़ता है। ऐतरेयारण्यक में उसके रहस्य की विवृति है [१७६७]। उस दिन के माध्यन्दिन सवन के दो प्रधान शस्त्र मरुत्वतीय और निष्केवल्य हैं। दोनों ही इन्द्र के निमित्त हैं — एक में वे मरुत्वान और दूसरे में पूर्णतः 'केवल'[१] अथवा बिलकुल अकेले हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में — निष्केवल्यशस्त्र को यजमान की आत्मा कहा गया है।[२] शतपथ ब्राह्मण में इसी प्रसंग में यजमान के साथ इन्द्र की एकात्मता दिखाई गई है।[३] निष्केवल्य शस्त्र का पाठ झूले पर चढ़कर किया जाता है।[४] यह सूर्य के उत्तरायण का सूचक है। उत्तरायण के चरम बिन्दु पर आदित्य की माध्यन्दिन महिमा में इन्द्र अथवा आत्मज्योति की अनुत्तम, सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति होती है। स्वधा में प्रतिष्ठित आदित्य बिम्ब में इन्द्र उस समय 'केवल' एवं उनसे परिकीर्ण या बिखरे रश्मिजाल में वे 'मरुत्वान्' अथवा ज्योतिर्मय विश्व प्राण के निर्झरण हैं।[५]

आध्यात्मिक दृष्टि में इन्द्र का स्थान जिस प्रकार भ्रूमध्य में [१७६८] है उसी प्रकार पूषा का भी है। इन्द्र अन्तरिक्षस्थान और पूषा द्युस्थान हैं।

उल्लेख लक्षणीय। २ तु॰ अयम् इन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः, वज्रेण शतपर्वणा। वावृधानो (संवर्धित होकर) मरुत सखेन्द्रो वि वृत्रम् ऐरयत् (छिन्न भिन्न कर दिया), सृजन्त्समुद्रिया अपः (महाशून्य में ज्योति का प्रसरण) ८।७६।२, ३ (समग्र सूक्त, मरुत्वान् इन्द्र के निमित्त रचित); १०।११३।२, ३।४७।२-४ ... ३ १०।११२।८, द्र॰ टी॰ मू॰ ११३४। ४ द्र॰ सप्तशती १०।३,४। ५ ऋ॰ इन्द्र स्वधाम अनु हि नो बभूथ। क्व स्या वो मरुतः स्वधासीद् यन् माम् एकं समधत्ताहिहत्ये, अहं ह्युग्रस् तविषस् तुविष्मान् विश्वस्य शत्रोर् अनमं वधस्नैः।... अहम् एता मनवे विश्वश्चन्द्राः सुगा अपश्चकर वज्रबाहुः। अनुत्तमा ते मघवन् नकिर् नु त्वावाँ अस्ति देवता विदानः १।१६५।५, ६, ८, ९। सूक्त के देवता मरुत्वान् इन्द्र हैं; यह महाव्रत में मरुत्वतीय शस्त्र के अन्तर्गत है (ऐ॰आ॰ ५।१।१)।

[१७६७] ऐ॰आ॰ १।१।१...। १ यह विशेषण विशेष रूप से इन्द्र के बारे में प्रयुक्त, तु॰ ऋ॰ १।७।१०; ४।२५।७; ७।९८।५; १।५७।६; 'माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते' ४।३५।७ (१०।९६।१३)। २ ऐ॰ब्रा॰ ८।२। ३ श॰ ४।५।५।८। ४ ऐ॰आ॰ १।२।३। ५ ऋक्संहिता के खिलकाण्ड के निविदध्याय में (५।५) पहले अग्नि का निवित्, उसके पश्चात् ही 'मरुत्वान्' इन्द्र का निवित् एवं तदनन्तर 'केवल' इन्द्र का निवित्: 'इन्द्रो मरुत्वान् सोमस्य पिबतु। मरुत्स्तोत्रो मरुद्गणः। मरुत्सखा मरुद्वृधः। घ्नन् वृत्रो सृजद् अपः। मरुताम् ओजसा सह। य ईम् एनं देवा अन्वमदन्। अप्तुर्ये वृत्रतूर्ये। शम्बरहत्ये गविष्टौ। अर्चन्तं गुहा पदा। परमस्यां परावति। आद ईं ब्रह्माणि वर्धयन्। अनाधृष्या न्योजसा कृण्वन् देवेभ्यो दुवः। मरुद्भिः सखिभिः सह। इन्द्रो मरुत्वा इह श्रवद् इह सोमस्य पिबतु। प्रेमां देवो देवहूतिम् अवतु देव्या धिया। प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम्। प्रेमं सुन्वन्तं यजमानम् अवतु। चित्रैश् चित्राभिर् ऊतिभिः। श्रवद् ब्रह्माण्य आवसा गमत्।'

[१७६८] आधिलोक दृष्टि में भ्रूमध्य अन्तरिक्ष का ऊर्ध्व प्रत्यन्त (समीपवर्ती) है। वहाँ ही मरुद्गण,

उपनिषद की भाषा में एक प्राण और दूसरा प्रज्ञा है। आध्यात्मिक स्थान साम्य के कारण पूषा के साथ मरुद्गण का सहचार इन्द्र सहचार के अनुरूप है – इस क्षेत्र में केवल प्रज्ञा के ऊपर जोर पड़ेगा। इस सहचार का आभास शंयु बार्हस्पत्य के दो मंत्रों में पाया जाता है, जहाँ पूषा की तुलना मरुद्गण के साथ करते हुए कहा गया है कि वे गुहाहित आलोक वित्त हमारे निकट प्रकट करें शत-शत, सहस्र-सहस्र रूपों में।[1] यह इन्द्र के द्वारा वृत्रवेध जैसी घटना भ्रूमध्य में ज्योति का तूफान उठाकर उसके ऊपर की ओर मूर्द्धन्य चेतना में सहस्ररश्मि आदित्य का प्रकटीकरण है।[2] उस समय मरुद्गण भी आदित्यकल्प 'दिवो नरः' हैं।[3]

इन्द्र-विष्णु का सहचार ऋग्वेद में प्रसिद्ध है [१७६९]। वे ही शम्बर के निन्नानबे पुर विदीर्ण करके परमज्योति को चेतना में विकसित करते हैं।[1] इन्द्र प्रज्ञात्मक प्राण हैं[2] और उस प्रज्ञापरिपूर्ण प्रकाश विष्णु में है – जिनका परमपद, सर्वसाक्षी अनिमेष दृष्टि के रूप में द्युलोक में फैला हुआ है।[3] मरुद्गण इन्द्र के नित्य सहचर हैं, इसलिए वे विष्णु के भी सहचर हैं। उसी से एक संज्ञा 'एवयामरुत' है अर्थात मरुद्गण स्वच्छन्द गति से जिनके साथ चलते हैं। उसका अर्थ है – इन्द्र जिस प्रकार प्रज्ञात्मक प्राण हैं, विष्णु उसी प्रकार प्राणात्मक प्रज्ञा हैं। प्राण और प्रज्ञा अविनाभूत हैं, अभिन्न हैं। प्रज्ञा जिस प्रकार प्राण का दिग्दर्शक[4] है उसी प्रकार प्रज्ञा के प्रकाश में प्राण-प्रभंजन आधार में प्रवाहित हो जाता है। यह अनुभव अत्रिवंश के एक ऋषि को हुआ था, जिन्होंने मरुत्वान् विष्णु का सायुज्य प्राप्त करके अपना परिचय 'एवयामरुत' के रूप में दिया है। ऋक्संहिता का पंचम मण्डल उनके द्वारा रचित एक मरुत सूक्त से समाप्त[5] होता है जिसके प्रत्येक मंत्र में 'एवयामरुत' संज्ञा पृथक् रूप में जोड़ दी गई है। उसके अन्तिम

इन्द्र एवं पूषा का धाम है। भ्रूमध्य के साथ तु. तैत्तिरीय उपनिषद् की 'इन्द्रयोनि' जो 'अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवा.वलम्बते' (१।६।१)। उसके ऊपर ही ऐतरेय उपनिषद का 'विदृति' अथवा 'नान्दन द्वार' (१।३।१२) है जिसका ऊर्ध्वप्रत्यन्त (ऊपरी सिरा) हम सब का परिचित 'ब्रह्मरन्ध्र' है (ऋक्संहिता में 'उक्ष्णो रन्ध्रः' ८।७।२६)। इन्द्रयोनि ऋक्संहिता में '**काकुत**' तु. ऋ. 'याते काकुत् सुकृता या वरिष्ठा यया शश्वत् पिबसि मध्व ऊर्मिम्' (अमृतचेतना लहराती हुई वहाँ से परमव्योम की ओर प्रवाहित होती है) ६।४१।२, ८।६९।१२ (टी. १७५१[2]; और भी तु. ११८।७)। निघण्टु में 'काकुत' वाक् (१।११) सायण. जिह्वा (ऋ. १।८।७)। किन्तु निरुक्त में ही 'काकुदं तालु. त्यान्च्छते' (५।२६, उदाहरण ऋ. ८।६९।१२)। इस तालु के सामने ही भ्रूमध्य, योग का आज्ञाचक्र है।
[1] तु. 'तंव (उसी पूषा को) इन्द्रं न सुक्रतुं वरुणमिव मायिनम् अर्यमणं न मन्द्रं (आनन्दमग्न) सृप्रभोजसं (विद्युतविसर्पण जैसा है जिनका आनन्द भोग, विष्णु का विशेषण) विष्णुं न स्तुषे आदिशे' (उनके आदेश के कारण, हम सब के दिग्दर्शक होंगे इसलिए, तु. ६।५६।१)। त्वेषं शर्धो न मारुतं तुविष्वण्य.नर्वाणः (जो पहुँच के बाहर हैं, पूषा का विशेषण) पूषणं सं यथा शता, सं सहस्रा कारिषच्चर्षणिभ्य आँ आविर्गूल्हा वसू करत् सुवेदा (सहजलभ्य, तु. 'सम्प्रज्ञात') नो वसू करत् ६।४८।१४, १५। मरुद्गण, इन्द्र और पूषा भ्रूमध्य में, वरुण, मित्र, अर्यमा और विष्णु उसके ऊपर की ओर परमव्योम में। [2] तु. ई. पूषा के निकट हिरण्मय पात्र का आवरण दूर करने की प्रार्थना १५।
[3] तु. ऋ. 'मरुतः सभरसः (एक साथ जिनका आवेश आधार में होता है) स्वर्णरः (ज्योतिपुरुष) सूर्य उदिते (यह सूर्योदय मूर्द्धन्य आकाश में) मदथा दिवो नरः; नवो अश्वाः श्रथयन्त. (शिथिल न हो जाएँ) ह सिस्रतः (चलते-चलते) सद्यो (एक दिन में ही, अर्थात पलक झपकते ही) अस्या.ध्वनः पारम् (विष्णु का परमपद, परमव्योम तु. क. १।३।९) अश्नुथ (पहुँच जाओ) ५।५४।१०; और भी तु. ऋ. दिवस् पुत्रास आदित्यासः १०।७७।२।
[१७६९] द्र. ऋ. ६।६९ सूक्त, १।१५५।१-३, ७।९९।४-६। [1] तु. ७।९९।५ टी. १२८४। [2] कौ. ३।८। [3] ऋ. १।२२।२०, टी. ४६२। [4] तु. ६।४८।१४, टीभू. १३१९। [5] ५।८७ सूक्त। असमाप्त प्रयोग

मंत्र में मरुद्गण को प्रचेतना के महाव्योम में पर्वत जैसा तुंगतम कहा गया है।[६]

ऋक्संहिता के खिलकाण्ड के निविदाध्याय में मरुद्गण के निविद में उनका एक पूर्ण और संहत, सघन परिचय है [१६६०]।

मरुद्गण के बाद वायुवर्ग के चतुर्थ देवता **मातरिश्वा** हैं। पहले ही हमने बतलाया है कि निघन्टु में देवताओं के नाम के अन्तर्गत मातरिश्वा का उल्लेख नहीं है, जब कि वेद में वे एक प्राचीन एवं प्रमुख देवता हैं। निश्चय ही वे हविर्भाक् अथवा सूक्तभाक् नहीं हैं बल्कि ऋग्भाक् मात्र हैं; किन्तु अनेक ऋचाओं में उनका उल्लेख है एवं उनमें विशेष रूप से उनका तात्विक रूप ही व्यक्त हुआ है; एक ऋक् में उनके नाम की अर्थसम्बन्धी व्युत्पत्ति दी गई है यह कहकर, 'जब (स्वयं को) व्याप्त किया अथवा रूपायित किया माँ के भीतर मातरिश्वा ने (अथवा जब... माँ के भीतर तब मातरिश्वा'); (और उसी से) वात की सृष्टि हुई सरसर चलने का आश्रय लेकर [१६६१]।' द्वितीय परिकल्पना में मातरिश्वा अग्नि का नामान्तर हैं। इसका समर्थन ऋक्संहिता में ही प्राप्त होता है। अग्नि तब 'मित्र' अथवा 'वैश्वानर' अर्थात वे विश्वात्मक हैं।[१] किन्तु अग्नि से अलग ही अनेक स्थानों पर मातरिश्वा का उल्लेख किया गया है।

यास्क मातरिश्वा की व्युत्पत्ति श्वस् अथवा अन् धातु से देते हैं; उनकी दृष्टि में 'माता' अन्तरिक्ष और मातरिश्वा उसमें निःश्वास अथवा प्राण रूप वायु है [१६६२]। मातरिश्वा अर्थात वायु, यह समीकरण ऋक्संहिता में स्पष्टतः न रहने पर भी शौनक संहिता के अनेक स्थानों पर उनको प्रवहन्त वायु के रूप में बतलाया गया है।[१] यजुःसंहिता में मातरिश्वा वायु है।[२] ब्राह्मणों में मातरिश्वा स्पष्टतया वायु एवं अध्यात्म-दृष्टि में प्राण है।[३] अतएव यास्क की परिकल्पना भित्तिहीन नहीं है। जान पड़ता है, ऋक्संहिता में ही उसका समर्थन है। एक स्थान पर हम देखते हैं: 'ये दो द्युतिमान आस-पास रहकर त्रिवृत् अथवा त्रिभुवन व्यापी हैं, उनकी तृप्ति में शरीक हुए मातरिश्वा।'[४] यहाँ ये दो द्युतिमान अर्थात पृथिवी में अग्नि और द्युलोक में सूर्य हैं। इसलिए अन्तरिक्ष में मातरिश्वा उनके आनन्द में सम्मिलित हुए।[५] जिस ऋक् में उनके नाम की व्युत्पत्ति दी गई है, उसका अर्थ यह भी हो सकता है: लोकादि अग्नि अथवा वैश्वानर ने जब स्वयं को माँ के भीतर रूपायित किया तब वे मातरिश्वा हुए और जब कारणसलिल सर-सर सरकने लगा

द्र· ५।४१।१६। [५] ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि ५।८७।९।

[१६६०] मरुतो देवा सोमस्य मत्सन्। सुष्टुभः स्वर्काः। अर्कस्तुभो बृहद् वयसः। शूरा अनाधृष्टरथाः। त्वेषासः पृश्निमातरः। शुभ्रा हिरण्यखादयः। ततसो भन्द्रदिष्टयः। नभस्या वर्षनिर्णिजः। मरुतो देवा इह श्रवन् (५।२।९; तु· २ द्र· टीका १६६७[५])।

[१६६१] ऋ· ३।२९।११, द्र· टी· १४९८[२]; १६१८[५]। [१] मित्रो अग्निर् ईड्यो मातरिश्वा ३।५।९ वैश्वानरं मातरिश्वानम् उक्थ्यम् २६।२, १०।८८।१९।

[१६६२] नि· ७।२६। [१] तु· शौ· ८।१।५, १०।७।२, ४, ९।२५, १२।१।५१, १२।३।१९...। [२] तै·सं· ४।१।४।१, ४।१२।५, ५।१।५।१...; मा· ११।३९, १।२। [३] तु· ऐब्रा· प्राणो मातरिश्वा २।३८; श· अयं वै वायुर् मातरिश्वा योऽयं पवते ६।४।३।४; तैब्रा· २।३।९।५-६। [४] ऋ· चर्म (८√घृ 'दीप्त होना, चमकना') समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस् तयोर् जुष्टिं मातरिश्वा जगाम १०।११४।१ तु· श· ११।६।२।२। [५] तु· ऋ· अग्नि, वायु एवं सूर्य का त्रितय या इन तीनों की समष्टि→

तब वे वातास की विसृष्टि अथवा वायु का प्रवाह हुए। इस व्याख्या के अनुसार वात अथवा वायु-स्वरूप में मातरिश्वा ही हैं। उनका अग्निधर्म औपचारिक है। 'आनीद् अवातं स्वधया तद् एकम्' सृष्टि के आरम्भ में तत्स्वरूप का यह जो प्राणन है, वही मातरिश्वा है। सृष्टि का जो आदिम प्रवेग है, उसकी जिस प्रकार परमपुरुष के निःश्वसित के साथ तुलना की जा सकती है[६] उसी प्रकार उसको आदिमाता के हृद्य-समुद्र की उच्छूनता अथवा 'स्फीति' कहा जा सकता है। वस्तुत: यह माता तब 'मही माता' 'अदिति' हैं जो विश्व के आच्छादक 'वरुण' की नित्य संगिनी हैं। उनको अन्तरिक्ष कहना भी असंगत नहीं क्योंकि सृष्टि प्रज्ञात्मक प्राण का 'एजन' अथवा कम्पन है[१०] और उसका आधार अन्तरिक्ष है। इसलिए निघण्टु में प्रजापति, विश्वकर्मा, त्वष्टा आदि को अन्तरिक्षस्थान देवता कहा गया है। तो फिर 'मातरिश्वा' संज्ञा की व्युत्पत्ति 'श्वि' धातु से हुई, जिसका अर्थ है 'स्फीत होना'। इसे ही उपनिषद् में 'आदित्य का क्षोभ'[८] और संहिता में तत्स्वरूप का आदिकाम अथवा 'मनसो रेत: प्रथमम्' अर्थात समर्थ मन का प्रथम प्रवेग कहा गया है।[९] वही मातरिश्वा का भी स्वरूप है।

वस्तुत: वायुवर्ग के सब देवताओं के अदृश्य होने पर भी मरुद्गण के वर्णन में हमें ऋषियों के रूपोल्लास का परिचय प्राप्त होता है। किन्तु इस दृष्टि से मातरिश्वा मरुद्गण के बिलकुल विपरीत हैं। उनका नाम है, कर्म भी है— किन्तु रूप, रथ, वाहन अथवा प्रहरण कुछ भी नहीं है। वे एक अमूर्त तत्व मात्र हैं। उनका कर्म भी प्रवृत्तिधर्मी नहीं, बल्कि प्रकाशधर्मी है। मरुद्गण और मातरिश्वा दोनों ही विश्वप्राण हैं, किन्तु मातरिश्वा में उनका अघोर, शान्त शिवरूप प्रस्फुटित हुआ है। सृष्टि के आरम्भ में प्राण के प्रथम उन्मेष के रूप में वे 'भुवनस्य पति: प्रजापति:' [१६६३] हैं, जो विश्वातीत 'अनेजद् एकं मनसो जवीय:' हैं उनके भीतर वे प्रत्येक भुवन में प्रवहमान 'अप:' अथवा प्राण की धारा निहित करते हैं।[१] अथवा वे ही अपार कारणसलिल हैं[२], अथवा कारणसलिल में प्रविष्ट एवं वहाँ देवताओं के साथ एकीभूत हैं।[३] फिर विसृष्टि में वे ही प्रत्येक पदार्थ में प्राण एवं अपान की क्रिया हैं।[४]

१०।१५८।१ टी. १६६२। [६] तु. बृ. अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेद:...२।४।१०
[७] तु. क. २।२।२। [८] तु. छा. ३।५।३। [९] ऋ. १०।१२९।४। विसृष्टि के आदिम प्रवेग को उपनिषद् में तत्स्वरूप की 'ईक्षा' अथवा परमपुरुष का 'काम' अथवा 'तप:' कहा गया है। इन तीनों में एक विशिष्ट क्रम है।

[१६६३] शौ. १९।२०।२। [१] मा. ४०।४(ई. ४)। [२] तु. ऋ. अकूपार: सलिलो मातरिश्वा १०।१०९।१।
<u>अकूपार:</u> सलिल का विशेषण। निरुक्त में यास्क बतलाते हैं- आदित्यो अप्य-कूपार उच्यते अकूपारो भवति दूरपार:, समुद्रो... महापार:, कच्छपो... न कूपम् ऋच्छतीति ४।१८। ऋक्संहिता में केवल एक और प्रयोग ५।३९।२ (इन्द्र)। 'कु' क्षुद्र, जिस प्रकार 'कुनदी'। अतएव व्युत्पत्तिगत अर्थ है जिसको पार न किया जा सके। निरुक्त की परिकल्पना में 'कच्छप' < कश्यप = आकाश, कच्छप के खोल जैसा होने के कारण। आकाश, समुद्र और आदित्य ये तीनों ही विसृष्टि के आरम्भ में — सत्ता, प्राण और प्रज्ञा के रूप में। उल्लिखित ऋक् का 'अकूपार सलिल' कारणसमुद्र। वह मातरिश्वा का विशेषण हो सकता है अथवा दोनों अलग भी हो सकते हैं। तब मातरिश्वा वायु (सायण)। दोनों ही 'प्रथमजा ऋतेन' अर्थात सृष्टि के आरम्भ में एक ऋतच्छन्दा आविर्भाव। ऋक्संहिता में ऐसे और भी दो तत्व तप:→

यह उनका सामान्य कर्म है। किन्तु अग्नि का मन्थन एवं आविष्करण उनका विशिष्ट कर्म है। संहिता में अनेक रूपों में उनका यह परिचय स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है: मातरिश्वा ने ही प्रथमतः अग्नि को जन्म दिया [१६६४]। अग्नि गुहाहित अथवा प्रच्छन्न रूप में थे, मातरिश्वा ने ही उनको मन्थन करके खोज निकाला।[१] परमव्योम में अग्नि जब जन्मे तब वे सर्वप्रथम मातरिश्वा के निकट आविर्भूत हुए।[२] उसी लोकादि अग्नि को मातरिश्वा ही बहुत दूर से, द्युलोक से — मनु के निकट और भृगु के निकट ले आए।[३] इस प्रकार अग्नि को उस पार से इस पार में ले आने के कारण मातरिश्वा भी विवस्वान के दूत हैं।[४] उनका यह दौत्य मर्त्य के हृदय में अमर्त्य की अनुप्राणना प्रेरणा जगाता है, शक्तिसंचार करता है, उसके भीतर अभीप्सा की आग जगाता है और उसे सारस्वत रस-संचयकारसिक बना देता है — जिसे इसी मातरिश्वा का ही प्रसाद कहा जा सकता है।[५] आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर इसमें प्राण के साथ चित्त-दीप्ति की अभिन्नता का संकेत प्राप्त होता है — हमारे भीतर विश्वप्राण की प्रेरणा से ही उसपार की आग जल उठती है। इस दृष्टि से बृहस्पति के साथ मातरिश्वा का साम्य है। बृहस्पति बृहत्-चेतना के दिग्दर्शक हैं। चेतना का संकुचन दूर करके जब विपुलता की सृष्टि करते हैं तब वे ही ऋत की साधना में सम्भूत होते हैं विभु मातरिश्वा के रूप में।[६] फिर विवस्वान और यम के साथ भी मातरिश्वा का घनिष्ठ सम्बन्ध द्योतित करती है विश्वप्राण और ज्योतिर्मय मरण की मित्रता — जिसका रहस्य प्राकृत मृत्युजित योगी जानते हैं।[७] मातरिश्वा अथवा वायु के सहारे अन्तर्मुखता की भूमिका में परमभूमि पर पहुँचने की जो एक साधन पद्धति थी उसका उल्लेख पहले ही किया गया है।[८] वातरशन मुनिगण इसी पथ के पथिक थे। इसके कारण ही मातरिश्वा विग्रहवान या साकार न होकर तत्व में पर्यवसित हुए थे कि नहीं, वह विवेच्य है।[९]

एवं 'आपो देवीः' हैं। अन्त के इस तत्व से भी द्युलोकस्थित कारण समुद्र का बोध होता है। अतएव पुनरुक्ति से बचने के लिए अकूपार एवं सलिल (जो सर सर की ध्वनि करते हुए जा रहे हैं, तु. ३।२९।११) ये दोनों ही मातरिश्वा के विशेषण हो सकते हैं। [३] शौ. अप्स्वा सीन् मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवा सलिलान्या सन्, बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आविवेश १०।८।४०। [४] शौ. उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ४।१०।८।

[१६६४] ऋ. १०।४६।९, टी. १३७५[४]। [१] गुहा सन्तं मातरिश्वा मथायति १।१४१।३, ७१।४। [२] १।१४३।२, टी. १३३९, १३५०[१]। [३] १।१२८।२ टी. १३४८[१]; ६०।१, टी. १३४२; यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं सम ईधे ३।५।१०। [४] ६।८।४ टी. १४६५। [५] तु. ऋ. 'यः पावमानीर् अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्, सर्वं स पूतम् अश्नाति स्वदितं मातरिश्वना, पावमानीर् यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्, तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर् मधूदकम् ९।६७।३१, ३२ (द्र. टी. १५६१)। पवमान सोम की उद्दिष्ट ऋचा 'पावमानी'। मातरिश्वा द्वारा द्युलोक से अग्नि के आहरण के साथ तुलनीय ग्रीक पुराण में प्रमथ्यूस का स्वर्ग से मनुष्य के लिए आग चुराना। यही क्रिया तंत्र में 'शक्तिपात' अथवा पंचकृत्यकारी शिव की अनुग्रहशक्ति का कार्य है। [६] बृहस्पतिः स ह्य (जब) अञ्जो वरांसि (८√वृ 'छा जाना' 'आच्छादित करना' तु 'उरु') विभ्वा भवत् सम् ऋते मातरिश्वा १।१९०।२। [७] तु. ऋ. ६।८।४ (टी. १४६५), १।१६४।४६ (टी. १२५९)। [८] द्र. टी. ११८४। [९] इन्द्र और मातरिश्वा का साम्य तु. 'ततक्ष सूरः (इन्द्रः) शवसा [वज्रम्] ऋभुर् न क्रतुभिर् मातरिश्वा [सन्] १०।१०५।६; मातरिश्वा = सोम ८।५२।२; मातरिश्वा वर और वधू के हृदय को एक कर दे रहे हैं १०।८५।४७। विश्व प्राण के रूप में मातरिश्वा ओज, आनन्द और प्रेम।

२- मध्यस्थान वरुण

निघण्टु में वायु के पश्चात् वरुण का स्थान है। स्वरूपतः ये आदित्य होने पर भी यहाँ मध्यम अथवा अन्तरिक्ष स्थान देवता हैं। ऋक्-संहिता में ही इस रूप में उनका उल्लेख है [१६६५]। किन्तु वहाँ मित्र सहचरित द्युस्थान वरुण की ही प्रधानता है — उसकी विवेचना यथा-स्थान की जाएगी।

अन्तरिक्ष स्थान वरुण स्वभावतः ही अप के अधिपति हैं [१६६६] — क्योंकि अप प्राण का प्रतीक है और अन्तरिक्ष प्राणलोक है। इस अप की व्याप्रिया हम प्रत्यक्ष रूप में मूसलाधार वर्षा में, नदी की धारा में और 'अर्णव' अथवा तरंगित समुद्र की महिमा में देखते हैं। द्युलोक से उतर कर मूसलाधार वर्षा का जल नदी का आश्रय लेकर बहते हुए अन्त में अकूल जलराशि में व्याप्त एवं सम्भृत, एकत्रित होता है।[1] इस नैसर्गिक घटना की आध्यात्मिक व्यंजना सुस्पष्ट है। यह जैसे द्युलोक के शक्तिपात के फलस्वरूप प्रत्येक नाड़ी में प्राण के उच्छल प्रवाह का अन्त में प्रचेतना के महासमुद्र में मिल जाना है।[2] संहिता में अनेक रूपों में उसका वर्णन है; 'जो असुर हैं, अप निषिक्त करके वे हम सब के पिता हुए ... हे वरुण, सभी अप या प्राणधाराओं को नदी करके नीचे उतार दो';[3] 'अप के शिशु यही वरुण मातृतमा नदियों के मध्य उनके सधस्थ अथवा संगम स्थल हैं';[4] 'नीचे की ओर मुँह खुला है जिस कबन्ध का, (उसका जल) ढाल दिया है वरुण ने रोदसी और अन्तरिक्ष में; उसी से विश्वभुवन के राजा ने भूमि को भिगो दिया, वृष्टि जिस प्रकार (भिगो देती है) यव या जौ (खेत); भिगो देते हैं वे भूमि को — पृथिवी और द्युलोक को, जब उसके बाद ही वरुण दोहन करना चाहते हैं: पर्वतों ने मेघों का परिधान

[१६६५] द्र. ऋ. ८।४१।२ (टी. १६५१[२] 'सिन्धु')।

[१६६६] तु. तैब्रा. 'अप्सु वै वरुणः' १।६।५।६। [1] तु. ऋ. 'या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा (खन्ता या गैंता से खोदकर निकालना, जिस प्रकार कुआँ में) उत वा याः स्वयंजाः (जिस प्रकार नैसर्गिक फ़व्वारे में), समुद्रार्था याः शुचयः पावकास् (इन दोनों अग्नि-विशेषणों में अग्निस्रोत की ध्वनि) ता आपो देवीर् इह (इस आधार में) माम् अवन्तु ७।४९।२ (तु. टीमू. १६८४[७])। ऋचा का अन्तिम चरण टेक है। [2] तु. १।३।१२, टी. १५२६, १५६१[५]। 'प्रचेतना' चेतना का अग्राभियान अथवा प्रसारण — जिस प्रकार शिखर से शिखर तक आरोहण के समय दिगन्त का प्रसारण (तु. १।१०।२)। वरुण 'प्रचेताः', समुद्र 'प्राचेतस'। [3] शौ. अपो निषिञ्चन् असुरो पिता नः ... वरुणाव नीचीर् अपः सृज ४।१५।१२। याद रखना होगा कि मूसलाधार वर्षण देवता का अजर प्राण एवं अमृत आनन्द का प्रसाद है। [4] मा. पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थम् अपां शिशुर् मातृतमास्व् अन्तः १०।७। 'पस्त्या' नदी, नाड़ी का प्रतीक; उनका संगम स्थान 'सधस्थ', 'अप' अथवा विश्व प्राण के समुद्र से आधार में शिशुरूपी वरुण वहाँ सम्भृत; नाड़ीवाहित प्राणस्रोत माँ की तरह उनको पुष्ट करता है (द्र. टीमू. १२८७, १२५७; ऋ. अम्बितमे...सरस्वति २।४१।१६, टी. १५५२; १।१६४।४९, टी. १३६४)। [5] ऋ. नीचीनबारं (= द्वारं) वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्, (उससे त्रिभुवन प्लावित हुआ), तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं (तारुण्य का प्रतीक, वर्षा के अभाव में सूख गया था, अब ताज़ा हो गया — यही ध्वनि है) न वृष्टिर् व्युनत्ति भूम (जिसमें सब कुछ होने की संभावना है, तु. क. भव्य २।१।१२,१३)। उनत्ति भूमिं (भूतजननी जो सब कुछ हो रही है) पृथिवीम् उत द्यां यदा दुग्धं (जो गुहाहित था उसका प्रकटन — →

पहना और ज्योति की शक्ति की कामना करते हुए (उनको) शिथिल कर दिया वीरों ने;'[५] 'हे मित्रावरुण, हे क्षिप्रद, हम सब के लिए उड़ेल दो इला और वृष्टि';[६] मित्रावरुण सिन्धुपति;[७] सप्तसिन्धु क्षरित होते हैं वरुण के काकुत अथवा तालु से;[८] ऊपर की ओर प्रवाहित धारा में वे उनके उत्समूल में हैं;[९] सिन्धु द्युलोक की तरह लगता है: वरुण उसे उतार ले आए; वे जैसे एक विन्दु हैं, श्वेत मृग हैं, आलोकवीर्यमय हैं।[१०]

विन्दु से सिन्धु शतधाराओं में नीचे आकर समुद्र में गिरता है। किन्तु वह समुद्र वरुण ही हैं: वे ही एकमात्र समुद्र हैं [१६६६] किन्तु एक रहस्यमय समुद्र हैं।[१] समुद्र के साथ ही उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और अब हम सब भी उनको समुद्र के देवता के रूप में ही जानते हैं। संहिता में भी हम देखते हैं: मरुद्गण जिस प्रकार चलते हैं द्युलोक में, अग्नि भूमि में, वात अन्तरिक्ष में — उसी प्रकार वरुण चलते हैं जलों में, समुद्रों में।[२] समुद्र एक नहीं है। पृथिवी में जिस प्रकार जल का समुद्र है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष में प्राण का समुद्र है और द्युलोक में ज्योति का समुद्र है। आध्यात्मिक दृष्टि से वे भूतमात्रा, प्राणमात्रा और प्रज्ञामात्रा के अक्षीयमाण शतधार उत्स जैसे हैं।[३] ये तीनों समुद्र ही वरुण के हैं अथवा वे वरुण ही हैं। समुद्र के अकूल, असीम विस्तार में उनके नाम की सार्थकता है। वे वरुण हैं अर्थात सब कुछ को घेरे हुए हैं, सब कुछ उनके द्वारा आच्छादित है[४] — जिस प्रकार पृथिवी के स्थलों को जल होकर, फिर अन्तरिक्ष को वातास होकर, और द्युलोक को आलोक होकर। सब को आच्छादित करके वे शेष

जिस प्रकार खेत में सोने की फ़सल, दोनों अर्थों में ही) वष्ट्याद् इत्। सम अभ्रेण वसत पर्वतासस् तविषीयन्त: श्रथयन्त वीरा: (मरुद्गण) ५।८५।३,४। **कबन्ध** दृति, मशक, भिश्ती। उसका मस्तक नहीं, पाँव नहीं (तु. 'अपाद शीर्षा गुहमानो अन्ता' ४।१।११, टी. १४६२, १३०८[४]), अतएव अव्यक्त अव्याकृत किन्तु उससे ही शक्ति का निःस्रव। निघ. 'उदक' १।१२। नि. कबन्धं मेघम्, कवनम् उदकं भवति, तद् अस्मिन् धीयते, उदकम् अपि कबन्धम् उच्यते। बन्धिर् अनिभृतत्वे कम् अनिभृतं च १०।४। तु. 'अर्वाग्बिल ऊर्ध्वबुध्न' पात्र। यत के खेत में वृष्टि यहाँ उपमान है। इसलिए भूमि को भिगो देने का अर्थ रहस्यमय: आधार का बन्ध्यात्व दूर करना है। तब भूमि पयस्विनी धेनु हुई। वरुण ने उसको दुहकर प्राण और ज्योति को बाहर निकाला। पर्वत ध्यानचेतना का प्रतीक। उससे जुड़ा आसन्नवर्षण प्राण छलक रहा है। मरुद्गण ज्योति की आँधी लेकर आए। मेघों ने तरल होकर पर्वत को अभिषिक्त किया। पृथिवी का बाँधन दूर हुआ। **तविषीयत** <√ तविषी-य (चाहना के अर्थ में, नामधातु); **तविषी** <√ तु 'शक्ति में बढ़ते जाना' + इस + ई स्त्रीलिंग में शक्ति, बल (निघ. २।९)। तु. निघ. 'तवस:', 'तवस:', महत् (३।३); नि. त्विष 'दीप्तिकर्मा' ८।१४। अतएव 'तविषी' आलोकवीर्य (तु. इन्द्र का देवी तविषी ऋ. १।५६।४)। [६] ऋ. ५।६४।२ टीमू. १५४७। [७] ५।६४।२। [८] द्र. टीमू. १०५१[२]। [९] द्र. टी. वही। [१०] अन सिन्धुं वरुणो द्यौर् इव स्याद् द्रप्सो न श्वेतो मृगस् तुविष्मान् ७।८७।६। सिन्धु यहाँ सिन्धुनद के मुहाने के निकट का समुद्र, वही ज्योतिर्मय आकाश की उपमा। **द्रप्स** 'बिन्दु', विशेषत: सोमरस का (तु. १०।१७।११-१३), रेतोबिन्दु तु. ७।३३।११ टी. १३४८ (द्र. नि. ५।१३-१४, तत्र दुर्ग. व्युत्पत्ति. <√ प्सा 'खाना'; वस्तुत: <√ द्रु 'बहना, पिघलना')। सिन्धु सम्भृत एक विन्दु में, वही विन्दु वरुण हैं। शैव तंत्र में शिव 'श्वेतविन्दु'। यहाँ वरुण भी वही। उसी अक्षर विन्दु से सिन्धु का क्षरण (तु. ऋ. १।१६४।४२, टी. १२५४)। 'श्वेत' विशेषण, यहाँ उभयान्वयी। द्रप्स रूप में वरुण प्रज्ञा, मृगरूप में प्राण। श्वेत मृग गौरी, श्वेत मृगी रूप में परमव्योम में परा वाक् १।१६४।४१।

नहीं हो जाते बल्कि सब का अतिक्रमण कर गये हैं। इसलिए वे वही मायावी पुरुष हैं जो इस भूमि को 'आवृत' करके भी उसके 'अतिष्ठा:' हैं[2] उससे परे हैं। तब वे एक तुरीय समुद्र — अव्यक्त अनन्तता के रहस्यमय (अपीच्य) समुद्र हैं। यही वरुण एक परम शून्यता हैं वे हम सब के अत्यन्त अपने होने पर भी हमारी पहुँच से बाहर हैं।[6] किन्तु हम अन्तरिक्ष स्थान वरुण को सहज में ही बहुत निकट पाते हैं। वे चिरन्तन नाविक हैं जो हम सब को प्राण समुद्र से पार ले जाते हैं। ऋषि वसिष्ठ की भाषा में : 'मैं और वरुण जब नाव पर सवार [illegible], महासमुद्र के पार उतरेंगे, जब हम लहरों के शिखर-शिखर पर चलेंगे, तब हम दोनों वारुणी हिंडोले पर झूलते-झूलते अग्रसर होंगे उस शुभ्रता की ओर।'[7] देवता को कस कर पकड़े लोग उनके हज़ार दुआरी घर की ओर यात्रा करते हैं, कभी-कभी डर लगता है, 'हम दोनों की प्रेम-डोर कहीं टूट न जाए' — यह सख्यरति का एक मधुर निदर्शन है।[8]

[१६६६] तु॰ इमाम् ऊ नु कवितमस्य (कविश्रेष्ठ वरुण की) मायां महीं (महती) देवस्य न किर् (कोई नहीं) आ दधर्ष (मुकाबला कर पाया है), एकं यद् उद्ना (जल से) न पृणन्ति (पूर्ण कर सकता है) एनीर् (शुभ्र) आसिञ्चन्तीर् (उड़ेल-उड़ेल करें) अवनय: (धाराएँ) समुद्रम् ५।८५।६। ल॰ नदी की धाराएँ शुभ्र, किन्तु समुद्र का जल नीला है। सब उजाला वरुण के रहस्य में गहरे जाकर अँधेरा हो जाता है इसलिए उनकी थाह मिलती नहीं। यही उनका महाकाव्य है, उनकी माया है।[1] स समुद्रो अपीच्य: ८।४१।८।[2] दिवा यान्ति मरुतो भूम्याग्निर् अयं वातो अन्तरिक्षेण याति, अद्भिर् याति वरुण: समुद्रै: १।१६१।१४।[3] तु॰ कौ॰ २।८।[4] तु॰ नि॰ वरुणो वृणोतीति सत: १०।३।[5] तु॰ ऋ॰ १०।७०।११। वहाँ 'वृत्वा' में वरुण की ध्वनि है।[6] तु॰ 'माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदावन आ विदं शूनम् आपे:, मा रायो राजन् सुयमाद् अव स्थाम्' — हे वरुण, महामहिम हो तुम, प्रिय हो, भूरिदाता हो ; तुम (मेरे) अपने, आत्मीय हो ; (तुम्हारी) शून्यता मुझे न प्राप्त हो ; हे राजा, सुसंयत संवेग से विच्युत न होना पड़े। — एक ओर वरुण का दाक्षिण्य, उदारता, और दूसरी ओर उनकी रिक्तता, शून्यता है क्योंकि आलोक के मूल में जो अँधेरा है, वे वही हैं। उनका संकर्षण दुर्निवार है; किन्तु उस सर्वहर, सर्वग्रासी के आकर्षण में कहीं गहरे में न चला जाऊँ। आदित्यगण, वरुण और विश्वदेवगण को लक्षित तीन सूक्तों की अन्तिम ऋचा। प्रथम सूक्त में 'अभय ज्योति' के लिए एक व्याकुलता है (२।२७।११, १४), उसके अन्त में ही शून्यता के प्रति यह भय एवं उसे दूर करने के लिए विशेष रूप से वरुण के निकट प्रार्थना। यह कुछ ऐसा है जैसे आदित्य की शुक्ल भाति अथवा दीप्ति से परः कृष्ण नीलिमा में उत्तरण के सम्मुख ठमक जाना। उसके अगले वरुण सूक्त में भी यही भाव है — साधना में कहीं कोई व्यवधान न उपस्थित हो, अकस्मात कोई तन्तु टूट न जाए, ज्योति से निर्वासित और वंचित न हों (२।२८।५, ७)। आदित्य द्युति से वारुणी रात्रि में जाना बहुत ही स्वाभाविक है। उसके बाद ही फिर लोकोत्तर से उतरकर वैश्वदेव द्युति में उद्भासित होना — देवता को अत्यन्त आत्मीय के रूप में जानना है (२।२९।४)। प्रत्येक सूक्त के अन्त में उस मोक्षभीति में ऋषिपंथा के वैशिष्ट्य का संकेत मिलता है — श्री रामकृष्ण देव की भाषा में वापस आकर रस में और नशे में रहना, 'भावमुखी' रहना। **शून** तु॰ ऋ॰ 'मा सख्यु: शूनम् आ विदे मा पुत्रस्य प्रभूवसो, आवृत्वद् भूतु ते मन:' — सखा की शून्यता अथवा अभाव से दूर रहूँ और न तो पुत्र का अभाव हो, हे प्रभूत ज्योति; घूम-फिरकर आए तुम्हारा मन (मेरे पास, हे इन्द्र) ८।४५।३६, देवता सायुज्य में सखा (तु॰ १।१६४।२०) व्यावहारिक जीवन में पुत्र; 'मो षु देवा अद: स्वर् (वही स्वर्ज्योति) अव पादि दिवस् परि (अर्थात् माध्यन्दिन सूर्य ऊपर की ओर उठ जाए कहीं ढल न जाए) मा सोमस्य शम्भुव: शूने भूम कदा चन —

वर्षा के प्रारम्भ में 'वरुणप्रघास' नाम का एक चातुर्मास्य याग शुरू होता। जिसके नाम से ही इसमें वरुण का प्राधान्य सूचित होता है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि प्रजापति ने इस याग की सहायता से अपनी प्रजाओं को वरुण के पाश से मुक्त किया था, उसी से वे नीरोग और निष्पाप होकर जन्मे थे [१७७८] इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि इस याग के फलस्वरूप यजमान वरुण हो जाता है — वरुण का सायुज्य एवं सालोक्य प्राप्त करता है।[1] इस देश में जब बरसात होती है तब सूर्य उत्तरायण के अन्तिम बिन्दु पर होता है। अर्थात उस समय द्युलोक में आदित्यज्योति का पूर्णतम दाक्षिण्य अथवा प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति और अन्तरिक्ष में अवरोधमुक्त प्राण का प्लावन होता है। एक साथ प्रज्ञा और प्राण की चरम चरितार्थता दोनों ही परम आनन्त्य के देवता वरुण का प्रसाद है। वरुण प्रघास में चार विशिष्ट आहुतियों का विधान है; उसकी तीन आहुतियाँ इन्द्राग्नि, वरुण और मरुद्गण के निमित्त हैं और अन्त की 'क' के निमित्त एक एककपाल अथवा पुरोडाश है। यह एककपाल पुरोडाश अद्वैतभावना का सूचक है। 'क' हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति अथवा वरुण अथवा आनन्द ब्रह्म की सांकेतिक संज्ञा है।[2] वरुण की वृष्टि 'राधो अमृतत्वं' अथवा अमृतत्व की प्राप्ति अथवा

(उसके बाद सौम्य चेतना की प्रशान्ति कहीं अमानिशा की शून्यता में मिल न जाए कभी भी)' — १।१०५।२, कुएँ में डूबे हुए त्रित की प्रार्थना, 'मा शूने अग्ने नि षदाम नृणाम्' पौरुष के साधकों की शून्यता में कहीं खो न जाऊँ हे अग्नि ७।१।११। विप्र की साधना दारिद्र्य की है रिक्तता की नहीं; 'मा शूने भूम सूर्यस्य संदृशि भद्रं जीवन्तो जरणाम् अशीमहि' — हम सब सूर्य का संदर्शन प्राप्त करते हुए कहीं शून्यता में न चले जाएँ, प्रज्वल अथवा देदीप्यमान होकर दीर्घ जीवन जीते हुए वृद्धावस्था में पहुँचें (ऋषि की 'जिजीविषा') १०।३७।६, २।३३।१२ (सर्वनाश अर्थ में)। व्युत्पत्ति ? < √शू 'फूल उठना, स्फीत होना'। एवं उसके बाद फट पड़ना और मिल जाना। > 'शून्य' ऋक्संहिता में नहीं, किन्तु अथर्ववेद में है। मुनिपंथा के शून्यवाद का आभास पाया जाता है, उपनिषद में जो 'असत' (ऋ. में भी है) 'असम्भूति' अथवा 'विनाश' है। [8] 'आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रम् ईरयाव मध्यम्, अधि यद् अपां स्नुभिस् (सानुभिः) चराव प्र पेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ७।८८।३। उसके बाद ही इस आकांक्षा की पूर्ति: 'वसिष्ठं ह वरुणो नाव्या धाद् ऋषिं चकार स्वपा महोभिः, स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान् नु द्यावस् ततनन् याद् उषासः' — वसिष्ठ को वरुण ने नाव में बैठाया (उन्हें) ऋषि फिर सुकर्मी बनाया (अपनी) ज्योति; शक्ति के वैपुल्य में, स्तोता (किया उन्हें उस) भावकम्प्र (देवता ने) जिससे आ... त हो उसे सारे दिन, जिस क्षण सभी द्युलोक आतत हुए, विस्तृत हुए, जिस क्षण (आतत हुई उषाएँ ४। वरुण अथवा आकाश की नाव पर चढ़ने का अर्थ ही हुआ यथार्थ 'वसिष्ठ' अथवा उज्ज्वलतम ज्योतिष्क अर्थात सूर्य होना। उस समय ऋषि को लक्ष्य करके केवल ज्योति का छितराव, फैलाव (तु. पूर्व के ऋक् का 'शुभे', द्र. टी. १५४३[2])। सुदिनत्वे ज्योति की जगमगाहट के लिए (लक्ष्यार्थ में सप्तमी)। 'दिन' < √*दिव् 'दिपना, चमकना' दीप्ति। सुदिन का विलोम 'दुर्दिन', जब मेघ की छाया में ज्योति म्लान हो जाती है। तु. ३।८।५, २३।४, १०।७०।१। यात् < यत् (य), पंचमी का एकवचन।... वरुण की नौका का प्रसंग तु. ७।६५।३ (६।६८।८), ८।४२।३; देहतरी का आभास ८।२५।११। और भी तु. शौ. कुमारी कन्या के भग की नौका में सवार होना (२।३६।५), जो श्रीकृष्ण के नौकाविलास का स्मरण दिला देता है। ऋ. 'क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यद् अवृकं पुराचित्, बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते' — अब कहाँ है, वह हमारा सख्य, जब हम दोनों बहुत पहले एक →

हम सब का परमकाम्य है।[3] वर्षा के प्रारम्भ में वरुणप्रघास में अन्तरिक्ष स्थान वरुण की यही महिमा सूचित होती है[4]

३- रुद्र

निघण्टु में वरुण के बाद **रुद्र** का उल्लेख है। आचार्य दुर्ग की परिकल्पना कुछ इस तरह है: ग्रीष्म के अन्त में प्रतप्त अन्तरिक्ष में पहले विशृंखल, अस्तव्यस्त हवा बह रही थी। उसके बाद मेघों से आकाश ढँक गया। वर्षा के वरुण को हमने देखा है कि आसन्न वर्षण के मेघ होकर चित्त के आकाश में छलक जाना चाहते हैं। यही मेघ जब जल होकर झरता नहीं, तब 'वृत्र' (जो ढँके रहता है) अथवा 'नमुचि' (मेघ में अवरुद्ध जल को जो मुक्त नहीं करता) है; किन्तु जब झरता है, तब वह वरुण, अर्थात जो नमुचि के संचित वित्त को छीन लेते हैं [१६६९]। वर्षण के पहले मेघ की गड़गड़ाहट यह सूचना देती है कि इसके बाद अन्तरिक्ष में आँधी, वर्षा और बिजली की मस्ती शुरू होगी। यह गर्जन, गड़गड़ाहट ही रुद्र का 'रोदन' है। अतएव शतपथ ब्राह्मण में इस संज्ञा की व्युत्पत्ति 'रुद्' धातु से है, जिसका मौलिक अर्थ है 'गर्जन करना'।[1] किसी-किसी की दृष्टि में विकल्प व्युत्पत्ति 'रुध्र' से है, जिसका अर्थ है रक्तवर्ण।[2]

निघण्टु में रुद्र को छोड़कर देवगण के अन्तर्गत रुद्रगण का उल्लेख है [१६८०]। संहिता में अनेक स्थानों पर उल्लिखित ... तीनों देवगण के अन्तर्गत वे अन्यतम हैं।[1] देवताओं की रूपरेखा के अन्तर्गत रुद्र और रुद्रगण एक मुख्य स्थान के अधिकारी हैं अतएव ऋक्संहिता में रुद्र की सूक्त-संख्या कम होने के कारण वे एक अप्रधान अथवा गौण देवता के रूप में—

दूसरे से घनिष्ठ रूप में जुड़े थे बिना कोई आघात पहुँचाए ? हे वरुण, हे स्वधावान, तुम्हारे बृहत् विस्तार में, तुम्हारे हज़ारदुआरी घर में मैं गया हूँ ७।८८।५।

[१६६८] [1] श. २।५।३।१। १२।६।४।८। [2] ऋ. १०।१२१ सूक्त (ऋक् १०); वरुण विश्वभुवन के सम्राट ८।४२।१ (तु. ५।८५।१, ३)। और भी तु. श. 'कं वै प्रजापतिः' २।५।२।१३। शां ब्रा. 'सुखस्यैव तन् नामधेयं कम् इति ५।४। वरुण 'ब्रह्म' द्र. द्युस्थान वरुण। [3] ऋ. 'वृष्टिं वां राधो अमृतत्वम् ईमहे' ५।६३।२। यह पूरा सूक्त अमृतवर्षण का वर्णन है। मित्र ज्योति की और वरुण प्राण की वर्षा करते हैं। [4] द्र. कात्यायन श्रौत सूत्र पंचम अध्याय। वरुण प्रघास का आरम्भ आषाढ़ी पूर्णिमा से (द्र. टीप्. १४५९)।

[१६६९] तु. मा. २०।६१। और भी तु. 'यद् अप्रभूती (अनायास) वरुणो निर् अपः सृजत्' १०।१२४।७। ऋक् संहिता में 'नमुचि' का वध करते हैं इन्द्र 'अपां फेनेन', अर्थात् प्राणोच्छ्वास से' (८।१४।१३)। [1] द्र. नि. १०।५; तु. श. 'यद् अरोदीत् तस्माद् रुद्रः' ६।१।३।१०। और भी स्मरणीय, भूलोक-द्युलोक के दो सीमान्त 'रोदसी' अथवा क्रन्दसी; जो अन्तरिक्ष लोक की परिधि हैं। एक दूसरे के आमने-सामने खड़ी ललकारती सेनाओं को भी 'क्रन्दसी' कहते हैं। निरुक्त में मेघगर्जन माध्यमिक वाक् (द्र. २।९, १०।४६...) अथवा अन्तरिक्षस्थ शब्दब्रह्म, जिससे विसृष्टि की सूचना (विशेष द्रष्टव्य आगे चलकर)। [2] रुध ॥ रुधिर। तु. ऋक्संहिता में रुद्र 'अरुष' (१।११४।५), 'अरुण' मा. १६।६, 'बभ्रु ताम्र विलोहित' १६।७, 'रोहित' १९। आजकल कोई-कोई लाल पत्थर से 'शिव' की कल्पना करते हैं — यह एक जटिल कल्पना है। वस्तुत: 'अरुण रुद्र' झंझा के लाल मेघ के देवता हैं। तु. 'वाताय कपिला विद्युद् वर्षाय लोहिनी मता'। पुराण में गजासुर का वध करके शिव के कृत्तिवास होने के मूल में यही नैसर्गिक घटना है। गज मेघ का उपमान

प्रसिद्ध हैं। मरुद्गण की चर्चा कुछ पहले ही की जा चुकी है, रुद्र उनके पिता हैं। तो फिर रुद्रगण के साथ मरुद्गण का सम्बन्ध क्या है? क्या वे ही मरुद्गण हैं? किन्तु जान पड़ता है, दोनों गण के बीच एक पार्थक्य है। रुद्रगण का अधिकार मरुद्गण की अपेक्षा व्यापक है। मरुद्गण अन्तरिक्ष स्थान होने पर भी द्युलोक के अधिक निकट हैं, और रुद्रगण विशेष रूप से इस पृथिवी में भी अनगिनत रूप में हज़ारों की संख्या में विचरण करते हैं।[2] एक ओर वे ही जिस प्रकार मरुद्गण अर्थात् इन्द्रसहचर, हिरण्यरथचारी, कल्याण-पथ के दिग्दर्शक और तृषार्त जलाभिलाषी के निकट ज्योति के निर्झर जैसे हैं;[3] उसी प्रकार दूसरी ओर वे ही हम सब के परिचित शिव के प्रमथगण हैं जो उनकी सेवा में रत रहते हैं। अर्थात् घोर एवं उग्र होने पर भी मरुद्गण केवल ज्योति हैं; और रुद्रगण ज्योति और अन्धकार दोनों ही हैं। अध्यात्म-दृष्टि से मरुद्गण प्राण के ऊर्ध्वस्रोत हैं जो श्री और शुभ की ओर प्रवहमान हैं; और रुद्रगण प्राण की स्वस्थता और विकार दोनों ही हैं। दोनों गणों के गणपति रुद्र हैं। किन्तु एक गण उनके पुत्र अथवा आत्मज-अर्थात् 'साकंजात' रूप में उनकी शक्ति का सर्वांग सुन्दर प्रकाश है, और दूसरा गण उनकी विभूति का विचित्र और विषम विच्छुरण है।[4] फिर वायु को इनके साथ जोड़कर प्राण की दृष्टि से विचार करके देखने पर विश्वमूल प्राण की एक सामान्य संज्ञा कहा जा सकता है। वायु विराट् पुरुष के प्राण हैं, वे अदिति के भीतर उच्छ्वसित मातरिश्वा हैं — उनकी साधना में रूप-कल्पना का स्थान नहीं है। यह प्राण ही जब प्रत्येक लोक में संचरणशील ऊर्ध्वस्रोता एक चित्शक्ति का रूप लेता है तब वह मरुद्गण है। और रुद्र को हम ऋक्संहिता में ही विराट्-पुरुष के रूप में पाते हैं और यजुःसंहिता में वे एक-रुद्र हैं। अथर्ववेद में जिनको व्रात्य, एकऋषि (एकर्षि), विश्व का सत्पति कह कर वर्णन किया गया है,[5] वे तत्वरूप में प्राण और देवता रूप में रुद्र हैं। संहिता में उनकी ही एकादश प्रकार की विभूति रुद्रगण हैं, जिन्हें शतपथ ब्राह्मण में आध्यात्मिक दृष्टि से दस प्राण और उनके अधिपति आत्मा कहा गया है।[6] ऋक् संहिता में इन्द्र की तरह रुद्र भी 'मरुत्वान्' हैं, यह ध्यातव्य है।[8] इन्द्र वहाँ परम पुरुष हैं, रुद्र भी वही हैं — विशेष रूप से जब वे सात लोकों में संचरमाण मरुद्गण

(तु॰ मेघदूत 1।2, गजलक्ष्मी), जिस प्रकार इन्द्र का ऐरावत। मेघदूत में लाल मेघ जैसे गजासुर का लाल चर्म (1।36)। मा॰ 16।7 में आँधी के मेघ की छवि। [1680] निघ॰ 5।5। [1] द्र॰ टीमू॰ 1283। [2] मा॰ असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् 16।54। [3] तु॰ ऋ॰ आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन, ... तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे 5।57।1। द्र॰ नि॰ 11।15। [4] तु॰ पुराण के शिव, उनके पुत्र देवसेनापति कुमार, एवं उनके अनुचर प्रमथगण। [5] तु॰ प्र॰ 2।11। [6] द्र॰ ऋ॰ 1।135।11, टीमू 1281, 1283। [7] श॰ 11।6।3।5; यही आत्मा उपनिषद में 'मुख्य प्राण' (छा॰ 1।2।7)। [8] ऋ॰ 1।114।11, 2।33।6। [9] तु॰ 6।47।18... विशेषतः वे जब निष्कैवल्य, द्र॰ टीमू॰ 1646। [10] 'दिवो वराहम्' 1।114।5। मरुद्गण भी वराह 1।88।5, द्र॰ टीमू॰ 1642। ...

पिता हैं। वे चिन्मय प्राण हैं, यह समझाने के लिए एक स्थान पर 'द्युलोक के वराह' रूप में उनका वर्णन किया गया है।[१०]

उपनिषद् की भाषा में रुद्र की उपासना, 'मुख्यप्राण' की उपासना है। यह वैदिक साधना की एक प्रमुख धारा है और प्रज्ञा की उपासना एक दूसरी धारा है। उसके देवता विष्णु हैं। यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में हम रुद्र को पौराणिक शिव के रूप में पाते हैं—हालाँकि इस भावना का सुस्पष्ट संकेत ऋक्संहिता में ही है [१७–१]। उसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को नारायण रूप में पाते हैं।[१] शिव और नारायण की उपासना भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित है। शैव और भागवत धर्म इस देश के दो गणधर्म हैं। सम्प्रति उनका वेद इतिहास-पुराण है; किन्तु अति प्राचीन काल में त्रयी में भी उनका सुस्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। शैवधर्म का आधियज्ञ रूप हम यजुर्वेद के शतरुद्रीय होम में, और भागवत धर्म के पुरुषमेध यज्ञ में प्राप्त करते हैं। वैदिक यज्ञ साधारणतः यजमान के एकान्त का कर्म है, अन्तर की गहराई में देवता के साथ उसके सायुज्य की साधना है। किन्तु इन दोनों अनुष्ठानों में देवता ने मानो विश्वरूप होकर, विराट् होकर प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। पुरुषमेध यज्ञ स्पष्टतः ऋक्संहिता के साँचे में ढला हुआ है, जहाँ देवता स्वयं ही यज्ञ के पशु हैं और वह पशु वर्णश्रेष्ठ ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज तक सभी है।[२] शतरुद्रीय होम मंत्र में भी हम देखते हैं कि रुद्र ही 'देव-तिर्यङ्-नरादि' सब हुए हैं, नर में चोर-डाकू सभी और चेतन-अचेतन सब ही वे हैं।[३] दोनों स्थानों पर हम देखते हैं कि देवता विश्वरूप हैं, वे ही सब कुछ हुए हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसी अति प्राचीन आर्य भावना का मौलिक महावाक्य ऋक्संहिता का 'पुरुष एवेदं सर्वम्' है।[४] उसका ही प्रतिरूप 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' यजुःसंहिता में शैव धर्म का महावाक्य है।[५] और इतिहास-पुराण में भागवत धर्म का महावाक्य 'वासुदेवः सर्वम्' है।[६] इन सब का ही औपनिषद प्रतिरूप हुआ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।[७] और इसके आधार पर ही वेदान्त के न्याय प्रस्थान में शांकर, वैष्णव और शैव मतों का प्रवर्तन हुआ।

वैदिक भावना की मौलिक अभिन्नता की दृष्टि का यही परिचय है, जिसकी सुस्पष्ट प्रतिच्छवि हम ऋक्संहिता के परिमण्डल अथवा परिवेश में देख पाते हैं। किन्तु भावना और उपासना के वैचित्र्य से इसके ही भीतर फिर मतभेद का भी सूत्रपात होता है। विष्णु की उपासना आदित्य की उपासना है, वे आदित्यमण्डल के केन्द्र में स्थित हिरण्मय पुरुष, कल्याणतम रूप के

[१७–१] द्र. ऋ. १०।८२।८ टीमू ३०४। [१] श. १३।६।१।१...। द्र. 'भग', 'विष्णु'। [१०] द्र. मा. ३०।५...। [३] मा. १६।१०–६६। [४] ऋ. १०।९०।२। [५] तैस. १।८।६।१; तु. श्वे. ३।२। [६] गीता ७।१९। [७] छा. ३।१४।१।

आधार हैं- उनको आँखों से देख सकते हैं [१६८२]। और रुद्र की उपासना तत्वतः वायु की उपासना है, उनका रूप नहीं दिखाई देता तब भी वेग अनुभूत होता है।[1] उनके परमदेवता होने की स्थिति में उनके सम्बन्ध में उपनिषद की उक्ति इस प्रकार है— 'न संदृशे तिष्ठति रूपम् अस्य।'[2] रूपवान देवता मेरी आँखों के सामने हैं, वहाँ द्रष्टा और दृश्य का द्वैत है। किन्तु देवता जब अरूप वायु अथवा प्राण हैं तब हर साँस में उनको अपने भीतर खींच कर ले आता हूँ, उनके साथ एकाकार हो जाता हूँ। उसके कारण विष्णु की उपासना में जिस प्रकार अधिदैवत दृष्टि के ऊपर ज़ोर पड़ता है उसी प्रकार रुद्र की उपासना में अध्यात्म दृष्टि के ऊपर ज़ोर पड़ता है। उस समय चेतना की अन्तर्मुखता उसका साधन है। साधना की यह धारा 'वातरशन मुनियों' के द्वारा पुष्ट हुई थी, जो वायु के द्वारा मथित विष एक ही पात्र में रुद्र के साथ पान करते हैं।[3]

उपासना का भेद लक्ष्य का भी भेद सूचित करता है। वस्तुतः आकाश अथवा शून्यता ही सब का लक्ष्य है किन्तु इस शून्यता के भी प्रभेद और प्रकार हैं। ऋषि की साधना [illegible]तः वारुणी शून्यता के अनिबाध वैपुल्य में पहुँचती है और मुनि की अन्तर्मुखी साधना याम्य शून्यता के अमाकुहर या गहरे अँधेरे में पहुँचती है [१६८३]। ऋषि की शून्यता एक ओर जिस प्रकार 'नीलं परः कृष्णम्' है, उसी प्रकार दूसरी ओर 'शुक्लं भाः' से दीप्त है : विष्णु के परम पद में हैं 'भूरि शृंग किरणयूथ' और हैं 'मधु का उत्स'।[1] और मुनि की शून्यता घने अँधेरे की तमिस्रा की एक अप्रकेतता अथवा अस्पष्टता है, तब भी उसके भीतर प्राण का प्रवाह चुपचाप धीरे-धीरे प्रवहमान है।[2] वहाँ दिन नहीं, रात नहीं— हैं केवल शिव; और उनके आभाहीन उद्भास से यहाँ का सब कुछ प्रकाशित हो रहा है।[3]

इस प्रकार आर्य भावना में प्रस्थान-भेद दिखाई दिया, जब कि आरम्भ में यह भेद नहीं था। एक ओर ज्योति, जीवन और आनन्द की भूमिका में ऋषि-प्रस्थान की स्थापना हुई— जिसके पुरोधा विष्णु हुए। और दूसरी ओर अन्धकार, मृत्यु और दुःख के अवरोधक को दूर करके मुनि-प्रस्थान की स्थापना हुई— जिसके पुरोधा रुद्र हुए। प्राण तो केवल ज्योति नहीं, वह अन्धकार भी है। जीवन के पूर्वाह्न में हम जिस प्रकार प्राण का उपचय, वृद्धि अथवा छलकन देखते हैं उसी प्रकार अपराह्न में जरा, व्याधि और मृत्यु के रूप में प्राण का अपचय अथवा ह्रास देखते हैं। ये सब रुद्र की 'हेति', अथवा प्रहरण हैं- जो लोगों को दुःख से आक्रान्त करते हैं, उत्तेजित करते हैं [१६८४] भीरु उसके सामने नत हो जाते हैं, कातर

[१६८२] द्र. छा. १।६।६-७ ई. १६। १ तु. ऋ. १।१६४।४४, १०।१६८।४ टी. १२७४१। २ क. २।३।९, श्वे. ४।२०। ल. दोनों ही योगोपनिषद। इतिहास-पुराण में शिव योगेश्वर। ३ तु. ऋ. १०।१३६।२,७ ; द्र. टीमू. १६२९।
[१६८३] द्र. ऋ. १।१६४।४६ टी. ११८४; १०।९४।७, टीमू. १२६९[४], १२३९। १ तु. १।१५४।५, ६। २ १०।१२९।३। ३ तु. श्वे. ४।१८, ६।१४; क. ४२।१५। [१६८४] < √हि 'प्रेरणा देना'। नि. हेतिर् हन्तेः ६।१।

स्वर में प्रार्थना करते हैं, 'हे रुद्र, मा नो वधीः' — हम सब का वध मत करो।[1] और जो वीर हैं, वह यह विष ही रुद्र के साथ एक ही पात्र में पान करके 'नीलग्रीव' होता है, मृत्युंजय होता है।

भयंकर और अभयंकर दोनों प्रकार के [illegible] का उल्लेख संहिता में है। जो रुद्र हैं, वे ही शिव हैं। वृत्र का अवरोध तोड़ने के लिए मेघाच्छन्न आकाश में जिनके गर्जन से वर्षा का संकेत प्राप्त होता है वे ही वर्षा थमने के बाद निर्धौत-निर्मल आकाश की प्रसन्न भूमिका में शिव रूप में दिखाई देते हैं। शाश्वत मानव के इस अनुशासनात्मक ऋक् में एक ही देवता की इस द्वैतलीला का सुस्पष्ट परिचय है: 'अपने स्तोम अथवा स्तुतिगान को आज प्रणति के साथ भेज दो रुद्र के निमित्त — जो शक्तिमान एवं वीरों के आश्रय हैं; (भेज दो उनके भी निमित्त) जो स्वेच्छाचारी एवं (तुम सब के ही लिए) व्यग्र हैं जिनको साथ लेकर आत्मस्थ शिव होकर (तुम सब को) वे द्युलोक से कस कर पकड़े रहते हैं — अपनी ईशना (अकुंठ सामर्थ्य) को अपने ही भीतर समाहित रख कर [१७८५]।' यहाँ हम देखते हैं कि जिनमें रुद्र रूप में शक्ति का 'उन्मेष' होता है, वे ही शक्ति के 'निमेष' में आत्मस्थ शिव हैं। रुद्र यहाँ 'मरुत्वान्' हैं।[1] मरुद्गण का 'एवयाव' विशेषण ध्यातव्य है क्योंकि यही विशेष रूप से मरुद्गण के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] दीप्त प्राण का झंझावात रूपान्तरित होता है मन्द समीरण में, जब वह पहुँचता है परमपद में — वह अब विष्णु का ही हो अथवा रुद्र का ही हो।

रुद्र और शिव तो एक ही तत्व के दो पार्श्ववर्ती रूप हैं, यह मंत्र तो उसका एक प्रकृष्ट प्रमाण है। संहिता के अन्यान्य मंत्रों के विवेचन में जब आनुषंगिक प्रमाण प्राप्त होगा, तब हम देखेंगे कि शिव को बाहर से आयात करने की कोई आवश्यकता नहीं, वे रुद्र के साथ ही जुड़े हैं। रुद्र वैदिक और शिव वेद के बाहर के देवता हैं — यह परि-कल्पना निर्मूल एवं निराधार है। तब भी उपासना में जिन्होंने सूर्य की अपेक्षा वायु के ऊपर अधिक ज़ोर दिया, वे धीरे-धीरे मूल वैदिक धारा से दूर जाने लगे। उनकी साधना में याग से अधिक योग को महत्व दिया गया। संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद में इसका परिचय →

---

१ तु. ऋ. 'मा नो महान्तम् (बड़े को) उत मा नो अर्भकं (छोटे को) मा न उक्षन्तम्, ... मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः (अनिष्ट मत करो)। मा नस्तोके (आत्मज) तनये (सन्तति) मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः, वीरान् मा नो रुद्र भामितो (क्रुद्ध होकर) वधीर् हविष्मन्तः सदम् इत् त्वा हवामहे' १।११४।७-८।

[१७८५] ऋ. 'स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन, येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर् दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः' १०।९२।९ (द्र. टीमू २०४)। शिवः ऋक्संहिता में प्रायः रुद्र का विशेषण (१।११४।१, २, ३, १०, अत्र)। 'क्षयद्वीर' वीर्य का निवास अथवा ईश्वर, 'एवयावा' मरुद्गण का विशेषण (तु. २।३४।११, ५।४१।१६)। शिव द्युलोक से आधार में उतर कर ज्योति का प्लावन ले आते हैं — आँधी-तूफान से मुक्त आकाश की तरह। १ द्र. टीमू १७८०। २ तु. ऋ. ५।८७।१-- द्र. १७८२।

प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता की उक्ति है कि 'देवताओं ने रुद्र को यज्ञ से अलग कर दिया, इसीलिए उन्होंने यज्ञ को विद्ध किया [१६८६]।' शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'सारे देवता द्युलोक की ओर उठ गए। किन्तु जो देवता पशुओं के ईशान या अधिपति हैं, उनको यहाँ रख गए। उसी से वे वास्तव्य अथवा रहने या बसने योग्य हुए।'[१] किन्तु रुद्र के साथ सम्बन्ध एकबारगी टूटा नहीं, उन्होंने ही फिर 'स्विष्टकृत्' (शोभन यज्ञकर्ता) अग्निरूप में यज्ञ को पूर्णता प्रदान की। श्वेताश्वतर एक रुद्रदैवत उपनिषद है। उसमें याग का उल्लेख नहीं है किन्तु आरंभ से ही आन्तर अग्निमन्थन की चर्चा है और संहिता के कई मंत्रों द्वारा योग की उपस्थापना एवं तदनन्तर उसका प्रपञ्चन है।[२] कठ एक यमदैवत उपनिषद है। उसमें अग्निचयन की विधि गौण है, और मृत्युप्रोक्त 'कृत्स्न'-योगविधि प्रमुख है।[३] इस सम्प्रदाय-भेद का अत्यधिक परिचय हमें शौनक संहिता के व्रात्यकाण्ड में प्राप्त होता जिसकी चर्चा पहले कर चुके हैं।[४] आगे चलकर भी करेंगे। 'व्रात्य' संज्ञा रुद्र के गणों के प्रति संकेत करती है कि नहीं, यह भी विचारणीय है।[५] व्रात्य पूर्वदेश के हैं जहाँ 'स' का उच्चारण 'श' है। आज तक बांग्ला में यही उच्चारण है। व्रात्यों के महादेव 'शर्व' हैं किन्तु वस्तुतः वे 'सर्व' अथवा सर्वमय हैं, ऐसा एक संकेत शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है।[६]

रुद्र का साधारण परिचय यही है। इसके पश्चात् संहिता से उनका विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम ऋक् संहिता तत्पश्चात यजुः संहिता एवं अन्त में शौनक संहिता की सहायता लेना ज़रूरी है। यजुः संहिता त्रयी के अन्तर्गत है, किन्तु शौनक संहिता उसके बाहर है। वहाँ ही गणधर्म के देवता के रूप में रुद्र का वर्णन किया गया है जिसका प्रपंचन हमें इतिहास-पुराण में प्राप्त होता है। ऋक् संहिता में रुद्र के प्रति मात्र तीन पूर्ण सूक्त एवं एक खण्डित सूक्त पाया जाता है [१६८७]। किन्तु सूक्त संख्या कम होने पर भी इतस्ततः बिखरे अनेक मंत्रों में उनका एवं उनके गणों का उल्लेख है। जीवन की कालिमा अथवा कलंक से जुड़ा पक्ष उनका घोर मुख, उनका प्रहरण अथवा 'हेति' है। जिसे लोग भूल नहीं सकते। उनके दक्षिणमुख की प्रसन्नता के लिए आर्त प्रार्थना उनके कंठ में अपने आप फूट पड़ती है। इसलिए देवमण्डली में रुद्र का स्थान कभी भी अप्रधान या गौण हो नहीं सकता। प्रकाश और छाया, मृत्यु और अमृत रूप में वे जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त हैं।

[१६८६] तैस. 'देवा वै यज्ञाद् रुद्रम् अन्तरायन्त्, स यज्ञम् अविध्यत् २।६।८।३। [१] श. १।७।३।१...। [२] श्वे. १।१२-१६; २।१-५, ८-१३। [३] क २।३।१८। [४] द्र. (वेमी. प्रथम खण्ड। [५] तु. मरुद्गण का 'व्रात' ऋ. ३।२६।६, ५।५३।११। [६] श. अग्निर् वै स देवस् तस्यैतानि नामानि, शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते, भव इति यथा वाहीकाः, पशूनां पती रुद्रो अग्निर् इति १।७।३।८।

[१६८७] ऋ. १।४३ (खण्डित), ११४, २।३३, ७।४६ सूक्त।

ऋक् संहिता में प्राय: सारे देवता ही उदारमना हैं और मनुष्य के साथ उनका सम्बन्ध भय का नहीं प्रेम का है। केवल वरुण और रुद्र के सन्दर्भ में उसका व्यतिक्रम देखते हैं। किन्तु वरुण से हम इसलिए डरते हैं कि वे अज्ञात रहस्य के समुद्र हैं और रुद्र से इसलिए डरते हैं कि व्याधि और मृत्यु के रूप में उनका आक्रमण अत्यन्त प्रकट है। मानो एक भय उस पार का है और एक इस पार का है। किन्तु स्वभाव से उग्र होने पर भी [१७८८] उनका रूप भयंकर नहीं है। वे युवा हैं,[1] उनके अंग-प्रत्यंग 'स्थिर' अर्थात उनका बन्धन अलग नहीं है; वे सुनहली आभा से मंडित शुभ्रता में प्रकाशमान हैं;[2] वे 'सुशिप्र' अर्थात उनके दोनों जबड़े सुगठित हैं;[3] उनके माथे पर जटा है,[4] गले में 'यजत एवं विश्वरूप हार है'[5] हाथ में जिस प्रकार धनुष और बाण हैं, उसी प्रकार भेषज है[6] अर्थात जीवन और मृत्यु दोनों ही उनका दान है। उनका आक्रमण विद्युत का आक्रमण होकर निश्चय ही पृथिवी पर विचरण करता रहता है किन्तु उसके पीछे ही उस आशुतोष का सहज भैषज्य रहता है।[7] कभी वे 'बभ्रु' जो पिंगल वर्ण वृषभ- क्रमश: श्वेत वर्ण होते जाते हैं,

---

[१७८८] तु. ऋ. २।३३।७, मृगं न भीमम् (यही विशेषण विष्णु का भी है, तु. १।१५४।२; सम्भवत: सिंह का बोध होता है; विष्णु के लिए 'गिरिष्ठा:' पद अभयान्वयी है; अतएव 'भीमत्व' यहाँ महिमबोध से आया है, भय से नहीं, जो इस देश के देववाद का वैशिष्ट्य है) उपहत्नुम् उग्रम् ११। यहाँ तु. मा. १६।४०, शौ. १५।५।१०, ११।२।२१। [1] ऋ. २।३३।११, ध्यातव्य. यहाँ ही वे 'भीम' हैं। [2] स्थिरेभिर् अंगै: पुरुरूप उग्रो बभ्रु: शुक्रेभि: पिपिशे हिरण्यै: २।३३।९। 'पुरुरूप' तु. इन्द्र (६।४७।१८)। वे ही सब हुए हैं। [3] वही ५। **सुशिप्र** द्र. नि. शिप्रे हनू नासिके वा ६।१७ 'नासिके' दोनों नासारन्ध्र तु. प्रप्रुथ्या शिप्रे (खाने की झोंक में नाक द्वारा ज़ोर से घोड़े की तरह साँस निकालना (फुफकारना), तु. snort) ३।३२।१। हनु अथवा जबड़े के अर्थ में तु. १।१०१।१०, ८।७६।१०, १०।९६।९, 'आ ते हनू हरिव: (हे ज्योतिर्वाहन) शूर शिप्रे रुहत सोमो न पर्वतस्य पृष्ठे' (अर्थात कुक्षि (उदर) से सोम ने हनु में आरोहण किया - जैसे पर्वत के ऊपर) ५।३६।२। यहाँ 'हनू' एवं 'शिप्र' पर्यायवाची होने पर भी एक साथ हैं, अतएव एक, दूसरे एक का विशेषण है, मूलत: दोनों शब्द ही 'वीर्य', 'संकल्प की दृढ़ता' के बोधक हैं। दृढ़ संकल्प का अनुभाव या मुद्रा है दोनों जबड़ों का जुड़कर सख्त हो जाना, जैसे एकाग्रता की मुद्रा है भ्रूकुंचन। दोनों शब्दों के ही व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में वीर्य अथवा बल का अनुषंग है। 'हनु' <√ हन् 'जो आघात करता है' जैसे वज्र, पुंप्रजनन। दोनों ही वीर्य के द्योतक; तु. रामायण के 'हनुमान'। अनुरूप 'शिप्र'॥ 'शेप' (द्र. निघ. २।२९, नि. २।२१; ऋ. तु. या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्याम् उशन्त: प्रहराम शेपम् १०।८५।३७) नि. शपते: स्पृशति कर्मण:, आधुनिक व्युत्पत्ति Lat. cippus 'Arrow', IE. Keipo, Kipo 'arrow'; तु. 'शिफा' जड़ (पेड़ की), चाबुक की रस्सी (मनु. ८।२३०)। इसी से 'सुशिप्र' सुवीर्य की ध्वनि है। ऋषि शुन:शेप के नाम में भी यही ध्वनि है ('श्वा' प्राण का प्रतीक; द्र. टी. ३२६)। [4] द्र. ऋ. कपर्दी १।११४।१,५ (यहाँ रुद्र 'दिवो वराह:' जैसे अयाल फुलाए तीव्र गति से आ रहे हैं)। जटा मेघों की, नहीं तो पहाड़ की होती है। पौराणिक शिव की जटा में गंगा अटक गई हैं - उत्तर खण्ड की सुस्पष्ट छवि। देवता में कपर्दी हुए पूषा ६।५५।२, ९।६७।११। [5] निभर्षि... निष्कं यजतं विश्वरूपम् २।३३।१० - 'विश्वरूप अथवा सब कुछ हार के रूप में गले में झूल रहा है। पौराणिक शिव के गले में सर्पों का हार (प्राण),

क्रमवर्धमान वीर्यप्रभता से।[८] स्वरूपत: वे सूर्य की शुक्लभा हैं, सोने की तरह चमकीले हैं, देवताओं की श्रेष्ठ ज्योति हैं।[९] वे 'पुरुरूप' अथवा विश्वरूप— अर्थात विश्व के रूप-रूप में प्रतिरूप हैं।[१०]

किन्तु ध्यातव्य है कि वैदिक देवताओं के रथचारी होने पर भी रुद्र के बाहरी वर्णन में रथ का उल्लेख नहीं है। एक स्थान पर उन्हें 'गर्तसद' अवश्य कहा गया है, किन्तु उसका अर्थ अन्य प्रकार का है. उस पर अभी आगे चल कर प्रकाश डाला जाएगा।

रूप के पश्चात उनके तत्त्व और गुण के बारे में जानना ज़रूरी है। ऋक्संहिता में रुद्र परम देवता हैं, उसका प्रमाण उनकी 'असुर' संज्ञा में है। किसी भी देवता की लोकोत्तर अनिर्वचनीय महिमा एवं प्राणोच्छलता के बोध के लिए उनको असुर कहा जाता, इसकी ओर पहले ही संकेत किया गया है [१७८]। एक स्थान पर हम पाते हैं कि "रुद्र का यजन करो महासौमनस्य के लिए, अविराम प्रणति द्वारा उस ज्योतिर्मय असुर को सन्दीप्त करो।"[१] और एक स्थान पर है: 'ईशान जो हैं इस विशाल भुवन के उन रुद्र से उनका असुर्य कहीं अलग न हो।'[२] वे अनिर्वचनीय हैं— क्योंकि वे मनीषा के उस पार हैं; वे अव्यक्त हैं; अथच सब के वे अन्तश्चर हैं, अन्तर्यामी हैं।[३] इस कारण ही उनकी एक संज्ञा 'गर्तसद' है— जिसका रहस्यमय अर्थ हुआ देहरथ की गुहा अर्थात हृदय में अथवा मूर्धा में जो निषण्ण हैं।[४] ऋक्संहिता के इन तीन मित्रावरुण सूक्तों में सन्ध्याभाषा के माध्यम से इस 'गर्त' का वर्णन किया गया है: 'यह गर्त है इला की गहराई में; सोने जैसा चमकीला है किन्तु इसकी भित्ति लोहे की है; सुभद्र (देह-) क्षेत्र की जगमगाहट में यह प्रोथित है और कौंध-कौंध जाता है घोड़े के चाबुक की तरह; इससे मधु छलक-छलक पड़ता है; यह गर्त बृहत् है; यहाँ आरोहण करके यहाँ से ही मित्रावरुण देख पाते हैं अदिति और दिति को; इसे मनुष्य काट-छाँट कर निकालता है मनोयोग के साथ— उस समय उसकी ध्यानचेतना ऊर्ध्वगामी होती है और धारणाशक्ति का विकास होता है।[५] रुद्र के जितने चिरन्तन धाम हैं इस गर्त में ही हैं; उनके अन्तर्गत ही रुद्र का प्राणचंचल तारुण्य उनकी चेतना में खिल उठता है— जो विज्ञानी हैं, जिन्होंने वहाँ अपने उस मन को निहित किया है टप्पे-टप्पे पर।[६]

अथवा अस्थि माला (मृत्यु)। विश्वरूप निष्क ऐसा-वैसा यानी साधारण हार नहीं, इसलिए 'रजत' विशेषण है। [६] द्र. २।३३।१० ('सायक')। माध्यन्दिन संहिता (वाजसनेयी) में 'इषु'। उसका विस्तारित वर्णन १६।६४, ६६। द्युलोक में वृष्टि, अन्तरिक्ष में आँधी तूफान, पृथिवी में अन्न। धनुष ही रुद्र का विशिष्ट प्रहरण: तु. ऋ. अहं रुद्राय धनुर् आ तनोमि १०।१२५।६। यही धनु माध्यन्दिन संहिता में 'पिनाक' है (१६।५१)। तु. ऋ. 'रुद्राय स्थिरधन्वने... क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ७।४६।१। एक स्थान पर 'वज्रबाहु' (२।३३।३), जब कि वे इन्द्र नहीं हैं। [७] 'या ते दिद्युद् अवसृष्टा दिवस् परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु (नजरअन्दाज़ कर दे) न: ...स्त्र ते स्वपिवात भेषजा मा नस् तोकेषु तनयेषु रीरिष: ७।४६।३। [८] प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो (उस महान् देवता को) मही सुष्टुतिम् ईरयामि, नमस्या (नमस्कार करो) कल्मलीकिनं (प्रकाशभा उस देवता को) नमोभिर् गृणीमसि (हम स्तुतिगान करें) त्वेषं (आलोकवीर्यमय) रुद्रस्य नाम (नाम)

रुद्र के अनिर्वचनीय किन्तु 'सन्निहित गुहाचर' स्वरूप का यही परिचय है। देवता की भावना जब निर्वचनीय हो तब उनका स्वरूप क्या..? उपनिषद के अनुसार ब्रह्म अनन्त है, सत्य है, ज्ञान है और आनन्द है [१६७०]। आन्तर अनुभवगोचर यह स्वरूप तो सारे देवताओं का ही है, उसका एक निदर्शन वेद के अन्यतम मुख्य देवता अग्नि के बारे में विस्तार पूर्वक विवेचित हुआ है।[1] ब्रह्म का यही स्वरूप लक्षण रुद्र का भी है। वे स्वधावान हैं — अर्थात अपने आप में अवस्थित हैं;[2] वे 'स्ववान स्वयशा शिव हैं' — आत्मस्थ, आत्मसमाहित ईशान हैं;[3] वे सत्पति हैं अर्थात विश्व में जो कुछ है अधिष्ठान रूप में उसके अधीश्वर हैं;[4] फिर जो कुछ हो रहा है, वे उसके भी पिता हैं।[5] यही उनका सत स्वरूप है। वे 'प्रचेता:' हैं — चेतना के समुद्रवत विस्फारण हैं; वे हम सब के 'गाथपति मेधपति' हैं, ज्ञान और ध्यान के अधीश्वर हैं;[6] अर्थात हमारी अध्यात्म चेतना के मूल में उनकी ही चेतना की प्रेरणा है। यही उनका चित स्वरूप है। और उनके आनन्दस्वरूप का परिचय उनके निकट 'सुम्न' एवं 'मय:' की चाहत में बार-बार व्यक्त हुआ है।[7] आनन्दमय होने के कारण ही भयंकर होने पर भी वे आशुतोष हैं — वे 'ऋदूदर' अर्थात उनका हृदय कोमल है;[8] वे 'स्वपिवात' हैं, उनको प्रसन्न करने में देर नहीं लगती।[9] उनका 'सौमनस' या प्रसन्न चित्त का प्रसाद सुविपुल, सुविशाल है,[10] उनकी सुमंगल सुमति (प्रसाद) जिस प्रकार हमारे चित्त को प्रसन्नता से भर देती है वैसा और किसी में भी नहीं है।[11]

२।३३।८ विद्युत में उद्भासित झंझावात के मेघ के परिप्रेक्ष्य में पिंगल जटाधारी शुभ्र महादेव का आभासन।[9] य: शुक्र इव सूर्यो हिरण्यम् इव रोचते, श्रेष्ठो देवानां वसु: १।४३।५।[10] २।३३।७। उसके बाद ही हैं वे विश्वभुवन के ईशान एवं 'असुर'। सब मिलाकर वे विश्व के अन्तर्यामी, विश्वात्मक एवं विश्वातीत हैं। और भी तु. ६।४७।१८ (इन्द्र)।

[१६८९] द्र. टीमू. १२८८। तु. AV. *ahura*। [1] ऋ. यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर् देवम् असुरं दुवस्य ५।४२।११। [2] ईशानाद् अस्य भुवनस्य भूरेर् न वा उ योषद् रुद्राद् असुर्यम् २।३३।९। [3] ८।७२।२ द्र. टी. १२५६। [4] २।३३।११। यह विशेषण अनन्यपर। [5] अधि गर्ते मित्रा सा थे वरुणे. ळास्वन्ता: ५।६२।५, द्र. टी. १२४७; हिरण्य निर्णिग् अयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्य श्वाजनीव, भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले (तु. 'तिल्विलायध्वम्' ७।७८।५, उषाओं के प्रति) वा सनेम (जैसे छीन कर ले पाऊं) मध्वो अधिगर्त्यस्य ७; हिरण्य रूपम् उषसो व्युष्टाव् (उषा का प्रकाश फूटने के बाद) अय: स्थूणम् उदिता सूर्यस्य (सूर्योदय होने के बाद) आरोहथो वरुण मित्र गर्तम् अतश् चक्षाथे अदितिं दितिं च (शक्ति की अनन्तता एवं सान्तता दोनों ही) ८; बृहन्तं गर्तम् आशाते ५।६८।५ (इसी बृहत् गर्त के साथ तु. 'उच्छ्रारन्ध्रम्' ब्रह्मरन्ध्र द्र. ८।७।२६ टी. १७५१५); यो वां गर्तं मनसा तक्षद् एतम् ऊर्ध्वां धीतिं कृणवद् धारयच् च ७।६४।४। 'गर्त रथ में रथी के बैठने की जगह द्र. ६।२०।९। रुद्र 'गर्तसद', तु. मा. 'गह्वरेष्ठ' १६।४४। [6] तु. ऋ. तद् इद् रुद्रस्य चेतति यह्वं प्रत्नेषु धामसु, मनो यत्रा वि तद् दधुर् विचेतस: ८।१३।२०। यहाँ स्पष्टतः ध्यान और धारणा का परिचय प्राप्त होता है। 'मनो वि दधु:' > मन्धाता (८।३९।८; निघन्टु में 'मेधावी' ३।१५) समाधिमान पुरुष। इन सब स्थानों पर राजयोग का संकेत प्राप्त होता है।

[१६७०] तैउ. २।१।१, ८।१...; [1] द्र. टीमू. १२३१ एवं उसके पहले। [2] ऋ. ७।४६।१

देवता सत्, चित् एवं आनन्द हैं किन्तु वे शक्ति रहित नहीं हैं — रुद्र तो बिलकुल ही नहीं हैं, वे 'तव्यान' हैं — उनके वीर्य जैसी छलकन और किसी में भी नहीं [१६७१] यही रुद्रवीर्य 'रुद्रिय' है, जिस प्रकार इन्द्रवीर्य 'इन्द्रिय' है। रुद्रिय मरुद्गणों की संज्ञा है, इसलिए वस्तुतः वह एक ज्योति का झड़ या तेज़ झोंका है जिसके भीतर प्रज्ञा की प्राणोच्छलता है। उनका वीर्य अकृपण होकर हमारे ऊपर झरता है, इसलिए वे 'भूरिदाता' हैं, वे 'मील्हुष्टम' अथवा अबन्ध्य, सार्थक शक्ति के अनुपम निर्झर हैं।[2] यह उनका प्रसाद है। फिर उसके ही साथ उनकी 'रिष्टि', 'क्रोध' एवं 'वध'[3] जुड़े हैं — जीवन में दुःख के रूप में, व्याधि, शोक क्लिष्टता, द्वेष और मृत्यु के आक्रमण में।[4] किन्तु जिस प्रकार वे दुःख हैं उसी प्रकार उसके प्रतिकार अथवा निवारण भी वे ही हैं। जीवन की आधि-व्याधि या मानसिक एवं शारीरिक क्लेश के वरेण्य भैषज्य उनके ही हाथ में हैं[5] वे भिषकों (वैद्यों) में भिषकतम हैं।[6] ताप से तप्त होकर उनके निकट भागकर जाते हैं — हम जानते हैं उनका 'जलाष' भेषज हम सब की जलन को शान्त-शीतल कर देगा।[7] इसीलिए तो कहते हैं, उनका

---

[3] १०।८२।७। [4] २।३३।१२। [5] भुवनस्य पितरम् ६।४९।१०। [6] १।४३।१; प्रचेतना 'साम्राज्य'; तु. स (रुद्र) हि क्षयेण (यहाँ की स्थिति अथवा ऐश्वर्य, छान्दोग्योपनिषद् में 'राज्य' २।२४।३-५) क्षम्यस्य (पार्थिव) साम्राज्येन (तु. छा. वही २।२४।११-१६ दिव्यस्य चेतति (चेतना को जगाते हैं) अवन्न् अवन्तीर् उप नो दुरश् (तु. छा. वही 'लोक द्वार', 'देवीर् द्वारः' टी. मू. १५२४...) चर... ७।४६।२। 'जन्मे' यहाँ 'जन' अथवा 'जन्म' — दोनों अर्थ में ही लिया जा सकता है। पार्थिव जन्म में अभ्युदय, दिव्य जन्म में निःश्रेयस्। वही प्रचेतना है। 'गाथपतिं मेधपतिं' १।४३।४। अनन्यपर विशेषण। 'गाथ' समगान, 'मेध' समाधि < मनस् √धा (तु. अवेस्ता मज़्दा < मनज् धा) द्र. टी. १७८९[6]। ऋषि का साधन 'गाथ' या गीत, भजन, स्तवन और मुनि का साधन 'मेध' या समाधि। अतएव ऋषिपंथा और मुनिपंथा दोनों ही रुद्र के आश्रित। गान की बात में नृत्य की भी बात है। इस समय नटराज शिव प्रसिद्ध। ऋक् संहिता में नृतु (नट) मरुद्गण का विशेषण (८।२०।२२; तु. ५।५२।१२)। किन्तु मुख्य देवता इन्द्र 'नृतु' अनेक स्थानों पर हैं (८।६८।७, ८।२।३, १।१३०।७, २।२२।४, ६।२९।२, ८।२४।९,१२; ५।३३।६)। यही रुद्र-शिव में प्रयुक्त हुआ है। [7] तु. १।४३।४, ११४।२, ९, १०, २।३३।१, ६; उत नो मयस् कृधि १।११४।२ (> मा. मयस्कर १६।४१)...। निघण्टु में दोनों ही 'सुख' अर्थ में ३।६। [8] ऋ. २।३३।५। तु. निरुक्त 'ऋदूदरः सोमो मृदूदरो मृदु उदरेष्विति वा ६।३। उदर अन्तर, हृदय। तु. ऋ. उत यो (वरुण) मानुषेष्वा, यशस् चक्रे (उनकी ईशाना को विकसित किया अर्थात् उन्होंने उनको स्वीकृति प्रदान की) असाम्या (पूर्ण रूप में) आस्माकम् उदरेष्वा. (एवं हम सब के अन्तर में भी) १।२५।१५। तु. 'पेट में बात रहती नहीं या पचती नहीं; प्रत्येक पेट में इतनी बुद्धि' इत्यादि। [9] ७।४६।३ पदच्छेद 'सु + अपिवात', द्र. टी. १३२९। [10] ५।४२।११। [11] भद्रा हि ते सुमतिर् मृल.यत्तमा १।११४।९।

[१६७१] तु. ऋ. १।४३।१, तवस्तमस तवसाम् २।३३।३। [1] तु. १।४३।२, ७।४०।५, १०।६४।८। [2] २।३३।१२, १।४३।१। [3] १।११४।७, ८, २।३३।४, ७।४६।४...। [4] २।३३।२, १।११४।७, ८...। [5] हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि १।११४।५। [6] भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि २।३३।४; और भी तु. शंतमेभिः... भेषजेभिः २, १२, सहस्रं... भेषजा ७।४६।३... माध्यन्दिन में 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' १६।५। [7] ऋ. घृणीव (< √घृ 'गरम होना', धूप) छायाम्, अरपा (निष्पाप, तु. नि. ४।२१) अशीय (ताकि उनके निकट पहुँच सकें), विवासेयं (पाना चाहते हैं) रुद्रस्य सुम्नम् २।३३।६, क्व स्य (वही) ते रुद्र मृल.याकुर् (शान्त-सुखी करना) हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः (जल की तरह शीतल) ७; तु. रुद्रं जलाष भेषजम् १।४३।४। [8] तु. (रुद्र) शर्म वर्म छर्दिर् अस्मभ्यं यंसत् →

प्रसाद हम सब के शरीर का वर्म (कवच,) सर पर आच्छादन और समस्त जगत का आश्रय है। जिस प्रकार उनके हाथ में विष का पात्र है उसी प्रकार मर्त्यों का भोग्य अमृत भी उनके हाथ में है।[9] मृत्यु के वृन्त से फल की तरह वे हमें मुक्ति प्रदान करते हैं— अमृत के वृन्त से नहीं।[10] उनके आवेश से बृहत की एषणा उद्दीप्त होती है और उच्चारित होती है जीवन की प्रशस्ति।[11] वे जिस प्रकार भयंकर हैं उसी प्रकार वे करुणाकर हैं, जिस प्रकार रुद्र उसी प्रकार शिव देवताओं में अनुत्तम ज्योति हैं।[12] द्युलोक और भूलोक के ईशान या अधिपति हैं वे,[13] वे हम सब की उत्सर्गभावना को अग्नि की तरह सिद्ध, सफल करते हैं।[14]

ऐसे रुद्र की शक्ति 'रोदसी' हैं जिनकी चर्चा पहले ही विस्तारपूर्वक की गई है [१७८२]। वे ही धेनुरूपिणी पृश्नि हैं, रुद्र तब वृषभ हैं।[1] फिर रुद्रपुत्र मरुद्गण जब आदित्य,[2] तब रोदसी अदिति हैं। इसलिए कण्व घोर के रुद्रसूक्त के आरम्भ में ही इस देवमिथुन की प्रशस्ति पाते हैं।[3] वहाँ हम देखते हैं कि अदिति ही सब के भीतर

१।११४।५। [9] तु. १०।१३६।७ + १।११४।६ (अमृत भोजनम्)। [10] उर्वारुकम् इव बन्धनान् मृत्योर् मुक्षीय मा.मृतात् ७।५९।१२। 'उर्वारुक' खीरा अथवा ककड़ी (ता. ८।२।११५, तत्र सायण)। [11] ऋ. आ नो भज (हमारे भीतर आविष्ट हो ओ) बर्हिषि जीवशंसे (निमित्तार्थे सप्तमी— आ भज् धातु के प्रयोग में) ७।४६।४। 'बर्हिः' बृहत के प्रति उदग्र एषणा का प्रतीक (द्र. टीमू. १५१८...)। **जीवशंस** (तत्पुरुष समास) जीवन की प्रशस्ति अर्थात उसकी सार्थकता। तु. स त्वं न इन्द्र सूर्ये सो अप्स्व. नागास्त्व आ भज जीवशंसे १।१०४।६। जिजीविषा की (ई. २), सार्थकता निरंजन होती है प्रज्ञा और प्राण के अधिगम में, बृहत की एषणा में। और भी तु. प्रज्ञा और प्राण के देवता सरस्वती के निकट आकूति : ऋ. अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिम् अम्ब नस् कृधि २।४१।१६। [12] १।४३।५, टी. १६८८। [13] तु. शौ. भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्व.न्तरिक्षम् ११।२।२७। ऋक्संहिता में 'ईशानाद् अस्य भुवनस्य भूरेः' २।३३।९। 'ईशान' ईश्वर संज्ञा का प्राचीनतम रूप है किन्तु ऋक्संहिता में देवताओं का साधारण विशेषण है। इस समय यह संज्ञा शिव में निरूढ़। [14] 'यज्ञसाध' १।११४।४। किन्तु ऋक्संहिता में यह विशेषण अग्नि का है (१।९६।३, १२८।२; यज्ञसाधन: १।१४५।२, सोम ९।६२।४)। ब्राह्मण एवं इतिहास-पुराण में यज्ञ और रुद्र में विरोध की चर्चा है। रुद्र-शिव मुनिधारा के देवता हैं, यह भी ध्यातव्य। तो फिर यह विशेषण पूर्वकालीन अविरोध का सूचक है। उसके अतिरिक्त ऋक्संहिता में कहीं-कहीं रुद्र और अग्नि एक हैं (द्र. टीमू. १८०६)।

[१७८२] द्र. टीमू. १७६०...। [1] ऋक्संहिता में गृत्समद के सूक्त में बार-बार उनकी यही संज्ञा है: २।३३।४, ६, ७, ८, १५। यही मुख्य देवताओं की भी साधारण संज्ञा है- जो उनके बल-वीर्य एवं निषेक सामर्थ्य का बोध कराती है। रुद्र की विशेषता है, उनका रथ नहीं, वाहन भी नहीं। माध्यन्दिन के अनुसार 'आखुस् ते पशुः' अर्थात मूषक (चूहा) तुम्हारा पशु (३।५७) है। किन्तु वह क्या वाहन का बोधक है (द्र. तत्र महीधर)? इस स्थिति में विचारणीय है कि आर्यावर्त में प्लेग की महामारी एक साधारण घटना थी। और उसमें पहले चूहे मरते, उसके लोग मरते। मृत्यु के देवता रुद्र का पशु इसलिए चूहा - उस समय यह मन में आना स्वाभाविक है। पौराणिक पुराण में मूषक गणेश-वाहन है (न कि पशु?); रुद्र भी रुद्रगण के पति हैं। भावना का बीज सम्भवत: यही है। रुद्र के वाहन की कमी संभवत: उन्हें वृष-वाहन बनाकर ही पूरी की गई है। इस वृष को कोई-कोई तिब्बत के 'येक' (YAK) अथवा चमर या 'सुरागाय' के साथ तुलना करना चाहते हैं। [2] ऋ. १०।७७।२, ८। [3] १।४३।१, २। रुद्र तो यहाँ परम देवता हैं, वह द्वितीय मंत्र में अदिति एवं तृतीय मंत्र में मित्रावरुण के सहचार से स्पष्ट हो जाता है। तृच के अन्त में 'विश्वे सजोषस:' अथवा सक्षम विश्वचेतना का उल्लेख लक्षणीय है। यह विश्वातीत से विश्व में अवरोहण है जिसका परिचय वैदिक भावना और अनुष्ठान में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है।

रुद्रवीर्य का प्रसाद उतार कर ले आती हैं। ऋक्संहिता के इस देव-युग्म का द्विदल बीजमंत्र 'शंयो:' है, जिसका उल्लेख अनेक स्थलों पर है।[४] 'शम्' शान्ति एवं उपशम का बोधक है।[५] वही शिव का स्वरूप है।[६] 'यो:' 'योषा'-शब्द का प्रतीकाक्षर है जिसका मौलिक अर्थ यौवनवती, समर्था है। यही योषा आदि 'स्त्री' – अर्थात यजु: संहिता में जो 'अम्बिका' अथवा जगन्माता और उपनिषद में ऐन्द्री चेतना के अन्तिम छोर पर आकाश की शून्यता में प्रतिभासमाना 'बहुशोभमाना हैमवती उमा' हैं।[७] इसलिए 'शं यो:' इतिहास-पुराण में प्रख्यात शिव-शक्ति का बीजमंत्र है। 'स्वान' अथवा केवल शिव शक्ति-युक्त होकर प्रकट हुए, आत्मा के दो भागों में विभक्त होने पर एक, दो हुआ।[८] उसी से विसृष्टि की सूचना हुई। वेद का यह मंत्र इस दृष्टि से एक गहरी व्यंजना का वाहन है। ऋक्संहिता का 'तच्छंयो: सुम्नम्' शिव-शक्ति के सामरस्यजनित महासुख का स्मरण करा देता है।[१०] यही शंयो: हम सब के आदि पिता मनु ने यज्ञ के फल के रूप में प्राप्त किया था; हम उसके ही उत्तराधिकारी हैं।[११]

---

[४] द्र. शम्-सूक्त ७।३५। उसके प्रथम मंत्र में ही 'शं यो:' पृथक देवता : शं न इन्द्राग्नी भवताम् अवोभि: (प्रसाद लेकर) शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या (जब आहुति प्रदान करता है जिनको), शम् इन्द्रासोमा सुविताय (जिससे सहज होता है, विपरीत 'दुरित') शंयो: शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ (ओज-प्राप्ति के प्रयास में) ७।३५।१। चेतना की ऊर्ध्वमुखी क्रमिक अभियान अथवा उत्तरायण की सुस्पष्ट रूपरेखा। आदि से अन्त तक इन्द्र 'पुर एता' अथवा पुरोगामी, अग्रगामी (तु. स नो बोधि पुरएता सुगेषु. त दुर्गेषु पथिकृद् विदान: ६।२१।१२)। पथ के प्रथम पर्व में उनके सहचर हैं अभीप्सा के देवता अग्नि। उसके पश्चात अन्तिम पर्व में एकर्षि पूषा (तु. ई. १५-१६)। उसके पश्चात सूर्यद्वार के भेदन के बाद (तु. मु. १।२।११) आनन्द के देवता सोम। उसके बाद शून्यता के वरुण। इसके बाद इन्द्र नहीं बल्कि शं एवं यो: हैं (तु. के. आकाश एवं स्त्री, यक्ष एवं उमा ३।१२)। ... ऋषि शंयु बार्हस्पत्य इस मंत्र के प्रवक्ता हैं वह उनके नाम से ही समझ में आ जाता है। ऋक् संहिता में उनके ये सब सूक्त (६।४४-४६, ४८) रहस्योक्तियों से पूर्ण हैं। ब्राह्मण में इस मंत्र के उच्चारण को शंयोवाक: कहा जाता है। तु. शां. 'शंयुर् ह वै बार्हस्पत्य: सर्वान् यज्ञान् शमयाञ्चकार, तस्मात् शंयोवाकम् आह; प्रतिष्ठा वै शंयोवाक: ३।८; (श. ११।२।७।२८), शंयुर् ह वै बार्हस्पत्यो ऽञ्जसा यज्ञस्य संस्था विदाञ्चकार, स देवलोकम् अपीयाय, तत् तद् अन्तर्हितम् इव मनुष्येभ्य आस १।९।१।२४। [५] निरुक्त में इस मंत्र की व्याख्या: शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् ४।२१। निघण्टु में यह क्रम लक्षणीय : सुम्नम्। शिवम्। शिवम्। शम्। कम् इति सुखनामानि ३।६। तु. शैव दर्शन में 'आनन्दो विश्रान्ति:', बौद्ध दर्शन में निर्वाण महासुख। उपनिषद में भी 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा. ४।१०।५)। [६] तु. माण्डू. प्रपञ्चोपशमं शान्तम् शिवम् अद्वैतम् ७। [७] वा. एष ते रुद्र भाग: सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा (३।५७)। रुद्र और अम्बिका – जैसे वरुण और अदिति। शक्ति-शिव का अविनाभाव या नित्य सम्बन्ध। सृष्टि के ऊर्ध्व में कुमारी अवस्था में वे स्वसा (भगिनी)। उस समय उनके भीतर मातृत्व बीज के आकार में; इसे समझाने के लिए स्वार्थ में 'क'। उपनिषद की भाषा में यह 'असम्भव' की अवस्था है (ई. १२)। तु. संहिता में वाक् के गुहाहित तीन पद (ऋ. १।१६४।४५)। गोभिल की भाषा में उसके बाद 'ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्भव:' गृह्यसूत्र २।५।७ एवं उस समय विसृष्टि या शक्ति का निर्झरण। यही ऋक्संहिता में सन्ध्याभाषा में वर्णित: 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्' ७।५९।१२। पुरुष का जो त्रिपाद ऊपर की ओर उठ गया, वह अमृत स्वरूप है (१०।९०।४, ३), उसमें गुहाहित हैं तीन शक्ति तीन अम्बिका। उनके साथ युगनद्ध किन्तु असम्भूत रुद्र त्र्यम्बक। उस समय उनकी 'गन्ध' या आभास →

ऋक्संहिता में रुद्र का यह परिचय ही यजुः संहिता एवं अथर्व संहिता में पल्लवित हुआ है — वहाँ एकदम नयापन या नई बातें कुछ अधिक नहीं हैं। बभ्रु अरुष विषपायी रुद्र शतरुद्रीय होम मंत्र में 'नीलग्रीव विलोहित' 'शितिकण्ठ', 'नीललोहित' [१८८२] हैं, 'कपर्दी'[1] फिर 'उष्णीषी' भी हैं।[2] 'स्थिरधन्वा' के धनुष का नाम 'पिनाक'[3] हुआ है। ऋक्संहिता में रुद्र 'गिरिष्ठा' — इसका उल्लेख नहीं है किन्तु वहाँ वह रुद्रपुत्र मरुद्गण का भी विशेषण है[4]; यजुःसंहिता में वे 'गिरिशन्त', 'गिरिचर' हैं।[5] मूजवत-पर्वत उनका वासस्थान है[6] किन्तु ऋक्संहिता में तो मूजवत-पर्वत सोम का उत्पत्ति स्थल है।[7] इस प्रसंग की दृष्टि से इतिहास-पुराण में शिव 'सोमनाथ', 'चन्द्रशेखर' हैं। रुद्र का पशुपति नाम प्रसिद्ध है।[8] जिसकी सूचना ऋक्संहिता के इस मंत्र में है: 'वे शंकर हों, हम सब के मेष-मेषी, गो-अश्व एवं नर-नारी के प्रति'।[9] शौनक संहिता में 'पशुपति' संज्ञा की विवृति में जिन पाँच पशुओं के नाम का उल्लेख है उनमें चार का नाम यहाँ प्राप्त होता है।[10] पुरुष सूक्त में सारे पशु वायव्य हैं, वे प्राणशक्ति के प्रतीक हैं।[11] अध्यात्म दृष्टि में रुद्र प्राण हैं इसी से वे पशुपति हैं।[12]

मात्र ही पाया जाता है। उस समय वे पूषा, लोकोत्तर के अन्तिम छोर पर दिग्दर्शक के रूप में (तु. १०।१७।२, टी. १२८४[6]); तंत्र की भाषा में भ्रूमध्य की रुद्रग्रन्थि में इतर-लिङ्ग शिव, उसके उस पार महाशून्य। माध्यन्दिन में इस मंत्र का पाठ है 'सुगन्धिं पतिवेदनम्' एवं वहाँ कुमारी कन्याओं का प्रसंग है (३।६०, गायत्र द्र.)। ८ के. ३।१२। हैमवती उमा॥ मा. गिरिशन्त रुद्र (१६।२-४)[9] तु. शं. स है तावान् आस यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स इमम् एवात्मानं द्वेधापातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् १।४।३।[10] ऋ. १।४३।४ 'शंयोः' यहाँ समस्त पद है जिससे शिव-शक्ति की युगनद्धता का बोध होता है। इसका और एकमात्र उदाहरण है १।३४।६। १।४३।६ में है 'शं नः करति' > शङ्कर। 'शम्' यहाँ कल्याण, अभ्युदय। माध्यन्दिन में है 'शङ्कर' एवं 'शम्भव' १६।४१)। ऋक्संहिता में देवता के विशेषण के रूप में 'शम्भु' अनेक स्थलों पर है किन्तु 'शङ्कर' नहीं है।[11] ऋ. यच्छं च योश् च मनुर् आयेजे पिता तद् अश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु १।११४।२; यानि मनुर् अवृणीता पिता नस् ता शं च योश् च रुद्रस्य वश्मि २।३३।१३।

[१८८३] मा. १६।७, ८, २८, ४७। [1] मा. १६।१०, २९, ४३; [2] २२। मा. 'हरिकेश' (१६।१७) पिङ्गल-जटाधारी, ऋक्संहिता के 'बभ्रु' और 'कपर्दी' का मिश्रण। [3] मा. १६।५१, ३।६१। विस्तृत वर्णन १६।९-१४। ४ द्र. टीमू. १७४९। [5] मा. १६।२, ३; गिरिश ४, गिरिशय २९; २२। [6] मा. ३।६१। [7] ऋ. १०।३४।१, टी. १६७०[1]। [8] मा. १६।२८, ४०, १७। शौ. चतुर् नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस् ते, तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ११।२।९। तु. ऋ. १०।९०।८ जल में, स्थल में अन्तरिक्ष में सब पशु ही पशुपति के तु. शौ. ११।२।२४-२५। और भी तु. शौ. पृथिवी में जो कुछ 'आत्मन्वत' और 'प्राणवत' अर्थात साँस लेता है और जिन्दा है सभी पशुपति के हैं, वे ही उन की देखभाल करते हैं (११।२।१०)। [11] तु. ऋ. १०।९०।८, १२। [12] तु. 'पशुपति'॥ 'गोपा' — विष्णु का विशेषण (ऋ. १।२२।१८, ३।५५।१०, द्र. टी. १३३३। पशुपति का 'पशु' सारे जीवों का प्राण है॥ 'गो' भी पशु; किन्तु उसमें किरण की व्यञ्जना है इसलिए प्रज्ञा का बोध होता है। अन्तरिक्ष स्थान रुद्र प्राण हैं और द्युस्थान विष्णु प्रज्ञा। गणधर्म के यही दो देवता दो साधनतत्वों के प्रतिरूप हैं। परम धाम में दोनों ही एक — जो प्राण वही प्रज्ञा, जो प्रज्ञा वही प्राण। इस प्रसंग में द्र. मा. उतैनं गोपा अदृश्रन् १६।७ (द्र. वेमी. प्रथम खण्ड टीमू. ११७

रुद्र के साथ मुनियों के सम्पर्क का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि वे रुद्रोपासना की एक विशिष्ट धारा के वाहन हैं [१६७४]। नाम से ही समझ में आता है कि मुनि निःसंग। ऋक्-संहिता के वर्णन में हम देखते हैं कि वे जटाधारी – दिगम्बर या फिर मलिनवसन हैं। शौनक संहिता के विद्वान व्रात्य, प्रव्राजक अथवा परिव्राजक हैं अतएव भिक्षोपजीवी हैं। वाजसनेय संहिता के रुद्र 'व्युप्तकेश'. अर्थात वे मुण्डितकेश एवं 'दरिद्र' हैं।[१] इन वर्णनों में शिव और शैव, उपास्य और उपासक दोनों एक रूप हैं।[२]

शिव के साथ लिङ्गोपासना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। लिङ्गोपासना मूलतः अवैदिक होने पर भी अनार्य नहीं [१६७५]। वैदिक धर्म में अनेक दृष्टियों से उसके स्पर्श की सूचना प्राप्त होती है। ब्राह्मण का 'महाव्रत' एवं उपनिषद का 'वामदेव्य व्रत' उसका प्रमाण है।[१] प्रजनन प्राण का एक मौलिक व्यापार है। उससे किनाराकशी या उसकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलता, आर्यों ने भी वह नहीं किया। रिरंसा अथवा रमणेच्छा या काम का ऊर्ध्वायन,— उदात्तीकरण ही ब्रह्मचर्य है। जो आर्य-साधना का मूल आधार है। ऊर्ध्वायन की साधना में निरोध और आप्यायन अथवा मनस्तोष दोनों ही अपरिहार्य अर्थात दोनों के समन्वय में ही साधना की सिद्धि है। ऋक् संहिता में अगस्त्य मैत्रावरुणि की इस एक उक्ति में उसका संकेत है, यह हमने पहले ही देखा है।[२] इसमें निरोध की ओर मुनिधारा अथवा शैवभावना में और आप्यायन की ओर ऋषिधारा अथवा वैष्णवधारा में अधिक ज़ोर दिया गया है। प्रचलित अर्थ में शिव[३] मदन-दहन के द्वारा काम पर विजय प्राप्त करते हैं और विष्णु मदन-मोहन के द्वारा। संयम दोनों ही क्षेत्रों में अनिवार्य है। इस संयम का भाव 'शिपिविष्ट' विशेषण में व्यक्त हुआ है। ऋक् संहिता में 'शिपिविष्ट' विष्णु का ही विशेषण एवं यह नाम तो निन्दनीय है, वह संकेत भी है।[४] भागवत में भगवान को रासलीला में 'आत्मन्यवरुद्ध सौरतः' बतलाया गया है।[५] शिपिविष्ट का रहस्यार्थ भी वही है।[६] वाजसनेय संहिता में यही नाम रुद्र का भी है।[७] निघण्टु में शिपिविष्ट एवं विष्णु दोनों नाम पास-पास हैं।[८] यास्क के कथनानुसार —

[१६७४] द्र. टीमू. १६३९; वेमी. व्रात्य, प्रथमखण्ड। [१] मा. १६।२९, ४७। तु. वामदेव का दारिद्र्य, द्र. वेमी. प्रथमखण्ड। ये भिक्षु बौद्ध एवं जैन धर्म में 'अर्हत'। लगता है उसका पूर्वाभास रुद्र के अर्हत्व में है: तु. ऋ. अर्हन बिभर्षि सायकानि धन्वा. र्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्, अर्हन्न् इदं दयसे ('रक्षसि' सायण) विश्वम् अभ्वं (अव्याकृत, द्र. टी. १६५९), न वा ओजीयो रुद्र त्वद् अस्ति २।३३।१०। ऋक्संहिता में अग्नि ही विशेष रूप में 'अर्हन'। अग्नि रुद्र का सम्बन्ध आगे चलकर द्र.।[२] मुनि।यति। ऋक्संहिता में वे निन्दित नहीं, वे इन्द्र-रक्षित हैं एवं भृगु के साथ उनका उल्लेख है (८।३।९, ६।१८), देवताओं का उपमान (१०।७२।७); सोम भी 'यति' (९।७१।७। उनकी संज्ञा की व्युत्पत्ति द्र. 'अग्नये यतये मतीनाम्' ७।१३।१! किन्तु तैत्तिरीय संहिता में वे गर्हित, तु. इन्द्रो यतीन्त् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत् ६।२।७।५(द्र. टीमू. १४५१)।
[१६७५] द्र. टीमू. १२१०। [१] द्र. टीमू. १२०८ ...; टीमू. ११२८; टीमू. १६७४। [२] ऋ. १।१७९।५-६, टीमू. १५६४[३]। [३] द्र. वेमी. प्रथम खण्ड पृ. १४८ ज्येष्ठ व्रात्य 'शमनीचामेढ्र'। [४] तु. ऋ. ७।१००।६। [५] भा. १०।३०।२५; तत्र श्रीधर: 'एवम् अपि आत्मन्येव अवरुद्ध सौरतश्चरमधातुर् न तु

औपमन्यव की दृष्टि में यह शिपिविष्ट नाम कुत्सित अर्थ से सम्बन्धित है क्योंकि उसमें उगते सूर्य की 'अप्रतिपन्नरश्मि' रूप में 'निर्वेष्टित' (अनाच्छादित) पुंप्रजनन के साथ तुलना की गई है एवं उससे ऋक्संहिता में ही आक्षेप है। हम जानते हैं कि यही उदीयमान सूर्य 'भग' है अर्थात दिग्मण्डल को विदीर्ण करके वे आदित्य के प्रथम प्रकाश हैं। विष्णु के तीन पदक्षेपों में यही प्रथम है – द्वितीय मध्य आकाश में एवं परम अथवा तृतीय लोकोत्तर में है। इस भग का प्रतीक हम सब की सुपरिचित शालग्राम-शिला में है। वैष्णवों का शालग्राम और शैवों का शिवलिङ्ग दोनों ही 'शिपिविष्ट' एवं स्थूल रूप में ग्रहण करने पर औपमन्यव के विचारानुसार कुत्सितार्थी हैं। वाजसनेय संहिता में रुद्र के दो और नाम 'जघन्य' एवं 'बुध्न्य' में इसका ही संकेत प्राप्त होता है।[10] उसमें प्रथम – का अर्थ स्पष्ट है। द्वितीय नाम 'अर्ध्वबुध्न अर्वाग्बिल-चमस' अथवा औंधी-उलटी हंडिया की याद दिला देता है।[11] समुद्रतल से सूर्योदय का ठीक यही रूप है और यह रूप शिपिविष्ट, भग एवं रुद्र का है। ∴ स्पष्ट है कि वैदिक आर्य प्रत्यक्षतः लिङ्गोपासक न होने पर भी उसके रहस्य के सम्बन्ध में सचेतन थे एवं अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार भी किया है। संहिता एवं ब्राह्मण में प्रजनन व्यापार को लेकर कुछ कम आलोचना नहीं प्राप्त होती। प्राणन की इस मुख्य वृत्ति को ऋषियों ने उन्नासिक अवज्ञा की दृष्टि से देखने के छद्म का परिचय नहीं दिया है। बल्कि उसको उपनिषद की भाषा में 'विद्यया श्रद्धयोपनिषदा' देखा है। उनके द्वारा परिदृष्ट कामविज्ञान पृथिवी पर अदृष्टपूर्व, अननुभूत है – यह बात साफ़-साफ़ और देकर कही जा सकती। किन्तु इस प्रसंग में हम आगे चलकर बात करेंगे।

हमने देखा कि ऋक्संहिता के रुद्र और यजुःसंहिता के रुद्र में कोई मौलिक अथवा महत्वपूर्ण पार्थक्य नहीं है। वाजसनेय संहिता में रुद्र का एक यह विशेषण प्राप्त होता है जो ऋक्संहिता में नहीं है – अर्थात वे 'कृत्तिवासाः' हैं [१६८६]। 'कृत्ति' पशुचर्म है। इतिहास-पुराण में यह पशु द्वीपी या चीता बाघ अथवा गज है। चीता बाघ का चमड़ा मरुद्गण के वाहन पृषती एवं कुमार के वाहन मयूर की याद दिला देता है।[1] सब ही तारकाखचित आकाश का प्रतीक है – संहिता की भाषा में जो विश्वरूप है। देवता विश्वरूप के अधिष्ठान हैं एवं उससे परे भी हैं।[2] त्वष्टा विश्वरूप के पिता हैं, इन्द्र उसके हन्ता हैं।[3] एक प्रतिष्ठा है, दूसरा अतिष्ठा है। इस क्षेत्र में भी द्वीपि-चर्म परिवेष्टित रुद्र अतिष्ठा हैं। फिर स्कन्द-पुराण के अनुसार गजासुर का वध करके शिव ने उसके रक्त से सने चर्म को परिधान बना लिया था। इस कल्पना का मूल तो ऋक्संहिता में है वह पहले ही बतलाया गया है।[4] रुद्र उस समय

स्खलितो यस्येति कामजयोक्तिः'। ६ विद्र. आगे 'विष्णु'। ७ मा. १६।२८। निघ. ४।२ ८ नि. ५।८। तु. मा. उव्वट भाष्य १६।२८। द्र. ऋ. ७।१००।६। १० मा. १६।३२। ११ द्र. शौ. १०।८।९; बृ. २।२।३।
[१६८६] मा. ३।६१, १६।५१। १ द्र. टी. १६५१६। २ तु. ऋ. १०।८०।१। ३ द्र. टीग्र. १५६३। ४ द्र. टी. १६७८२। ५ मा. मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव। परमे वृक्ष

वृत्रहन्ता वर्षकर्मा इन्द्र के समानधर्मा हैं। पुराण में गजासुर महेशाभिमानी राजा महेश शम्भुत्व का अभिमानी शुम्भ जैसा है।... वाजसनेय संहिता में कृत्तिवास को सम्बोधित करते हुए कहा जा रहा है: 'हे देवता, अनुत्तम निर्भर तुम, शिवतम हो। हम सब के प्रति शिव होओ प्रसन्न होओ। परम वृक्ष में अपना आयुध रखकर कृत्तिवास होकर विचरण करो हम सब के इर्द-गिर्द (आ), आओ पिनाक धारण करके।'[५] परमवृक्ष ब्रह्मवृक्ष, जो ऋक्संहिता का 'सुपलाश वृक्ष' है— जिसके नीचे यम की सभा बैठती है।[६] मृत्युवाण वहाँ रखकर कृत्तिवास शिव रूप में यहाँ आएँगे— असंख्य सहस्र रुद्रगण लेकर। उनका इषु जो रौद्र, उसे वे सहस्रयोजन दूर रखेंगे; और जो इषु शिवमय है, वह द्युलोक में वर्षण, अन्तरिक्ष में वातास, और पृथिवी में अन्न होगा।[७]... इतिहास पुराण के शूलपाणि को हम ऋक्संहिता में नहीं बल्कि षड्विंश ब्राह्मण में पाते हैं।[८] किन्तु ऋक्संहिता में उनका आभास है।[९]

यजुः संहिता में रुद्र के स्वरूप का मोटे तौर पर यही परिचय प्राप्त होता है जो ऋक्संहिता की भावना का ही अनुवर्तन है। किन्तु उनका विशिष्ट परिचय शतरुद्रीय-होममंत्र में उनके विश्वरूप वर्णन के उल्लास में प्राप्त होता है। पुरुषसूक्त के पुरुष विश्वरूप 'सहस्राक्ष' हैं; इसी प्रकार रुद्र भी 'सहस्राक्ष' हैं अर्थात सब के चक्षु उनके चक्षु हैं [१८७८] — इसके द्वारा उनके विश्वरूप की भावना की सूचना प्राप्त होती है। रुद्र के अतिरिक्त विश्व भुवन में और कुछ है ही नहीं— जगत के जड़-चेतन सब कुछ ही वे हैं। एक ही रुद्र असंख्य सहस्र रुद्ररूप में पृथिवी पर शिव एवं अशिव का निदान होकर विचरण कर रहे हैं। वे देवताओं के हृदय हैं, मनुष्यों में ऋषि, कवि (गृत्स), अधिवक्ता सभापति, गणपति, व्रातपति, सूत, क्षत्ता (क्षत्तृ) तक्षा, रथकार, कर्मार (लोहार) कुम्भकार, निषाद— यहाँ तक कि चोरों-डाकुओं के सरदार, जुआचोर (ठग) निशाचर सब ही हैं वे। बड़ा-छोटा, दीर्घ-ह्रस्व, ज्येष्ठ-कनिष्ठ — सब वे ही हैं। जो जाग रहा है, जो सो रहा है, जो लेटा है या जो बैठा है, जो खड़ा है या दौड़-भाग रहा है— वह भी वे हैं। वे केवल पशुपति नहीं बल्कि सारे पशु ही वे हैं, यहाँ तक कि सूक्ष्म कृमि-कीट भी। घाट-बाट में, नदी-नाले में, सरोवर में, मेघ-वातास में अर्थात सर्वत्र वे ही हैं वे सर्वभूत के अधिपति हैं, वे ही सर्वभूत हैं। विचित्र रूप में वे विश्वरूप हैं, भव रूप में सब हो रहे हैं और सर्वरूप में वे ही सब कुछ हुए हैं।[१]

आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आचर, पिनाकं बिभ्रद् आगहि १६।५१। [६] ऋ. १०।१३५।१। पुराण में शिव के सन्दर्भ में ब्रह्मवृक्ष 'बिल्व' है। उसका काँटा क्या यहाँ 'आयुध' या शिवशूल है? [७] द्र. मा. १६।५४-५६। [८] षड्विंश ब्रा. ५।११। [९] ऋ. १।१५२।२; टीमू. १२१०। [१८७८] मा. १६।८, १३, २९; तु. शौ. ११।२।३, ७। [१] द्र. मा. १६।४८-६६, ४६, २५ ५, २४, ३४, २६, २७, २७, ३०, ३२, २३, २८, ४४, ४३, ३७, ४२, ३१, ३८, ५९। यह रुद्र के विभूति विस्तार का सामान्य परिचय मात्र है। विस्तारित विवरण के लिए पूरा अध्याय ही पठनीय। इतिहास-पुराण में देवविभूति के अनुरूप वर्णना। तु. गीता और सप्तशती।

संक्षेप में उनके अतिरिक्त विश्व ब्रह्माण्ड में दूसरा और कुछ है ही नहीं। सब होकर सब के 'गर्तसद्' अथवा 'गह्वरेष्ठ' अर्थात अन्तर्यामी सब के 'ईशान' या ईश्वर हैं। वे 'भगवान' हैं [१६५६]।

ये शिव ही अथर्ववेद में 'महादेव' हुए – जिस नाम से हम उन्हें अधिक पहचानते हैं। अथर्ववेद त्रयी से बाहर है और जन साधारण के साथ उसका सम्बन्ध घनिष्ठ है। इस वेद में रुद्र व्रात्यों के देवता एकव्रात्य महादेव हैं। उनका परिचय इस प्रकार है – व्रात्य थे (आदि में), (किन्तु शायद चरिष्णु रूप में ही) उन्होंने ही प्रजापति को समीरित (वायु की तरह चंचल) किया। उसी प्रजापति ने अपने भीतर देखा एक सुवर्ण (ज्योति)। उसे उन्होंने प्रजात या उत्पन्न किया (अर्थात उसे ही प्रजारूप में व्याकृत किया)। वही एक हुआ, वही ललाम (तिलक, टीका) हुआ, वही महत् हुआ, वही ज्येष्ठ हुआ, वही ब्रह्म हुआ, वही तप हुआ, वही सत्य हुआ। उसी से (विश्व) प्रजात हुआ। वही व्रात्य बढ़ते गए। वे महान् हुए। उसी से वे महादेव हुए। उन्होंने देवताओं का ईश्वरत्व प्राप्त किया। इसलिए वे ईशान हुए। वे एकव्रात्य हुए। उन्होंने एक धनुष लिया। वही इन्द्रधनुष है। उनका पेट नीला है और पीठ लाल है। नीले द्वारा ही अप्रिय भाई-बन्धु को वे ढँक लेते हैं, लाल द्वारा विद्वेषी को विद्ध करते हैं – ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं [१६५९]।' उसके बाद चारों ओर चरिष्णु रूप में वे फैल गए – उसका वर्णन है।[1] उसके अन्त में है कि वे विद्रुत (त्वरान्वित) महिमा स्वरूप होकर पृथिवी के अन्त तक गए। उसी से वे समुद्र हुए।[2]

इस वर्णन का निष्कर्ष है कि एकव्रात्य महादेव ही यह सब कुछ हुए – अपनी प्राजापत्य शक्ति के विच्छुरण से। वह शक्ति हिरण्यगर्भ है। उससे ही सृष्टि के मूल तत्वों की उत्पत्ति हुई। उससे विराट का आविर्भाव हुआ। यह आविर्भाव उनका ही आत्मविवर्द्धन – अर्थात् उनका बृहत् होना है और सारे देवताओं का ऐश्वर्य लेकर ईशान महादेव होना है। आकाश में इन्द्रधनु की छटा, लगता है उनकी बहुशोभमाना

[१६५६] 'ईशान' अब जिस प्रकार शैवों के देवता हैं, उसी प्रकार 'भगवान' विशेष रूप से भागवत जनों के देवता हैं। ईशान, भागवत जनों के सन्दर्भ में ईश्वर हुए हैं – जैसे गीता में। 'भगवान' रुद्र की भी संज्ञा होने से इसे गणधर्म के परमदेवता की सामान्य संज्ञा के रूप में मान लिया जा सकता है। इसमें देवाविष्ट अथवा देव-मानव का भी प्राचीन काल से ही आवेश के सञ्चारक की हैसियत से साधारण परिचय है।

[१६५९] शौ. व्रात्य आसीद् ईयमान एव स प्रजापतिं समैरयत। स प्रजापतिः सुवर्णम् आत्मन् अपश्यत, तत् प्राजनयत्। तद् एकम् अभवत्, तल् ललामम् अभवत्, तज् ज्येष्ठम् अभवत् तद् ब्रह्माभवत्, तत् तपोऽभवत्, तत् सत्यम् अभवत्; तेन प्राजायत (अर्थात् प्रजापति की आत्मज्योति का एक भाग अव्याकृत रह गया और एक भाग विश्वरूप में व्याकृत हुआ, द्र. ऋ. १०।५०।३,४)। सोऽवर्धत, स महान अभवत, स महादेवोऽभवत्, स एकव्रात्योऽभवत्। स धनुर् आदत्त। तदेवेन्द्र धनुः, नीलम् अस्योदरं लोहितं पृष्ठम्। नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति, लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति १५।१।१-८। द्र. वैमी. प्रथम खण्ड। 2 शौ. स महिमा सद्रुर् भूत्वा अन्तः पृथिव्या जगच्छत्। स समुद्रोऽभवत् १५।७।१।

आत्मशक्ति का विच्छुरण है। उसके भीतर मृत्यु की नीलिमा और बाहर जीवन की लालिमा है — जिस प्रकार प्रारम्भिक इन्द्रधनु में दिखता है। इसलिए वे नीललोहित हैं। फिर यह भी कहा जा सकता है कि उनकी लालिमा मानो जीवन का रक्तपाती द्वन्द्व और नीलिमा मानो मृत्यु की सर्वव्याप्त शान्ति हो। पृथिवी में वे रुद्र — प्राणचं [illegible] समुद्र की तरह हैं।

एकव्रात्य महादेव की इस प्रशस्ति में हमने रुद्र के विश्वरूप को ही एक नई भंगिमा में देखा। एकव्रात्य की उपासना में उनके साथ जिन्होंने सायुज्य प्राप्त किया है, वे 'विद्वान व्रात्य' हैं। एकव्रात्य की तरह वे भी आत्म महिमा से चारों ओर फैल जाते हैं। उनके सात प्राण, सात अपान और सात व्यान हैं। वे ही देवता, मनुष्य, पशु, श्रद्धा, दीक्षा, पृथिवी, द्युलोक इत्यादि सब हुए हैं। उनका दक्षिण नेत्र सूर्य, वामनेत्र चन्द्र, दक्षिण कर्ण अग्नि, वाम कर्ण सोम, दोनों नासारन्ध्र अहोरात्र, दिति-अदिति दो शीर्ष-कपाल हैं। दिन में वे पश्चिममुखी हैं और रात में पूर्वमुखी अर्थात वे आदित्य स्वरूप हैं [१८००]। दो व्रात्यों का विवरण मिला लेने पर हम उपनिषद में उल्लिखित अद्वैत-वेदान्त के ये तीन समीकरण प्राप्त करते हैं: पुरुष अथवा ब्रह्म ही सब कुछ हुए हैं; यह आत्मा ही ब्रह्म है; यह आत्मा ही सब कुछ है। इन तीन परम अनुभवों का सहावस्थान या सह-अस्तित्व संहिता में और कहीं भी इतने स्पष्ट रूप में नहीं उभरा है। ब्रह्मवेद के रूप में अथर्ववेद का यही लक्षणीय वैशिष्ट्य है। और इस सामग्रिक भावना के धारणकर्ता वे शिवोपासक व्रात्य थे, जिनकी मनीषा का उज्ज्वल हस्ताक्षर परवर्ती युग में भारतीय दर्शन के तर्क प्रस्थान में सुरक्षित है।

अब हम रुद्र के साथ अन्यान्य देवताओं के सम्बन्ध की चर्चा करेंगे। मरुद्गण के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध के बारे में हम जानते हैं। कण्व घोर के रुद्र सूक्त में मित्रावरुण एवं सोम का सहचार लक्षणीय है [१८०१] अदिति मित्रावरुण की भी जननी हैं, वे अखण्डिता, अबन्धना आनन्त्य चेतना हैं। अतएव इन तीन देवताओं के सहचार में रुद्र तो यहाँ परमपुरुष हैं — यह भावना सहज में ही प्रतिष्ठित होती है। उसके साथ सोम के भी सहचार में हम सब के निकट चन्द्रशेखर मृत्युञ्जय शिव की व्यंजना लेकर आती है। सूक्त के अन्तिम ऋक् में सोम को सम्बोधित करके कहा जा रहा है: तुम अमृत हो; तुम्हारी जो प्रजा वह (अर्थात सारे देवता) ऋत के परम धाम में है, (विश्वभुवन की) नाभि में मूर्धा होकर हे सोम,

[१८००] द्र. शौ. ११।१४-१८ पर्याय; वे मी. प्रथम खण्ड। तु. रुद्र एवं प्रत्येक दिशा में उनका इषु (शौ. ३।२६-२७ सूक्त)। और भी तु. शौनक संहिता में आदित्य रूपी परम देवता के वर्णन में 'सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः' — रुद्र और महादेव संज्ञा दोनों पास-पास हैं (१३।४।४)।

[१८०१] द्र. ऋ. १।४३।३, ६-९। [1] द्र. टीमू. ...१८८२[3]। [2] ऋ. यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्न् ऋतस्य, मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्तीः सोम वेदः १।४३।९। ऋत का परम धाम 'अक्षर व्योम' (१।१६४।३९)। वहाँ विश्वदेव गण नि[illegible] हैं। वे अमृत आनन्द की सन्तान हैं। उसी सोम्य आनन्द में वे नित्यसंगत हैं। सो[illegible] विश्व-भुवन की →

तुम उनको प्यार करते हो; वे तुम्हारे सानिध्य की कामना करते हैं, हे सोम, तुम वह जानते हो।[२] रुद्र के सहचर इस सोम को अनायास ही उनकी मूर्द्धा में अमृत इन्दुकला के रूप में स्थापित किया जा सकता है।

इस प्रसंग में बार्हस्पत्य भरद्वाज के एक सूक्त में सोम और रुद्र का संस्तव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऋषि का कथन है —

'हे सोम, हे रुद्र धारण किए रहो असुर्य को। (हमारी) एषणाएँ संगत हों तुम दोनों के केन्द्र में (शलाका की तरह)। प्रत्येक आधार में सात रत्न निहित करके शंकर हो ओ हम सब के द्विपद और चतुष्पद के प्रति [१८०२]

'हे सोम, हे रुद्र, जड़ से उखाड़ फेंको सारी विषम व्याधि, जो हम सब के आधार में आविष्ट हुई है। रोक कर रखो निर्ऋति को — उसे दूर ठेलकर। हम सब के अन्तर में सुभद्रा श्रुति फूट पड़े, खिल जाए [१८०३]।

नाभि से (तु. १०।८२।६) प्रवहमान एक ऊर्ध्वस्रोत (५।८५।१२) है। अध्यात्म दृष्टि से नाभि से मूर्द्धा की ओर ऊपर उठती हुई एक ऊर्ध्वधारा (द्र. ५।५८।३, टीमू १२५५, १२५६)।

[१८०२] ऋ. सोमारुद्रा धारयेथाम् असुर्यं प्र वाम् इष्टयोऽरम् अश्नुवन्तु, दमेदमे सप्त रत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे ६।७४।१। 'अर' <√'चलना' यहाँ केन्द्रानुग या केन्द्राभिमुख गति (CENTRIPETAL FORCE) है — जिस प्रकार चक्र की शलाकाओं की गति नाभि (NAVE) की ओर। तु. 'अरं कृता:' टीमू. १६२५। 'सप्त रत्न' द्र. टीमू. १२६४। समस्त एषणा के केन्द्राभिसरण में आधार के पोर-पोर में चिज्ज्योति का स्फुरण। 'शं भूतम्' > शम्भु। 'द्विपद' मनुष्य, मनोमय — देवता का उपासक। 'चतुष्पद' पशु, प्राणमय — देवता-वाहन। देवता स्वयं चिन्मय हैं। उनकी उपासना से मन और प्राण शम में अथवा शान्ति में, शिव सायुज्य में पहुँचेंगे। आधार में सप्तरत्न के आधान का यही परिणाम है।

[१८०३] ऋ. सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीम् अमीवा या नो गयम् आविवेश, आरे बाधेथां निर्ऋतिं पराचैर् अस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु ६।७४।२। **गय** निघण्टु में 'गृह' (आध्यात्मिक दृष्टि में आधार, तु. 'दम' रहस्यमय अर्थ में पूर्व की ऋचा में ही) २।४; आत्मा का 'अपत्य' (तु. 'प्रजा' 'तोक' 'तनय') २।२; 'धन' (लक्ष्य) २।१० अथवा जयलब्ध सम्पद्। <√ जि।। गि 'जय करना, जीतना'। सोम गयसाधन मद का स्रष्टा (ऋ. ९।१०४।२)। तु. और्णवाभ के मत के अनुसार विष्णु का परम पद 'गयशिरसि' अर्थात वहाँ पहुँचना ही चरम जय है (नि. १२।१९)। इसी से मुनिधारा में 'जिन' अर्थात प्रेतपक्ष की अमानिशा में भी जाग्रत मृत्युंजय महावीर। बुद्ध का लक्ष्य है इसी 'गयाशिरसि' में पहुँचना। 'विषूची < विषु (एक दूसरे की विपरीत दिशा में तु. क. १।२।४) √अञ्च् 'चलना' तु. 'विसूचीका' (विसूचिका) हैज़ा, (कॉलरा)। धातुवैषम्य व्याधि का निदान — यह आयुर्वेद के अनुसार। अध्यात्म दृष्टि में 'द्वयाविता' अथवा चित्त की द्विधा — अस्थिरता ही व्याधि। 'पराचैः' < परा (दूर) √अञ्च् 'चलना' जो दूर हटा सकते हैं उनके द्वारा। **सौश्रवस** परमा वाक् की श्रुति, जो वाक् गौरी रूप में परमव्योम में सहस्राक्षरा है (ऋ. १।१६४।४१)। ये ही फिर एकपदी वाक् अथवा ओंकार। शेष पाद पुनरुक्त ६।१।१२; और भी तु. १३।५, ६८।८, आजिं सौश्रवस जयेम ७।५८।४, ११६२।३, १०।३६।७, 'आ तं भज (उसमें आविष्ट हो ओ) सौश्रवसेष्वग्न उक्थउक्थ आ भज शस्यमाने' (अर्थात यहाँ से वह जब प्रशस्ति वाचन करेगा तब वहाँ से आह्वान का उत्तर आएगा), प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति (वह हो जैसे; अग्नि और सूर्य, साधना का आदि एवं अन्त) उज् जातेन भिनद् (जो जन्मा है उसके द्वारा गोत्रभिद् इन्द्र की तरह [तु. ६।१७।२] वह ऊपर की ओर (उठ जाए)) उज् जनित्वैः (उस से परे भी ऊपर उठ जाए — जो जन्म लेंगे उनको लेकर अर्थात उनका उत्तरायण अश्रान्त हो, अनवरत हो तु. १।५०।१०, टी. १२८८) १०।४५।१०। सौश्रवस के साथ युक्त है 'सौमनस' अथवा मनःप्रसाद (४) देवता जब प्रसन्न होते हैं तभी वे उत्तर देते हैं। तु. छा. श्लोक ऋक, मन साम — इन दो में एक युग्म या मिथुन १।७।३।

III/२

वेद-मीमांसा

तृतीय खण्ड

अनिर्वाण

[३] पृष्ठ १२३ तक प्रेषित
इस किस्त में केवल ३५ पृष्ठ
१२४ से १५८ तक

हिन्दी अनुवाद
• छविनाथ मिश्र

'हे सोम, हे रुद्र तुम हमारे शरीर में सह जितना सब भेषज है निहित करो, किया गया जो पाप निबद्ध है हम सब के तनु या आत्मा में उसे हम सब से अलग करो, मुक्त करो [१८०४]।

'तीक्ष्ण है तुम्हारा आयुध, तीक्ष्ण है तुम्हारा प्रहरण, तुम दोनों सुशिव हे सोम, हे रुद्र। हम सब के प्रति सुप्रसन्न होओ, प्रमुक्त करो हमें वरुण के पाश से। रखवाले बनो हम सब के — सुमनस्यमान अथवा कल्याणमनन, आनन्ददाता होकर [१८०५]।

यास्क के कथनानुसार अग्नि को भी रुद्र कहा जाता है [१८०६]। उनके द्वारा उदाहृत मंत्र इस प्रकार है: 'संगीत द्वारा तुम जागते हो, हे देवता, तत् स्वरूप को हम सब के भीतर विन्यस्त कर दो, बिछा दो। प्रत्येक प्रवेशक का यजनीय रुद्र के निमित्त सुदर्शनि, स्तोम या स्तव (हम प्रेषित करेंगे)'। यहाँ अग्नि रुद्ररूप में अन्तरिक्ष की विद्युत एवं सत्य-सन्धित्सु की अभीप्सा और परमव्योम की अनिबाधता के बीच सेतुस्वरूप हैं। यही भाव वामदेव गौतम के भी एक मंत्र में व्यक्त हुआ है: 'तुम सब के जो राजा एवं चूर्तिहीन साधना के रुद्र हैं, जो होता हैं, सत्य के याजक हैं— भूलोक और द्युलोक के बीच सञ्चरमाण हैं उन्हीं अग्नि को वज्रघोष का संकेत प्राप्त करने के पहले ही हिरण्मयरूप (सुवर्णप्रभ रूप) में आकार दो, जो तुम सब की रक्षा के लिए चौकस रहेंगे'[2] यहाँ अग्नि अन्तरिक्ष की विद्युत और वज्र रूप में रुद्र हैं। इसी विद्युत की झलक को अन्यत्र 'पूर्व-चित्ति' अथवा प्रथम ज्योति की झलक कहा गया है, जो चेतना में सत्यदर्शन का संकेत देती है।[3]

[१८०४] ऋ. सोमारुद्रा युवम् एतान्य.स्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्, अव स्यतं मुञ्चतं यन् नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतम् एनो अस्मत् ६।७४।३। तनू में अमीवा या व्याधि, उसका प्रतिषेधक भेषज। पुन: उस तनू में ही 'एन:' पाप या आधि; उसका प्रतिषेध, निवारण मुक्ति में। लक्षणीय. तनू यहाँ देह एवं आत्मा दोनों का ही बोधक है। वैदिक 'तनू' (तनु) एवं आत्मा विनिमेय शब्द हैं। रुद्र का भैषज्य स्वास्थ्यप्रद है और सोम का भैषज्य मुक्ति प्रदान करता है।

[१८०५] ऋ. तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृळतं न:, प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद् गोपायतं न: सुमनस्यमाना ६।७४।४। वरुण का **पाश** उनकी माया— जो नीचे, मध्य में और ऊपर में अर्थात देह, प्राण और मन में जड़ित है और जिसने हमारी चेतना को संकुचित कर रखा है (१।२४।१३,१५, २५।२१, ७।८८।७)। इसने मानो हम सब को पशु की भाँति संसार में हजारों यूपों में बाँध रखा है। इससे मुक्त हो पाने पर हमें प्रशम (शान्ति, स्वस्थचित्तता) प्राप्त होगा, जो वरुण का ही एक और रूप है: तु. शुनश् चिच् छेपं निदितं (निबद्ध) सहस्राद् यूपाद् अमुञ्चो अशमिष्ट (शान्त हो गया) हि ष:, एवास्मद् अग्ने वि मुमुग्धि पाशान् ५।२।७। पाश से वे बाँधते हैं, फिर वे ही बन्धन खोल देते हैं — यही उनकी माया है। ऋक् का पूर्वार्द्ध = शौ. ५।६।५-७; उसके बाद ही है 'मुमुक्तम् अस्मान् दुरिताद् अवद्याज् जुषेथां (आस्वादन करो) यज्ञम् अमृतं अस्मसु धत्तम्।' यही है पाशमुक्ति का स्वरूप। तु. भगसूक्त में 'प्रात: सोमम् उत रुद्रं हुवेम' (ऋ. ७।४१।१); वहाँ वरुण का भी उल्लेख है। रुद्र और वरुण दोनों ही सोमनाथ।

[१८०६] नि. १०।७।१ ऋ. जराबोध तद् विविड्ढि (√ विष् 'व्याप्त करना, आच्छादित करना') विशे-विशे (प्रत्येक जन साधारण के निकट) यज्ञियाय स्तोमं रुद्राय दृशीकम् १।२७।१०। जरा √ जृ 'गायन करना, गीत गाना'। [2] आ वो राजानम् अध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्यो:, अग्निं पुरा तनयित्नोर् अचित्ताद् हिरण्यरूपम् अवसे कृणुध्वम् ४।३।१। तु. अग्निं रुद्रं यज्ञानाम् ३।२।५; →

उसी दर्शन से आश्वस्त होने के बाद देवासुर संग्राम शुरू होता है जिसका संकेत रुद्र के गर्जन में है। विद्युत के स्फुरण में — द्युलोक की ओर अभिसरण करने वाले भूलोक के सत्व का चित्र आँखों के सामने साफ-साफ झलकने लगता है। उसी समय जो देवता प्राण के राजा हैं उनको अपना सर्वप्रिय देवता बना लेना पड़ता है। तभी वे कवच होकर विरोधी शक्ति के अपघात से हमारी रक्षा करते हैं। हमने पहले ही बतलाया है कि रुद्र-शिव की उपासना विशेष रूप से मुनियों में बहुत ज़ोर पर थी, जिसकी अनुवृत्ति आज तक हमारे समाज में होती आ रही है। इसी से आर्यों में वैदिक और अवैदिक भावना की एक दरार ने भारतीय दर्शन को आज भी दो भागों में विभाजित कर रखा है — इसकी भी चर्चा हमने की है। इन्द्र वैदिकों के प्रमुख देवता हैं। मुनिपंथी बौद्धों में उनको बुद्ध के पैरों के नीचे उतार लाने का एक रिवाज था। इसका पूर्वाभास अथर्ववेद की इस मंत्रमाला में देख सकते हैं: '[हे रुद्र], तुम इन्द्र के गृह अथवा आश्रय हो। उसी तुम में मैं प्रपन्न हूँ। तुम में ही मैं प्रवेश करता हूँ [तुम्हारी ही तरह] सर्वगु या सर्वज्योति, सर्वपुरुष, सर्वात्मा, सर्वतनु होकर अपना सब कुछ लेकर। तुम्हारी शरण में इन्द्र हैं। उसी तुम में मैं प्रपन्न हूँ ---। इन्द्र के वर्म (कवच) हो तुम। उसी तुम में मैं प्रपन्न हूँ। इन्द्र के आच्छादक हो तुम। उसी तुम में मैं प्रपन्न हूँ [१८०७]'।' यहाँ स्पष्ट रूप में ही इन्द्र के ऊपर रुद्र हैं — जिस प्रकार आदित्य के ऊपर आकाश, मित्र के ऊपर वरुण, प्रतिष्ठा के पश्चात् अतिष्ठा और सत् से परे असत् है। इसी लोकोत्तर की उपासना ऋषिपंथा में सर्वविरक्त वरुण की उपासना है और मुनिधारा में सर्वनिरोधक यम या मृत्यु की उपासना है। इसलिए शौनक संहिता में रुद्र — यम, मृत्यु, पापनाशन, निर्ऋति, बभ्रु अथवा नीललोहित, शर्व, धानुष्की और नीलशिखण्ड हैं।[1] यम की तरह एक स्थान पर उनके कुत्तों का भी उल्लेख है।[2]

और भी तु॰ ८।७२।३ टी॰ १३५६[5]; ५।३।३। [2] तु॰ ऋ॰ १।८४।१२, ११२।१, १५७।३, ८।३।९, प्रतम् इन्द्र नशीमहि (पाते हैं जैसे) रयिं गोमन्तम्. अश्विनम् (अर्थात् प्रज्ञा और प्राण का संवेग) प्र ब्रह्म (चेतना का निस्फारण, प्रसारण) पूर्वचित्तये ६।९, १२।३३, २५।१२, ७।७७।५। ऋक्संहिता के सभी स्थानों पर 'पूर्वचित्तये' यह रूप ही है। तु॰ के॰ ४।४।

[१८०७] शौ॰ इन्द्रस्य गृहो असि। तं त्वा प्र पद्ये, तं त्वा प्र विशामि — सर्वगुः सर्वपुरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः — सह यन् मे अस्ति तेन। इन्द्रस्य शर्मासि। तं त्वा ···। इन्द्रय वर्मासि। तं त्वां ···। इन्द्रस्य वरूथं असि। तं त्वां ··· ५।६।११-१४। 'सर्वगुः' सब गो जिनमें हैं; 'गो' पशु अथवा अन्तर्ज्योति का प्रतीक; अतएव रुद्र सर्वज्योति, पशुपति, सर्वान्तर्यामी हैं; मैं भी वही हूँ। मंत्र में आत्मा एवं तनू के भेदाभास का संकेत है (तु॰ क॰ १।२।२२)। ये विशेषण उभयान्वयी हैं और उपास्य-उपासक के सायुज्य के बोधक हैं (तु॰ ऋ॰ १।१६४।२०)। रुद्र सर्वव्यापी हैं तु॰ शौ॰ 'यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर् वीरुध आविवेश, य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे (रचा है) तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' ७।८७।१। रुद्र और अग्नि का समीकरण लक्षणीय। [1] द्र॰ ६।९३।१। [2] शौ॰ ११।२।३०। तु॰ ऋ॰ १०।१४।११-१२; द्र॰ वे॰मी॰ प्रथम खण्ड।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर अग्नि के साथ रुद्र का समीकरण प्राप्त होता है [१८०८]। रुद्रगण प्राण हैं। रुद्रगण में एकादश रुद्र आध्यात्मिक दृष्टि से दश प्राण एवं आत्मा हैं।[१] तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मण में शरद ऋतु को रुद्र की बहन अम्बिका बतलाया गया है।[२] वसन्त से वर्षा ऋतु तक आदित्य ज्योति का उपचय होता है और शरद ऋतु से अपचय शुरू होता है। वह जैसे प्राण को मृत्यु की ओर ठेल कर ले जाता है। अतएव अम्बिका के माध्यम से रुद्र की हिंसा ही उनका भयंकर रूप है।[३] ब्राह्मण में प्रजापति और रुद्र से सम्बन्धित एक आख्यान है जिस का बीज ऋक्संहिता में ही प्राप्त होता है।[४] प्रजापति मृग का रूप धारण करके अपनी दुहिता से ही यौन सम्बन्ध स्थापित करते हैं। देवताओं ने उनके इस यौनातिचार से क्रुद्ध होकर रुद्र से कहा, इसे विद्ध करो। रुद्र ने मृग-व्याध के रूप में वही किया। उस समय प्रजापति का आधा बीज (वीर्य) मिट्टी में गिर पड़ा और उससे देवता, ऋषि और पशुओं की सृष्टि हुई। देवताओं का क्रोध शान्त होने पर उन्होंने प्रजापति के शरीर से रुद्र के उस शल्य को काट कर बाहर निकाल लिया। वस्तुतः प्रजापति यज्ञ हैं, इसलिए उनके शरीर का यह रुद्रशल्य-विद्ध भाग भी जिससे कहीं नष्ट न हो जाए, उसका उपाय-उपचार करने लगे। उसी का नाम है प्राशित्र। जिसे सविता के निकट ले जाने में उसके तेज से सविता का हाथ टूट कर गिर पड़ा। उसके बाद भग के निकट ले जाने में उनकी आँखें अन्धी हो गईं। इसी प्रकार पूषा के दाँत भी गिर पड़े। और अन्त में बृहस्पति (मतान्तर में इन्द्र) ने उसके तेज को उपशान्त किया।[५] इस आख्यान में सन्ध्या भाषा के माध्यम से रुद्र के तत्व को प्राजापत्य सृष्टि के अर्थ में स्थापित किया गया है। समस्त सृष्टि ही आत्म-शक्ति का उन्मेष अथवा उन्मीलन है। निमीलित शक्ति पुरुष के भीतर भ्रूण अथवा सम्भावना के आकार में अत्यन्त गुप्त रूप में स्थित है। स्रष्टा का काम अथवा 'प्रथमं मनसो रेतः' उसको जब तक प्रत्येक कला अथवा कोशाणुओं में उपचित करता रहता है, तब तक उसकी कन्यादशा होती है। समर्था होने पर उसी आत्मजा शक्ति में ही स्रष्टा बीजाधान करते हैं।[६] प्रजापति सृष्टि के देवता हैं और रुद्र प्रलय के। प्रजापति पूर्ण सत्य के अर्द्धांश मात्र हैं। अन्यत्र उनको त्वाष्ट्र विश्वरूप अथवा वृत्र कहा गया है जिसका वध इन्द्र ने किया था।[७] यहाँ भी हमें रुद्र के द्वारा प्राजापत्य सृष्टि का वेध प्राप्त होता है जिसे उपनिषद में सूर्यद्वार भेद कहा गया है।[८] इसी अतिवेधा तेज के निकट आदित्य के निम्नवर्ती सब देवता निर्वीर्य हो जाते हैं।[९] उसे केवल इन्द्र अथवा बृहस्पति या दोनों ही धारण कर सकते हैं क्योंकि वे ही लोकोत्तरगामी परम प्राण एवं प्रज्ञा हैं।[१०]

[१८०८] तु॰ श॰ ५।३।१।१०, २।४।१२…; ता॰ १२।४।२४, तैब्रा॰ १।१।४।८-९, ६।६…। [१] श॰ कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा, आत्मा एकादशः ११।६।३।७। अतएव रुद्रगण के निमित्त माध्यन्दिन सवन में एकादशकपाल पुरोडाश (तैब्रा॰ १।५।११।३; द्र॰ श॰ ४।३।५।१, शां॰ १६।१, ३०।१); त्रिष्टुप् छन्द भी उनका (ता॰ १।२।७)। [२] द्र॰ तैब्रा॰ १।७।१०।४। [३] श॰ ७।१।१।६। [४] द्र॰ ऋ॰ १।७१।५(टी॰ १२४३); १६४।३३; १०।६१।५-७। [५] द्र॰ ऐब्रा॰ ३।३४, शांब्रा॰ ६।१०; ता॰ ८।२।१०, श॰ १।७।४।१…। [६] द्र॰ इसी तत्त्व का पल्लवन बृ॰ १।४।१-५। [७] द्र॰ त्वष्टा, टीमु॰ १५७२-७४। [८] मु॰ १।२।११। [९] द्र॰ वेमी॰ प्रथम खण्ड। [१०] तु॰ के॰ ४।१-३; तैउ॰ २।८, इन्द्र—बृहस्पति—प्रजापति—ब्रह्म। पुराण में इन्द्र देवराज, बृहस्पति देवगुरु।

४- अपां नपात

रुद्र के बाद **अपांनपात्**। किन्तु निघण्टु में रुद्र के बाद ही इन्द्र हैं। अपांनपात् का नाम नैसर्गिक देववर्ग के बाहर है, 'बृहस्पति' प्रभृति कई आध्यात्मिक देवताओं के पश्चात। उनके नाम का **अर्थ** 'अप का नाती' है। सायण का कथन है कि 'अप से उत्पन्न होते हैं ओषधि-वनस्पति और उस से इस अग्नि की उत्पत्ति होती है — इसलिए वे अग्नि के नाती' हैं [१८०९]। किन्तु संहिता में वे एक साथ ही अप के गर्भाधान कर्ता एवं शिशु हैं, फिर उनके भीतर ही उनका विश्वास है।[1] वे अग्नि का ही एक रूप हैं, वहां इसका स्पष्ट उल्लेख है।[2] निघन्टु में वे अन्तरिक्ष-स्थान देवता हैं। अतएव वे अन्तरिक्ष की अग्नि अथवा विद्युत हैं। अग्नि के तीन जन्मस्थानों में एक अन्तरिक्ष है — यह हमने पहले ही बतलाया है।[3] नैसर्गिक दृष्टि से वर्षा के पहले हम जिस प्रकार बादलों की गड़गड़ाहट में रुद्र को पाते हैं उसी प्रकार बादलों के भीतर विद्युत के उद्भास में या बिजली की कौंध में **अपांनपात्** को पाते हैं। उसके बाद ही वृत्रहन्ता इन्द्र के द्वारा बादलों को चीर कर अवरुद्ध प्राण को मुक्त किया जाता है। इस प्रकार से देखने पर रुद्र और इन्द्र के मध्य में अपां नपात को स्थापित करना अयौक्तिक नहीं है। उसमें इन्द्र के वर्षणकर्म का चित्र सुस्पष्ट रूप में उभरता है — यद्यपि अपांनपात् का तत्त्व इस नैसर्गिक घटना की अपेक्षा भी बहुत गहरा है।

ऋक्‌संहिता में अपांनपात् के निमित्त केवल दो सूक्त प्राप्त होते हैं — एक गृत्समद शौनक का और एक कवष ऐलूष का है — जिनका उल्लेख पहले ही कर चुके हैं [१८१०]। कवष के सूक्त के देवता अप हैं किन्तु विकल्प में अपां नपात् हैं। उसमें प्रत्यक्षतः अपां नपात् के निमित्त केवल दो ऋक् हैं।[1] इसके अलावा ऋक्‌संहिता के अनेक स्थानों पर छिटपुट रूप में उनका उल्लेख है।[2] जिन सब देवताओं के साथ उनका उल्लेख किया गया है, उनमें अहिर्बुध्न्य एवं सविता विशेष प्रणिधान योग्य हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के आख्यान से अपांनपात् का सरस्वती से सम्बन्ध भी सूचित होता है।[3]

सम्प्रदायप्रसिद्धि के अतिरिक्त भी अपांनपात् विद्युत को कहते हैं, वह उनके '**आशुहेमा**' एवं 'पेरु' इन दो विशेषणों से समझा जा सकता है। प्रथम विशेषण तो उनमें ही निरूढ़ है [१८११], जिसका अर्थ है क्षिप्र सञ्चारक। उसके ही परिणाम स्वरूप वे '**पेरु**' हैं अर्थात द्यावापृथिवी एवं अन्तरिक्ष उनके प्रकाश से भर जाते हैं।[1] यह विशेषण भी विद्युत के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त होता है।[2]

[१८०९] ऋ. सायणभाष्य २।३५।१। [1] द्र. २।३५।१३; ३,४,५,८,९,११,१४; १०।३०।४। [2] तु. १।१४३।१, ३।९।१, ५।४१।१०, १०।८।५, ३०।४ (टी १३५८[3])। [3] द्र. टीमू. १३६३।

[१८१०] ऋ. २।३५, १०।३० सूक्त; 'कवष' द्र. टीमू. १६६६...। [1] ऋ. १०।३०।३-४। [2] तु. १।२२।६, १२२।४, १८६।५, २।३१।६, ३।९।१, ५।४१।१०, ६।१३।२, ५०।१३, ५२।१४, ७।३४।१५, ३५।१३, ४७।२...। [3] ऐब्रा. २।१९; और भी द्र. सायण भाष्य २।३५।३।

[१८११] द्र. ऋ. २।३६।१, ७।४७।२; अग्नि का विशेषण २।१।५; अश्विद्वय के अश्व में भी यह विद्युत की गति १।११६।२ (तु. अश्विद्वय स्वयं भी 'आशुहेषसा' ८।१०।२। और भी तु. 'हेषन्तं पेरुम्' ५।८४।२। <√हि 'दौड़ना, दौड़ाना'। [1] तु. सूर्योदय का वर्णन १।११५।१। [2] द्र. टीमू. १६५१[3]। अपांनपात् 'पेरु' ७।३५।१३; सोम 'अपां पेरुः' १०।३६।८; सोमानुगृहीत

अपांनपात स्वरूपत: अन्तरिक्ष स्थान होने पर भी अग्नि की तरह वे भी त्रिषधस्थ हैं। गृत्समद उनको 'परम पद' में स्थापित करते हैं जहाँ से वे यहाँ अग्नि होते हैं; कवष का कथन है कि 'वे अनिन्धन होकर अप के भीतर दीप्ति प्राप्त करते हैं; भौम अत्रि का कथन है कि 'वे वीर्यवर्षी भौम (अग्नि के) शिशु हैं; मैंने त्रित होकर चित्त के स्वस्थ सम्यक वर्जन द्वारा उनको स्तवन किया — [१८१२]।' यहाँ के अग्नि और वहाँ के अपां नपात् एक हैं, इसका उल्लेख हमें अन्यत्र भी प्राप्त होता है: 'अपां नपात सारा प्रकाश लेकर प्रिय होता (आह्वानकर्ता) के रूप में ऋतुओं के अनुसार पृथिवी में निषण्ण हुए।'[1] यह देवता की 'निषत्ति',[2] आवेश अथवा शक्तिपात का वर्णन है। पुन: हम देखते हैं कि यहाँ के जातवेदा ही अपांनपात होते हैं।[3] तो फिर यह उनकी ऊर्ध्वस्रोता धारा है। रोदसी के भीतर दोनों मिलकर नीचे-ऊपर प्रवहमान हैं, जिसको तंत्र में सुषुम्णा काण्ड के भीतर विद्युत की दीपनी अथवा बिजली की कौंध कहा जाता है।[4] माध्यन्दिन संहिता में उसका एक सुन्दर वर्णन इस प्रकार है — 'अग्नि की पुंजज्योति हैं जो, वे ही अपांनपात अप के भीतर अपने असुर्य को सुरक्षित रखकर आविष्ट हुए। हे अग्नि, प्रत्येक आधार में तुम समिध का यजन करते हो। उसी से ज्योति के प्रति तुम्हारी जिह्वा अर्थात् शिखा उच्चरित हो।'[5]

यह घटना नाड़ीतंत्र में विशेष रूप से मध्यनाड़ी सुषोम्ना में घटती है [१८१३]। नाड़ी का उपमान नदी है इसलिए नाड़ी-सञ्चारी अपांनपात् को गृत्समद 'नाद्य' अथवा नाड़ी से सम्पृक्त कहते हैं, 'नदियाँ उनकी विपुलता को आपूरित करती हैं'।[1] इसके अतिरिक्त नदियाँ साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी गति से चलती-बहती हैं। अतएव अहि (साँप) भी प्राणवहा नाड़ी का उपमान है।

सारे देवता ७।७४।४। वर्षाकालीन पृथिवी को 'पेरुम् अस्यस्य जुनि' (५।८४।२) कहने पर 'पेरु' विद्युत है, उसमें संशय की कोई गुंजाइश नहीं।

[१८१२] द्र. ऋ. २।३५।१४,१३; १०।३०।४, टी. १३५८[2]; तृष्णो अस्तोषि भूम्यस्य गर्भं त्रितो नपातम् अपां सुवृक्ति ५।४१।१० (त्रित १०।४६।३, टी. १२८२)। [1] अपां नपाद् यो वसुभि: सह प्रियो होता...न्य सीदद् ऋत्विय: १।१४३।१। 'ऋत्विय' विशेष 'ऋतु में' अथवा विशिष्ट काल में आविर्भूत। अगले मंत्र में ही उनको 'परम व्योमे जायमान' कहा जा रहा है (द्र. टीमू. १२३८[2], १३५०[1])। किन्तु पूरा सूक्त अग्नि का है। [2] टी. मू. द्र. प्रथम खण्ड। [3] ऋ. भुवो अपां नपाज् जातवेद: १०।८।५। शौनक की दृष्टि में जातवेदा ही मध्यम स्थान अग्नि हैं (बृदे. १।६६)। [4] तु. ऋ. विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञिया उभे रोदसी अपां नपाच् च मन्म (यह वाक् मनजात) ६।५२।१४। उद्दिष्ट देवताओं द्वारा सूचित होती है भूलोक और द्युलोक के मध्य अपांनपात की दीपनी (कौंध) एवं उसके परिणाम स्वरूप विश्वचेतना का उद्भास। द्यावा-पृथिवी सभी देवों की दो बन्धनी या कोष्ठक हैं द्र. टी. १२८२[1]। [5] मा. अग्ने अनीकम् अप आ विवेशापां नपात् प्रतिरक्षन्न् असुर्यम्, दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने (समिध का यजन है उसको आत्मसात करके अग्निमय करना, द्र. उव्वट; यज्ञ रूपान्तर का साधन है) प्रति ते जिह्वा घृतम् उच्चरण्यत् स्वाहा ८।२४।

[१८१३] द्र. ऋ. ८।६४।११, टी. १२५३[3]; ७।२।६, टी. १६५१[6]; २।१६४।३०, टी. १३८९[1] २।३५।१,३। [2] द्र. ७।३४।१६-१७, टी. ११४६। और भी तु. त्वचो बुध्ने ४।१७।१४-१५ टी. १६५०[5]। [3] ऐब्रा ३।६;

एक अहि बोध की गहराई में, नदियों के उत्स में है जिसका नाम है 'अहिर्बुध्न्य'।[२] ब्राह्मण में वह गार्हपत्य अग्नि अर्थात् जीवचैतन्य है।[३] यह 'अहिर्बुध्न्य' और 'काद्रवेय अर्बुद' सर्प में एक ही तत्त्व हैं। दोनों ही हैं 'त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ' — अर्थात् स्पर्शचेतना के गहरे एवं प्राणलोक की योनि या केन्द्र में जहाँ कुण्डलीकृत अन्धः सोम का परिस्रव अथवा क्षरण होता है। सम्प्रति हम उसको मूलाधार कहते हैं। यही फिर 'अश्मा' अथवा अद्रि भी है — जो आयुरूपी अग्नि का जन्मकन्द एवं सोमसवन का उपकरण है।[६] अपां नपात् इसी 'अश्मा' अथवा अर्बुद अथवा अहिर्बुध्न्य के साथ गहरे रूप में जुड़े हैं, यही कारण है कि भौम अत्रि ने उनको 'वृष्णो भूम्यस्य गर्भः' कहा है। अगस्त्य मैत्रावरुणि उनके पारस्परिक सम्बन्ध की बात करते हुए कहते हैं: 'और अहिर्बुध्न्य हम सब को आनन्द प्रदान करें। बछड़े के लिए पीनस्तनी (धेनु की तरह) सिन्धु बेचैन हुई है। (इस समय) हम वैसे ही अपां नपात् को दौड़ा सकते हैं — जिन्हें मन जैसे वेगवान वीर्यवर्षी वहन करते हैं।'[७] यहाँ सिन्धु मरुद्वृधा वही मध्य नाड़ी सरस्वती अथवा सुषोमा है जिसके भीतर से होकर अपां नपात् का अग्निस्रोत ऊपर की ओर प्रवाहित होगा। वीर्यवर्षी वही 'इन्द्रिय हय' (अश्व) अथवा प्राण का ओजोवीर्य है मन ने जिसको संयमित एवं क्षिप्र किया है। सारी तैयारी हो गई, अब अहिर्बुध्न्य को उनका कुण्डल-मोचन करना ही शेष है।

अहिर्बुध्न्य के साथ नित्ययुक्त देवता 'अज एकपात्' हैं [१८१४]। 'अज' विश्वोत्तर 'एकं तत्' हैं, जिनकी नाभि में अर्पित या स्थापित हैं 'एकं सत्' — जो यह सब कुछ हुए हैं। उपनिषद् की भाषा में वे चतुष्पात् ब्रह्म एवं संहिता की भाषा में चतुष्पात् पुरुष हैं। उनका त्रिपाद् गुहाहित है, द्युलोक में वह अमृत रूप में है और एकपाद यह विश्वभूत है।[१] यही अज एकपात् अधिदैवत रूप में 'द्युलोक में निहित एक स्पर्शमय अश्मा' अथवा चिद्घन पिण्ड है।[२] ऐसी स्थिति में हम सत्ता के एक छोर पर अहिर्बुध्न्य को प्राणचेतना के पिण्डरूप में और दूसरे छोर पर अज एकपात् को प्रज्ञानघनता के रूप में पाते हैं। अपां नपात् दोनों के बीच विद्युत के उद्दीपन अथवा बिजली की कौंध के रूप में आरोहण-अवरोहण करते हैं — इन दोनों देवताओं के साथ उनके साहचर्य का यही हेतु है।[३]

तु॰ शांब्रा १६।७।[४] द्र॰ टी॰ १२६५।[५] द्र॰ टी॰ १६५०५।[६] द्र॰ ऋ॰ ५।२०।७; टी मू॰ १३२६। १३६१; ६।४८।५।[७] उत नो अहिर् बुध्न्यो मयस् कः शिशुं न पिप्युषीव वेति (√वी चाहना; निकट जाना; सम्भोग करना) सिन्धुः, येन नपातम् अपां जुनाम मनोजुवो (मन का जवन' अथवा संवेग जिन्हें दौड़ाए, तु॰ १०।७१।८; मुण्डकोपनिषद् में मनोजवा अग्नि की तृतीय जिह्वा १।२।४) वृषणो यं वहन्ति १।१८६।५।

[१८१४] निघण्टु में द्युस्थान (५।६) विशेष द्रष्टव्य आगे चलकर।[१] द्र॰ ऋ॰ १०।८२।६; पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि। त्रिपाद् ऊर्ध्व उद् ऐत् पुरुषः पादो अस्येहाभवत् पुनः १०।९०।३,४।[२] तु॰ 'मध्ये दिवो निहितः पृश्निर् अश्मा' ५।४७।३, द्र॰ टी॰ १२२२। उपनिषद् में वे प्राजापत्य सूर्य (ई॰ १६; तु॰ बृ॰ एक हंस ४।३।११)। 'पृश्नि' निघण्टु में द्युलोक एवं आदित्य का साधारण नाम (१।४)। 'पृश्नि' वृषभ भी है जिस प्रकार यहाँ (तु॰ ऋ॰ १०।१८९।१)।[३] अहिर्बुध्न्य, अज एकपात् एवं अपां नपात् का सहचार २।३१।६।

ऋक्संहिता के कई मंत्रों में अपां नपात के साथ सविता के सहचार का जिस रूप में उल्लेख है उसमें इन दो देवताओं के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित होता है [१८१५]। एक मंत्र में जान पड़ता है जैसे सविता अपांनपात को ही निकला है।[1] सविता दिग्वलय के नीचे अदृश्य रहकर अँधेरे के भीतर से ज्योति को द्युलोक में उत्सारित करते हैं। इसी प्रकार अहिर्बुध्न्य के सहचर अपां नपात की प्रेरणा से प्राण का भी कुण्डल मोचन एवं ऊर्ध्वप्रवहण होता है। इस दृष्टि से अपां नपात भी प्राण के सविता अथवा प्रचोदयिता हैं- जिस प्रकार द्युस्थानी सविता प्रज्ञा के प्रेरक हैं। ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज के इस एक मन्त्र में इसका संकेत प्राप्त होता है—'वही सर्वसत्ता का पति अथवा सत्पति होता है, प्राणोच्छ्वास से वृत्र का वध करता है हे अग्नि, भावकम्प्र अथवा भावना से अनुप्राणित होकर पणि के (निकट अपहृत) ओज का आहरण करता है जिसको तुम हे प्रचेता हे ऋतजात, अपांनपात (विद्युताग्नि) के साथ सुषम, सन्तुलित होकर संवेग द्वारा करते हो प्रेरित।'[2] वृत्र आसुरी वृत्ति है और पणि राक्षसी वृत्ति है – दोनों ही अविद्याशक्ति[3] के प्रतीक हैं। ओजस्वी प्राण के संवेग द्वारा अविद्या के अँधेरे को निर्जित करके अग्नि उपासक को अपां नपात की सहायता से प्रचेतना या चेतना के क्रमविपुल अग्राभियान में एवं ऋत अथवा सत्य के निर्दिष्ट छन्द में प्रतिष्ठित करते हैं- क्योंकि वे ही 'आशुहेमा' हैं, वे ही अश्विद्वय की तरह गहरे अँधेरे के सीने को चीरकर ज्योति के किनारे तीव्र गति से प्राण-तुरङ्ग को दौड़ाते हैं।[4]

अपां नपात का यही परिचय है। यहाँ हमने देखा कि नैसर्गिक देवता के रूप में अन्तरिक्ष स्थान होने के बावजूद उनका स्वरूप विशेष रूप से एक अध्यात्मव्यञ्जना वहन करता है। अर्थात वे नाड़ी-संचारी प्राणस्रोत हैं। अप प्राण का साधारण उपमान है। वह ओषधि में अन्तःप्रविष्ट होकर निहित है। सोम ओषधि के राजा हैं, वे 'सुषुम्ण' काण्ड वाही आनन्द चेतना के विद्युन्मय उद्भास हैं। अप का आवेश ओषधि में होता है, उससे विद्युत का उद्दीपन होता है— इस प्रकार अपांनपात अप के नाती हैं [१८१६]। कवष ऐलूष एवं गृत्समद के दोनों सूक्त में उनके रहस्य की यही विवृति है। कवष कहते हैं—

'अध्वर्युगण अप के निकट जाओ, जाओ समुद्र में। अपांनपात का

[१८१५] द्र. ऋ. १।२२।६, २।३१।६, ६।५०।१३, १०।१४९।२। १ अपां नपातम् अवसे सवितारम् उपस्तुहि तस्य व्रतान्युश्मसि (हम जीवन में सिद्ध करना चाहते हैं) १।२२।६। लक्षणीय, 'तस्य' यह सर्वनाम एकवचन में। २ स सत्पतिः शवसा हन्ति वृत्रम् अग्ने...वि पणेर् भर्ति वाजम्, यं त्वं प्रचेत ऋतजात राया सजोषा नप्त्रापां हिनोषि ६।१३।३। 'हिनोषि', ल. अग्नि एवं अपां नपात दोनों ही 'आशुहेमा' (द्र. टी. १८११)। ३ द्र. टीमू. ४ द्र. टीमू. १८११। और भी तुलनीय १०।१४९।२, वहाँ १।२२।६ की तरह ही अपां नपात के विकल्प सविता हैं। यह सावित्र सूक्त है। 'अपां नपात सविता तस्य वेद'—जानते हैं, कारण समुद्र के छलक उठने पर कैसे सृष्टि हुई (द्र. टीमू. १७५८[2])। ल. निघण्टु में 'सविता' मध्यम भी (५।४)। फिर त्वष्टा भी सविता। अनेक स्थलों पर यह संज्ञा सामान्यवाची है। [१८१६] वे अप के 'पुत्र' नहीं हैं, यह बात निरुक्त में स्पष्ट है (द्र. १०।१८, ८।५)।

यजन करो हवि देकर। वे तुम सब को देंगे आज सुपरिपूत लहरी। उनके निमित्त मधुमय सोम का सवन करो तुम सब [१८१६]।'— जीवन का सारा मधु निचोड़कर उनमें आहुति द्वारा देवता की उपासना करनी होगी। उसके लिए प्राण को खरस्रोता, समुद्रसंगामी करना होगा। तब हमारे भीतर भी देवता के सौम्य प्रसाद के निर्झरण से लहर-लहर में आनन्द की धारा प्रवाहित होगी।

'तुम जो अनिन्धन (बिना इन्धन) होकर जल उठे अप् के भीतर, तुमको ही भाव-विभोर विप्रगण जगाते हैं आर्जव की साधना में, वही तुम हे अपां नपात्, मधुमती अप् की धाराओं को ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित करो—जिनके द्वारा इन्द्र संवर्धित हुए वीरत्व के लिए [१८१८]।' अनिन्धन विद्युत के उद्दीपन से वे कौंधते-दमकते हैं नाड़ी तंत्र के भीतर, जब अहि का कुण्डलमोचन करके मर्मज्ञ प्राण के देवता को ऋजुस्रोता करते हैं। तब द्युलोक से देवता का प्रसाद सौम्य मधुर मूसलाधार वृष्टि में झरने लगता है और उसी से वृत्रघाती इन्द्रचेतना उपचीयमान होकर बलवती हो उठती है।

गृत्समद कहते हैं—

'मैंने प्रवाहित कर दिया ओजःकाम होकर इस वाक् की साधना को। आनन्दित हों नदी के देवता मेरी जागरण की वाणी से। अश्वों को सरपट दौड़ाएँ अपां नपात्। निश्चित रूप से वे उन्हें सुरञ्जित या अलंकृत करेंगे। क्योंकि वे सुतृप्त होंगे (उनके द्वारा) [१८१९]।'— वृत्र का आवरण या अवरोध तोड़ने के लिए वज्र-तेज चाहिए। इसलिए नाड़ी तंत्र में प्रवाहित उसी विद्युन्मय देवता के निमित्त हृदय से जागरण की वाणी उत्सारित हुई जो प्रेमपूर्वक इसे स्वीकार करेंगे और इसके भीतर लावण्यमयी इन्द्रधनुषी छटा बिखेरेंगे।

'इनके निमित्त हृदय से सुन्दर रूप में काट-छाँट कर उसी मंत्र या मनन को हम सुगठित वाङ्मय रूप में प्रस्तुत करते हैं— निश्चय ही वे इसे ग्रहण करेंगे। अपां नपात् ने अपने असुर्य अथवा शक्ति के विकिरण के महत्व से मालिक या प्रभु होकर इस विश्वभुवन को जन्म दिया है [१८२०]।'—

[१८१६] ऋ. अध्वर्यवो अप इता समुद्रम् अपां नपातं हविषा यजध्वम्, स वो ददद् ऊर्मिम् अद्या सुपूतं तस्मै सोमं मधुमन्तं सुनोत' १०।३०।३। अप् में जाना एवं समुद्र में जाना, अप् से समुद्र में जाना— प्राण की विचित्र धारा को महाप्राण में मिला देना है। 'सुपूत' पवमान सोम की वह धारा है जो देवता के निकट से हमारे भीतर प्रवाहित होगी।
[१८१८] ऋ. योऽनिध्मो (अतएव वैद्युत) दीदयद् अप्स्व् अन्तर् यं विप्रास ईळते अध्वरेषु, अपां नपात् मधुमतीर् अपो दा याभिर् इन्द्रो वावृधे वीर्याय १०।३०।४। ल. 'अध्वर' यह वह साधना है जिसमें धूर्ति अथवा कुटिलता नहीं (द्र. टी. १३४४)। इसी से हठयोग में कुण्डलिनी का विद्युत-तन्तु के रूप में सीधा होकर ऊपर की ओर उठना। 'मधुमती' से अग्नि और सोम का सम्बन्ध सूचित होता है।
[१८१९] ऋ. ओम् असृक्षि वाजयुर् वचस्यां चनो दधीत नाद्यो गिरो मे, अपां नपाद् आशुहेमा कुवित् स सुपेशसस् करति जोषिषद् हि २।३५।१। आशुहेमा द्र. टी. १८११। 'आशु' क्षिप्रगामी अश्व (निघ. १।१४, २।१५) ऋक्संहिता में ओजस्विता का प्रतीक (१०।७३।१० टी. १२६२)। उसको जो क्षिप्र गति से दौड़ाते हैं (<√हि)। वचस्या वाक् की साधना, तु. २।१०।६। अनुरूप 'तपस्या'। सुपेशस् द्र. 'पिंशत' टी. १४३६। यह मंत्र ही पूरे सूक्त की भूमिका है।
[१८२०] ऋ. इमं स्व् अस्मै हृद आ सुतष्टं मंत्रं वोचेम कुविद् अस्य वेदत्, अपां नपाद् असुर्यस्य →

वाङ्मय शिल्प के माध्यम से हम हृदय की अनुभूति को देवता के निमित्त अभिव्यक्त करते हैं। वे उसको ग्रहण करते हैं — जो लोकोत्तर महिमा में प्रतिष्ठित रहकर विश्वभुवन के स्रष्टा हैं।

'कोई-कोई एकत्र एक धारा में मिल जाती हैं (— फिर) कोई-कोई उसमें मिल जाती हैं (इस प्रकार) एक ही विशाल (समुद्र को) नदियाँ आपूरित करती हैं। उसी शुचि एवं प्रज्वल अपां नपात् को शुचि अप् (सब जल या प्राणधाराएँ) चारों ओर से घेरे हुए हैं [१८२१]।' — देवता निर्मल ज्योतिर्मय प्राण के समुद्र हैं। अश्वत्थपत्र (पीपल के पत्ते) के शिराजाल (रगों) की तरह नाड़ीतंत्र वाहित प्राण की शुचि·शुभ्र धाराएँ उसमें तीव्रगति से गिर कर उच्छल हो उठती हैं।

'वे युवा हैं। सुस्मिता यौवनवती लावण्यमयी सब अप उनको चारों ओर से घेरे हुए हैं। वे शुक्र·शुचि शक्ति अथवा निर्मल तेजबल से तीव्रगति के साथ हमारे भीतर दीप्त हुए हैं — अनिन्धन (इन्धन-रहित हैं) फिर भी ज्योतिर्वसन होकर प्राणधाराओं की गहराई में प्रज्वलित हुए हैं [१८२२]।' — देवता विद्युन्मय हैं। अतएव अनिन्धन ज्योति के उद्भास से हम सब के प्राण की गहराई में सुदीप्त या विकिरणकारी शक्ति के फ़व्वारे की तरह झिलमिला रहे हैं। उनके तारुण्य को केन्द्र में रखकर विश्वप्राण की अप्सरोद्युति एक सुस्मित तारुण्य की प्रच्छटा सिरज रही है।

'यही देवता किसी ओर कहीं ढलक न पड़ें इसलिए उनके लिए तीन दिव्या नारियाँ उनमें प्रतिष्ठित करना चाहतीं हैं अन्न। वे (अपरूपिणी) लगता है प्रस्तुत ही थीं। वे निकट जाकर उनके भीतर स्वयं को जब प्रसारित किया, (तब) वे पीयूष (स्तनामृत) पान करने लगते हैं प्रथम प्रसूतिकाओं का [१८२३]।' — विश्व के जो जनक हैं वे ही पुनः हम सब के आधार में नवजातक हैं। तब अप्-रूपिणी विश्वमातृकाएँ ही उनकी जननी हैं। इसी कुमार के लिए उनकी गोद बिछी ही रहती है।

मह्ना विश्वान्य.यो भुवना जजान २।३५।२ 'हृदः सुतष्टम्' तु १०।७१।८। 'असुर्य' देवता का लोकोत्तर स्वरूप, द्र. टीम् १२७८। अतएव अपां नपात् परम देवता।

[१८२१] ऋ. सम् अन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः समानम् ऊर्वं नद्यः पृणन्ति, तम् उ शुचिं शुचयो दीदिवांसम् अपां नपातं परि तस्थुर् आपः २।३५।३ ऊर्व < उरु 'विशाल', समुद्र का बोध होता है (द्र. साभा. 'बड़वानल')। निघन्टु में समुद्र अन्तरिक्ष का एक नाम (१।३) निश्चय ही यह एक मेघ-समुद्र (अब — जैसे विमान से दिखाई देता है)। उसके भीतर 'नदियाँ' टेढ़ी-मेढ़ी विद्युत की धाराएँ। यही छवि अहिभूषण शिव की भी। पुराण में वे अहिर्बुध्न्य। समस्त धाराएँ जाकर (उप) संगत होती हैं एक धारा में (सम)। तु. 'सुषोमा' अथवा सुषुम्णा काण्ड। अहि की उपमा के लिए द्र. ऋ. १।७९।१ टी. १४६२।

[१८२२] तम् अस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः, स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवद् अस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिग् अप्सु २।३५।४। अस्मेरा वस्तुतः 'स्मेरा' उच्चारण की सुविधा के लिए पदादि संयुक्त वर्ण के पहले अकारागम। 'स्मेरा' के अर्थ के लिए तुलनीय. अपां नपात् का ही (मध्यमाग्नि) एक और वर्णन : 'शिताभिर् न स्मयमानाभिर् (विद्युद्भिः) आगात् (अग्निः) पतन्ति मिहः (धाराः) स्तनयन्त्य भ्राः' (मेघाः) १।७९।२। अथवा 'अस्मेरा' प्रयोग के साथ तु. बांग्ला में 'अकुमार' अथवा 'अकुमारी' = वस्तुतः कुमार अथवा कुमारी। और भी तु. सादृश्य बोध के लिए वैदिक 'न' > 'अ' (?) उसके अतिरिक्त भी तु. ४।५८।८। मर्मृज्यमाना < √मृज् 'शौचालङ्कारयोः' (सायण) मार्जना'

वे गोद में लेटे-लेटे उनका स्तनामृत पान करते हैं। बहुत सावधानी के साथ इस शिशु को दुलराना पड़ता है। इसी लिए महाशक्ति की त्रिधा-मूर्ति इला, सरस्वती और भारती इस विद्युत् शिशु का अन्न जुटाने में व्यस्त हो जाती हैं।

'यहाँ ही अश्व का और इस स्वर्ज्योति का जन्म होता है। द्रोही और अनिष्टकारी के संसर्ग से तुम बचाओ ज्योति के साधकों को। कच्चे पुर (धाम या घर) में अवस्थित हैं वे परम देवता। जिनको कोई भुला सकता नहीं। कृपणता उनका स्पर्श न कर पाए और (स्पर्श न कर पाए) समस्त अनृत, मिथ्या (आवरण) [१८२४]।' — हम सबके अपरिणत आधार में प्राण और प्रज्ञा के आश्वासन के साथ उस विद्युद्दीप्त परम का आविर्भाव मानो एक विस्मय है। स्वमहिमा से उनका स्फुरण तो सहज नहीं। हमारे ही द्रोह द्वेष, कार्पण्य और अनृत उनको घेरे हुए हैं — उनके अपघात से कौन उनकी रक्षा करेगा? वे ही अपनी रक्षा करेंगे। इसके अलावा हम सब के भीतर उनके प्रति गोपित वह आकूति अथवा रागात्मकता रक्षा करेगी, जो तनिक भी उनको भूलने नहीं देती।

'उनके अपने घर में स्वच्छन्दक्षरा जिनकी धेनु ने (उनके ही लिए) किया है स्वधा का आप्यायन; वे सुभृत अन्न के अन्नाद हैं। वे ही अपां नपात् अप् के गहरे में आवर्जन या परित्याग की शक्ति प्रकट करते हैं और आलोक-वित्त प्रदान करने वेदा के निकट विभासित होते हैं [१८२५]।' स्वधाम में स्वयं अदिति उनकी धात्री हैं — जिनका नित्य निर्झरित स्तन्य उनकी स्वधा को आप्यायित करता है और प्रत्येक आधार में उनको सुस्वादु पिप्पल भोजी (पिप्पलाद) बना देता है। उसी अन्न से पुष्ट होकर एक दिन महापराक्रम से वे तद्गत उपासक की चेतना की दिशा को नया मोड़ देते हैं और अकृपण, सदाशय ज्योति के दाक्षिण्य से उसको उद्भासित करते हैं।

प्रसाधन; केश-विन्यास, जिस प्रकार प्रतिमा चिकनाने के लिए रोगन लगाना: तुलनीय. 'सुसङ्काशा (समुज्ज्वला) मातृमृष्टेव योषा' १।१२३।११ उषा का वर्णन। मृज् धातु का यह प्रयोग सोम के बारे में अधिक है। 'निर्णिक्' धुला हुआ वस्त्र। यह ऋक् एक दिव्य दर्शन है। सब अप् जैसे अप्सरा, देवता की क्रीड़ा संगिनी।

[१८२३] ऋ. अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर् देवाय देवीर् दिधिषन्त्यन्नम्, कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् २।३५।५। **अव्यथ्य** अटलता < √व्यथ् 'काँपना, हिलना'। 'कृता' प्रस्तुत तु. 'कृतं स्मर' (ई. १७)। 'पीयूष' द्र. टी. १४७२ 'पूर्वसू' आदिमाता, अपां नपात् उनके आदितनय (द्र. अग्नि का जन्म-रहस्य टीमू. १३७३, ऋ. ३।१ सूक्त) अप् जननी एवं जाया दोनों ही हैं।

[१८२४] ऋ. अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर् द्रुहो रिषः संपृचः पाहि सूरीन्, आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन् नानृतानि २।३५।६। 'अश्व' सूर्याश्व, 'एतश'; दिव्य प्राण; उसके विश्वरूप का वर्णन, द्र. बृ. १।१ ब्रा.। 'स्वर्' सूर्य; दिव्य प्रज्ञा। उनके उपासक 'सूरि' (तु. ऋ. १।२२।२०)। **आमासु** तु. १।६२।९, २।४०।२, ६।१७।६, ७।२।४, ८।८९।७; सर्वत्र 'आमासु पक्वम्' कच्चे के भीतर पक्का, जिस प्रकार गाय के थन में दूध; उपमेय, हमारे अपरिणत आधार में गुहाहित वही परम। अप्रमृष्य < √मृष् 'ख्याल न रखना, भूल जाना' (तु. 'अचित्ति')। 'अराति' < √रा 'दान करना, देवता को जो देता नहीं (तु. 'रक्षस्वी' 'पणि')।

[१८२५] ऋ. स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति, सो अपां नपाद् ऊर्जयन्न् अप्स्वन्तर् वसुदेयाय विधते वि भाति २।३५।७ 'स्वे दमे' अपने →

'वे, सब अप या प्राणधाराओं में शुचि और दिव्य (ज्योति में) हैं, ऋतमय और अनिर्वाण विभा के साथ विपुल रूप में फैल जाते हैं [वे मानो वनस्पति हैं] जिसकी शाखाएँ हैं अन्य सारे भुवन। उससे ही उत्पन्न होती हैं ओषधियाँ फूल-फल के साथ [१८२६]।' — अपने परम धाम में वे सहस्रशाख विद्युत के वनस्पति जैसे हैं, — और अजस्र, अविच्छिन्न ज्योति की सन्दीप्ति के साथ ऋतच्छन्द में झिलमिला रहे हैं। वे काण्ड हैं और विश्वभुवन उनकी शाखा-प्रशाखा हैं। उनसे ही निकलकर फूल और फल के भार से झुकी हुई उनकी आनन्दलतिका शक्तियाँ उनको ही जकड़े-पकड़े हैं।

'अपां नपात जब आरूढ़ हुए [अदिति के] उपस्थ में कुटिलाओं के मध्य ऋजु और उन्नत होकर विद्युत का वस्त्र पहने (तब) उनकी सर्वातिशायी महिमा अथवा सर्वश्रेष्ठ माहात्म्य को वहन करती हुई हिरण्यवर्णा चञ्चला तरुणियाँ (उनके चारों ओर) चक्कर काटती चलती हैं [१८२७]।' आधार के कुण्डल शयन से विद्युत के देवता एक दिन ऊर्ध्वस्रोता होकर अपने स्वधाम में आरूढ़ होते हैं। उस समय उनकी आत्मप्रतिष्ठा की महिमा को विद्योतित करके हिरनबरनी विद्युतबालाएँ उनके चारों ओर कौंधती-कुदकती रहती हैं।

'हिरण्मय है उनका रूप, हिरण्मय है उनका सन्दर्शन (सम्यक् दर्शन)। वही तो अपां नपात् हैं, वे हिरण्यवर्ण हैं — (जब) हिरण्मय योनि से (उतर कर) निषण्ण होते हैं (आधार में) जो हिरण्य देना जानते हैं, वे ही अन्न देते हैं इन्हें [१८२८]।' — सोने के देवता का सब ही तो सोना है। सोने के धाम से वे इस हृदय में उतर आते हैं और स्पर्शमणि (पारस पत्थर) के स्पर्श से उसको भी सोना कर देते हैं। वही सोना हम फिर जब उन्हें लौटा पाएँ तभी उनका यथार्थ तर्पण या तोषण हो सकेगा।

अपने घर में, हम सब के इस आधार में (तु. १।१।८) 'धेनु' माध्यमिका वाक् अथवा मेघगर्जन (सायण); वस्तुतः अदिति (द्र. टी.)। 'स्वधां धीनाय' आत्मस्थिति की शक्ति धेनु के पयः से प्राप्त, अदिति ने ही उनमें शक्ति का सञ्चार किया। देवता की स्वधा ही पथ की बाधा दूर कर सकती है। 'अन्नम् अत्ति' (तु. १०।१२५।४) इसी से पुरुष की प्रसिद्ध संज्ञा 'अन्नाद' (तु. ऋ. 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' १।१६४।२० > 'पिप्पलाद'; 'मध्वद' २२; स्वादु पिप्पल और मधु यहाँ का सुभृत (उत्कृष्ट) अन्न)।

[१८२६] ऋ. यो अप्स्वा शुचिना दैव्येन ऋतावाजस्र उर्विया विभाति, वया इद् अन्या भुवनान्यस्य प्र जायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः २।३५।८। 'अजस्र' < √जस् 'अवसन्न होना'। 'वयाः' तु. १।५९।१ टी. १२७५। भुवन जो कुछ होता जा रहा है (Becoming); विभूति: (तु. भूति ॥ GK. Phusis 'nature')। जो हुआ है, वह भूत (तु. आदि-व्याहृतिद्वय 'भूः' 'भुवः' क्रमशः पृथिवी और अन्तरिक्ष, अन्न और प्राण, आधुनिक भाषा में जड़ और शक्ति)। दोनों के ऊर्ध्व में उपनिषद् का 'भूमा' (< भूयस् तु. छा.) ७।२२।१; ऋक्संहिता में क्लीव लिङ्ग 'भूम' भूमि, पृथिवी। पुंलिङ्ग में 'विस्तार, वैपुल्य' का बोध होता है (१०।८८।१२)। 'वीरुध' द्र. टी. पृ. १३६०। यहाँ ओषधि-वनस्पति की छवि में अग्नि-सोम की ध्वनि है।

[१८२७] ऋ. अपां नपाद् आ ह्यस्थाद् उपस्थं जिह्मानाम् ऊर्ध्वो विद्युतं वसानः, तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर् हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः २।३५।९। 'उपस्थ' अदिति का, तु १०।५।७, टी. १३१६। 'जिह्मानाम्', तु. जिह्मानाम् ऊर्ध्वः स्वयशा (अपनी ईशना में स्वयं ईश्वर) उपस्थे १।९५।५ अग्नि का वर्णन। 'जिह्मा' अदिति की हिरण्य-वर्णा विद्युद्विभूति। यहाँ उपस्थ के साथ अन्वय भी सम्भव। तो फिर 'बहु विद्युत के

'उनकी वह पुञ्जीभूत ज्योति और उनका नाम दोनों कितने सुचारु, सुन्दर हैं। अपां नपात् की (वह द्युति) लुक-छिप कर बढ़ती चलती है। जिनको समिद्ध करती हैं नवयौवनाएँ इस प्रकार; हिरण्यवर्ण ज्योति है उनका अन्न [१८२९]।' जिस प्रकार उनका रूप सुन्दर है उसी प्रकार उनका नाम भी सुन्दर है। इस आधार में ही वे, नित्यतरुणी जलबालाओं के सन्दीपन आप्यायन द्वारा गोपनीय रूप में बढ़ते चलते हैं। वे अन्नपूर्ण हैं, सुनहली ज्योति उनका अन्न है।

'ये अनेक (देवताओं के) कनिष्ठ एवं (हम सब के) सखा हैं। इनके निमित्त तन्मय होकर चलता हूँ, यज्ञ, आहुति और प्रणति के साथ। सम्मार्जन करता हूँ उनके कूट या उन्नतप्रदेश का, प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ टुकड़े-टुकड़े इन्धन द्वारा, अन्न से पुष्ट करता हूँ घूम-घूम कर वन्दना करता हूँ ऋक् (मंत्र) द्वारा [१८३०]।'— सब से बड़े होकर भी वे मेरे भीतर सब से नीचे सखा के रूप में उतर आए हैं। मैं उन्हें अपनी प्रणति और आत्माहुति द्वारा प्राप्त करना चाहता हूँ। उनका स्तवन करता हूँ, अनेक उपायों द्वारा उनके सामर्थ्य को बढ़ाता हूँ। उनके सन्दीपन कूट या शिखर को लावण्यमय करता हूँ।

'वे वीर्यवर्षी देवता ही ने जन्म दिया उनके भीतर भ्रूण को, (फिर) शिशु रूप में उनका स्तन्य पान करते हैं। उनको वे चाटती हैं। उस अपां नपात् ने ही एकबारगी निर्मल रूप में मानो अन्य का शरीर लेकर यहाँ काम किया है [१८३१]।'— परम धाम में जो परमपिता हैं, वे ही हम सब के भीतर नवजातक रूप में उतर आते हैं। प्राणरूपा उनकी शक्तियाँ एक बार उनकी प्रिया हैं फिर उनकी जननी हैं। स्वरूपच्युति के विना ही वे यहाँ आते हैं। किन्तु जान पड़ता है जैसे यह और कोई है।

समवाय से निर्मित अदिति की गोद'। अदिति आदि माता और सभी की धात्री हैं जिस प्रकार उमा और कृत्तिकाएँ (तु. २।१।४, ६; टी. १२३३४)। इस ऋक् में सब मिलाकर अहिभूषण शिव की छवि उभरती है।

[१८२८] हिरण्यरूपः स हिरण्य संदृग् अपां नपात् सेद् उ हिरण्यवर्णः, हिरण्ययात् परि योनेर् निषद्या हिरण्यदा ददत्य् अन्नम् अस्मै २।३५।१०। तु. छा. हिरण्मय पुरुष (१।६।६)।

[१८२९] ऋ. तद् अस्यानीकम् उत चारु नामापीच्यं वर्धते नप्तुर् अपाम्, यम् इन्धते युवतयः सम् इत्था हिरण्यवर्णं घृतम् अन्नम् अस्य २।३५।११। 'अनीकम्' रश्मि समूह रूपं शरीरम् (सा.)। 'चारु नाम' तु. ऋ. कस्य... मनामहे चारु देवस्य नाम (१।२४।१); मनन के फलस्वरूप देवता का नाम ही मंत्र हो जाता है। तु. गुह्यं चारु नाम ४।५८।१। जलबालाओं द्वारा अग्नि का आप्यायन द्र. ३।१ सूक्त। आध्यात्मिक दृष्टि में पानी में आग लगना, प्राण का योगाग्निमय होना है।

[१८३०] ऋ. अस्मै बहूनाम् अवमाय सख्ये यज्ञैर् विधेम नमसा हविर्भिः सं सानु मार्ज्मि दिधिषामि बिल्मैर् दधाम्य् अन्नैः परि वन्द ऋग्भिः २।३५।१२। 'बहूनाम् अवमः' तु. ऐब्रा. १।१। 'सानु' द. ऋ. २।३।८ टी. १५४३६, ६।४८।५ टी. १३४८६, ३।५।३। बिल्म तु. नि. भिल्मं भासनम् इति वा १।२०। भिल्म <√भिद् (?) 'टुकड़े करना'।

[१८३१] ऋ. स ईं वृषाजनयत् तासु गर्भं स ईं शिशुर् धयति तं रिहन्ति सो अपां नपाद् अनभिम्लात वर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष २।३५।१३। योनातिचार तु. टीम्. १२४२१।

१३५

'इस परम पद में थे जो, अविनाशी (तेज द्वारा) दीप्तिमान थे शाश्वत काल से (उन्हीं अपां) नपात के निकट सब ओर (जलबालाएँ = जल धाराएँ) ज्योति का अन्न वहन करती हुई अपने आलोक के परिधान में (चमकती-दमकती) उनके चारों ओर उड़ती फिरती हैं चंचला तरुणियों के रूप में [१८२२]।' — जिस परम पद में शाश्वत काल से देवता जाज्वल्यमान हैं वे तो यहाँ इस हृदय में हैं। वहाँ मेरी आत्माहुति ही उनका अन्न है जो उनके स्पर्श से ही अग्नि हो जाता है। उनकी नित्य संगिनी विद्युद्वसना जलबालाएँ वह नित्य वहन कर उनके निकट ले जाती हैं और नित्य उनके चारों ओर उनका ज्योतिरुत्सव महाशून्य में आरम्भ होता है।

'मैंने दिया है अग्नि सुनिवास (दैव्य) जनों को, और समर्थ लोगों को परित्याग और अन्तर्मुखता की शक्ति प्रदान की बिना प्रयास। वह सभी सुभद्र सुमङ्गल है जो कुछ है देवताओं का प्रसाद। जिससे हम बृहत् की घोषणा कर सकते हैं विद्या की साधना में सक्षम, सुवीर्य होकर [१८२३]।' — इस हृदय में विद्युत के देवता परमव्योम से उतरकर आए हैं। अब मैं आप्तकाम एवं सुदक्षिण अर्थात विश्वस्त और अत्यन्त उदार हूँ। इसलिए देवता को आधार में अचल प्रतिष्ठा और समर्थ लोगों को अन्तर्मुखी होने की शक्ति प्रदान की है। आज मेरा सब कुछ देवरक्षित है, अतएव सब कुछ ही सुमङ्गल, शुभंकर है। जिससे हम विद्या की साधना में वीर्यवान व शक्ति सम्पन्न हो सकें और जीवन देकर उसे 'ऋतं बृहत्' की घोषणा कर सकें। अपां नपात् का प्रसंग यहाँ समाप्त हुआ।

[१८२२] ऋ. अस्मिन पदे परमे तस्थिवांसम् अध्वस्मभिर् विश्वहा दीदिवांसम्, आपो नप्त्रे घृतम् अन्नं वहन्तीः स्वयम् अत्कैः परि दीयन्ति यह्वीः २।३५।१४। 'परम पद' परमव्योम। 'अस्मिन' बोध होता है यहाँ अर्थात हृदयाकाश में (तु. छा. यावान् वा यम् आकाशम् तावान् एषोऽन्तर्हृदय आकाशः ... यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तद् अस्मिन समाहितम् ८।१।३)। 'अध्वस्मभिः' ध्वंस रहितैः [अत्कैः] 'दीदिवांसम्' [अपां नपातम्] स्वयम् अत्कैः [दीप्यानाः] 'यह्वीः परिदीयन्ति' — यह अन्वय ही सुसङ्गत है। ऋक् का पूर्वार्द्ध अपां नपात का एवं उत्तरार्द्ध जलबालाओं का वर्णन। दोनों ओर रूप सम्पद अथवा सौन्दर्यातिरेक समान-समान। 'स्वयम् अत्कैः' तु. (इन्द्रः) अधो द् अस्थात् स्वयम् अत्कं वसानः ४।१८।५। 'अत्क' निघन्टु में वज्र (२।२०; कहीं-कहीं पाठ है 'अर्क')। यह शब्द मूलतः 'अक्त' < √अञ्ज् 'व्यक्त होना, चमकना (तु. टी. १३(६?)) वर्णविपर्यय के कारण 'अत्क' (तु. नि. २।१८)। अतएव 'अत्क' ज्योति का वसन। 'स्वयम् अत्क' अर्थात स्वयम् की ज्योति ही मानो वस्त्र या परिधेय। तु. ऋ. परमदेवता 'श्रियो वसानश्' (आकाश जिस प्रकार ज्योति का वस्त्र पहने है; इस कारण श्री विष्णुपत्नी) चरति स्वरोचिः (अपनी ज्योति से झिलमिल) ३।३८।४। इसे समझाने के लिए इन जलबालाओं को अन्यत्र 'दिवो यह्वीर् अवसाना अनग्नाः' कहा गया है अर्थात कोई स्थूल वस्त्र बिना पहने भी अनग्ना ३।१।६ (टी. १२३३)। 'घृत अन्न' ज्योतिरन्न। घृत सहज दाह्यतम। प्राण देवता के निकट जो भी आहुति वहन करके लाता है, वही अग्नि हो जाती है। यह भी (४) की तरह एक दिव्य दर्शन है जो रास की छवि का स्मरण दिला देता है।

[१८२३] ऋ. अयांसम् अग्ने सुक्षितिं जनायायांसम् उ मघवद्भ्यः सुवृक्तिम्, विश्वं तद् भद्रं यद् अवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः २।३५।१५। 'सुक्षिति' सुमङ्गल निवास, प्रतिष्ठा अथवा ऐश्वर्य। 'जनाय' [दैव्याय] तु. १०।५३।६ द्र. टी. १४३५। 'सुवृक्ति'॥ सुवर्ग > स्वर्ग ऋषि पथा में देवयजन का फल। प्रति तुलनीय, मुनि पथा में 'अपवर्ग' सब कुछ से मुँह फेर लेना। ऋक् के प्रथम पाद में प्राप्ति, द्वितीय पाद में समर्थ पुरुष का सम्प्रदान; अर्थात

५- इन्द्र

ग्रीष्म के प्रखर ताप के पश्चात् पुरवाई के कारण आकाश मेघों से घिर गया है। मेघगर्जन सुनाई पड़ रहा है। बार-बार बिजली की कौंध से दिगन्त उद्भासित हो रहा है। चारों ओर स्तब्ध निश्चलता का भाव है तब भी वृष्टि नहीं होती है। सब सूख गया है, पृथिवी बाँझ हो गई। किन्तु आदित्य उत्तरायण के चरम बिन्दु पर आ पहुँचे हैं। प्रज्ञा की अनुत्तर महिमा तो है किन्तु प्राण कहाँ? किसने उसको अवरुद्ध कर रखा है? अवरोधक है वृत्र। कौन उस अवरोध को तोड़ेगा? विद्युदृष्टि रुद्रिय मरुद्गण की सहायता से परम देवता **इन्द्र** उस अवरोध को दूर करेंगे। अब हम उनका ही परिचय प्राप्त करेंगे।

१- साधारण परिचय

यद्यपि आधारस्थ अग्निचेतना का दिव्य आदित्यचेतना में उत्तरण ही वैदिक साधना का लक्ष्य है, तब भी मध्य स्थान इन्द्र को ही अनेक कारणों से वेद का प्रधान देवता कहा जा सकता है। प्रथमतः ऋक्-संहिता में इन्द्र के निमित्त रचित सूक्तों की संख्या सब से अधिक है — अर्थात् परिमाण में एक चौथाई भाग। अन्यान्य संहिताओं के इन्द्र सम्बन्धी मंत्रों को लेकर उनकी संख्या तीन हज़ार के भी ऊपर हो जाती है। इसके अतिरिक्त छिटपुट रूप में एवं अन्यान्य देवताओं के साथ उनका उल्लेख भी अधिक है। संख्या की बहुलता सब समय प्राधान्य का मुख्य कारण न होने पर भी इस अवस्था में उपेक्षणीय नहीं है। क्यों— अब हम इस पर प्रकाश डालेंगे।

जिस सोमयाग को त्रयी विद्या का साधन कहा जा सकता है उसके केन्द्र में इन्द्र हैं — याग का माध्यन्दिन सवन उनके ही निमित्त किया जाता है [१८३४]। मध्याह्न सूर्य के सिर के ऊपर आने के बाद ही उनके ढलने का क्रम शुरू होता है। अग्नि नहीं, वायु नहीं बल्कि एक मात्र इन्द्र उसका प्रतिरोध कर सकते हैं और चेतना की ऊर्ध्वस्रोता अध्वर गति को सार्थक कर सकते हैं।[१] इसके बाद ही उत्तरायण सहज होता है।

'कुशल यजमान के भीतर शक्ति का सञ्चार' (तु. क. १।२।८-८)। शेष पाद अनेक सूक्तों की टेक। 'बृहत्' तु. 'स्वर् बृहत्' देवता रूप में (ऋ. १०।६६।४); द्र. टीमू. ११८८।

[१८३४] तु. ऋ. इन्द्र सोमं सोमपते पिबेमं माध्यन्दिनं सवनं चारु यत् ते ३।३२।१; 'माध्यन्दिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र'२ ('गण' मरुद्गण; इन्द्र, रुद्र, मरुद्गण सभी अन्तरिक्ष स्थान देवता हैं; तीनों सवन में माध्यन्दिन का महत्व सब से अधिक है; इसके द्वारा ही सोम को सूर्यद्वार तक पहुँचाना पड़ता है; उस समय सोम 'इन्दु'); ५।२।५; शुष्मी (उच्छ्वसित) राजा वृत्रहा सोमपावा ... माध्यन्दिने सवने मत्सद् (मत्त हो जाओ) इन्द्रः ४।४०।४, ६।४७।६; माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्न् अनेद्य (अनिन्द्य) पिबा सोमस्य वज्रिवः ८।३७।१-६ (टेक)। अग्नि का इन्द्र सहचार प्रसिद्ध। एक सूक्त में सोमयाग के तीनों सवनों में ही पुरोडाश का आस्वादन करने के लिए अग्नि का आह्वान किया गया है (३।२८।१, ४, ५)। वहाँ माध्यन्दिन सवन काल का द्योतक मात्र है। तु. श. एतद् वा इन्द्रस्य निष्केवल्यं सवनं यन् माध्यन्दिनं सवनं, तेन वृत्रम् अजिघांसत् तेन व्यजिगीषत ४।३।३।६; कौ. मध्ये सन्तं (सूर्यम् ईप्सन्ति) माध्यन्दिनेन सवनेन १८।८, क्षत्रं माध्यन्दिनं सवनम् १६।४। सहचारवशात् रुद्रगण और मरुद्गण का उल्लेख श. १४।१।१।१५; ता. ५।७।२, १३।७।२ (द्र. ऋ. ३।३२।२ उपरोक्त)। [१] तु. के. यक्ष का उपाख्यान, अग्नि वायु एवं इन्द्र सभी →

इन्द्र उसके चरम एवं परम साधन हैं। और इसी लिए साध्य के साथ उनका सम्बन्ध भेदाभेद का है। वे एक साथ सूर्य के जन्मदाता एवं स्वयं सूर्य दोनों ही हैं।[2] यही उनकी परमता का मुख्य हेतु है। ऋक्संहिता में उनको तुरीय अथवा चतुर्थ आदित्य बतलाया गया है[3] और उनके तुरीय यज्ञिय नाम का उल्लेख किया गया है।[4] तुरीय से लोकोत्तर[5] का बोध होता है, इसीलिए यह विशेषण इन्द्र की प्रधानता का सूचक है जो आसानी से ही समझा जा सकता है।[6] उसके अतिरिक्त इन्द्र का एक और बहुप्रयुक्त विशेषण 'पुरुहूत' है—जिसका अर्थ है[7] जिनको सभी बुलाते या पुकारते हैं। कुछ स्थानों को छोड़कर सर्वत्र इसके उद्दिष्ट या अभीष्ट इन्द्र हैं। उसके अनुरूप उनका एक और विशेषण है 'पुरुष्टुत'—जिसका अर्थ है सभी जिसकी स्तुति करते हैं।[8] ये सभी उनकी सर्वजनीनता के बोधक हैं अतएव प्रधानता के ज्ञापक हैं।

देवताओं को पार कर गए हैं, उनमें इन्द्र ने ही फिर सर्वापेक्षा निकट जाकर ब्रह्म का स्पर्श किया है ३।१—४।३। और भी तु. ऋ. अहन्न् इन्द्रो अदहद् अग्निर् इन्दो पुरा दस्यून् मध्यन्दिनाद् अभीके (सम्मुख जाकर, संग्राम में, नि. ३।२०, निघण्टु. २।२९) ४।२८।३। ल. 'दस्यु' यहाँ अनार्य जन नहीं बल्कि आध्यात्मिक बाधा; सूक्त के आरम्भ में ही है इन्द्र 'अहन्न् अहिम् अरिणात् (प्रवाहित कर दिया) सप्त सिन्धून् अपा.वृणोद् अपिहिते.व खानि (अर्थात् चेतना के रुद्ध द्वार खोल दिए)'। [2] तु. ऋ. ३।४९।४, ३९।५; अभि व्रजं न (गोष्ठ की तरह; गोयूथों की तरह; आलोकपुञ्ज की तरह, तु. ९।१०८।६) तत्निषे (वितत किया है, प्रसारित किया है) सूर उपाकचक्षसम् (सूर्य का प्रत्यक्षदर्शन; द्र. टी. १५३७) यद् इन्द्र मृळयासि (आनन्दित करना चाहते हो) नः ८।६।२५...। इन सब स्थानों पर इन्द्र सूर्य-दर्शन के साधन। फिर इन्द्र ही सूर्य 'अस्माकम् उत्तमं (उत्कृष्टतम) कृधि (निष्पन्न करो) श्रवः (श्रुति, श्रौत सिद्धि; परा वाक् का श्रवण (तु. १।१६४।४१) देवेषु (देवताओं के मध्य अर्थात् परम व्योम में (तु. १।१६४।३९) सूर्य, वर्षिष्ठं (जो नित्य निर्झरित होगा, द्र. टी. १२७७[3]) द्याम् इवो.परि (माथे के ऊपर द्युलोक की तरह) ४।३१।१५। यद् (यह जो) अद्य कच् च (किसी एक समय में नहीं अर्थात् सब समय) वृत्रहन् उद् अगा अभि (हमारे सामने) सूर्य सर्वं तद् इन्द्र ते वशे ८।९३।४ (तु. १; १०।८९।२। इन्द्र जब प्राण, तब वे वर्षण के देवता; जब प्रज्ञा तब ज्योति के देवता। [3] तु. ८।५२।७ (द्र. टी. १२५२)। सात आदित्यों में (२।२७।१, टी. १३७६) इन्द्र तुरीय (चतुर्थ)—उनकी एक ओर वरुण, मित्र, अर्यमा, और दूसरी ओर भग, दक्ष एवं अंश हैं। इन आदित्यों के एक छोर पर 'अंश' अथवा जीवचैतन्य (तु. गीता. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः १५।७, जहाँ 'अंश' खण्ड नहीं बल्कि 'अंशु' अथवा 'किरण', उपनिषद की 'रश्मि'), और एक छोर पर 'वरुण' अथवा अव्यक्त ब्रह्मचैतन्य (तु. तैउ. ३।६) इन्द्र दोनों के बीच सेतु। भग सूर्योदय के अथवा हम सब के जीवन-प्रभात के देवता हैं। यहाँ उनका स्थान तृतीय, किन्तु सप्तपदी में चतुर्थ है। दृष्टि भेद के कारण परिगणना का अन्तर। [4] ऋ. ८।८०।९ (टी. १२५२)। [5] तु. इमां धियं (ध्यानचेतना को) सप्तशीर्ष्णीं (तु. 'सप्त' धीतयः ९।८।४, १५।८ सात लोक अथवा यज्ञ के सात सोपान के आधार पर प्रवर्तित सात ध्यानवृत्ति या ध्यानतरंग) पिता न ऋतप्रजाताः बृहतीम् (प्रत्येक ध्यानचेतना का क्रमिक विस्फारण या फैलाव) अविन्दत् (उस ध्यान द्वारा ही) तुरीयं स्विज् (तुरीय कुछ एक को) जनयद् विश्वजन्यो (विश्वजनीन; विश्वजनहितैषी) अयास्य (सूक्तकार ऋषि का नाम) उक्थम् इन्द्राय शंसन् १०।६७।१। यहाँ 'तुरीय' तुरीयचेतना अथवा इन्द्रचेतना, नीचे की ओर से देखने पर जो लोकोत्तर या लोकातीत—जिस प्रकार तीन लोक के उस पार 'स्वः' है (१०।९०।३, द्र. टीभू. १२५२...)। तु. ५।४०।६, टी. १२६५। इस तुरीय से शुरू करके उसके भी ऊपर की ओर किन्तु सब कुछ लेकर तंत्र का 'तुर्यातीत', उसमें वैदिक भावना का अनुषंग है।

उसके अतिरिक्त और भी एक बात है। हमने देखा है कि जो वेदपंथी
नहीं हैं, वेद में उनकी संज्ञा 'अदेव' अथवा 'अयज्ञ' है अर्थात जो देवता
को मानते नहीं अथवा यज्ञ नहीं करते [१८-३५]। हम सम्प्रति जिन्हें
ईश्वर में विश्वास न करने वालों की भूमिका में 'नास्तिक' कहते हैं,
वे ही वैदिक जन 'अदेव' हैं। इसी अदेव का एक पर्यायवाची शब्द
'अनिन्द्र' है।[१] अन्य कोई भी देवता नहीं, केवल इन्द्र को न मानना
ही यदि नास्तिकता का लक्षण होता है तो फिर निस्सन्देह इन्द्र ही वेद
के परम देवता हैं।[२] उनकी परमता का यह जिस प्रकार परोक्ष प्रमाण
है, उसी प्रकार उसका अपरोक्ष प्रमाण है जब उन्हें विशेष रूप से
परिभाषित किया जा रहा है कि वे ही 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव....
मायाभिः';[३] वे ही 'रूपं रूपं वोभवीति मायां कृण्वानस् तन्वं परि स्वाम्'।[४]
जो परम एक अथवा 'निरपेक्ष एक' हैं वे ही यह सब कुछ हुए हैं, यही
वेदान्त का विशेष प्रभावशाली, मार्मिक सिद्धान्त है। ऋक्संहिता के कम
से कम दो स्थलों पर विशिष्ट किसी देवता के नामोल्लेख के बिना इस
सिद्धान्त का उल्लेख है। एक स्थान पर है, 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।'[५]
इसके अतिरिक्त एक और स्थान पर है 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च
भव्यम्।'[६] जगतकारण की इस तात्त्विक विवृति के साथ इन्द्र की उपर्युक्त परिचिति
हू-ब-हू मिल जाती है। इसीलिए इन्द्र ही परम देवता हैं, इस विषय में
सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं। यही भाव विशेष रूप से इन्द्र के इस
विशेषण में व्यक्त हुआ है कि वे 'विश्व-भू' हैं।[७] पारम्य अथवा परमता की
दृष्टि से निश्चय ही जो कोई भी देवता 'विश्वरूप' हो सकते हैं;[८] किन्तु
तब भी 'विश्व-भू' और 'विश्वरूप' में एक सूक्ष्म भेद है। भू-धातु के
प्रयोग में विश्व-भू में होने के एक संवेग का बोध होता है और विश्वरूप
में उसका ही परिणाम है। इन्द्र प्रत्यक्षतः दोनों के ही निमित्त हैं। अतएव
उनके पारम्य का एक अनन्य वैशिष्ट्य है।

---

[६] 'तुरीय' सम्प्रति वेदान्त की एक पारिभाषिक संज्ञा है जिस से जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के परे प्रपञ्चोपशम के अनुभव का बोध होता है (माण्डू. ७, किन्तु वहाँ 'तुरीय' शब्द के स्थान पर है 'चतुर्थ')। यह शब्द ऋक्संहिता में राहस्यिक अर्थ में एकाधिक बार प्रयुक्त होने पर भी बृहदारण्यकोपनिषद् के इस एक खण्ड को छोड़कर प्राचीन उपनिषदों में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। बृहदारण्यक में गायत्री के अष्टाक्षर तीन पदों के परे 'तुरीयं दर्शतं पदम्' का उल्लेख है (५।१४।३-७)। इसे अधिदैवत दृष्टि से 'परोरजा (लोकोत्तर, लोकातीत) य एष तपति' अर्थात आदित्य जो सत्य, बल और प्राणरूप में हम सब के परम पुरुषार्थ हैं। ऋक्संहिता के तुरीय आदित्य की भावना के साथ इस भावना की सजातीयता सुस्पष्ट है। इन्द्र भी आदित्य रूप में 'परोरजाः' एवं उसी से 'तुरीय'। परार्द्ध के आदित्यगण उनके इस तुरीय भाव के ही अन्तर्गत हैं। उनके पारम्य का द्योतक यह मंत्र प्रणिधेय— ऋ. यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीर् उत स्युः, न त्वा वज्रिन् त्सहस्रं सूर्या अनु (तुम्हारे समान नहीं) न जातम् (तुम जब जन्मे अर्थात चेतना में आविर्भूत हुए) अष्ट (व्याप्त किया) रोदसी ८।७०।५।
[८] जैसे अग्नि का विशेषण १।१४४।७, १०।७८।२; सोम का ९।८६।६; अश्विद्वय का ६।६३।१; पूर्वोक्त रथ का १०।४१।१; उषासानक्ता का ७।२।६। [८] प्रायः सर्वत्र इन्द्र का विशेषण। अग्नि का १।१४१।६, ५।८।५; पूषा का ६।५८।४; उषा का ५।८०।३; सोम का ९।७२।१, ७७।४। निघन्टु में पुरु अनेकवाची या बहुवाची (३।१); किन्तु सर्ववाची होने में भी कोई आपत्ति नहीं, जिस प्रकार 'पुरुरूप' = विश्वरूप, 'पुरुत्र' = सर्वत्र, 'पुरुभू' = सर्वभू इत्यादि।

इन्द्र के स्वरूप की आलोचना के समय इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना जरूरी है कि वे परम देवता हैं। अदेववादी मुनिपन्थियों के प्रभाव में परमदेवता के तात्विक पहलू पर ही जोर डालने में क्रमशः उनकी संज्ञा 'पुरुष' अथवा 'ब्रह्म' हुई है। उसके फलस्वरूप उस वैदिक युग में ही ब्रह्मवादियों की दृष्टि में इन्द्र जैसे कुछ नीचे उतर आए हैं। सम्प्रति हम सब के निकट तो वे केवल भोगैश्वर्य के प्रतीक हैं। इस दृष्टि का संशोधन-परिशोधन नितान्त आवश्यक है नहीं तो संहिता के इन्द्रमंत्रों की व्यञ्जना हमारी चेतना में पूर्णतः परिस्फुट नहीं होगी।

इन्द्र का एक संक्षिप्त परिचय निरुक्त में एवं ऋक्संहिता के खिल काण्ड के निविदाध्याय में प्राप्त होता है। यास्क का मन्तव्य है कि 'तीन ही देवता हैं— यह नैरुक्तों का कथन है। अग्नि पृथिवीस्थान, वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान और सूर्य द्युस्थान हैं [१८३६]।.... अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम, बृहत् साम, मध्यम स्थान में उल्लिखित देवगण एवं देवियाँ—ये सब इन्द्र के साथ विशेष रूप से सम्पृक्त हैं। और इनका कार्य रसानुप्रदान अर्थात् ग्रीष्म की शुष्कता दूर करने के लिए वृष्टिपात और वृत्रवध है। जो कुछ बलकृति है, वही इन्द्र कर्म है। उसके बाद अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु एवं वायु इनके संस्तविक देवता हैं।[१] इस इन्द्रभक्ति अथवा इन्द्र-विभाजन के साथ उसके पहले और बाद में क्रमानुसार उल्लिखित अग्निभक्ति एवं आदित्यों का विभाजन या विन्यास[२] मिला लेने पर देखा जाता है कि वेद के समस्त देवता ही जब अग्नि, इन्द्र एवं सूर्य की विभूति[३] हैं तब वैदिक देवोपासना का एकमात्र तात्पर्य हुआ पृथिवी से द्युलोक में चेतना का क्रमिक उत्तरण एवं अन्त में सब कुछ को 'देवपत्न्यः' अथवा एक चिन्मयी महाशक्ति के ज्योति विच्छुरण के रूप में अनुभव करना।[४] यह साधना का पूर्वार्द्ध है अर्थात् उत्तरायण के छन्द में वसन्त से वर्षा में उत्तीर्ण होना। उसका उत्तरार्द्ध है पुनः दक्षिणायन के छन्द में शरत से शिशिर के गहन अन्तर में प्रवेश कर जाना।[५] उस समय चेतना अतिच्छन्दा

[१८३५] द्र. टी. ११५८[२]। [१] तु. ऋ. ५।२।३, ७।१८।१६, १०।२७।६, ४८।७। [२] द्र. टी. ११५८[२]। [३] ऋ. ६।४७।१८। [४] ३।५३।८, टी. १५००। [५] ८।५८।२, टी. १२२९[१]। [६] १०।९०।२, टी. १५७०[४]। [७] १०।५०।१, टी. १४६६[४]। [८] द्र. टीभू. ११८२।

[१८३६] नि. ७।५। अन्तरिक्ष में देवताविकल्प का तात्पर्य द्र. वेमी. पृष्ठ ५४१-४२। [१] नि. ७।१०। [२] नि. ७।८, ११। [३] द्र. नि. ७।५-६। [४] लक्ष्य करने योग्य है - निरुक्त के दैवतकाण्ड के अन्तिम देवता 'देवपत्न्यः' के बाद ही निघन्टु एवं निरुक्त का समापन। सोमयाग में भी 'पत्नीसंयाज' अथवा देवपत्नियों के निमित्त आहुति ही शेष करणीय है (आपस्तम्ब श्रौ. १३।१८।२), उसके बाद केवल 'प्रायश्चित्त' और 'अवभृथ' बाकी रहता है। सोमयाग का लक्ष्य अमृतत्व को प्राप्त करना है जो परमज्योति में उत्तरण एवं जो सारे देवता उनकी विभूति हैं उनके सायुज्यलाभ से सिद्ध होता है (ऋ. ८।४८।३)। किन्तु ये देवता सभी 'पत्नीवान्' अर्थात् सशक्तिक (शक्ति सहित) हैं (३।६।९, टी. १२८१) अतएव देवपत्नियाँ विश्वदेवता की पुञ्जित ज्योतिःशक्ति। शक्तिप्राप्ति से जीवन को समर्थ करना ही →

अर्थात् छन्द के उल्लास में ही वह छन्द-बन्धन से मुक्त हो गई है, उसी तार-तार में रैवत साम को झंकृते हैं ... का संयोग वरुण के प्रचेतस समुद्र की गहराई में ले जाता है।[6] एक में आलोक कन्या उषा की उपासना और एक में श्यामवर्णा कन्या नक्ता की उपासना।[7] इन दोनों के मिलने से सम्वत्सर व्याप्त प्राजापत्य चेतना की पूर्णता सिद्ध होती है। तब इन दोनों अयनों से परे हम सकृद् दिवा के उस परम व्योम में पहुँचते हैं जहाँ आदित्य का उदयास्त नहीं।[8]

इस परमज्योति में पहुँचने के मार्ग में वृत्र अथवा आवरणकारी शक्ति की बाधा है। उसको दूर करने के लिए 'बल' की आवश्यकता है। अध्यात्म दृष्टि में यह बल ओजःशक्ति है एवं उसके देवता इन्द्र हैं [1836]। वे ओजः से उत्पन्न एवं वे ही 'बलदाः' हैं।[1] अन्तरिक्ष अथवा प्राणलोक में जो कुछ बलकृति है वह वस्तुतः इन्द्रकर्म है। उसकी दो धाराएँ हैं। एक जीवन की अनुर्वर शुष्कता को दूर करने के लिए अन्तरिक्ष से प्राण उड़ेलती है और दूसरी उसकी अन्धता को दूर करने के लिए द्युलोक की ज्योति प्रस्फुटित करती है। ये दोनों निरुक्त की भाषा में रसानुप्रदान एवं वृत्रवध हैं। उत्तरायण में यह सहज, स्वाभाविक होता है क्योंकि ज्योति का क्रमिक उपचय भी उस समय सहज होता है। और दक्षिणायन में उसके लिए अधिक चेष्टावान होना होता है। पहले में इन्द्र के सहचर प्रकाश के देवता विष्णु हैं और दूसरे में अन्धकार के देवता वरुण हैं।

यास्क ने इन्द्र नाम की चौदह व्युत्पत्तियाँ दी हैं [1838]। ये व्युत्पत्तियाँ शब्दविज्ञान सम्मत न होने पर भी उससे इन्द्र के सम्बन्ध में उनकी भावना का एक परिचय प्राप्त होता है। जिसमें ऐश्वर्यवाचक इन्द् धातु से व्युत्पन्न यह

वैदिक साधना का विशेष तात्पर्य है। तु. टी. 1287। वेद में शक्तिवाद नहीं है, यह प्रकल्प अयौक्तिक है। लक्षणीय. ऋक्संहिता की आत्मस्तुतियों में सर्वापेक्षा जो महनीय है उसकी देवता 'वाक्' (10।125) हैं। इस देवी के बिना वैदिक साधना चल ही नहीं सकती।[5] द्र. नि. 7।11।4-7।6 **रैवत** < रेवत् < रयिवत्। यही साम की योनि अथवा उद्गम है ऋ. 10।30।12-15, देवता 'आपः, अपांनपाद् वा'। वहाँ अप् देवियों को 'रेवतीर् जीवधन्याः' कहा गया है। उनकी यह 'रयि' जीवन में समुद्र-सङ्गामी भाटे की टान (बहाव-खिंचाव) सोमयाग के अवभृथ की तरह है। ईशोपनिषद के अन्त में इस रयि की ही चर्चा की गई है। निरुक्त की इन उक्तियों के विन्यास के लिए तु. छा. 2।12, 14-18।[7] द्र. वेमी. द्वितीय खण्ड : उषसा-नक्ता प्रसंग।[8] द्र. छा. 3।1-11; वेमी. प्रथम खण्ड : उपनिषद।

[1836] तु. ऋ. सम्राळ् अन्य स्वराळ् अन्य उच्यते वां महान्ता इन्द्रा वरुणा महावसु (महाज्योति), विश्वे देवासः परमे व्योमनि सं वाम् ओजो वृषणा (हे वीर्यवर्षी देवयुगल) सं बलं दधुः 7।82।2। इन्द्र का स्वाराज्य यहाँ आत्मचेतना की ईशना अथवा अकुण्ठ सामर्थ्य का और वरुण का साम्राज्य परमचेतना के आधिपत्य का संकेत देता है। संक्षिप्त सोमयाग के तृतीय सवन में इन दोनों का एक साथ उल्लेख प्राप्त होता है छा. 2।24।11-16। यही उपनिषद में आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता की भावना में पर्यवसित हुआ है।
[1] द्र. ऋ. 10।73।10, टी. 1252; तु बलं धेहि तनूषु नो बलम् इन्द्रानळुत्सु नः, बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि 3।53।18। **अनळुत्सु** — [अनड्वाह् (शकटवाही) + सु] बलीवर्द अथवा साँड़ या साँडों में। रहस्यविदों या मर्मज्ञों की अनड्वाह् की स्तुति द्र. शौ. 4।11, अनड्वाह् वहाँ इन्द्र, अथवा प्रवर्ग्य का घर्म (5), जो

व्युत्पत्ति ही सम्भवतः यथार्थ के निकट है, क्योंकि इन्द्र जो जगत के ईशान अथवा ईश्वर हैं — उनका यह परिचय संहिता में अत्यन्त उज्ज्वल है।[1] संहिता में अवश्य इस धातु का कोई प्रयोग नहीं प्राप्त होता। यास्क द्वारा उल्लिखित आग्रायण एवं औपमन्यव की व्युत्पत्ति इस भावना के ही अनुकूल है कि इन्द्र विश्वकर्मा हैं, इन्द्र विश्वद्रष्टा हैं।[2] एक अन्य व्युत्पत्ति दीप्त्यर्थक इन्ध् धातु से — अर्थात इन्द्र सर्वभूत को (चेतना द्वारा प्रदीप्त करते हैं अथवा मनुष्य प्राण द्वारा स्वयं के भीतर उनको समिद्ध करता है, अतएव वे इन्द्र हैं।[3] अन्यान्य व्युत्पत्तियों के अन्तर्गत यास्क ने इन्द्र को 'इन्दु' एवं 'इरा' के साथ युक्त किया है। इन्द्र-सोम की सहचरता प्रसिद्ध है। इसलिए इन्द्र एवं इन्दु का एक ही मूल असम्भव नहीं।[4] इरा अन्न, पृथिवी अथवा अग्निशक्ति की संज्ञा है।[5] इन्द्र और अग्नि की भी सहचरता प्रसिद्ध है। इन्द्र की बलकृति के बोधक के रूप में व्युत्पत्तियों के अन्तर्गत 'दारयिता' एवं 'द्रावयिता' पद का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। सब मिलाकर यास्क की भावना में इन्द्र का परिचय इस प्रकार है — इन्द्र ईश्वर, विश्वकर्ता एवं द्रष्टा हैं, प्रत्येक प्राणी में चेतना की ज्योति हैं, आनन्दमय हैं और विरोधी शक्ति के अवरोध को तोड़ते हैं, उन्हें दूर कर देते हैं। जिस किसी आस्तिक की भावना में ईश्वर का परिचय भी वही है।

इन्द्र नाम की कोई भी व्युत्पत्ति सुनिरूपित नहीं है किन्तु यह नाम बहुप्रयुक्त है। इसलिए इसके सम्बन्ध एक रहस्य की सृष्टि हुई है। यह नाम अमर्त्य है, इसका सङ्केत, इशारा लोकोत्तर की ओर है, इस नाम की शक्ति स्वतःस्फूर्त है, इस नाम से ज्योति प्रस्फुटित होती है अतएव यह नाम कीर्तनीय अथवा कीर्तन के योग्य है [1839]। लगता है ये उक्तियाँ–

राहस्यिक अर्थ में आदित्य (मा. १८।५०, श. ७।४।२।१९, ११।६।२।२, १४।१।३।१०, १७) अथवा, 'देवमिथुन' अथवा '[शिव-] लिङ्ग' ऐब्रा. १।२२; अग्नि वहाँ देवयोनि। फिर ब्राह्मण में अग्नि ही अनड्वाह् (श. ७।३।२।१९, १३।८।४।६ ...)। और भी तु. ऋ. त्वम् इन्द्र बलाद् अधि सहसो जात ओजसः, त्वं वृषन् वृषेद् असि १०।१५३।२। ल. अग्नि की तरह इन्द्र भी 'सहसः सूनुः' (६।१८।११, २०।१)।

[1838] नि. १०।८।१ ऋ. ईशानम् अस्य जगतः, ईशानम् इन्द्र तस्थुषः ७।३२।२२, 'एक ईशान ओजसा' ८।६।४१ (४०।५, ७६।१, ९।११।८) भूरेर् ईशानम् ओजसा ८।३२।१४; ईशानः १।५।१०, ७।८, ६१।६, १२, १५ ...; स विश्वस्य करुणस्येश एकः १।१००।७। अनुरूप विशेषण 'पति' 'राजा' अनेक स्थानों पर।[2] तु. ऋ. १।१००।७; ऐउ. १।३।१३-१४।[3] तु. शब्रा. ६।१।१।२ बृ. ४।२।२।[4] तु. गृत्समद के सूक्त की टेक; सै. न सश्चद् देवो देवं सत्यम् इन्द्रं सत्य इन्दुः २।२२।२-३ (द्र. टीमू. १२५५)। 'इन्दु' द्र. निरुक्त १४।४१ टी. १२५५[2]; ज्योतिर्बिन्दु जिसकी पारिभाषिक संज्ञा 'द्रप्स' है (तु. १०।१७।११-१३ टी. १७७६[10]।[5] द्र. वेमी. द्वितीय खण्ड आप्री सूक्त तृतीय देवता 'इळ' एवं अष्टम देवता 'तिस्रो देव्यः'।

[1839] ऋ. स मज्मना (निगूढ़ या रहस्यमय बल के द्वारा) जनिम मानुषाणाम् (मनुष्य-जनक) अमर्त्येन नाम्नाति प्र सर्स्रे (अतिक्रमण कर गए हैं) ६।१८।७; परो (सब के परे) यत् त्वं परम (परमव्योम में) आजनिष्ठाः परावति (लोकोत्तर में) श्रुत्यं (दिव्यश्रुतिगम्य) नाम बिभ्रत् ५।३०।५; यस्य धाम (प्रतिष्ठा, स्वधा) श्रवसे (दिव्य श्रुति गम्य) नामेन्द्रियं (इन्द्रोचित अर्थात ईश्वरोचित, ईश्वर नाम [एवं धाम] ज्योतिर् अकारि (ज्योति के रूप या आकार प्रस्फुटित किया गया) हरितो ना (ज्योति के अश्वों की तरह) अयसे (तीव्रगति से दौड़ने के लिए उनका नाम और धाम ज्योति के तुरङ्ग रूप में चेतना में व्यक्त हो गया) १।५७।३; सदा ते नाम स्वयशो (तुम ही तुम्हारे ईशान हो हे देवता; यह विशेषण नाम में उपचरित) विवक्मि (रटता हूँ) ७।२२।५; कीर्तेन्यं →

जैसे किसी आधुनिक नामरसिक की हैं। देवता का एक गुह्य नाम है[1] जो चारु एवं मनन के योग्य है[2] — यह भावना संहिता में स्पष्ट है और वह इन्द्र के सम्बन्ध में चरम बिन्दु पर प्रतिष्ठित है।[3] इस दृष्टि से इन्द्र नाम का एक वैशिष्ट्य है। किन्तु इसके अतिरिक्त उनके और भी कई नाम हैं जो एकमात्र उनके ही परिचायक हैं — जैसे मघवन्, वज्रिन्, (एवं अनुरूप) शक्र, शचीपति, शतक्रतु। पुनः ऋजीषिन् एवं वृत्रहन् ये दो नाम भी प्रायशः इन्द्र के हैं।

निविदाध्याय में इन्द्र का परिचय तीन प्रकार से दिया गया है — एक में वे मरुत् सहचर, दूसरे में 'केवल' अथवा निःसङ्ग और तीसरे में सोमपा हैं। मरुत् सहचर के रूप में उनका निवित् [१८४०] इस प्रकार है — वे मरुद्गण के 'सहस्तुत' हैं, वे ही उनके गण हैं, उनके सखा हैं, उनको संवर्धित करते हैं, वे वृत्र का वध करते हैं, मरुतों की ओजःशक्ति की सहायता से अप् या जल की धाराओं को प्रवाहित करते हैं। उनके साथ-साथ जब सारे देवता मत्त हो गए तो उन्होंने वृत्र (आवरण) को हटाकर जलधाराओं को मुक्त किया। शम्बर-हत्या और रश्मियूथ के सन्धान →

मघवा नाम बिभ्रत् १।१०३।४। [1]तु. नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि ५।३।२ (टी.१३२०, अग्नि का); तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम् २ (टी १३२०); अपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम् ९।८७।३ (टी. वही); अभ्यर्ष (तीव्र गति से चलो बरछे के फलक की तरह हे सोम) गुह्यं चारु नाम (नाम और धाम यहाँ एक, क्योंकि परम व्योम में यह नाम ही सहस्राक्षरा गौरी रूप में विश्वदेवता का निषत् अथवा धाम है १।१६४।४१. ३९) ९।९६।१६। [2]तु. शुनःशेप की उक्ति है — 'कस्य नूनं (आज, इस समय) कतमस्यामृतानां (देवता में विशेष रूप से किस देवता का) मनामहे (हम सब मनन करें) चारु देवस्य नाम; को नो मह्या (महिमामयी) अदितये पुनर् दात् (अर्थात् फिर हमें सौंप देंगे, वापस ले जाएँगे उनके निकट जिससे) पितरं च दृशेयं (मैं देख पाऊँगा) मातरं च (अर्थात् आदि जनक और जननी को; यहाँ आदि जननी अदिति एवं आदि जनक वरुण, जिनको देखने की ललक इस सूक्त में एवं अगले सूक्त में व्यक्त हुई है; वरुण और अदिति का उल्लेख एक साथ अन्तिम मंत्र में है (१५) द्र. किन्तु ये जनक-जननी असंग हैं इसलिए अदिति कुमारी जननी; पुराण में यही भाव शिव-सती की कहानी में व्यक्त किया गया है)। अग्नेर् वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम, स नो मह्या अदितये पुनर् दात्, पितरं च दृशेयं मातरं च (पहले की ऋचा के प्रश्न का उत्तर; वरुण, अदिति, अग्नि में एक त्रिपुटी है — पौराणिक शिव-शक्ति और कुमार की तरह, तु. १।८९।१०) १।२४।१-२। [3]तु. दूरे तन् नाम गुह्यं पराचैः (लोकोत्तर में अर्थात बहुत दूर) यत् (जब शायद) त्वा भीते (भूलोक द्युलोक अर्थात मनुष्य और देवता सभी) अह्वयेतां वयोधै (उनमें तुम तारुण्य आधान करोगे इसलिए) उद् अस्तभ्नाः (ऊर्ध्व में स्तब्ध कर रखा है [द्युलोक को और नीचे] पृथिवीं द्याम् अभीके (आमने-सामने) भ्रातुः पुत्रान् (रुद्रपुत्र मरुद्गण को; रुद्र और इन्द्र यहाँ भाई-भाई — एक जन मुनियों के इष्ट और एक जन ऋषियों के इष्ट हैं) मघवन् तित्विषाणः (शक्ति से दीप्त करके अर्थात ज्योतिर्मय प्राणोच्छ्वास द्वारा देवता और मनुष्य को अपने गुह्य नाम की शक्ति से तुमने सुखी-सुस्थित किया है); महत् तन् नाम गुह्यं पुरुस्पृग् (अन्तर्यामी रूप में सबको तुम्हारा स्पर्श प्राप्त है, तुम सब में व्याप्त हो) येन भूतं जनयो येन भव्यम्, प्रत्नं जातं ज्योतिर् यद् अस्य (अर्थात जो नाम इस देवता का ही है वही ज्योति जो सृष्टि के आरम्भ में ही प्रादुर्भूत) प्रियं (जिस प्रिय नाम में) प्रियाः समविशन्त पञ्च (अनुप्रविष्ट होते हैं उनके प्रिय पञ्चजन सारे अर्थात सर्वभूत) १०।५५।१-२।
[१८४०] मूल के लिए द्र. टी. १८६८। [1]द्र. ऋ. १।१०१।११ सायण भाष्य। [2]'शम्बर' वृत्र का

के समय सब के परे लोकोत्तर अथवा लोकातीत में जितने गुह्य पद हैं वे अग्नि के सुर में प्रदीप्त कर देते हैं।[2] उसके पश्चात ही बृहत् के भावना समूह को इस प्रकार संवर्धित करते हैं कि वे ओजस्विता में अधृष्य, अजेय होते हैं। मरुत सखाओं को साथ में लेकर देवताओं को प्रज्वल करते हैं। वही मरुत्वान् इन्द्र यहाँ हम सब का आह्वान सुनें, यहाँ पान करें सोम। देवता इस देवहूति को दैवी धी द्वारा अपनी निगरानी में रखें। सुरक्षित रखें इस ब्रह्म को, इस क्षत्र को।[3] सवनकर्ता इस यजमान को सुरक्षित रखें चिन्मय होकर चिन्मयी परिरक्षिणी शक्ति द्वारा। सुनें बृहत् की वाणी। आएं प्रसाद लेकर।'

'केवल' के रूप में उनका निवित [1841] इस प्रकार है — 'इन्द्र देवता सोम पान करें। सभी एकज में वे श्रेष्ठ वीर हैं और सभी भूरिज में सामर्थ्य की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं।[1] दो सुनहले घोड़ों पर उनका अधिष्ठान है पृश्नि के प्रिय हैं वे।[2] वे वज्रधर हैं। पुरों का भेदन करते हैं, पुरों को विदीर्ण करते हैं। जल धाराओं को प्रवाहित करते हैं उनके साथ चलते हैं। वीरों के नेता हैं।[3] (वृत्र के) निहन्ता हैं। दूर में है उनकी श्रुति।[4] वे सर्वोत्तम हैं, लक्ष्य की ओर तीव्र गति से ले जाते हैं, अद्भुत है उनका कर्म। यहाँ उतावले और उद्विग्न होकर आविर्भूत हों देवता। यहाँ देवता इन्द्र हमारा आह्वान सुनें' इत्यादि।

नामान्तर है। वह आधार में निन्यावे 'पुर' अथवा ग्रन्थि की रचना करता है, प्राण और प्रज्ञा को रोकने के लिए अवरोध की सृष्टि करता है। इन्द्र उनको तोड़कर 'शतक्रतु' होते हैं (द्र. टीमू. 1284)। 'गविष्टि' गवेषणा, गायों की खोजना। 'गो' अन्तर्ज्योति का प्रतीक। उनको छिपाकर रखा है 'पणियों' (वणिक वृत्ति) ने। देवशुनी (चिन्मय प्राण) 'सरमा' की सहायता से इन्द्र उनको खोजकर बाहर लाते हैं (द्र. टीमू. (1231)।[3] 'ब्रह्म' और क्षत्र की सहचरता लक्ष्य करने योग्य। अध्यात्म दृष्टि में एक प्रज्ञा और एक प्राण है। साधना के समय एक 'श्रद्धा' और एक 'तपः' (उपनिषद में) अथवा 'वीर्य' है, (योगसूत्र में, द्र. टीमू. 315)। धर्मशास्त्र में एक मोक्षधर्म और एक राजधर्म है। ये दोनों ही आर्य भावना के मूल स्तम्भ हैं। इस एक भावना में देवता का प्रसाद बड़ा है और एक में मनुष्य की आत्मशक्ति बड़ी है। लक्ष्य करने योग्य: अवैदिक आर्षपन्था के आचार्य क्षत्रिय रूप में प्रसिद्ध हैं। तु. क. 1।2।25 टीमू. प्रथम खण्ड पृष्ठ 325)।

[1841] ऋ. (खिल) 'इन्द्रो देवः सोमं पिबतु। एकजानां वीरतमः। भूरिजानां तवस्तमः। हर्योः स्थाता। पृश्नेः प्रेता। वज्रस्य भर्ता। पुरां भेत्ता। पुरां दर्मा। अपां स्रष्टा। अपां नेता। सत्वनां नेता। निजघ्निर् दूरेश्रवाः। उपमाति कृद् दंसनावान्। इहो.शन् देवो बभूवान्। इन्द्रो देव इह श्रवं' इत्यादि 5।3। [1] तु. ऋ. 'साकंजानां सप्तथम आहुर एकजं षळ् इद् यमा ऋषयो देवजा इति' – जो एक साथ जन्मे हैं, उनमें सातवें को वे सब एकज कहते हैं; और छः जोड़ा देवजात ऋषि 1।164।15 हैं (संवत्सर में बारह चान्द्र मास होते हैं – दो-दो मास में एक ऋतु — कुल छः ऋतु। सौरमास के साथ मिलाने के लिए एक एक बार तेरह मास का वर्ष गिनना पड़ता है। वही अधिमास (अधिकमास या मलमास) असम्बद्ध, अशोभन होने के कारण 'एकज' और जोड़ा मासों को साकंज कहा गया है। अन्यत्र इसी को संकेत द्वारा वरुण का मास कहा गया है 1।25।8) यह वर्ष-चक्र से बाहर है अतएव कालोत्तर है। यह जैसे 'एकं सत' से साक्षात उत्पन्न एवं सब से परे, लोकातीत है, अन्य सब 'एको देवः' से उत्पन्न, अतएव उनकी ही विभूति के रूप में 'देवज'। इन्द्र सभी एकज में भी श्रेष्ठ हैं। अन्यत्र 'मन्यु' को 'एकज' कहा गया है (10।84।6)। **भूरिज** तु. भूरिजन्मा 10।5।1, टीमू. 1545। वे ही एक, वे ही अनेक।[2] पृश्नि अदिति, इन्द्र आदित्य हैं। [3] 'सत्वानः' अथवा वीर सब मरुद्गण। [4] अर्थात परम व्योम में उनका गुह्य नाम (द्र. टीमू. 1835)।

तत्पश्चात् सोमपा इन्द्र का निवित् [१८४२] इस प्रकार है — 'इस सोम की मत्तता में हे गायक, इन्द्र उन्मत्त हो जाएँ। इसकी मत्तता में हे गायक, इन्द्र ने अहि की हत्या की थी। इसकी मत्तता में हे गायक, इन्द्र ने वृत्र की हत्या की थी। इसकी मत्तता में हे गायक इन्द्र ने समस्त अप संवेग अथवा जलधाराओं, प्राणधाराओं को मुक्त किया था। इसकी मत्तता में हे गायक, इन्द्र ने स्थविरों को प्राणचञ्चल किया था, संतृप्त हुए थे (स्वयं) अपराजित रहकर।[1] इसकी मत्तता में हे गायक, इन्द्र ने आर्य वर्ण को उत्तीर्ण किया था, प्रतिरोध किया था दास जनों का।[2] इसकी मत्तता में हे गायक, इन्द्र ने द्युलोक को ऊर्ध्व में स्तम्भित किया था और प्रसारित किया था पृथिवी को। इसकी मत्तता में हे गायक, इन्द्र ने द्युलोक में सूर्य को मुक्त किया था, उच्चारित किया था और अन्तरिक्ष को किया था वितत, विस्तृत। इसकी मत्तता में हे गायक, इन्द्र ने प्रक्षुब्ध समुद्र को प्रशान्त किया था।[3] इसकी मत्तता में हे गायक, इन्द्र ने हरिण की तरह छलाँगतें अथवा चौकड़ी भरते प्रक्षुब्ध पर्वतों को निस्तब्ध किया था।[4] इसकी ही मत्तता में हे गायक, इन्द्र यहाँ हम सब का आह्वान सुनें' इत्यादि।

इन तीन निविदों में इन्द्र का परिचय निरुक्त की अपेक्षा स्फुटतर है। यहाँ हम देख रहे हैं कि इन्द्र का प्रधान कार्य है सोमपान में मत्त होकर मरुद्गण के साथ वज्र के आघात से वृत्र के अवरोधों को तोड़ना एवं उसकी हत्या करके जल की धाराओं को मुक्ति देना। यही उनका वर्षकर्म है। उसके बाद ही वे सूर्य के आलोक से द्युलोक को आलोकित करते हैं, अन्तरिक्ष और पृथिवी को विस्तृत तथा पर्वत और समुद्र को स्थिर, निस्तब्ध करते हैं। यह उनका दीपन कर्म है। यह सब कुछ जब घटित होता है तब इस देश में आदित्य का उत्तरायण होता है, बाहर आदित्य ज्योति के क्रमिक उपचय को एक आध्यात्मिक व्यञ्जना प्रदान करने के फलस्वरूप इन्द्र अजर, अमर प्राण और प्रज्ञा के देवता हो गए। ऋग्वेद की उपनिषदों में इसी रूप में इन्द्र तत्व का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। वहाँ इन्द्र ही परम देवता हैं। वे सत्यस्वरूप हैं, आधार में परिव्याप्त ब्रह्म के रूप में उनको देखा जा सकता है [१८४३]।

[१८४२] ऋ० (खिल) 'अस्य मदे जरितर् इन्द्रः सोमस्य मत्सात्। अस्य मदे जरितर् इन्द्रो अहिम् अहन्। अस्य… इन्द्रो वृत्रम् अहन्। अस्य… इन्द्रो अपां वेगम् ऐरयत्। अस्य… इन्द्रोऽजिन्वद् अजूवो. अपिन्वद् अजितः। अस्य इन्द्र उद् आर्यं वर्णम् अतिरद् अव दासी.द् विशोऽस्तम्भनात्। अस्य… इन्द्र… उद् द्याम् अस्तम्भनाद् अप्रथयत पृथिवीम्। अस्य…. इन्द्रो दिवि सूर्यम् ऐरयद् व्य.न्तरिक्षम् अतिरत्। अस्य… इन्द्रः समुद्रान् प्रकुपिता अरमणात्। अस्य इन्द्र इह श्रवत्' इत्यादि (५।११)। इन्द्र 'सोमपातम'। सामगान सोमयाग में ही गाया जाता है। इसलिए निविद् में 'जरिता' अथवा गायक का सम्बोधन।
१ इन्द्र के वीरकर्म का एक विशेष परिचय है वज्र और विद्युत् के आक्रमण अथवा निक्षेपण द्वारा जड़ में भी प्राण जगाना। २ आर्य ज्योतिरग्र अथवा ज्योति के उपासक, दास उसके विपरीत। दोनों ही हम सब के भीतर हैं। ३ अर्थात् प्राण की उत्तालता को शान्त किया था नहीं तो ज्योति प्रस्फुटित होती नहीं। ४ मेघ, पर्वत की तरह। मेघ जब तक गतिशील, चलायमान रहते हैं तब तक वृष्टि नहीं होती बल्कि घनीभूत होकर स्थिर होने से ही होती है। प्राण के शान्त होते ही प्रसाद अथवा प्रसन्नता की सौम्य धारा द्युलोक से नीचे उतर आती है (तु० ऋ० ५।५।८ टी० १२३१)।

संहिता के इन्द्रसूक्तों में इस वृत्रवध की कहानी ही मुख्य उपजीव्य है। प्रथमतः सूक्तों की आधिकता, फिर उसमें विषय-वस्तु के वैविध्य की स्वल्पता के कारण सूक्तों में बंगाल की वैष्णव पदावली की तरह कुछ एकरसता आ गई है। किन्तु ऋषियों ने इस न्यूनता को भावोल्लास के वैचित्र्य द्वारा पूर्ण किया है– जिस प्रकार हम सोम के सम्बन्ध में देख पाते हैं। वह वैचित्र्य वास्तविक विस्मयकर है। केवल दिग्दर्शन के अतिरिक्त उसका अति सूक्ष्म विवेचन सम्भव नहीं। किन्तु उसके पहले सूक्तकारों की भाषा में इन्द्र का एक साधारण परिचय संक्षेप में प्रस्तुत है।

हिरण्यस्तूप आङ्गिरस एक प्राचीन ऋषि हैं, ऋक्संहिता में ही उनका उल्लेख है [१८४४]। उनके द्वारा रचित सूक्तों के देवता क्रमशः अग्नि, इन्द्र, अश्विद्वय, सविता एवं सोम हैं।[१] इस क्रम में उनके साधना-मार्ग की एक रूपरेखा प्राप्त होती है। संभवतः, सविता उनके इष्टदेवता हैं एवं वे उत्तरज्योति के उपासक हैं।[२] उनके दो इन्द्र सूक्त हैं। यह प्रथम सूक्त है जिसमें ऋषि कहते हैं—

'इन्द्र के सभी वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन मैं करता हूँ अब, जिनका उन्होंने सम्पादन किया है सब से पहले वज्रधर के रूप में। उन्होंने हत्या की अहि की, उसके बाद रन्ध्रपथ से बाहर निकाला जलधाराओं को; अवरुद्ध स्रोतों को प्रवाहित कर दिया पर्वतों को विदीर्ण करके [१८४५]।

'उन्होंने हत्या की अहि की– जिसने पर्वत का आश्रय लिया था। त्वष्टा ने इनके लिए वज्र तराशा है ज्योति द्वारा। रँभाती हुई धेनुओं की तरह निर्झरित होकर पल भर में समुद्र में उतर गईं जलधाराएँ [१८४६]।

[१८४३] द्र. ऐउ. १।३।१३-१४। कौ. ३।१,७।

[१८४४] द्र. ऋ. १।१४७।१५। [१] द्र. १।३१-३५, ५।४, ६। सूक्त। [२] तु. १।३५।१ (टी. १३८५), १०।१४७।१४; ७।४ सूक्त की टेक।

[१८४५] ऋ. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री, अहन्न् अहिम् अन्व. पस् ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् १।३२।१। **अहि** वृत्र, वह साँप की तरह कुण्डली मारकर प्राण की धाराओं को अवरुद्ध करके रखता है। कुण्डली मार कर बैठने की इस मुद्रा का प्रतिरूप हमारे चित्त की 'धूर्तिः' (८।४८।२) अथवा 'जुहुराणम् एनः' है (१।१८९।१), स्पष्ट शब्दों में 'टेढ़ी चाल' (तु. वेदान्त का 'आवरणजनित विक्षेप')। **पर्वत** जब पृथिवी पर है, तब वह तामसिक जड़ता। फिर वह अन्तरिक्ष का मेघ भी है, तब वह प्राण का निष्फल चाञ्चल्य। दोनों ही आधार के पोर-पोर में (नि. १।२०।५) अवरोध की सृष्टि करते हैं। उपनिषद में इन सबको 'ग्रन्थि' कहा गया है। ये सब ही वृत्र अथवा अविद्याशक्ति के आश्रय हैं (टी. १६२६)। इन्हें विदीर्ण करके प्राण की **वक्षणाः** अथवा धाराओं को प्रवाहित करना ही वज्रधर इन्द्र का प्रथम वीरकृत्य है (टी. १६३८२)।

[१८४६] अहन्न् अहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष, वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रम् अव जग्मुर् आपः १।३२।२। पहले ऋक् की भावना का अनुवर्तन। जिस वज्र की शक्ति द्वारा इन्द्र ने ग्रन्थिभेदन का कार्य सम्पादित किया वह विश्वशिल्पी त्वष्टा का योगदान है। यह वज्र **स्वर्य** अर्थात् स्वर से तैयार किया गया है। 'स्वर' ज्योति और शब्द (सुर, वाक्) दोनों का ही बोधक होता है। प्रथम का आश्रय सूर्य और द्वितीय का परमव्योम अथवा आकाश है (ऋ. १।१६४।३९, ४१)। उपनिषद की भाषा में व्याप्ति-चैतन्य एवं प्रज्ञा-शक्ति से ग्रन्थि-भेद होता है। तब प्राण की मुक्त धाराएँ कलकल ध्वनि के साथ **समुद्र** की ओर बहने लगती हैं। समुद्र भी द्युलोक में व्याप्ति-चैतन्य का प्रतीक (निघ. ५।६), अन्तरिक्ष में (१।३) एवं पृथिवी में तो है ही। अवरोध-मुक्त प्राण के प्लावन से चैतन्य तब तीनों लोकों में व्याप्त। 'अव' धारा की प्रवणता का बोधक मात्र है, नहीं तो उसकी गति ज्वार-भाटा की तरह दोनों ओर ही है (तु. 'उत्' एवं 'अव' दोनों ही समझने के लिए केवल उत् का प्रयोग ऋ. १०।५५।१)।

'वृषभ सदृश उन्होंने वरण कर लिया सोम को, तीन कद्रुकों में पान किया – जिसका सवन हुआ था उससे। प्रक्षेपण के लिए मघवा ने उठा लिया वज्र। हत्या की अहि के प्रथम जातक की [१८४६]।

'जब हे इन्द्र हत्या की तुमने अहि के प्रथम जातक की, और उसके बाद ही मायावियों या वृत्र के अनुचरों की सारी माया को ध्वस्त किया। उसके बाद सूर्य, द्युलोक और उषा को उत्पन्न किया, उस समय जैसा शत्रु तो तुम्हें कहीं खोजने पर भी नहीं मिला [१८४८]।

'इन्द्र ने हत्या की वृत्र की – सब वृत्रों में श्रेष्ठ उस छिन्नबाहु या कन्धकटे की, वज्ररूपी महास्त्र की सहायता से। कुल्हाड़ी से काटे गये वृक्ष के तने की तरह अहि (वही) सोया है पृथिवी की गोद का स्पर्श करके [१८४९]।

[१८४६] ऋ. वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्व पिबत् सुतस्य, आ सायकं मघवा दत्त वज्रम् अहन् एनं प्रथमजाम् अहीनाम् १।३२।३। इन्द्र ने वृत्र का वध जिस प्रकार वज्र के ज़ोर से किया उसी प्रकार सोम्य आनन्द की मस्ती से। प्राण के साथ आनन्द मिलकर एक हो गया है **त्रिकद्रु** में अथवा आधार की तीन कुण्डली में (टी. १२६०२)। ग्रन्थि भेद के साथ-साथ सोम का सवन अथवा आनन्द का परिस्रव होता है (तु. ऋ. ९।११३-११४ सूक्त की टेक)। उसी आनन्द में मतवाले होकर देवता ने एकबारगी या अचानक वज्र से मूला विद्या पर आक्रमण किया। उसके बाद, देवता वृष की तरह रंभाते हुए – अर्थात चिदावेश अथवा चित्शक्ति द्वारा आधार के बाँधपन को दूर किया। उत्तरायण के अन्त में मूसलाधार वृष्टि से पृथिवी प्राणोच्छल जननी हुई।... **सायक** क्षेपणास्त्र <√षो क्षेपणे, अब केवल 'बन्धने', सम्भवत: पहले LASSO कमन्द अथवा पाश जैसे अस्त्र का बोध होता। वज्र मूलाविद्या को समाप्त नहीं कर सकता, उसके अधिकार या सीमा को सिर्फ़ संकुचित करता है – इसी अर्थ में वह 'सायक' होना असम्भव नहीं।

[१८४८] ऋ. यद् इन्द्राहन् प्रथमजाम् अहीनाम् आन् मायिनाम् अमिना: प्रोत माया:, आत् सूर्यं जनयन् द्याम उषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से १।३२।४। वृत्र अकेला नहीं है, उसके अनेक अनुचर हैं; वे सभी मायावी हैं। वृत्र-वध के बाद भी संस्कारवश माया का खेल जारी रहता है। इन्द्र धीरे-धीरे उसे भी दूर कर देते हैं। तब प्राण की विशुद्धता से प्रज्ञा का निर्मल प्रकाश चेतना में प्रस्फुटित होता है अर्थात प्रस्फुटित होती है उषा अथवा प्रातिभ संवित्, द्यौ: अथवा व्याप्तिचैतन्य की दीप्ति एवं सब के अन्त में 'सूर्य' अथवा प्रज्ञानघनता। यहाँ ही सिद्धि की प्राप्ति, तत्पश्चात इन्द्र का करणीय कुछ भी नहीं रहता।... **माया** (द्र. टीका १४३८)। सृष्टि के मूल देवता की निर्माणप्रज्ञा है किन्तु वह हम सब के निकट एक रहस्य है (तु. १०।१२९।६-७; 'नवेद:' अनुभव में इस रहस्य को महसूस करते हैं किन्तु व्यक्त नहीं कर सकते)। सृष्टि में देवों और असुरों का द्वन्द्व है – अतएव वरुण की दैवी माया – और वृत्र की आसुरी माया है। ऋक् में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में ही है। इस प्रसंग में लक्ष्य करने योग्य है कि 'वरुण' और 'वृत्र' दोनों के मूल में एक ही धातु है (तु. त्वष्टा और त्वाष्ट्र दोनों ही 'विश्वरूप')। विशेष द्रष्टव्य बाद में **तादीत्ना** – अव्यय, अनन्य प्रयोग; तदानीन्तन (तत्कालीन) (तत् > ता + तदानीम् > दी + तन > त्न)।

[१८४९] ऋ. अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम् इन्द्रो वज्रेण महता वधेन स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा अहि: शयत उपपृक् पृथिव्या:। जो सप्तरश्मि शीर्षण्य प्राण के रूप में हमें प्रकाश देती है, वह वृत्र की नहीं – वह कबन्ध है। उसका सिर नहीं है, किन्तु कन्धा है। एक कन्धा काटने के बाद उस समय ही उस जगह एक और कन्धा उग आता है। अविद्या का संस्कार मिट कर भी मिटना नहीं चाहता। किन्तु इन्द्र के वज्र ने अन्ततोगत्वा उसको धरती पर मार गिराया।

'उसके हाथ नहीं, पाँव नहीं। तब भी प्रतिद्वन्द्वी के रूप में युद्ध किया इन्द्र के साथ। उन्होंने उसके (कन्धे के) ऊपरी हिस्से पर वज्र से आघात किया। क्लीब अथवा पुरुषत्व हीन होकर भी समर्थ पुरुष के समान होने के व्यर्थ प्रयास में कितने स्थानों पर छिन्न-भिन्न, क्षत-विक्षत हो कर धराशायी हो गया वृत्र [१८५१]।

मूलाधार में आशय के रूप में वह कुण्डली मारे पड़ा रहा।... 'वृत्रतर' क्योंकि वह 'प्रथमजा अहीनाम्'। **व्यंस**–(वि-अंस) यहाँ विशेषण है किन्तु अन्यत्र इसी नाम का असुर है (१।१०१।२, १०३।२, २।१४।५, ३।३४।३, ४।१८।९)। उसके साथ तु. 'सप्तवध्रि' (टी. १२०५); और भी तुलनीय (७) 'स्कन्धांसि' के बहुवचन पौनःपुनिकता का बोध होता है (तु. रावण, रक्तबीज, श्री रामकृष्ण देव परमहंस द्वारा प्रदत्त उपमा 'पीपल वृक्ष का फेंकड़ा' अथवा प्रशाखा या टहनी)।

[१८५०] ऋ. अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधम् ऋजीषम्; नातारीद् अस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः १।३२।६। इन पाँच ऋचाओं में वृत्रवध का वर्णन इन्द्र की ओर से किया गया है। किन्तु यह कार्य बड़ी आसानी से सम्पन्न नहीं हुआ। अतः और पाँच ऋचाओं में वृत्र की ओर से बाधा का एक विस्तृत वर्णन किया गया है। कहाँ इन्द्र और कहाँ वृत्र! तब भी उसका आत्माभिमान ही प्रबल हुआ और उसका फल उसे तुरन्त मिला।... 'अ-योद्धा', ईषदर्थे नञ् ('न' के लिए पारिभाषिक शब्द) किन्तु इन्द्र 'महावीर' एवं **तुविबाध** (अनन्यपर विशेषण)। वृत्र की मत्तता जितनी बढ़ती है उतनी इन्द्र की भी बाधा देने की सामर्थ्य बढ़ती है। उसके पश्चात भी वे ऋजीष (अनन्य प्रयोग)॥ **ऋजीषिन्**, जो ऋक् संहिता में प्रायशः इन्द्र का विशेषण है, केवल तीन स्थानों पर मरुद्गण का (१।८७।१, २।३४।१, ५।५४।१२), और एक स्थान पर सोम का विशेषण (९।७७।४) है। यास्क का मन्तव्य: 'यत् सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद् ऋजीषम् अपार्जितं भवति। तेन ऋजीषी सोमः। अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति "ऋजीषी वज्री" — (ऋ. ५।४०।४) इति। हर्योरस्य (इन्द्र के दोनों घोड़ों के) स भागो धानाश् च (और भूँजे (भुने) यव (जौ) नि. ५।१२। अधियज्ञ दृष्टि में, सोम का रस निचोड़ लेने के बाद जो सीठी (तलछट) रह जाती है वह 'ऋजीष' है। इन्द्र केवल रस का पान करते हैं, और प्रसाद के रूप में उनके वाहन सीठी खाते हैं – यह कल्पना स्वाभाविक है। और उसी से उनकी गति तीर जैसी तीव्र और सीधी होती है। जान पड़ता है इसी भावना से 'ऋजीष' शब्द पारिभाषिक अर्थ में गढ़ा गया है √ऋज् 'सीधे लक्ष्य की ओर चलना' एवं ईष॥ 'इष्' 'जल्दी चलना, दौड़ना' इन दोनों धातुओं के मिलने से (तु. 'मनीषा' 'तविष')। तो फिर इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'ऋजु एषणा' — आलोकरश्मि जैसी। यही गति सोम की किरणों में है, इन्द्र के अश्वों में है – अतएव सोम और इन्द्र 'ऋजीषी'। **समृति** (पदपाठ, सम्-ऋति < √ऋ 'चलना'॥ 'समर' जहाँ सभी आकर जुटते हैं, युद्ध) सङ्गम, संघात। प्रहार पर प्रहार (वध) हो रहा है, वृत्र अब पार नहीं पा रहा है। अन्त में वह एकबारगी पिस गया **रुजानाः** होकर ('रुजानाः' < रुज (तोड़ना + नस् 'नासा' नाक जिसकी नाक टूटी हो)। यह यूरोपीय कल्पना है एवं वह असंगत नहीं जान पड़ती। अगले ही मंत्र में है 'वज्रम् अधि सानौ जघान' (७) अतएव उससे नाक टूट सकती है। वृत्र को जो कबन्ध अथवा अपादहस्त' (७) कहा गया है, वह रूपक है अर्थात् वह अस्पष्ट लक्षण अव्यक्त शक्ति, जो हम सब की अवचेतना (Subconscience) की बाधा है। किन्तु युद्ध के समय तो वह सुस्पष्ट व्यञ्जन अथवा स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हो सकती है, यह मर्मज्ञों-रहस्यविदों के अनुभव का सत्य है। निघण्टु में 'रुजानाः' नदी, अपने कूल तोड़ देती है इसलिए, (१।१३, निरुक्त. ६।४) उस समय अर्थ हो सकता है 'नदियों को उसने पीस डाला'। किन्तु इसके बाद के वर्णन में इसका समर्थन या प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु साधन-शास्त्र में अविद्यानाश के पश्चात विद्वान की जड़वत् स्थिति का उल्लेख है। इस क्षेत्र में वह लक्ष्य किया जा रहा है कि नहीं, कहना कठिन है। वेद में प्राण के मुक्त प्रवाह की ही चर्चा है। व्याख्यान्तर द्र. तैब्रा. २।५।४।४ सायण भाष्य।

'चीरे हुए नल की तरह उसी रूपमें सोया रहता है अब, तब मन के ऊपर की ओर उसका अतिक्रमण करके जलधाराएँ प्रवाहित होती हैं। जिनको इतनी देर वृत्र विपुल होकर घेरे हुए था, अहि उनके ही पाँवों के नीचे सोया हुआ है अब [१८५२]।

'अधोगामी हुई वृत्र-माता की प्राणशक्ति, इन्द्र ने उसके ऊपर जब आघात किया। दानु सोई है वत्स के साथ धेनु जैसी [१८५३]।

[१८५१] अपादहस्तो अपृतन्यद् इन्द्रम आस्य वज्रम् अधि सानौ जघान, वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः १।३२।७। वृत्र अचित्ति अथवा अप्रचेतना की शक्ति है जिसमें केवल एक मूढ़ या मोहाविष्ट आवेग, एक अन्ध स्पर्धा है। वह जितना ही उद्दाम, दाम्भिक या दर्पी क्यों न हो, वस्तुतः वह क्लीब है, ज्योति की समर्थ शक्ति के निकट उसकी पराजय सुनिश्चित है। ... **अपृतन्यत्** <√ पृतन्य 'स्पर्धा के साथ लड़ने जाना' < पृतना 'संग्राम' (निघ. २।१७) <√ स्पृध॥ स्पृत् 'स्पर्द्धा प्रकट करना'। लक्षणीय. इन्द्र 'वृषा' समर्थ, सोम भी; और वृत्र 'वध्रि' क्लीब।

[१८५२] नदं न भिन्नम् अमुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः, याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत् तासाम् अहिः पत्सुतःशीर् बभूव १।३२।८। वृत्र एक अपादहस्त पिण्ड जैसा था, फिर वह छिन्नभिन्न होकर बिखर गया। प्राण की धाराएँ अब उसकी पकड़ से मुक्त होकर ज्वार के रूप में ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगीं और वह एकबारगी नीचे चला गया। ... **नद** > नड़ (पा. ४।२।८८, √१) > नल, नरकुल, सरकण्डा (शरगाछ)। **अमुया** (अव्यय) उसी प्रकार। 'मनो रुहाणाः' मन के ऊपर की ओर, मनीषा की ओर (तु. ऋ. १।६१।२, टी. १२१८, १२५८)। इतिहास और अध्यात्म चेतना को कुशलता पूर्वक मिला कर पूरी कहानी रूपक के रूप में निरूपित की गई। वृत्र **पत्सुतःशीः** (पत्सु + पञ्चम्यर्थे तस्) पाँव के नीचे आशय रूप में रहता है, फिर थोड़ी-थोड़ी देर में सिर ठेक कर उठता भी है। यही 'आशय' का धर्म है। लक्षणीय. √शी और रुह् से विपरीत गति का बोध होता है। तु. 'पत्सुतः' ८।४३।६।

[१८५३] ऋ. नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार, उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् दानुः शये सहवत्सा न धेनुः १।३२।९। वृत्र 'दानव', उसकी माता **दानु**; जिस प्रकार इन्द्र 'आदित्य', उनकी माता 'अदिति'। यह भावना शक्तिवाद की दृष्टि से ... असुर अथवा देवता को जितना कुछ व्यक्त है, उसके भी परे एक अव्यक्त उत्स है जिसकी व्याख्या पुरुष अथवा प्रकृति दोनों रूपों में ही की गई है। पुराण में यही पुरुष कश्यप (> कच्छप = आकाश, कछुए के खोल (आवरण) की तरह सब कुछ ढँके हुए हैं; तु. 'वरुण') एवं उनकी दो पत्नी - अदिति और दिति हैं। अनुरूप भावना संहिता में त्वष्टा के बारे में भी है। उपनिषद् के अनुसार देवता एवं असुर दोनों ही प्राजापत्य (छा. १।२।१, बृ. १।३।१, ५।२।१)। आलोक और अन्धकार का एक ही मूल है, यह आर्यभावना का एक लक्षणीय वैशिष्ट्य है (तु. ऋ. १।१६४।३०, टी. १२८५)। किन्तु प्रकृति के सन्दर्भ में एक पार्थक्य या भेद रेखा है जो पुरुष की सत्ता में नहीं है। अनुभव की दृष्टि से यह नितान्त सत्य है; एक ही चैतन्य या चेतना शक्ति में द्विदल है। इसलिए संहिता में इन्द्रमाता और वृत्रमाता को अलग रखा गया है। दानु का दूसरा नाम 'दिति' है - ये दोनों शब्द दा धातु से आए हैं जिसका अर्थ है 'खण्डन' अथवा 'बन्धन'। अदिति जिस प्रकार अखण्डिता, अबन्धना व्याप्तिचेतना अथवा सर्वव्यापी है, उसी प्रकार दिति उसके विपरीत है। यद्यपि साधना के आरम्भ में दानु अथवा दिति के पुत्र वृत्र के साथ हमारी लड़ाई है तब भी परमपद में पहुँचकर इन दोनों को निरपेक्ष दृष्टि से देखना होगा - इसका उल्लेख हमें संहिता में ही प्राप्त होता है (द्र. ५।६२।८, टी. १७८५; ४।२।११, दिति के प्रसाद या अनुग्रह से अभ्युदय तु. ७।१५।१२; लेकिन यहाँ 'दिति' का अदिति होना सम्भव; यदि संहिता पाठ में 'भग' शब्द का 'अः' 'ओ' हो जाए)। ... इन्द्र के आघात से दानु **नीचावयाः** हो गई अर्थात्

'जो स्थिर नहीं रहतीं, विश्राम नहीं करतीं, उन उत्तरवाहिनी जलधाराओं में पड़ा हुआ है उसका शरीर। वृत्र की गहराई में (अब) विचरण करती हैं जलधाराएँ। दीर्घ तमिस्रा में सोया पड़ा है इन्द्रशत्रु [१८५४]।

'उसी दास का स्वामित्व स्वीकार करके अहि की रखवाली में (अब तक) निरुद्ध थीं जलधाराएँ — पणियों द्वारा जिस प्रकार धेनुएँ थीं। प्राणधाराओं अथवा जलधाराओं का जो गह्वर ढका हुआ था, उसे वृत्र की हत्या करके अपावृत करते हैं (इन्द्र) [१८५५]

'घोड़े के रोएँ की तरह तुम हो गए (तब) हे इन्द्र, जब तुम्हारे जबड़े पर प्रत्याघात किया (वृत्र ने)। (तुम ही) एक मात्र देवता — जीत कर ले आए धेनुओं को, हे वीर, जीत कर ले आए सोम को, नीचे की ओर प्रवाहित कर दिया मुक्तधारा में सात नदियों को [१८५६]।

उसकी 'वयः' अथवा तारुण्य की शक्ति अधोबिन्दु तक उतर गई। साथ-साथ वृत्र भी उसके भीतर सिमट गया — गर्भवती के गर्भ में भ्रूण की तरह, गाय की गोद में सोए हुए बछड़े की तरह। यह भी अव्यक्त का एक चित्र है, किन्तु वरुण का ज्योतिर्मय अव्यक्त नहीं — निर्ऋति का सान्तमस अव्यक्त, जिसका वर्णन नासदीय सूक्त में इस प्रकार है :- तम आसीत् तमसा गूल्हम् अग्रे (१०।१२९।३)।

[१८५४] ऋ. अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्, वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयद् इन्द्रशत्रुः १।३२।१०। किन्तु वृत्रवध के पश्चात् उसी निर्ऋति (विश्व के छन्दोमय विधान की विपरीतावस्था) की अन्धतमिस्रा ही ज्योति रूप में छलक उठी। जो सुप्त था, स्पन्दन रहित था उसमें स्पन्दन जागा, अँधेरे के रन्ध्र-रन्ध्र में चेतना की बिजली कौंधने लगी। वृत्र के अवरोध और उसके साथ आघात-प्रत्याघात सब ही सुदूर की छाया की माया जैसी प्रतीत हुई। **काष्ठा** निघण्टु में 'दिक्' (१।६), उससे 'दिगन्त', 'दौड़ का लक्ष्य' (तु. क. 'सा काष्ठा सा परागतिः' १।३।११)। उससे 'जितनी दूर तक दौड़ा जाए (RACE-COURSE) तु. DR। सायण. 'अपाम्', इन दो विशेषणों से वही जान पड़ता है। अप की धाराएँ प्रत्येक दिशा में प्रवाहित हो रही हैं, यही ध्वनित होता है। तु. १०।१०२।४। **निण्य** 'आवरण, गोपन' निघ. ३।२५ ; 'निर्णमम्' निरुक्त. २।१६ (तत्र दुर्गः येनासौ नीचैर् नमति तं प्रदेशम्)। <'निर्णेयम्' जिसको भीतर से बाहर ले आना होगा > निण्णेयम् > निण्यम् (प्राकृत प्रभाव से)।

[१८५५] ऋ. दासपत्नीर् अहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः, अपां बिलम् अपिहितं यद् आसीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार १।३२।११। अब वृत्रवध के पश्चात् क्या हुआ उसका वर्णन एवं इन्द्र-प्रशस्ति पाँच मंत्रों में। वृत्र को यहाँ दास गया है, जो 'अधरवर्ण' (२।१२।४) एवं तमोगुण का प्रतीक है। 'पणि' द्र. वेमी. द्वितीय खण्ड पृष्ठ ५१३। 'अपां बिलम्' द्र. टी. १२७३।

[१८५६] ऋ. अश्व्यो वारो अभवस् तद् इन्द्र सृके यत् त्वा प्रत्यहन् देव एकः, अजयो गा अजयः शूर सोमम् अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् १।३२।१२। इन्द्र ही एकदेव हैं। वृत्रवध उनके निकट अनायास। 'अश्व्यो वारः' घोड़े के रोएँ की तरह बहुत मज़बूत। इन्द्र का अश्व सम्बन्ध प्रसिद्ध (१०।७३।१०)। वृत्र ने जब उन पर प्रत्याघात किया तब वे इतने सूक्ष्म हो गए कि उनको कुछ भी नहीं हुआ (तु. तैब्रा. १।१।८।३ ; वहाँ 'अश्वो वारः' है, अग्नि के सम्बन्ध में ; सायण की व्याख्या भी अन्य प्रकार की है)। **सृक्** वज्र (निघ. २।२० ; तु. ऋ. १०।१८०।२) ; यहाँ हनु अथवा जबड़ा, जिसकी हड्डी वज्र की तरह दृढ़ होती है। 'गो' अन्तर्ज्योति, 'सोम' दिव्य आनन्द, 'सप्तसिन्धु' विश्वप्राण की सात धाराएँ। यहाँ का वर्णन पिष्टपेषण जैसा है।

'उनको (इन्द्र को) विद्युत अथवा वज्र न रोक पाए न उनका स्पर्श कर पाए, यहाँ तक कि मेघ अथवा शिलावृष्टि की जो माया उसने (अहि ने) फैलाई, वह भी नहीं कुछ कर पाई। जब इन्द्र और अहि का आपस में युद्ध हुआ तब आनेवाले समय के लिए ही मघवा विजयी हुए [१८५७]।

'अहि के भीतर से निकलकर आते किसको देखा तुमने हे इन्द्र, तुमने जब उसे मारा तब क्या तुम भयभीत हुए थे भीतर से ? नौ और नब्बे स्रोत तो तुम उस तरह पार गए भयभीत होकर जिस प्रकार श्येन पार कर गया एक लोक से दूसरा लोक [१८५८]।

'जो भी स्थावर-जंगम है, इन्द्र उसके राजा हैं, जो शान्त हैं और जो शृङ्गी (सींगवाले) हैं, वज्रबाहु उनके भी राजा हैं। वे ही राजा के रूप में शासन करते हैं चरिष्णुओं पर। चक्र की शलाकाओं को (कुक्षिगत करती है) जिस प्रकार परिधि, उसी प्रकार उनके परिभू होकर हैं वे [१८५९]।

[१८५७] ऋ. ना.स्मै विद्युन् न तन्यतुः सिषेध न यां मिहम् अकिरद् ध्रादुनिं च इन्द्रश् च यद् युयुधाते अहिश् चोता परीभ्यो मघवा वि जिग्ये १।३२।१३। इसके पूर्व की ऋक् का अनुवर्तन।... 'तन्यतु' तु. १।८०।१२। 'ह्रादुनि' तु. ५।५४।३। वृत्र मेघ होकर जल को रोक रखता है उसी प्रकार आलोक को भी ढँके रहता है। इन्द्र का पहला काम है निरुद्ध जलधाराओं का मोचन। तभी अन्तरिक्ष में विद्युत, वज्र, शिलावृष्टि में घात-प्रत्याघात का क्रम चलता है। उसी से प्राण की धारा पृथिवी पर झरती रहती है। उसके बाद आकाश के स्वच्छ-साफ हो जाने पर ज्योति का प्रस्फुटन होता है। वही इन्द्र की अनायास विजय है, उसमें फिर आघात-प्रत्याघात नहीं। यह विजय **अपरीभ्यः** अर्थात् भावीकाल के लिए (तु. १।११३।११, १०।११७।३, १८३।३)।

[१८५८] ऋ. अहेर् यातारं कम् अपश्य इन्द्र हृदि यत् ते जघ्नुषो भीर् अगच्छत्, नव च यन् नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि १।३२।१४। यह इन्द्र के ऊपर की ओर बहने का वर्णन है— अध्यात्म अनुभव के साथ मिलाकर। उपासक अपने भीतर जो अनुभव करते हैं, वह इन्द्र में उपचरित करते हैं क्योंकि अब वे देवता के साथ एक हैं (तु. १०।१२०।६, टी. १२७२)। किन्तु मर्त्यभाव तब भी पूर्ण रूप से नहीं गया। (द्र. टीमू. १५३७)। एकबारगी रसातल से ऊपर की ओर उठ जाना होगा उसी परावत अथवा परमव्योम में (तु. तैसं ६।५।५।२) वृत्र के निन्यानवे अवरोधों को तोड़कर। वहाँ सारे आवरण हटाकर जो बाहर आएँगे वे उपनिषद की भाषा में 'महद्भयं वज्रम् उद्यतम्' (क. २।३।२) संहिता में इसे ही शूनम् आपेः कहा गया है (ऋ. २।२७।१७, टी. १६७७६) जिस देवता को इतना आत्मीय जाना है, एक साथ उनकी नाव पर सवार हुआ (७।८८।३-५), उनकी ही सर्वनाशी शून्यता। अध्यात्म शास्त्र में यह साधक की सुपरिचित 'मोक्षभीति' है। यहाँ इन्द्र के हृदय में जो भी (भय, आतंक) है वह वस्तुतः उपासक की ही है। इसका ही एक वक्र रूप है पुराण में वर्णित वृत्रवध के फलस्वरूप इन्द्र को ब्रह्महत्या का पाप लगना (टीमू १५७४)।... किन्तु इन्द्र बिना रुके हुए उस प्रसिद्ध श्येन (बाज़) की तरह परमव्योम से अमृत का आहरण करके ले आए (४।२६।५-७; २७।१)। किन्तु तब भी तो उनके मन में मर्त्य मानव का डर लगा ही रहता है।... लक्षणीय, सप्तसिन्धु की धारा द्युलोक से उतरकर आती है और पुरन्दर निन्यानवे पुरों को भेदकर वहाँ ऊपर की ओर उठ जाते हैं।

[१८५९] ऋ. इन्द्रो यातो अवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः, सेद् उ राजा क्षयति चर्षणीनाम् अरान् न नेमिः परि ता बभूव १।३२।१५। सर्वनायक, सर्वाधार इन्द्र की प्रशस्ति द्वारा सूक्त का अन्त।... 'शम' शान्त रहता है और 'शृङ्गी' सभी को कोंचता-खोंचता है। दुनिया में सभी चलायमान होने के कारण 'चर्षणी' और इन्द्र स्वधावान् रूप में उन पर शासन करने के कारण 'क्षयति'। वे स्वयम्भू होकर भी 'परिभू' हैं (तु. ई. ८)। उपनिषद की भाषा में वे ब्रह्म के रूप में व्याप्तिशील हैं, फिर आत्मा के रूप में वे सर्वत्र→

इन्द्रशक्ति की इस व्याख्या में हिरण्यस्तूप द्वारा वर्णित वृत्रवध की प्रधानता का वर्णन एक प्रत्यक्षदर्शी के वर्णन जैसा है। उसके निकट गोतम राहूगण का एक इन्द्र-सूक्त रखा जा सकता है [१८६०]। उसमें वृत्रवध का ही वर्णन है किन्तु उसकी शैली और आस्वादन या रसग्रहण अन्य प्रकार के हैं। गोतम ऋक्संहिता के एक प्राचीन ऋषि हैं जिनके कण्ठ में 'सहस्र की तृष्णा' है।[1] प्रथम मण्डल के अन्तर्गत एक उपमण्डल के वे रचयिता हैं।[2] उसके अतिरिक्त नवम मण्डल में उनका एक लघु सोमसूक्त भी है।[3] कात्यायन की दृष्टि में सप्तर्षियों में वे अन्यतम हैं।[4] अदिति ही सब कुछ हुई हैं— यह प्रसिद्ध दर्शन उनका ही है।[5]

ऋषि का कथन है: 'इस प्रकार जब सोम के नशे में ब्रह्मा ने रचना की (तुम्हारे) संवर्द्धन स्तोत्र की, (तब) हे श्रेष्ठतम वीर वज्रधर, ओजस्विता द्वारा पृथिवी से समाप्त किया (अपने) प्रशासन में अहि को।... वे सब अग्नि का गीत गाएँ (तुम्हारे) स्वराज्य के निमित्त [१८६१]

विच्छुरित हो रहे हैं। उनके परिभवन में अर्थात चारों ओर होने और होते रहने में केन्द्रापसारी (centrifugal) एवं केन्द्राभिमुखी (centripetal) दो गति हैं। अर या शलाका एवं नेमि या परिधि के सम्बन्ध को दोनों ओर से देखा जा सकता है।

[१८६०] ऋ. १।८० सूक्त। छन्द पंक्ति। टेक है: अर्चन् अनु स्वराज्यम्। [1] तु. १।११६।७। सहस्र आनन्त्यवाची — अनन्तता का वाचक। तु. श. सर्वं वै सहस्रम् ४।६।१।१५, ६।४।२।७; भूमा वै सहस्रम् ३।३।३।८, ता. 'परमम् सहस्रम्' १६।७।२ और भी तु. ऐब्रा. तद् आहुः, किं तत् सहस्रम् (ऋ. ६।६९।८) इति इमे लोका इमे वेदा अथो वाग् इति ब्रूयात् ६।१५। [2] ऋ. १।७४–९३ सूक्त। [3] ९।३१। [4] द्र. ९।१०७, १०।१३७ सूक्त। अनुक्रमणी। [5] अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः, विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर् जातम् अदितिर् जनित्वम् १।८९।१०, टी. १२२६[4], १३१७[3]।

[१८६१] ऋ. इत्था हि इन् मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् शविष्ठ वज्रिन् ओजसा पृथिव्या निः शशा अहिम् अर्चन् अनु स्वराज्यम् १।८०।१। देवता के आवेश से जब आनन्द का नशा उभरता है, तब वह चेतना को बृहत् करता है, वाणी में मंत्रशक्ति विकसित करता है एवं देवता के आविर्भाव से पार्थिव आधार से प्राण और प्रज्ञा की पंगुता को दूर करता है। उस समय हमारे भीतर देवता का स्वाराज्य प्रतिष्ठित होता है और चेतना में विश्वप्राण की दीप्ति कौंध उठती है। ब्रह्मा अन्तोदात्त, 'जिनके भीतर ब्रह्म' (आद्युदात्त) अथवा बृहत् की चेतना स्फुरित हुई है'। साथ-साथ शक्ति भी स्फुरित होती है, उसी से ब्रह्मा अलौकिक सामर्थ्य के अधिकारी होते हैं। जिस प्रकार दीर्घतमा :- तु. ऋ. दीर्घतमा मामतेयो (ममता के पुत्र) जुजुर्वान् (जराग्रस्त हुए) दशमे युगे (देवहित आयु के अन्तिम सोपान पर अर्थात् एक सौ वर्ष की आयु में, तु. ई. २), (और उतने दिन तक) अपाम् अर्थं यतीनां (लक्ष्याभिसारिणी, समुद्रगामिनी तु. ऋ. १।१८९।१) ब्रह्मा (ब्रह्मा के रूप में) सारथिः (अर्थात् वे आजीवन अध्यात्म प्राण-स्रोत के नायक) १।१५८।६; ब्रह्मा यं वाचः (अर्थात 'ब्रह्म' के) परमं व्योम १।१६४।३५ टी. १४८९[3], लक्षणीय. यह सूक्त दीर्घतमा द्वारा रचित); ब्रह्मा रयिविद् (अर्थात समुद्र सङ्गामिनी प्राणधारा की खबर रखते हैं तु. १।१८९।१) २।१।३, ४।५०।८, ९।११२।६; ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम् १०।७१।११ टी. १४०५); ८५।३४, ३५...। ब्रह्मा सोमयाग के नायक एवं सर्वविद्या के प्रवक्ता (तु. वेभी.) यहाँ सोम्य उन्मादन जिस प्रकार ब्रह्मा का, उसी प्रकार इन्द्र का। इसलिए ब्रह्मा और इन्द्र का सायुज्य तु. ऋ. ६।४५।७)। लक्षणीय. यह इन्द्रसूक्त पुरुष सूक्त जैसा सोलह ऋचाओं का है जिसमें षोडशकल पुरुष की ध्वनि है। 'शशाः' < शास् 'शासन करना'। 'अर्चन्' सायण. शतृ प्रत्ययान्त, इन्द्र का विशेषण। जिसके कारण अन्वय सर्वत्र सहज होता नहीं। अतएव तृतीया का बहुवचन करना ही उपयुक्त है (गे. = Geldner)। कर्ता इन्द्र के नित्य सहचर मरुद्गण। 'स्वराज्यम' इन्द्र का वैशिष्ट्य ऋ. ७।८२।२, ३।४५।५, १।६१।९, ८४।१०-१२...; छा. (२।२४)।

'वह सोम तुम्हें मतवाला बना देता है जो वीर्यवर्षी, आनन्दमय उन्मादन है एवं आभिषुत (निचोड़ा हुआ) है, श्येन जिसको आहरण करके ले आया है, जिसके लिए वृत्र को अप् से बाहर निकाल कर हत्या की तुमने हे वज्रधर ओजस्वी होकर। ... वे अग्नि का गीत.... [१८६२]।

'आगे बढ़ चलो, घेर लो, संहार करो। तुम्हारे वज्र को रोका नहीं जा सकता, इसलिए कि (मेरा) पौरुष तुम्हारा ही शौर्य है। वृत्र का वध करो निरुद्ध जलधाराओं को प्राप्त करो। ... वे अग्नि का गीत - ... [१८६३]।

'बाहर निकाल कर भूमि से, और द्युलोक से तुमने हे इन्द्र वृत्र की हत्या की। (अब) मरुद्वृधा इन जलधाराओं को निर्झरित करो, जो सारे जीवों को धन्य करेंगी। ... वे अग्नि .... [१८६४]

'वृत्र काँपने लगता है। उसके उन्नत जबड़े को वज्राघात से क्रुद्ध इन्द्र ने तोड़कर गिरा दिया – अप् की मुक्त धाराओं में बहा देने के लिए। ... वे ...[१८६५]।

'(उसके मर्मस्थान पर गहरा आघात किया शतपर्व वज्र द्वारा इन्द्र ने अन्धः सोम में मत्त होकर – अपने सखाओं-सहचरों के लिए मुक्ति-पथ तैयार करने की प्रेरणा से। .... वे.. [१८६६]

[१८६२] ऋ. स त्वा मदद् वृषा मदः सोमः श्येनाभृतः सुतः, येन वृत्रं निर् अद्भ्यो जघन्थ वज्रिन् ओजसार्चन्न... १।८०।२। सोम्य उन्मादन का परिणाम। प्रथम ऋक् में पृथिवी से वृत्र के निष्कासन या निर्वासन की चर्चा है किन्तु यहाँ अन्तरिक्ष से ('अद्भ्यः', 'निः' द्रष्टव्य)। इसके बाद है 'निर् दिवः' (४)। तु. आसद् इष्टि एवं त्रिपुरनाश (वेमी. प्रथम खण्ड) 'श्येनाभृत सोम' ऋ. ४।२६।४-७)

[१८६३] ऋ. प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते, इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपो अर्चन्न् ... १।८०।३। वृत्र का अन्तरिक्षस्थित अवरोध तोड़ने के समय इन्द्र को प्रोत्साहन। 'नृम्णं' अथवा पौरुष का प्रकटन इस समय सर्वाधिक। 'नृम्ण' ब्रह्मा का, 'शवः' इन्द्र का, द्र. (७)। 'नि यंसते' < नि √यम् 'नियमित या नियन्त्रित करना, समेटना', कर्मकर्तृवाच्य में।

[१८६४] ऋ. निर् इन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर् दिवः, सृजा मरुत्वतीर् अव जीवधन्या इमा अपो अर्चन्न् ... १।८०।४। द्युलोक तक सारा अवरोध दूर हो गया, अब प्राण की धारा जीवलोक को धन्य करके नीचे उतरती है। 'मरुत्वतीर् अपः' तु. टी. १५५६। **जीवधन्याः** – तु. 'एमा अग्मन् रेवतीर् जीवधन्याः' – ये तीव्र गति से प्रवाहित जलधाराएँ जीवलोक को धन्य करके आईं (१०।३०।१४); (गावः) जीवधन्याः १०।१६९।१। मूसलाधार वृष्टि के फलस्वरूप सब से पहले प्राण की पुष्टि उद्भिद (वृक्ष, लता, तृण...) में, तदनन्तर गोयूथ में। इसी प्रकार प्राण और प्रज्ञा का उपचय। फिर सोम भी 'जीवधन्य' १०।३६।८।

[१८६५] ऋ. इन्द्र वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः अभिक्रम्याव जिघ्नते अपः सर्माय चोदयन्न् अर्चन्न् ... १।८०।५। 'दोधतः' – वृत्र मेघ की तरह चंचल, हमारी चित्तवृत्तियों की तरह क्षण-क्षण में रूप बदलता है। इन्द्र ने वज्र से उसके 'सानु' पर अर्थात् मर्मस्थल पर प्रहार किया। 'हीळितः' (हीलितः) < √ हीड् 'रुष्ट होना' तु. 'हेला'। 'सर्माय' < √ सृ 'बहना'।

[१८६६] ऋ. अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा; मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुम् इच्छत्य् अर्चन्न् ... १।८०।६। अन्तरिक्ष के अन्तिम छोर पर युद्ध हो रहा है। जिस प्रकार वृत्र के निन्यानवे पुर एवं पुरन्दर इन्द्र जिसके कारण 'शतक्रतु' हैं उसी प्रकार उनका वज्र भी शतपर्वा है। वृत्र का चरम अवरोध टूट गया उसके अन्तिम पर्व के प्रहार से, और तत्काल विश्वप्राण के आलोक की आँधी बहने लगी। 'सखिभ्यः' मरुद्गण के लिए। **अन्धः** सोम पृथिवी के भीतर गहरे – जहाँ अविद्या का मूल है वहाँ आनन्द का भी मूल है। वज्र के प्रहार से अवरोध तोड़ते-तोड़ते उस आनन्द को इन्द्र ऊपर की ओर द्युलोक में लेकर जा रहे हैं – भोगवती होती जा रही है आकाशगंगा।

[१८६७] ऋ. इन्द्र तुभ्यम् इद् अद्रिवो ऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्, यद् ध त्यं मायिनं मृगं तम् उ त्वं माययावधीर् अर्चन्न् ... १।८०।७। दैवी माया और आसुरी माया का युद्ध जारी है (द्र. टी. १८५८)।

'हे इन्द्र, हे अद्रिवान्, हे वज्रधर, अप्रतिहत पराक्रम तुम्हारे ही लिए हैं। तुम तो उस मायावी मृग को मारते हो, इसलिए वृत्र को भी तुमने माया द्वारा मारा।...वे... [१८६७]।

'तुम्हारे सारे वज्र क्रम से निन्यानवे धाराओं के ऊपर व्यवस्थित हो गए। महत है तुम्हारा प्रभाव, बल हे इन्द्र, तुम्हारी दोनों बाँहों में शक्ति निहित है।... वे... [१८६८]

'हज़ार प्रकार के अग्नि के सुर में गाओ तुम सब एक साथ, घूम-घूम कर स्तुति गाओ बीस जन। सौ व्यक्ति इनके निमित्त प्रशस्ति द्वारा मुखर हुए इन्द्र के निमित्त ब्रह्मघोष उद्यत हुआ।... वे... [१८६९]।

इन्द्र 'अद्रिवान्' और 'वज्री' दोनों ही हैं। **अद्रि** सोम कूटने-पीसने वाला पत्थर, वही फिर वज्र भी है। उसके ही द्वारा नाड़ी की ग्रन्थि का भेदन करते-करते वे चलते हैं और आनन्द का आलोक छलक पड़ता है। तु. हठयोग का कुण्डलिनी जागरण वज्राणी नाड़ी के भीतर से। तब तंत्र में शक्ति 'वज्रयोगिनी'। वृत्र मायावी, किन्तु मृग या पशु रूप में। सप्तशती में यही पशु महिष है। उसका प्रतिपक्ष सिंह देवी का वाहन है। वेद में भी सिंह श्रेष्ठ पशु, वृषभ जैसा। 'तुभ्यम्' तुम्हारे लिए ही मेरा वीर्य, अर्थात् उपासक का बल-वीर्य ही देवता को कार्य करने की शक्ति देता है क्योंकि उपासक का आत्मन् (आत्मा) ही देवता है (ऋ. १०।१२०।५)। 'त्यम्' वृत्र के अनिर्वचनीय रूप को संकेतित करता है और 'तम्' उसके अनुभूत रूप को।

[१८६८] ऋ. वि ते वज्रासो अस्थिरन् नवतिं नाव्या अनु, महत् त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस् ते बलं हितम् अर्चन्न्... १।८०।८ वृत्र की मायापुरियाँ संख्या में निन्यानवे हैं। यहाँ 'नवति' 'नवनवति' का उपलक्षण है। लक्षणीय, वेद में पुरुष की देवहित आयु सौ वर्ष। उसके साथ निन्यानवे का सम्बन्ध है। सप्तशती में भी शतवर्षव्यापी देवासुर-संग्राम का उल्लेख है (२।१)। 'वज्रास:' बहुवचन और कहीं भी नहीं है। किन्तु इसके पहले ही शतपर्वा वज्र का उल्लेख है (६)। लगता है एक-एक वज्र द्वारा क्रमश: एक-एक पुर तोड़ा गया। वही वज्र की 'वि-स्थिति' अथवा 'व्यूहन' (ARRAY) है। 'नाव्या' जिस नदी में नाव चलती है। वस्तुत: नदी अथवा प्राण की अव्याहत, अटूट ऋजु धारा एक ही है। जिसमें वृत्र की माया से निन्यानवे मोड़ों (वृजन् या घुमाव) की सृष्टि हुई है। एक-एक मोड़ एक-एक वृत्रपुर अथवा अविद्या की ग्रन्थि है। 'वीर्य' प्रभाव, 'बल' सामर्थ्य।

[१८६९] ऋ. सहस्रं साकम् अर्चत परि ष्टोभत विंशतिः, शतैनम् अन्व् अनोनवुर् इन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् अर्चन्न्... १।८०।९। सायण के मतानुसार संख्याओं से ऋत्विकों का बोध होता है। 'सहस्र' से सामगान का भी बोध हो सकता है (गे.); तु. 'सामवेदस्य किल सहस्रभेदा आसन्' (चरणव्यूह सूत्र, सामवेद खण्ड)। 'विंशति' सायण के मतानुसार सोमयाग के सोलह जन ऋत्विक, यजमान, पत्नी, सदस्य और शमिता; किन्तु उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। सब ने मिलकर इन्द्र के निमित्त ब्रह्म को तत्पर किया। **ब्रह्म** निघन्टु में 'अन्न' (२।७), 'धन' (२।१०) अर्थात् जिस किसी सत्व या मूल तत्व के रूपान्तरण के आदि से अन्त तक (तु. ऋ. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच् च भव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यत् [जब वे] अन्नेनातिरोहति [ऊपर की ओर चलते हैं, अतिरोहण करते हैं] अन्न अथवा चिदाविष्ट चेतना के अतिरोहण का माध्यम तु. छा. ५।२।१)। निरुक्त में 'ब्रह्म' कर्म (१२।३४) अर्थात् अन्नमय पुरुष के परमार्थ (धन) प्राप्ति का साधन। निघन्टु में वही 'उदक' (१।१२) जो प्राण का प्रतीक है। ध्यातव्य है कि निघन्टु अथवा निरुक्त में 'वाक्' यह अर्थ कहीं भी निर्धारित नहीं किया गया है, यद्यपि संहिता में 'ब्रह्म' एवं 'वाक्' समव्याप्त हैं (ऋ. यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् १०।११४।८, टी. १२६८)... 'ब्रह्म' का आदिम अर्थ मंत्र अथवा कविकृति, जो आविष्ट चेतना का परिणाम है (तु. ब्रह्म कृण्वन्तो गोतमासो अर्कैर् [ज्योति के सुर द्वारा] ऊर्ध्वं नुनुद्र [ऊपर की ओर उठा दिया] उत्सधिं [अर्थात आधार का सोमपात्र, जिसमें 'मधु का उत्स' निहित है, तु. १।१५४।५] पिबध्यै १।८८।४, ४७।२...)। वरुण इस आदेश के देवता हैं (तु. ब्रह्म [आकार छन्द के कारणवश] कृणोति वरुण: १।१०५।१५; लक्षणीय, ब्रह्मविद्या वारुणी विद्या तैउ. ३।६)। ऋक्संहिता में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द में सर्वत्र विस्फोट की व्यञ्जना है। ब्रह्म जब मंत्र चेतना, तब उसका एक धर्म है देवता को बृहत करना अथवा बढ़ाना (ऋ. २।१२।१४, ३।३४।१, ७।१९।११, १।३१।१८, ८।३।६...)। देवता अधिदैवत दृष्टि में ज्योतिर्मय और→

'इन्द्र ने वृत्र की उपचीयमान या वर्द्धित शक्ति को वश में करके अपने उत्साहस द्वारा उसके दुस्साहस को निर्जित किया। महान है इनका पौरुष जो वृत्र की हत्या करके प्रवाहित कर दिया (जल स्रोत) - - - वे - - - [१।८०]।

अध्यात्म दृष्टि में चिन्मय। अतएव देवता का बृहत् होना क्या है वह आत्मचैतन्य के विस्फोट द्वारा समझ सकते हैं। यह विस्फोट सोमपान से हो सकता है (तु. तिस्रो वाच [जो गुहाहित थीं १।१६४।४५] ईरयति प्र वह्निः [सोम आवेश का वाहन' अग्नि जिस प्रकार आकूति का] ऋतस्य धीतिं [ध्यान प्रत्यय की एकतानता] ब्रह्मणो मनीषाम् ['मनीषा' अथवा ऊर्ध्वस्रोता मन का लभ्य 'ब्रह्म'] ९।९७।३४), सोमरस जब माथे पर चढ़ जाता है (तु. प्र ते अश्नोतु [व्याप्त हो, फैल जाए] कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः, प्र बाहू शूर राधसे [तुम्हें ऋद्ध करने के लिए] ३।५१।१२)। चेतना के विस्फोट से अविद्या का आवरण विदीर्ण होता है, अन्धकार दूर होता है, गूढ़ ज्योति का प्रकाश होता है (तु. ब्रह्मणस्पति 'उद् गा आजद् (ऊपर की ओर प्रवाहित कर दिया) अभिनद् ब्रह्मणा वलम् अगूहत् तमो व्यचक्षयत् स्वः' २।२४।३)। ... चित्शक्ति के इस विच्छुरण के जो अधीश्वर हैं वे 'ब्रह्मणस्पति', 'बृहस्पति' अथवा 'वाचस्पति'। इसमें केवल 'बृहस्पति' शब्द ही समासबद्ध है और दो में समास नहीं है। अतएव 'बृहस्पति' संज्ञा शब्द है और दोनों उसकी व्याख्या हैं। तो फिर बृह् = वाच्, यह समीकरण प्राप्त होता है। 'बृह' 'ब्रह्मन्' का आदि रूप है। एक और अनुरूप शब्द 'बृहत्' तथा एक पदगुच्छ भी है 'ऋतं बृहत्' (१।७५।५, १५१।४, ९।५६।१, ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिः ६६।२४, १०७।१५, १०८।८, ऋतं महत् ... स्वर् बृहत् १०।६६।४)। बृह और बृहत् में दृष्टि का अन्तर है। बृह का अनुभव प्रत्यक् (subjective) या अन्तर्मुख बोध है, और बृहत् का पराक् (objective) या विषयगत है। हम जानते हैं, ऋषि की भावना में अधिभूत अधिदैवत में रूपान्तरित होता है — जिस प्रकार अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, उषा रात्रि, द्यौः पृथिवी इत्यादि सभी देवता हैं। फिर अध्यात्म भी अधिदैवत है — जिस प्रकार वाक्, श्रद्धा, शची, मन्यु इत्यादि, उसी प्रकार बृहत् हुआ 'बृह' का अधिदैवत रूप। बृह भी ब्रह्म, बृहत् भी ब्रह्म; बृह की भावना याज्ञिकों की है, बृहत की भावना उपनिषदों पर आधारित है। इसलिए पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा में 'ब्रह्म' की व्यञ्जना अलग-अलग है। नारद की भाषा में कहा जाए तो मंत्रविद् के ब्रह्म और आत्मविद् के ब्रह्म में अन्तर है (छा. ७।१।३)। इस अन्तर को परवर्ती युग में 'शब्दब्रह्म' और 'परब्रह्म' इन दो संज्ञाओं का निर्माण करके समझाया गया है। ऋक्संहिता का 'ब्रह्म' मुख्यतः शब्दब्रह्म है; परब्रह्म वहाँ 'बृहत्', विशेष रूप से 'ऋतं बृहत्' है। उसका अधिभूत अथवा बाह्य जगत से सम्बन्धित रूप या प्रतीक सूर्य है। ऋषियों के चिन्मय प्रत्यक्ष में अथवा अधिदैवत दृष्टि में वे देवता हैं। ऋक्संहिता में 'बृहत्' का अन्य परिचय 'एको देवः', 'एकं सत्', 'एकं तत्' इत्यादि रूप में है, जिसकी चर्चा वैदिक अद्वैतवाद के प्रसंग में पहले की जा चुकी है। पुरुष सूक्त में वे 'पुरुष' रूप में। उपनिषद में 'हिरण्मय पुरुष' अथवा 'आदित्य में पुरुष' का उल्लेख अनेक रूपों में है। अतएव संहिता एवं उपनिषद् में परमतत्व की एक ही व्याख्या प्राप्त होती है। किन्तु उपनिषद में उसकी संज्ञा 'बृहत' न होकर 'ब्रह्म' हुई, संहिता का शब्दब्रह्म उपनिषद में परब्रह्म में कैसे रूपान्तरित हुआ? 'ब्रह्म' संहिता में साधन और उपनिषद में साध्य है; भावार्थ का यह परिवर्तन किस सूत्र के आधार पर हुआ? जान पड़ता है, शब्दब्रह्म और परब्रह्म के बीच सेतु हैं **ब्रह्मा**। ब्रह्मा ब्रह्मवेत्ता के रूप में ही ऋत्विक् श्रेष्ठ हैं, वे सारी विद्याएँ ही जानते हैं (ऋ. १०।७१।११)। वे यज्ञ के नेता हैं (१०।१०७।६)। अग्नि (२।१।२, ३, ४।९।४, ७।७।५), इन्द्र (६।४५।७, ८।९६।५), सोम (९।९६।६) — संहिता के इन तीन प्रधान देवताओं के साथ ही उनका सायुज्य है। विशेष रूप से जो ब्रह्मा, वे ही बृहस्पति हैं (१०।१४१।३)। सोमयाग का निगूढ़ रहस्य वे ही जानते हैं इसीलिए सोम्य आनन्दलोक के ब्रह्मा ही अधिकर्ता हैं (९।११३।६)। अप् की जो धाराएँ परमार्थ या परमसत्य की ओर ऊर्ध्वस्रोता होकर बहती हैं, ब्रह्मा उसके रथचालक हैं (१।१५८।६)। अन्तिम बात यह है कि ब्रह्मा वह परम व्योम है जो वाक् का आश्रय है (१।१६४।३५)। यदि यह कहा जाए कि ब्रह्मा आक्षरिक अर्थ में 'ब्रह्मचारी' हैं, तो फिर वे देवताओं के ही एक अङ्ग हैं, वे पृथिवी पर शक्ति का विच्छुरण →

'ये दोनों महिमान्वित पृथ्वी और आकाश भी तुम्हारा मनोवेग और कोप देखकर काँपते रहते हैं भय से, जब हे इन्द्र, हे वज्रधर, ओजस्वी होकर तुमने वृत्र का मरुद्गण की सहायता से वध किया।... वे... [१८६१]।

'वृत्र अपने कम्पन अथवा गर्जन द्वारा इन्द्र को भयभीत नहीं कर पाया। उसकी ओर इन्द्र का लौहमय सहस्रकोण वज्र तीव्र गति से चल पड़ा। वे.. [१८६२]।

करते हुए विचरण करते हैं (१०।१०९।५)। इस देवमानव ब्रह्मा की सिद्ध चेतना ही 'ब्रह्म' अथवा बृहत् की चेतना है। यही उपनिषद् का लक्ष्य है।... इस लक्ष्य तक पहुँचने का उपाय संहिता में वाक् है और देवता की 'निषत्ति' या आवेश प्रयोजक अथवा प्रयोक्ता है। आवेश से बृहत् की चेतना का स्फुरण और वाक् का स्फुरण एक ही बात है। इसलिए संहिता में ब्रह्म और वाक् की एक ही व्यञ्जना है। संहिता में इस वाक् की व्यञ्जना 'सूक्तवाक्' में (१०।८८।७-८) अथवा 'सूक्त' में (५।४९।२, ७।२९।२, विशेष रूप से प्रणिधान योग्य - १०।६५।१४)। उसका संक्षिप्त रूप 'निविद्' उसकी अपेक्षा संक्षिप्त देवता का 'गुह्य नाम' एवं उससे भी संक्षिप्त 'एकपदी वाक्' अथवा ओम् — जिसको गौरी की हम्बा ध्वनि (रँभाना) के रूप में कारण समुद्र में पाते हैं (१।१६४।४१-४२)। उपनिषद् में परब्रह्म का प्रसङ्ग प्रमुखता प्राप्त करने पर भी ओम् अथवा शब्दब्रह्म को साधन के रूप में सर्वत्र ग्रहण किया गया है। देवता के आवेश अथवा श्रद्धा के उन्मेष में आत्मचैतन्य का प्रसारण ब्रह्मचैतन्य में होता है — यही उपनिषद् का मूल भाव है। यूरोपीय रहस्यवेत्ता इसे Grace अथवा afflatus-जनित ecstasy (हर्षोन्माद) कहते हैं। अध्यात्मबोध के उन्मेष का यह सर्वजनीन लक्षण है जो पृथिवी के समस्त देशों और युगों में दिखाई देता आया है। चेतना के चरम प्रसारण में ब्रह्म सन्मात्र या शुद्ध सत्ता, उससे और भी ऊपर जाने पर 'असत्'। देखते हैं कि इनकी चर्चा संहिता में भी है। ब्रह्म के सम्बन्ध में यह अध्यात्म दृष्टि है अधिदैवत दृष्टि में सत् अथवा असत् (या ब्रह्म) जगत्कारण — यह भाव भी संहिता में है। अब 'ब्रह्म = वाक्' यह समीकरण मान लेने से वाक् को भी जगत्कारण कहना चाहिए। यह भाव भी संहिता में है। वहाँ आदि वाक् गौरी हैं जिन्होंने कारणसलिल को त्वष्टा की तरह तक्षण करके अक्षर के क्षरण को सम्भव किया है (१।१६४।४१-४२; तु॰ वाक्सूक्त १०।१२५)। इस वाक् के पति 'वाचस्पति'। वाक् और वाचस्पति, सरस्वती सरस्वान की तरह युगनद्ध हैं अर्थात् एक ही तत्व के दो रूप हैं। ऋक्संहिता में वाचस्पति ही विश्वकर्मा हैं (१०।८१।७) जिनका सृष्टिकर्ता के रूप में एक पूर्णाङ्ग परिचय प्राप्त होता है। वाक् अथवा व्याहृति (सृष्टि का बीजमंत्र) से लोकसृष्टि होती है, आकाश गुण शब्द (तु॰ गौरी 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्', १।१६४।४१, 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' ३९) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्त का मूल यहाँ है।... विश्वकर्मा जिस प्रकार दिव्य वाचस्पति हैं उसी प्रकार मनुष्य के भीतर वाचस्पति हैं ऋत्विक्श्रेष्ठ 'ब्रह्मा' — जिनके निकट उशती सुवासा जाया की तरह वाक् अनावृता हो जाती है (१०।७१।४, लक्षणीय, ऋषि 'बृहस्पति')। ब्रह्मा का 'ब्रह्म' उनकी मंत्रशक्ति है (तु॰ विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ३।५३।१२; ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ६।७५।१९)। ब्रह्म शब्द की यही व्यञ्जना और अर्थ संहिता में अत्यन्त सुलभ है वहाँ 'ब्रह्म' शक्ति भी है, ज्ञान भी है। उसी से अथर्ववेद ब्रह्मवेद कहा जाता है। फिर इस वेद में ही सर्वप्रथम औपनिषद अर्थ में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग पाया जाता है (द्र॰ शौ. ज्येष्ठ-ब्रह्मसूक्त १०।८)।

[१८६०] ऋ॰ इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निर् अहन् सहसा सहः, महत् तद् अस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वाँ असृजद् अर्चन्... १।८०।१०।

[१८६१] ऋ॰ इमे चित् तव मन्यवे वेपते भियसा मही, यद् इन्द्र वज्रिन् ओजसा वृत्रं मरुत्वा →

'जब वृत्र को और अशनि को (भिड़ा दिया), वज्र के साथ लड़ा दिया (वृत्र को), (तब) हे इन्द्र, अहि का वध करने के लिये उद्यत तुम्हारा शौर्य द्युलोक में निबद्ध हुआ। ... वे...[१८७३]।

'तुम्हारे सिंहनाद से हे इन्द्र, स्थावर-जंगम (जड़-चेतन) काँप उठे; (जिससे) त्वष्टा भी तुम्हारा मनोवेग देखकर हे अद्रिवान्, डर से काँपने लगे। ...वे..[१८७४]।

'किस काल में कौन बल-वीर्य में इन्द्र से बढ़कर है – याद पड़ता नहीं। उनके भीतर ही पौरुष और सामर्थ्य तथा ओजस्विता स्थापित की है देवताओं ने। ... वे...[१८७५]।

अवधीर् अर्चन्... १।८०।११ **मन्यु** < √मन्, मनोवेग, अन्याय के विरुद्ध मन की दीप्ति, ज्वाला; देवता का क्रोध। तु. सप्तशती में देवताओं के कोप से निर्गत तेज से महिषासुरमर्दिनी देवी का आविर्भाव (२।८-१३)। चण्डी का वैदिक रूप है 'मन्यु'। द्र. ऋ. सूक्त १०।८३, ८४। मन्यु वहाँ 'तापस' अथवा तपोजात (तु. १०।८३।२, ३)।... इन्द्र यहाँ 'मरुत्वान्' इसलिए झंझावात की उन्मत्तता से द्युलोक-भूलोक भय से (भियसा) थरथर काँपते हैं। यह भय साधक का भय है (द्र. टी. १८५८)।

[१८७२] ऋ. न वेपसा न तन्यतेन्द्र वृत्रो वि बीभयत्, अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिर् आयतार्चन्न् १।८०।१२। भयंकर आघात-प्रत्याघात के बीच भी देवता निर्भय एवं अटल हैं उनकी वज्रशक्ति अपराजिता है, अजेय एवं उद्यता है, तत्पर है। **आयस**— वेद का 'अयः', लोहा या कि ताँबा? किन्तु असुरों की आयसी पुरी पृथिवी पर है। इन्द्र का आयस (लौहमय) वज्र आघात करता है वहाँ ही।

[१८७३] ऋ. यद् वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः, अहिम् इन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवो अर्चन्न्... १।८०।१३। वृत्र साथ भिड़ गए 'अशनि' एवं 'वज्र'। विभक्तिव्यत्यय लक्षणीय। **अशनि** प्राकृतिक वज्र, जिसे हम द्युलोक (आकाश) से नीचे आते हुए देखते हैं (१।१४३।५, १७६।३, ४।१७।१३) जो वृक्षों पर गिरकर (२।१४।२) अपने ताप से सब कुछ जला देता है (१०।८७।४, १।८०।१३)। अतएव प्रथम विवरण एक प्राकृत घटना का है। निरुक्तकारों के मतानुसार **वृत्र** तब मेघ है। द्वितीय वर्णना अस्वाभाविक, अप्राकृत है। इतिहासकारों की दृष्टि में तब वृत्र त्वाष्ट्र असुर है और वज्र देवता इन्द्र का विशिष्ट प्रहरण या अस्त्र है। यहाँ यास्क का मन्तव्य प्रणिधेय है (नि. २।१६)। आधिभौतिक घटना के ऊपर आधिदैविक भावना के आरोपण का सुन्दर उदाहरण है। इस प्रसंग में निरुक्तकारों और इतिहासकारों की व्याख्या में अन्तर लक्ष्य करने योग्य है। **बद्बधे** < √बध् 'बाँधना'; तु. ऋ. ७।६७।१, १।५२।१०, ४।१८।८, २२।७, ५।३२।१, २, १।८१।५, ७।६१।४।

[१८७४] ऋ. अभिष्टने ते अद्रिवो यत् स्था जगच् च रेजते, त्वष्टा चित् तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियार्चन्न्... १।८०।१४। त्वष्टा का भय इन्द्र के साथ त्वष्टा का विरोध सूचित करता है। द्र. शेभी.)। इन्द्र विश्वरूप त्वष्टा के भी ऊपर हैं यद्यपि वे स्वयं ही विश्वरूप हैं। उसमें परमदेवता के दो संदृक् (सम्यक् दर्शन, दृष्टि, TOTAL VISION) का संकेत प्राप्त होता है— एक सिद्धि के पहले, और एक उसके पश्चात्।

[१८७५] ऋ. नहि नु याद् अधीमसीन्द्रं को वीर्या परः, तस्मिन् नृम्णम् उत क्रतुं देवा ओजांसि सं दधुर् अर्चन्न्... १।८०।१५। यात् < य < याद् + आत् (पञ्चमी), जब से; तु. याद् एव विद्म तात् त्वा महान्तम् ६।२१।६, ७।८८।४ (टी. १७७७), १०।५८।१०। 'अधीमसि' <अधि√इ (स्मरणार्थे तु. पाणिनि २।३।५२)। वीर्या = वीर्येण। 'नृम्ण' अथवा पौरुष की अभिव्यक्ति 'क्रतु' में अथवा दिव्य संकल्प में एवं उसका उद्यापन या समापन 'ओजः' द्वारा। यह रत्न दैवी सम्पद् देवताओं ने इन्द्र में निहित किया। प्रश्न होगा कि यदि इन्द्र परमदेवता हैं, तो फिर सारे देवता उनकी विभूति हुए। वे किस प्रकार उनमें सम्पद् स्थापित करेंगे। किन्तु यह भाव वेद में सर्वत्र है। परमदेवता एवं उनकी विभूति दोनों ही नित्य या शाश्वत हैं। एक एवं अनेक अभिन्न एवं कालातीत हैं।

'जिस प्रकार अथर्वा, पिता मनु एवं दध्यङ् ने ध्यान को प्रसारित किया था (उनके साथ) उसी प्रकार यह इन्द्र में पहले जैसी ही बृहत् की भावना और वाक् की साधना संगत हुई।... वे अग्नि का गीत गाएं (तुम्हारे) स्वराज्य के निमित्त [१८७६]।

इस सूक्त में मुख्यत: वृत्रवध के वर्णन के बावजूद उसके अनुषङ्ग या प्रसङ्ग में इन्द्र का कुछ और परिचय भी प्राप्त होता है। इन्द्र का युद्धोन्माद सोमपान से सम्बन्धित है। इस सोम का उत्स लोकोत्तर में है। वहाँ से उसको पृथिवी पर उतार कर ले आना एक रहस्यमय घटना है। फिर हम लोग ही इस सोम को निचोड़ कर इन्द्र को देते हैं। निश्चित रूप से वे हम सब के सोमसवन के पाषाण में अधिष्ठित हैं, अतएव उनकी शक्ति द्वारा ही हम उनको संवर्द्धित करते हैं। वृत्रवध के परिणाम स्वरूप हमसब के भीतर ही इन्द्र की स्वराज्य-सिद्धि है। उस समय पृथिवी, अन्तरिक्ष अथवा द्युलोक में कहीं भी प्रज्ञा और प्राण का अवरोध सम्भव नहीं। धीयोग इसी स्वाराज्य सिद्धि का साधन है। मनु, अथर्वा, दध्यङ् इत्यादि ऋषि उसके अन्वेषी हैं, पथप्रदर्शक हैं।

किन्तु हम सब की चेतना में परम का आविर्भाव काल में होता है, हम उनको थोड़ा-थोड़ा उपचीयमान होते हुए देखते हैं। यही है **देवता का जन्म** एवं उपचय या वृद्धि। यह विश्वशक्ति के प्रभाव से घटित होता है, वेद में जिनको 'विश्वदेवता' कहा गया है। परमदेवता तब सृष्टि के ऊर्ध्वतन नित्यतटस्थ (तु. ऋ १०।८०।३,४), होते हैं और सृष्टि में उनकी शक्ति नित्यसक्रिय होकर उनके रूप को व्यक्त करती है। इसे हम अपने हृदय में अनुभव करते हैं अर्थात् देवता को जन्म लेते देखते हैं और धीरे-धीरे बढ़ते देखते हैं। मेरे भीतर शिशु अग्नि को अप् की देवियाँ संवृद्ध करती हैं (३१सूक्त), देवताओं ने ही विसृष्टि के उद्देश्य की भूमिका में देवयज्ञ का अनुष्ठान किया है एवं वे ही परमपुरुष को पशु की तरह यूप में बाँधते हैं (१०।९० सूक्त)... सर्वत्र एक ही प्रकार की भावना है।

[१८७६] ऋ. याम् अथर्वा मनुष् पिता दध्यङ् धियम् अत्नत, तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था सम् अग्मतार्चन्न् अनु स्वराजम् १।८०।१६। वृत्रवध एक आध्यात्मिक घटना है उसका स्पष्ट उल्लेख हमें इस सूक्त के अन्त की इस ऋचा में प्राप्त होता है। **अथर्वा** < अथर् (अग्नि; तु. फ़ारसी 'आतश'; और भी तु. 'अथर्यु' ७।१।१ टी. १३७६[५]), यज्ञ-प्रवर्तक एक प्राचीन ऋषि (द्र. १।८३।५, टी. १३४४[४]) एवं योगी (६।१६।१३ टीमू. १३४९)। और भी द्रष्टव्य. १०।९२।१०, १२०।९ ('बृहद्दिवो अथर्वा' टी. १२१८[२] टीमू. १२८१), १४।६। **मनु** मानव जाति के आदि पिता (तु. १।११४।२ टी. १६५२[११], २।३३।१३ टी. वही ८।६३।१), अग्नि विद्या और यज्ञ के प्रवर्तक (१।३६।१९; टी. १३३१[४], १०।५१।५ टी. १४१७, ५३।६ टी. १४।३५, १००।५...)। **दध्यङ्** अथर्वा के पुत्र (६।१६।१४, टी. १३४९[१])। अश्विद्वय को मधुविद्या प्रदान की थी (१।११६।१२, ११७।२२)। **धी** द्र. टी. १२१८। तन् धातु के प्रयोग द्वारा यज्ञ के प्रति संकेत है क्योंकि यज्ञ की उपमा तन्तु के वितनन के रूप में की गई है (तु. १०।१३०।१ टी. १३४४[१])। किन्तु केवल द्रव्य नहीं; धी, ब्रह्म एवं वाक् भी उसके साधन हैं। इन्द्र के निमित्त या उद्देश्य से यज्ञ के फल-स्वरूप वृत्रवध होता है अर्थात् प्राण स्वच्छन्द होता है, प्रज्ञा निर्मल होती है। →

क्रमशः

IV/4

वेद

वेद-मीमांसा

तृतीय खण्ड

अनिर्वाण

⊙ हिन्दी अनुवाद :
छविनाथ मिश्र

⊙ पृष्ठ १५८ से २११ तक

वृत्रवध के अतिरिक्त इन्द्र के शौर्य के और भी विचित्र निदर्शन हैं। उसकी एक प्रभावशाली व्याख्या गृत्समद भार्गव शौनक के एक सूक्त में प्राप्त होती है। ये ऋक्संहिता के द्वितीय मण्डल के ऋषि हैं। जिस किसी भी देवता के भीतर सारे देवताओं का अन्तर्भाव है— वैदिक भावना या चिन्तन की यह विशिष्ट भंगिमा उनके प्रथम अग्नि-सूक्त में ही स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई है। उनके अनेक सूक्तों की टेक में यह ब्रह्मघोष प्राप्त होता है— 'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः'— बृहत को हम घोषित कर सकें विद्या की साधना के सुवीर्य अथवा वीरपुत्र होकर। यह आलोच्यमान इन्द्र सूक्त अनिन्द्रों की नास्तिकता के जवाब में रचा गया है। उसकी भी एक टेक इस प्रकार है— 'स जनास इन्द्रः' अर्थात् हे जनगण, वे ही इन्द्र [१८७७] हैं।

ऋषि कहते हैं—

'जिन्होंने जन्म ही लिया प्रथम मनस्वी होकर (एक-) देव रूप में (अपनी) सामर्थ्य से देवताओं के परिभू हुए, जिनके प्राणोच्छ्वास से रोदसी काँप उठी पौरुष की महिमा द्वारा, वे ही हे, जनगण इन्द्र हैं [१८७८]।

[१८७७] ऋ. २।१२ सूक्त। टेक तु. ६।२८।५। इस प्रसङ्ग में द्र. सायण — सूक्त की भूमिका।

[१८७८] ऋ. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्, अस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः २।१२।१। अग्नि जिस प्रकार 'तपस्वान्' हैं (६।५।४ टी. १२६७[२], टीभू. १२११[४]), इन्द्र भी उसी प्रकार **मनस्वान्** एवं 'प्रथमो मनस्वान्'। यह इन्द्र का अनन्यपर अथवा एकमात्र विशेषण एवं उनका विशिष्ट परिचायक है। आध्यात्मिक दृष्टि से हमारे भीतर मन में इन्द्रचेतना का प्रथम स्फुरण। निश्चय ही वह मन प्राकृत इन्द्रिय-मानस नहीं है, ऋक्संहिता में जिसको 'बोधिन्मनः' कहा गया है (तु. 'बोधिन्मनाः' ८।९३।१८, इन्द्र का विशेषण; ५।७५।५ अश्विद्वय का) अथवा 'चिकित्विन्मनः' (तु. 'चिकित्विन्मनसम्' ५।२२।३, अग्नि का विशेषण), वही। उस मन में 'बोधि' अथवा 'चित्ति' के रूप में अप्राकृत प्रातिभसंवित् अथवा अतीन्द्रिय चेतना की प्रथम झलक दिखाई देती है। भूलोक में अग्नि, अन्तरिक्ष में इन्द्र और द्युलोक में अश्विद्वय उस मन के अधिराज या सम्राट हैं। लक्षणीय है – निरुक्त में ये तीनों देवता ही तीन लोक के प्रथमगामी' हैं (अवश्य ही वायु और इन्द्र का विकल्प है; क्यों, वह पहले ही बतलाया गया है)। बोधिन्मन के रूप में इन्द्र प्रथम मनस्वान हैं. इसका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है केनोपनिषद् के प्रसिद्ध यक्ष, हैमवती और इन्द्र के इतिहास में (३।१-४।३)। वहाँ इस मन को विद्युत के साथ उपमित किया गया है (४।४)। इन्द्र किस रूप में 'जात' (उत्पन्न) हुए, वह पहले ही बतलाया गया है (टी. १८७५)। तु. हिरण्यगर्भ किस प्रकार 'जात' होकर भूतपति हुए (१०।१२१।१, टी. १२७६[१])। 'देवः देवान्' अर्थात् वे ही एकदेव अथवा 'देव एकः' हैं (तु. १।३२।१२ टी. १८५६), एवं विश्वदेवगण उनकी नित्य विभूति हैं। **पर्यभूषत्** < परि √भू + स इच्छार्थे; तु. १।६९।२, १४१।९; द्र. टी. १८५९। **शुष्म** < √श्वस (साँस खींचना, बाहर निकालना-) प्राणोच्छ्वास (निघ. 'बल' २।९); तु. वायु 'आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः' १०।१६८।४, वाक् विश्व की आद्या अथवा प्रथमा शक्ति के रूप में 'अहम् एव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा' १२५।८। सृष्टि के प्रारम्भ में अन्तरिक्ष में प्राण का जो प्रभंजन या अन्धड़ बहता चलता है, वही 'शुष्म' है। उपनिषद में 'महतो भूतस्य निश्वसितम्' बृ. २।४।१०, ४।५।११। 'स्मरणीयः- द्युलोक में →

'जिन्होंने अस्थिर, हिलती-डुलती पृथिवी को किया सुस्थिर, शान्त, जिन्होंने प्रकुपित पर्वतों को किया निश्चल, जिन्होंने विपुल, बृहत अन्तरिक्ष को आच्छादित कर रखा है, जिन्होंने द्युलोक को किया स्तब्ध, जड़ीभूत, वे ही हे जनगण, इन्द्र हैं [१८७९]।

'जिन्होंने अहि की हत्या करके सात नदियों को प्रवाहित किया, जिन्होंने बल द्वारा अवरुद्ध गोयूथ को छीनकर मुक्त किया, जिन्होंने दो पत्थरों के मध्य अग्नि को जन्म दिया, जो सब को युद्ध के समय समेट लेते हैं, शत्रु का नाश करते हैं, हे जनगण वे ही इन्द्र हैं [१८८०]।

देवता की नित्यस्थिति एवं अन्तरिक्ष में उनकी विसृष्टि या शक्ति का निर्भरण। यह विसृष्टि भी 'शुष्म' जिसके मूल में उनका 'क्रतु' या दिव्य संकल्प है। यहां शुष्म को ब्रह्मक्षोभ भी कहा जा सकता है, जो एक स्फोट (EXPLOSION) के रूप में मिथुनीभूत या युगनद्ध द्यावा-पृथिवी को पृथक कर देता है। उस विस्फोट से ही उनका **अभ्यसेताम्** (< √ भ्यस < √ भी 'भय से' + अस् 'क्षेपणे'; तु. 'भ्यस् भय-वेपनयोः' नि. ३।२१; वैदिक युग्म धातु का निदर्शन) भय के मारे थरथरा उठे, काँपने लगे।

[१८७९] ऋ. यः पृथिवीं व्यथमानाम् अदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्, यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्याम् अस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः २।१२।२। तीन लोक में इन्द्र की 'बलक्रिया' (DYNAMISM तु. श्वे. ६।८) का परिचय। प्रथम मंत्र में द्युलोक-भूलोक में एक क्षोभ अथवा कम्पन की चर्चा की गई है। यही अन्तरिक्ष अथवा प्राणलोक में भी फैल गया है। त्रिलोकव्यापी यह क्षोभ अधिदैवत दृष्टि से जिस प्रकार विसृष्टि के प्रारम्भ में है उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से वृत्रवध के भी प्रारम्भ में है (यहाँ तु. गेल्डनर का मन्तव्य)। **पर्वत** प्रधानतः अन्तरिक्ष का मेघ (निघ. १।१०)— जो जल को रोक कर रखता है, फिर बरसाता भी है। सांख्य दर्शन के अनुसार पहली तमोगुण की क्रिया और दूसरी रजोगुण की क्रिया है। पृथिवी के पर्वत भी वर्षा के पहले स्तब्ध एवं आँधी-तूफ़ान अथवा वर्षा में चञ्चल होते हैं। किन्तु इन्द्र के अनुग्रह से अन्त तक कहीं भी 'व्यथा' अथवा 'कोप' नहीं, सब शान्त हो जाता है। उस समय देवता अपने महावैपुल्य द्वारा प्राणलोक को ढँके रहते हैं। **अरम्णात्** < √ रम् 'आनन्द मनाना; ठमक जाना, रुक जाना, रोक देना (वि-उपसर्ग के विना भी)'।

[१८८०] ऋ. यो हत्वाहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजद् अपधा वलस्य, यो अश्मनोर् अन्तर् अग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः २।१२।३। इन्द्र की अध्यात्म कीर्ति का वर्णन। प्रथमतः प्राण की मुक्ति, उसके बाद प्रज्ञा की मुक्ति, तत्पश्चात् समस्त आधार को योगाग्निमय कर देना (द्र. टी. १२७१)। इनमें कोई भी आसानी से नहीं होता, बल्कि संघर्ष के भीतर से होता है। किन्तु उसके प्रत्येक सोपान पर इन्द्र विकीर्ण शक्ति को सत्ता (अस्तित्व) के केन्द्र में समेट कर ले आते हैं। **उदाजत्** < उत् √ अज् 'खदेड़ना'। 'उत्' ऊर्ध्वस्रोता, ऊपर की ओर प्रवाहित धारा का बोध होता है — जो भूलोक से द्युलोक की ओर प्रवाहित होती है। **अपधा** < अप √ धा 'स्थापित करना' क्रिया विशेषण; बल के निकट से दूर हटा कर उसके चंगुल से मुक्त करता है। तु. २।१४।३। दो पत्थरों के बीच अग्निजनन द्र. टी. १२७१। **सम-अद** (निघ. संग्राम २।१७), सभी जहाँ जुट कर मारामारी करते हैं, संघर्ष। वृत्र के निन्यानवे पुरों को विदीर्ण करने में इन्द्र को उसके साथ लड़ना पड़ता है। उसके फलस्वरूप वे **संवृक्** होते हैं (< सम् √ वृज् 'मोड़ दे देना'; तु. छा. तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ, वायुर् एव देवेषु, प्राणः प्राणेषु ४।३।४, लयस्थान, जिसके भीतर सबकुछ सिमट आता है) अर्थात् प्राण की बहिर्मुखी वृत्तियों या तरंगों को अन्तर्मुखी अथवा केन्द्राभिमुखी करते हैं। कैसे, उसका वर्णन अगले दो मंत्रों में है।

'यह जो कुछ नश्वर है, उसके वे कर्ता हैं, जिन्होंने दास-वर्ण को दबाकर, उनका दमन करके गुहाचर कर दिया, बाज़ी जीते हुए जुआरी की तरह जो (गर्वित) धनवानों की सम्पत्ति का हरण करते हैं, हे जनगण, वे ही इन्द्र हैं [१८८१]।

'जिनके बारे में वे सब पूछते हैं, कहाँ है वह? (पूछते हैं उस भयंकर देवता के सम्बन्ध में, फिर वे सब उनके बारे में कहते हैं, वह तो नहीं है! किन्तु वे (गर्वित) धनवानों की सम्पदा लूट लेते हैं खराब पासे फेंककर। उनमें श्रद्धा रखो। हे जनगण वे ही इन्द्र हैं [१८८२]।

[१८८१] ऋ. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णम् अधरं गुहाकः, श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षम् आदद् अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः २।१२।४। विश्व की सभी वस्तुएँ च्युतिधर्मा या क्षरणशील हैं, केवल इन्द्र ही 'अच्युत' (तु. ५।५२।२, १०।१११।३) या अक्षर हैं। अथवा इन्द्र 'अच्युतच्युत्' (२।१२।९, ६।१८।५), हैं, जो अटल है उसे भी हिला-डुला देते हैं (द्र. टी. १८७९)। ... दो **वर्ण** – अर्थात एक दास और दूसरा आर्य (३।३४।९)। **दास** स्वभावत: 'अधर', अर्थात निम्न श्रेणी के, वेद में किसी भी आर्य को 'दास्या: पुत्रः' कहना चरम अपमान। इन दासों में जो उच्च श्रेणी के हैं, वे **दस्यु** हैं (तु. ३।३४।९) इन दोनों शब्दों के मूल में दस् धातु है जिसका अर्थ है 'उजाड़ना, नष्ट करना'। उसी धातु से ही 'दस्र' अश्विद्वय का रूढ़ अथवा प्रचलित विशेषण है, जिन्होंने द्युस्थान देवता के रूप में सब से पहले अन्धकार के विरुद्ध अभियान चलाया। यहाँ सामाजिक स्थिति अथवा संघबद्ध जीवन यात्रा की घटना को आध्यात्मिक व्यञ्जना प्रदान की गई है। दासों के गुहाचर होने के साथ तु. सप्तशती में शुम्भ-निशुम्भ वध के पश्चात् 'शेषाः पातालम् आययुः' (१२।३५)। ये ही योगशास्त्र के 'आशय' या अविद्या के मौलिक संस्कार हैं। दासों की अपेक्षा दस्यु सम्पत्तिशाली होते हैं। किन्तु वे **अरि** अर्थात् 'शत्रु' हैं (इस शब्द का 'पूर्णत: विपरीत अर्थ में प्रयोग भी हुआ है' द्र. वैदिक पदानुक्रम कोष. टिप्पणी। उनकी 'पुष्टि' है (तु. गीता: आसुरी सम्पद १६।४।१८) किन्तु वे वह 'देवता को देना नहीं जानते' (सम्भवत: इस शब्द की व्युत्पत्ति है < अ √रा 'दाने' षष्ठी के एकवचन में 'अर्यः'; इसी प्रकार पणि भी 'अरि'; और भी तु. ऋ. ३।४३।१४ टी. १७६७)। प्रतिदिन वे फूले-फूले गर्व का अनुभव करने लगते हैं किन्तु एक दिन अकस्मात् देवता सारी सम्पत्ति का हरण करके उनको कङ्गाल कर देते हैं। बाहर से लगता है शायद यह नियति की द्यूतक्रीडा है किन्तु मन ही मन यही उनका 'लक्ष' या जुआ का पण या शर्त अथवा बाज़ी थी। वस्तुत: उनके जैसा श्वघ्नी या जुआरी और कौन (तु. कृतं यच्च श्वघ्नी विचिनोति काले १०।४२।९, कृतं [= लक्षं] न श्वघ्नी विचिनोति देवने [पासे के खेल में] संवर्गं [तु. ३, टी. १८८०] यन् मघवा सूर्यं जयत् ४३।५])?

[१८८२] ऋ. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् उतेम् आहुर् नैषो अस्तीत्य् एनम्, सो अर्यः पुष्टीर् विज इवा मिनाति श्रद् अस्मै धत्त स जनास इन्द्रः २।१२।५। इसके पूर्व के मंत्र में जिस भावना का वर्णन है यह उसी की अनुवृत्ति है। यहाँ भी आसुरिक दम्भ और उसके पराभव की चर्चा हो रही है। आसुरिक वृत्तियों के हम तीन स्तर देखते हैं। प्रथमत: दास की मूढ़ता, तत्पश्चात् 'दस्यु' का विक्षोभ और सब के अन्त में बुद्धि का अहंकार। यही तीन स्तर संशय और नास्तिकता के रूप में दिखाई देते हैं। यह आसुरिकता जिनमें है, उनकी साधारण संज्ञा 'अदेव' है (द्र. वेमी. पृष्ठ ४५ द्वि. खंड) किन्तु उनका भी अन्तिम परिणाम दस्युओं के जैसा होता है, उनकी बुद्धि के दर्प को देवता मिट्टी में मिला देते हैं और उन्हें निर्धन कर देते हैं। यहाँ भी द्यूतक्रीडा की उपमा का अनुवर्तन हुआ है। ... **विज** यह एक पारिभाषिक शब्द है, चालाक जुआरी हाथ की सफ़ाई के माध्यम से जो बाज़ी जीत लेता है, सम्भवत: उसका बोध होता है (तु. महाभारत का शकुनि; द्र. ऋ. श्वघ्नीव कृतनुर् →

'जो समृद्ध एवं दुर्बल दोनों के ही प्रेरक हैं, जो ब्रह्मा एवं भिक्षाजीवी कीर्तनिया के भी (प्रचोदयिता-प्रेरयिता) हैं; जो विशिष्ट पत्थर से सोमसवन करता है, वे उसकी रक्षा करते हैं वीरपुत्र रूप में, वे ही हे जनगण इन्द्र हैं [१८८३]।

'जिनके प्रशासन में अश्व और गोयूथ हैं, ~~जिनके~~ (प्रशासन में) ग्राम और सब रथ हैं, जिन्होंने सूर्य और उषा को जन्म दिया है, जो अप् के (जलधाराओं के) नेता हैं, हे जनगण, वे ही इन्द्र हैं [१८८४]।

'रण की हुंकार के साथ आपस में भिड़ जाने वाली दोनों सेनाएँ अपने अपने ढंग से जिनका आह्वान करती हैं; (और आह्वान करते हैं) बड़े-छोटे दोनों शत्रुदल ही, एक रथ पर आसीन (रथी और सारथी) नाना प्रकार से आह्वान करते हैं जिनका, हे जनगण, वे ही इन्द्र हैं (१८८५)।

विज आमिनाना १।५२।१०, तत्र गेल्डनर)... **श्रद्** ॥ हृद् (तु. Lat. cor, ENG. heart) <√हृ॥घृ 'दीप्तिक्षरणयोः' द्र. टी. १३०७; एक योग में विशोका ज्योतिष्मती संवित् अथवा हार्द ज्योति (तु. ऋ. ४।५८।५ टी. १२७२६)। इन्द्र को 'हृदा' पाना (१।६१।२ टी. १२१८¹, १८५८) और उनको 'श्रद्धा' द्वारा पाना एक ही बात है। 'श्रद्धा' धी योग का मुख्य साधन है। उपनिषद् में 'हृदय' ब्रह्म के द्वारपालों में श्रेष्ठ (बृ. ४।१।७)।

[१८८३] ऋ. यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः युक्तग्रावणो यो हरिता सुशिप्र सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः २।१२।६। इन्द्र सविता की तरह ही सब के प्रचोदयिता या प्रेरयिता हैं। उनके निकट छोटे-बड़े का भेद नहीं है। जो ब्रह्मवादी अथवा जो सोमयाजी – दोनों के ही वे ईशान या अधिपति हैं। **रध्र** <√ऋध् 'समृद्ध' होना (तु. २।३०।६, २१।४, १०।२४।३, ३८।५, ८।८०।३, ६।४४।१०, १८।४...)। **नाधमानस्य कीरेः** – (कारोः) तु. श्रोता हवं नाधमानस्य कीरेः १।१७८।३, २।२७।४। √नाध् 'देवता के निकट याचना करना, माँगना, इसी अर्थ में साधारण प्रयोग। किन्तु 'ब्रह्मा' ब्रह्मविद् एवं ब्रह्मवादी। यदि वे 'कीरि' अथवा कीर्तनिया हों तो फिर सामगान के माध्यम से उनके ब्रह्मघोष की एक विवृति तैत्तिरीय उप- में प्राप्त होती है (३।१०)। वे कामान्नी एवं कामरूपी होकर विचरण करते हैं – इस प्रकार का संकेत भी वहाँ है। इन्हें 'नाधमान' कहने में भिक्षोपजीवी यति का चित्र मन में उभरता है जो ऋक्-संहिता में दुर्लभ नहीं, (८।३।९, यति इन्द्ररक्षित; द्र. १०।११७ सूक्त; जिसके ऋषि 'भिक्षु' आङ्गिरस हैं)। इसके बाद ही सोमयाजी का उल्लेख होने से लगता है, यहाँ यति एवं याज्ञिक दोनों ही श्रेणी के साधकों की चर्चा की जा रही है। ब्रह्मविद्, कीर्तनकारी, किन्तु 'नाधमान' – क्या ये ही परवर्ति युग के 'नाथ' योगी हैं जिनके अन्तिम परिणाम बंगाल के बाउल हैं? लक्ष्य करने योग्य. उपनिषद में 'भिक्षाचर्य प्रशस्त – ब्राह्मण के सम्बन्ध में भी (३।५।१, ४।४।२२, छा. ४।४।५-८; कौ. २।१)।

[१८८४] ऋ. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः, यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः २।१२।७। ऋक् के प्रथमार्द्ध में इन्द्रप्रशासित जगत का चित्र है – जिसमें गो, अश्व एवं मनुष्य और उसके पुर (रथ) एवं जनपद (ग्राम) हैं। उसके ही भीतर चेतना के क्रमिक उन्मेष या विकास का चित्र उत्तरार्ध में प्राप्त होता है – प्रथमतः इन्द्र के प्रसाद या अनुग्रह से प्राण की अवरुद्ध धारा मुक्त हुई, उसके कूल पर प्रातिभ संवित् की उषा प्रस्फुटित हुई, जिसका परिणाम सूर्य की मध्याह्न दीप्ति में दिखाई देता है। लगता है, जैसे ऋषि नदी किनारे खड़े सूर्योदय देख रहे हैं, द्युलोक की ज्योति को पृथिवी पर फैलते हुए देख रहे हैं और इसी पृष्ठभूमि में सर्वत्र ऐन्द्री चेतना के अभ्युदय की महिमा का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हैं।... इन्द्र का 'प्रदिश्' उनकी देशना अथवा प्रशासन।

[१८८५] ऋ. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः, समानं चिद् रथम् आतस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः २।१२।८। विश्व में सर्वत्र एक द्वैतलीला – कहीं अरिच्छन्द में या फिर कहीं मित्रच्छन्द में वर्तमान है। किन्तु इन्द्र समस्त द्वैत के पक्षपातहीन →

'जिनके बिना लोग विजय नहीं प्राप्त कर सकते और युद्ध के समय लोग रक्षा के लिए जिनका अनुग्रह प्राप्त करना चाहते हैं, जो विश्व के प्रतिमान और सब कुछ से परे हैं, जो अच्युत को भी च्युत करते हैं; वे ही हे जनगण, इन्द्र हैं [१८८६]।

'जो महापाप करते हैं उन सब की जानकारी के पहले ही जिन्होंने उनकी वज्र द्वारा हत्या की है, जो धृष्टों की धृष्टता को क्षमा नहीं करते जो दस्युओं के हन्ता हैं, वे ही हे जनगण, इन्द्र हैं [१८८७]।

'शम्बर प्रत्येक पर्वत में वास करता है। चालीस शरत् बीतने की अवधि में जिन्होंने उसे खोज निकाला, जो अहि ओजस्विता या बल का प्रदर्शन करता है उसकी जिन्होंने हत्या की है (और किया है) शयान दानु को, वे ही हे जनगण इन्द्र हैं [१८८८]।

अद्वैत आश्रय हैं। इस भावना का ही आध्यात्मिक प्रतिरूप उपनिषद् में प्राप्त होता है, जहाँ पाप और पुण्य से परे अनुभव की व्याख्या प्राप्त होती है (द्र. बृ. ४|४|२२; तैउ. २|८...)। मंत्र में उल्लिखित प्रथम द्वैत देवसेना और असुर सेना का है। वे ही **क्रन्दसी** अर्थात् गर्जनशील < √क्रन्द् 'गर्जन करना' तु. 'कनिक्रदत्' ऋक्संहिता में बहुप्रयुक्त विशेषण जैसे वृषभ का। निघण्टु में अनुरूप 'रोदसी' द्यावा-पृथिवी का नाम (३|३०; किन्तु वहाँ 'क्रन्दसी' नहीं; यहाँ सायण. क्रन्दसी रोदसी, शब्दं कुर्वाणे, मानुषी दैवी च द्वे सेने वा)। द्वितीय द्वैत किसी भी दो विरोधी व्यक्तियों का है। यह दोनों द्वैत अरिद्वन्द्व का है और एक ही रथ में रथी एवं सारथी मित्रद्वन्द्व का द्वैत है। वहाँ भी अरिद्वन्द्व रह सकता है, जिस प्रकार एक ही आधार में धर्मबुद्धि और पापबुद्धि के द्वन्द्व में।

[१८८६] ऋ. यस्मान् न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते, यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः २|१२|९। विश्व की समस्त विजय इन्द्र की ही विजय है (तु. के. ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये ३|१ अब वह जिस किसी पक्ष की ही क्यों न हो — यद्यपि सभी महसूस करते हैं कि 'यह विजय मेरी ही' है। यह अहंकार जिनको नहीं है, वे हृदय में उनका अनुसरण करते हुए उनकी ओर से ही युद्ध करते हैं। पथ की सारी बाधाओं को केवल वे ही दूर कर सकते हैं, बाधाएँ चाहे जितनी भी अटल-अचल हों। ठीक ऐसे ही जिस प्रकार वे विश्व के सभी स्पन्दनों में हैं उसी प्रकार वे सब कुछ के परे भी हैं — जिस प्रकार 'रूपे रूपे प्रतिरूप' ६|४७|१८), उसी प्रकार प्रत्येक मान या परिमाण में **प्रतिमान** (तु. १|३२|७, ५२|१२, १३, १०२|६, ८, ✻ ३|३१|८, ✻ ४|१८|४, ✻ ६|१८|१२, १०|१११|५, १३८|३; ८|९|५, १२०|६; सर्वत्र इन्द्र का सम्बन्ध) अर्थात् उनकी माप की तुलना में सभी छोटे हैं।

[१८८७] ऋ. यः शश्वतो मह्येनो दधानान् अमन्यमानाञ्छर्वा जघान, यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर् हन्ता स जनास इन्द्रः २|१२|१०। यह सत्य है कि वे सब का अतिक्रमण करके द्युलोक में अमृत रूप में हैं (तु. १०|९०|३,४)। किन्तु इस मर्त्यलोक में पाप है और दस्युओं का आक्रमण है। उससे कौन हमें बचाएगा? अदिव्य शक्तियों की किसी भी स्पर्धा या दुस्साहस को जो क्षमा नहीं करते, वे ही हमें बचाएँगे। स्पर्धी बाहर चाहे जितना रोब जमाए किन्तु भीतर-भीतर उसको उन्होंने पहले ही मार दिया है (तु. गीता. ११|३३)। अतएव उनके आस्फालन अथवा दर्प-दम्भ और आत्मश्लाघा से डरने की कोई बात नहीं। अन्धकार पर आलोक की विजय तो विश्व की दिव्य नियति है — उसके प्रति इस मंत्र में एक गहरी आस्था का संकेत प्राप्त होता है।... 'महि एनः' तु. 'जुहुराणम् एनः' (१|१८९|१)। 'महि' विशेषण है — पाप की दुर्धर्षता या प्रबलता का बोध होता है (तु. ७|८६|६, टी. १३७६३)। 'अमन्यमान' जो कुछ सोच ही नहीं पाता है। **शर्व** < √शॄ 'चूर-चूर कर देना, छिन्न-भिन्न करना' यहाँ वज्र। **शृध्या** < √शृध् 'स्पर्द्धित होना' < शर्धति।

[१८८८] ऋ. शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्, ओजायमानं यो अहिं →

'सप्तरश्मि विशिष्ट, अभीष्टवर्षी और बलवान हैं जो, और प्रवाहित कर दिया मुक्तधाराओं में सात नदियों को, जिन्होंने द्युलोक की ओर आरोहण के लिए उद्यत रौहिण को वज्रबाहु होकर परास्त कर दिया, हे जनगण वे ही इन्द्र हैं [१८८९]।

जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः २।१२।११। 'शम्बर' एवं 'अहि' वृत्रशक्ति के नामान्तर (द्र. टी. १८४०)। यहाँ उसका एक और परिचय **दानु** है जो अन्यत्र उसकी मां का नाम है (ऋ. १।३२।९ टी. १८५३)। अतएव इस संज्ञा से मूलाविद्या एवं तूलाविद्या दोनों का ही बोध होता है। 'चत्वारिंश्यां **शरदि**' चालीस वर्ष। सम्भवतः यह ऋषि के व्यक्तिगत जीवन का संकेतवाही है। उन्होंने चालीस वर्ष की उम्र में सिद्धि प्राप्त की थी, तभी अपने स्वयं के आधार में गुहाहित एवं आशय रूप में 'शयान' (सुप्त) वृत्र पर अन्तिम आघात किया था। उसके बाद जो कुछ हुआ उसका वर्णन अगली ऋचा में है। ... वेद में संवत्सर के बोधक ये तीन शब्द हैं 'हिम' १।६४।१४, २।३३।२, ५।५४।१५, ६।४८।८), 'शरत्' २।२७।१०, ३।३६।१०, १०।१८।४, ८५।३९, १६१।३,४, एवं 'वर्ष' (यही शब्द ऋक्संहिता में केवल दो बार 'वृष्टि' का बोधक है ५।५८।७, ८३।१०; 'वर्षाः' अन्यान्य संहिताओं एवं ब्राह्मणों में ऋतु का बोधक है, संवत्सर के बोध के लिए 'वर्ष' केवल ब्राह्मणों में ही पाया जाता है द्र. ऐ. ४।१७, श. १।७।३।१९ ...)। इस प्रकार संवत्सरगणना के ये तीन प्रकार प्राप्त होते हैं। जब बर्फ से सब कुछ ढंक जाता है तब से वत्सर की गणना करने की संज्ञा 'हिम'। बर्फ नहीं गिरती किन्तु वृक्षों के पत्ते झर जाते हैं अर्थात पतझड़ 'FALL' जब होता है तब वर्ष के शुरु होने पर वह 'शरत्' (जब फूल-पत्तों की शोभा नष्ट हो जाती है)। और जब पतझर जैसा दृष्टिगोचर न होने पर वर्षा से वर्ष गिना जाता है तब वह 'वर्ष'। लक्ष्य करने योग्य है कि भारतवर्ष में ये तीनों ही घटनाएँ घटती हैं — हिमवत् प्रदेश में 'हिम' गिरता है, उसके निम्नवर्ती पहाड़ों में पत्ते झरते हैं और समतल भूमि में लक्षणीय रूप में वर्षा उतरती है। संवत्सरवाची इन तीनों संज्ञाओं में एक क्रम है। सर्वापेक्षा प्राचीन शब्द 'हिम', तत्पश्चात 'शरत्' एवं इस समय 'वर्ष'। इसमें आर्यजनों के वास-स्थान के परिवर्तन की एक धारावाहिकता पाई जाती है। पहले वे किसी हिमवत् या बर्फीले प्रदेश में सम्भवतः काश्मीर के भी उत्तर में, उसके बाद उत्तराखण्ड में नीचे उतर आए (प्राचीनकाल में जिसकी सीमा पश्चिम की ओर बहुविस्तृत थी) एवं अन्त में सिन्धु की घाटी में। इसमें उनके आदि निवास का पता या सन्धान पाया जाता है। लक्षणीय. मध्य एशिया का वर्तमान अज़रबैजान (AZER-BAIJAN) एक ईरानी शब्द का अपभ्रंश है जिसका संस्कृत रूप 'आर्याणां बीजम्' अथवा आर्यों की बीजभूमि है। इस प्रसङ्ग में उत्तर-दक्षिण के बोध के लिए ऋक्संहिता में 'उत्तर' 'अधर' ये दो शब्द भी लक्षणीय - जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ऊँचे-नीचे हुआ। नीचे आकर आर्यों का अभियान पूर्व की ओर चला, तब वे 'ज्योतिरग्र'। इन शब्दों के साथ एक ऐतिहासिक व्यञ्जना या गूढ़ अर्थदीप्ति का सम्बन्ध होना असम्भव और आश्चर्य की बात नहीं है।

[१८८९] ऋ. यः सप्तरश्मिर् वृषभस् तुविष्मान् अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्, यो रौहिणम् अस्फुरद् वज्रबाहु द्याम् आरोहन्तं स जनास इन्द्रः २।१२।१२। **सप्तरश्मि** द्र. टी. १५७२,३। यही फिर इन्द्र के रथ का भी विशेषण है (२।१८।१, ६।४४।२४)। ऐब्रा. में यज्ञ देवरथ (२।३७) अर्थात मनुष्य के उत्सर्ग की भावना के आधार पर उसके भीतर देवता आविष्ट होते हैं। फिर हम ऋक्संहिता में यज्ञ के सात धाम अथवा धाप या सोपान पाते हैं ९।१०२।२, १३२०[५])। इस देवयान का ज्योतिर्मय मार्ग भी कहा जा सकता है। इसीलिए देवरथ सप्तरश्मि। उस रथ के रथी देवता भी सप्तरश्मि। ये सप्तरश्मि देवता जब रेतोधा वृषभरूप में आधार में उच्छलित-उच्छ्वसित हो उठते हैं तब उनकी शक्ति सप्तसिन्धु या सात नदियों की धारा में आनखशीर्ष (आपादमस्तक) प्रवाहित होती रहती है। किन्तु यह देवता के प्रसाद या अनुग्रह से ही होता है, आसुरिक प्रमत्तता से नहीं होता (स्मरणीय. पुराण का 'दक्षयज्ञ'; तु. गी. १६।१४-१५)। ऋचा के उत्तरार्द्ध में वह बात ही बतलाई जा रही है। वहाँ **रौहिण** असुर का उल्लेख है। वह द्युलोक में चढ़ना चाहता है किन्तु इन्द्र उसको झटक कर फेंक देते हैं। इसका उल्लेख ऋक् संहिता में अन्यत्र किया गया है कि वह अभिनत् अर्थात् स्फीत हो →

'द्युलोक और पृथिवी भी इनके निकट नत हो जाते हैं, इनके प्राणोच्छ्वास से पर्वत भी डरते हैं, जो सोम पायी, सबल एवं वज्रबाहु हैं, जो वज्रहस्त हैं, हे जनगण वे ही इन्द्र हैं [१८८०]।

'जो सोमसवनकारी और पाचक या पाककारी की रक्षा करते रहते हैं; (रक्षा करते रहते हैं) शस्त्र पाठ करने वाले और कर्म करने वाले की अपनी शक्ति द्वारा; ब्रह्मघोष जिनको समृद्ध करता है (समृद्ध करता है) सोम और यह ऋद्ध कर्म, हे, जनगण, वे ही इन्द्र हैं [१८८१]

उठा था किन्तु इन्द्र उसको चिन्चका देते हैं (१।१०३।२, तु॰ शौ २०।१२८।१३)। वहाँ वृत्र के अन्यान्य अनुचरों का उल्लेख भी है। देवता दर्पहारी होते हैं — इस सूक्त के आरम्भ में भी इसका प्रमाण मिलता है (४-५)। 'रौहिण' का एक अच्छा अर्थ ब्राह्मण में है। शतपथब्राह्मण में प्रवर्ग्य याग में रौहिण पुरोडाश की चर्चा नहीं है। अधिदैवत दृष्टि में प्रवर्ग्य सूर्यस्वरूप, और दो रौहिण अग्नि-आदित्य अहोरात्र अथवा द्यावा-पृथिवी; और अध्यात्म दृष्टि में प्रवर्ग्य मस्तक, और रौहिण दो आँखें हैं (१४।२।१।१-५; मा॰ ३८।२१)। अग्निशिखा और आदित्यरश्मि का उदयन प्रत्यक्ष; यहाँ रौहिण नाम एवं द्युलोकारोहण के साथ उसके सम्बन्ध की सार्थकता स्पष्ट है। रौहिण स्पष्टतया < 'रौहिणी' है जिससे ऋक्संहिता के एक स्थल पर उषा का बोध होता है ('इयं या नीच्यर्किणी रूपा रोहिण्या कृता, चित्रेव प्रत्यदर्श्या-यत्यन्तर् दशसु बाहुषु' — ये जो नत हुई हैं [पृथिवी के ऊपर] शिखामयी [अथवा आग के सुर में] ... रक्तवर्णा कन्या कितनी रूपवती होकर प्रकट हुई ... चित्राणी रूप में लगता है उन्होंने दशभुजाओं के मध्य में [अर्थात् आकाश की दशदिशाओं में; वैरोचनी दशभुजा का आभास है इस मंत्र में] साक्षात् दर्शन दिया ८।१०१।१३)। लक्ष्य करने योग्य निघण्टु में रौहिण 'मेघ (१।१०) अर्थात् भोर के समय का लाल मेघ, जो वृत्र का प्रतीक है (द्र॰ निरुक्त २।१६)। इस मेघ में जिस प्रकार आवरण है उसी प्रकार प्रकाश की सूचना भी है। यह रजोगुण अदिव्य होने से ही रौहिण होता है।

[१८८०] ऋ॰ द्यावा चिद् अस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच् चिद् अस्य पर्वता भयन्ते, यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर् यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः २।१२।१३। ऋक् के प्रथमार्द्ध में देवता के आवेश के फलस्वरूप आन्तरिक विक्षोभ का वर्णन — रामकृष्णदेव की भाषा में 'झोपड़ी में हाथी के घुसने की तरह।' सारे पर्वत डरते हैं क्योंकि वे 'अच्युतच्युत' हैं — कहीं भी कोई भी आड़, अन्तराल नहीं रहने देते (द्र॰ २, ८)। उत्तरार्द्ध में देवता के शान्त-गम्भीर रूप का वर्णन है। **निचित** <√चि 'चयने', पुञ्जीभूत, घनीभूत। भावना के बिन्दु-बिन्दु सञ्चय में देवता ने गहरे में (नि) रूप धारण किया है। फिर <√चि 'दर्शने' बिजली की कौंध की तरह, यह भी होता है। सायण ने इस धातु के दोनों अर्थों को ग्रहण किया है।

[१८८१] ऋ॰ यः सुन्वन्तम् अवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानम् ऊती, यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः २।१२।१४। सोमयाग के विशिष्ट अङ्ग का संक्षिप्त तात्पर्य। यह याग ही अमृतत्व का साधन है। 'सवन' सोम का; 'पचन' पुरोडाश आदि का; 'शंसन' ऋङ्मंत्र का; 'शमन' श्रम और अभिनिवेश साध्य नाना कर्मानुष्ठान; 'ब्रह्म' ब्रह्मघोष और ब्रह्मवर्चः। उसके अतिरिक्त है सोम की आहुति। इन सब के द्वारा कर्म ऋद्ध या समृद्ध होता है; वही हम सब का 'राधः' है। **शशमान** <√शम 'परिश्रम करना, शान्त होना' + आन। अध्वर्यु का श्रम, और ब्रह्मा का प्रशम, इस शब्द में दोनों का संश्लेष या मिलाप है।

[१८८२] ऋ॰ यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि न किलासि सत्यः, वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथम् आ वदेम २।१२।१५। इन्द्र सत्य हैं, यह उसका प्रमाण है; उनके निमित्त अनुष्ठित सोमयाग कभी निष्फल नहीं होता, वह यजमान को ओज-तेज प्रदान करता है। नास्तिकता के विरुद्ध यह अन्तिम उत्तर है। उनकी महिमा बाहर तो निश्चय ही सत्य है किन्तु वह अन्तर में और भी सत्य है — जब उनका वज्रतेज हमारे भीतर संचारित होता है। वस्तुतः ईश्वर →

'तुम जो सवनकारी और पाककारी के लिए दुर्द्धर्ष-दुर्निवार्य होकर खजःशक्ति ले आते हो अर्गला तोड़कर, वह तुम ही तो सत्य हो। हे इन्द्र हम तुम्हारे हैं, चिरकाल प्रिय एवं वीरपुत्र रूप में विज्ञानस्वरूप की घोषणा कर सकें [१८५२]

इस सूक्त में वृत्रवध एवं सप्तसिन्धु (सात नदियों) के प्रवाहित करने के अतिरिक्त इन्द्र की महिमा का और भी अन्तरंग परिचय प्राप्त हुआ— वे जिस प्रकार दयावान हैं उसी प्रकार भयावह हैं। वे सब के मालिक हैं। सभी उनका आह्वान करते हैं। चित्ताकाश में वे उषा की ज्योति, सूर्य की दीप्ति प्रस्फुटित करते हैं वे संवर्ग एवं निकाय अर्थात् शक्ति के विच्छुरण के एक संहत केन्द्र हैं। अविद्वान या अज्ञानी की नास्तिकता संभवतः इस बोध को ही दृढ़ करती है कि वे ही सत्य हैं।

इन्द्र के साथ ही सोम का सम्बन्ध सब से अधिक घनिष्ठ है। ऋक्-संहिता में देवताओं में वे ही 'सोमपातम' [१८५३] हैं। सोम उनके भीतर 'मद' अथवा मत्तता जगाता है जिसका परिचय वीरत्व के उल्लास में है— जिस प्रकार वह अखिद्रय के भीतर 'मधु' अथवा अमृत आनन्द है। गृत्समद के एक सूक्त में इस सोम्य मद का जो वर्णन किया गया है उसमें इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों का और भी कुछ परिचय प्राप्त होता है। ऋषि कहते हैं:—

'अब मैं इस महान और सत्य (देवता के) महत् और सत्य जितने कार्य हैं उसकी घोषणा करूँगा। उन्होंने तीन कद्रुक में अभिषुत सोम का पान किया। (और) इसकी ही मत्तता में इन्द्र ने अहि का वध किया [१८५४]।

के अस्तित्व का असन्दिग्ध प्रमाण आत्मानुभव में प्राप्त होता है। **दुध्र** < दुर्धर 'जिसे पकड़कर रखना कठिन' (तु॰ इन्द्र का विशेषण ६।२२।४, १।५६।३; मरुद्गण 'दुध्रकृतः' जिनके कार्य को रोका नहीं जा सकता १।६४।११; सोम कूटने-पीसने वाले पत्थर 'सोममादो विदथे दुध्रवाचः (मुखर)' ७।२१।२; मरुद्गण का 'अमो (बल) दुध्रो गौर इव भीमयुः (भयंकर)' ५।५६।३। **दर्दर्षि** < √दृ 'विदीर्ण करना एवं उसी से मुक्त करना जो अवरुद्ध है; तु॰ (इन्द्रं) वाजसनिं पुर्भिदम् ३।५१।२। ऋक् के उत्तरार्द्ध में तु॰ ८।४८।१४; अन्तिम चरण = १।११७।२५ (किन्तु ऋषि कक्षीवान् हैं; ब्रह्मघोष की समर्थता के लिए एक ही भाषा में दोनों की प्रार्थना लक्षणीय)।

[१८५३] तु॰ ऋ॰ १।८।७, २१।१, ६।४२।२, ८।६।४०, १२।१,२०।

[१८५४] ऋ॰ प्र घा न्व.स्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्, त्रिकद्रुकेष्व.पिबत् सुतास्या.स्य मदे अहिम् इन्द्रो जघान २।१५।१। अहि की हत्या इन्द्र के महान एवं सत्य कार्यों में मुख्य है। **अहि** वृत्र या अविद्या शक्ति का कुण्डलित रूप है, ऋक् संहिता में ही अध्यात्म दृष्टि से जिसको 'जुहुराणम् एनः' (११८९।१) अथवा कुण्डली मारे हुआ पाप कहा गया है। इस का एक और नाम 'धूर्ति' है जिससे मुक्ति के लिए 'अध्वर की' साधना। सोमयाग में हुतशेष सोमपान उसका प्रधान कृत्य है जिसके फलस्वरूप मनुष्य ज्योति में पहुँच कर विश्वदेवता का सायुज्य प्राप्त करके अमर हो सकता है ८।४८।३; द्र॰ टी॰ १२५५, १२४४[५]। यह अहिहत्या और हठयोग में शक्ति का कुण्डलीमोचन मूलतः एक ही घटना है। आधियाज्ञिक दृष्टि में वही है **त्रिकद्रुके** (द्र॰ टी॰ १२६०[२]) इन्द्र का सोमपान; अधियोग दृष्टि में कुण्डलिनी शक्ति की तीन ग्रन्थियों का भेदन, ये तीन कद्रु अथवा ग्रन्थियाँ नाभि में, हृदय में एवं भ्रूमध्य में हैं। त्रिणाचिकेत के तीन अग्निचयन भी एक ही प्रकार से (तु॰ क॰ १।१।१७;१८)। तैत्तिरीय उपनिषद की भाषा में कहा जाए तो सर्वत्र एक साधन; प्राकृत अन्नमय और मनोमय शरीर का आवरण दूर करके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं उसके बाद विज्ञानमय और आनन्दमय आत्मा में उपसंक्रान्त होकर आदित्य-पुरुष का सायुज्य प्राप्त करना (३।१०।४-५)। तब आत्मा के आनन्द- →

'वंशदण्डहीन (निरालम्ब) बृहत् द्युलोक को उन्होंने स्तंभित किया, आपूरित किया द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष को; वे थामे रहे पृथिवी को, उसे प्रसारित भी किया। ... सोम की मत्तता में वह सब इन्द्र ने किया है [१८५५]।

'(यज्ञ-) सदन की भाँति पूरब की ओर उन्होंने प्रवाहित किया (नदियों को) नाप-नाप कर। वज्र द्वारा खोल दिया नदियों के निकलने के द्वारों को। अनायास प्रवाहित कर दिया (उनको) दीर्घ गन्तव्य पथ पर। ... सोम की मत्तता में वह सब इन्द्र ने किया है [१८५६]।

स्वरूप की अभिव्यक्ति उद्घोषित होती है जिस सामगान में उसका उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद में है। अभिषुत सोम के पान में अन्तर्यामी इन्द्र की मत्तता का यह परिशेष है।

[१८५५] ऋ. अवंशे द्याम् अस्तभायद् बृहन्तम् आ रोदसी अपृणद् अन्तरिक्षम्, स धारयत् पृथिवीं पप्रथच् च सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार २।१५।२। इन्द्र तीन लोक के ईशान हैं, स्वामी हैं। इन तीनों लोक में उनकी शक्ति का उल्लास विचित्र रूपों में व्यक्त हुआ है। इस मंत्र में लोक-विन्यास लक्षणीय। आरम्भ में ही हम पाते हैं **अवंश** अथवा लोकोत्तर या लोकातीत अव्यक्त (द्र. टी. १६४४[6]); तु. 'उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या सम् ऐरत्' — सुविस्तृत गम्भीर एवं सुनिहित दो भूमियों को अर्थात् द्यावापृथिवी को 'अवंश' में उस धीर अथवा परमपुरुष ने [तु. १।१६४।२१] अपनी शक्ति द्वारा सञ्चल किया (आधार-रहित द्यावा-पृथिवी को सम्यक रूप में परिचालित किया) ४।५६।३ द्र. टी. १२५६[2]। अवंश 'पर्वहीन', पोररहित; जहाँ लोक-संस्थान नहीं। उसी 'परम-व्योम' में इन्द्र ने अपने सोम्य आनन्द को 'बृहत्' द्युलोक के रूप में अगम्य अपरिमेय निस्तब्धता में व्याप्त किया, छितरा दिया। 'बृहत्' जिस प्रकार द्युलोक की विपुलता, उसी प्रकार उसकी परमता दोनों का बोधक है। उपनिषद में यही पूर्ण एवं अप्रवर्ती आकाश (तु. छा. ३।१२।९, बृ. २।१।५, कौ. ४।८; और भी तु. ऋ. अक्षर परम व्योम १।१६४।३९,४२)। यही भुवन का परम अन्त है। उसका निम्नतम अन्त है 'पृथिवी' जो इन्द्रप्रथित (यही पृथिवी की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है) एवं उनके द्वारा ही सर्वाधार रूप में विधृत है। भुवन के दोनों अन्त में दो स्थाणुत्व का विन्यास — एक चैतन्य का, दूसरा जड़त्व का है। जड़ के भीतर भी देवता का सोम्य आनन्द निस्तब्ध, निश्चल रूप में है। दोनों में उनकी शक्ति छलक रही है — 'रोदसी' अथवा द्युलोक-भूलोक और अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करती है उनकी ज्योतिर्मयि शक्ति (तु. सूर्योदय का प्रसिद्ध वर्णन : 'आप्रा द्यावा-पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस् तस्थुषश् च [स्थावर-जंगम का] १।११५।१) मंत्र का तृतीय पाद = १।१०२।२ प्रथम पाद (ऋषि कुत्स आङ्गिरस); चतुर्थ पाद टेक है।

[१८५६] ऋ. सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैर् वज्रेण खान्य् अतृणन् नदीनाम्, वृथासृजत् पथिभिर् दीर्घयाथैः सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार २।१५।३। तीनों लोकों से ऋषि की दृष्टि लौट कर उस पृथिवी पर केन्द्रित हो गई, जहाँ हम रहते हैं। वहाँ पहाड़ों को तोड़-फोड़ कर नदियाँ बह रही हैं — लगता है देवता के सौम्य आनन्द की धारा, हमारे प्राण की धारा है। वे पृथिवी के एक छोर से दूसरे एक छोर तक विस्तारित तीव्र गति से पूरब की ओर या ज्योति की ओर भागी जा रही हैं। देवशक्ति की प्रेषणा से अनायास दीर्घ पथ पार करती हुई प्रवहमान हैं। इस अधिभूत अथवा बहिर्जगत से सम्बन्धित वर्णन की एक आध्यात्मिक व्यञ्जना है। आरम्भ में ही नदियों की धाराओं से आच्छादित पृथिवी की तुलना परोक्ष रूप में **सद्म** अथवा यज्ञशाला के साथ की गई है (इस संज्ञा का प्रयोग द्र. १।७३।१, ७।७३।६)। पृथिवी वस्तुतः देवयजनभूमि है — यज्ञवेदी के रूप में प्रयोग ही उसकी सार्थकता है (१।१६४।३५, टी. १२६८, १५८५[2])। जिस यज्ञशाला में सोमयाग किया जाता है, उसका नाम 'प्राग्वंश' या 'प्राचीनवंश' है क्योंकि उसकी छत के सारे बाँसों के अगले हिस्सों को पूरब की ओर रखा जाता — मानो उनका मुँह ज्योति की दिशा में है (तु. 'ज्योतिरग्र')। यह भावना आई है मंत्र में **प्राचः** शब्द से, जो अनुमेय 'सिन्धु' का विशेषण है। ये सिन्धु (नदियाँ) हमारा परिचित 'सप्तसिन्धु' हैं (तृतीय पाद में 'असृजत' क्रिया का प्रयोग लक्षणीय)। नदियाँ पश्चिम से पूरब →

'वे सब दभीति को गुप्त रूप से ले जा रहे थे। उन्होंने (इन्द्र ने) सब को घेर कर उनके सारे अस्त्रों को आग जलाकर जला दिया। उसके पश्चात उन्होंने दभीति को बड़ी संख्या में गो, अश्व और रथ ले आकर दिया। सोम की मत्तता में वह सब इन्द्र ने किया है [१८५७]।

की ओर अथवा ज्योति के समुद्र की ओर जा रही हैं — जिस प्रकार आधी रात से अश्विद्वय ज्योति की सूचना लेकर तीव्रगति से चलते हैं। इसी प्रकार इन्द्र इन नदियों को नाप-नाप कर प्रवाहित करते हैं 'मानैर् विममे' (<√मा 'मानदण्ड (मापने का डंडा या छड़) बिछाकर मापना; बिछाना; व्याप्त करना')। प्राग्वंश तैयार करने में बहुत नापजोख करनी पड़ती; 'मानैः' उसका संकेत वहन करता है। और भी लक्षणीय - प्राग्वंश का एक और नाम 'विमित' है। अतएव ऋक् के प्रथम पाद में यज्ञशाला की व्यञ्जना सुस्पष्ट है। फिर नदी यदि नाड़ी का प्रतीक होती है तो फिर हमारी यह देह भी यज्ञशाला है - यही भावना सहज रूप में उभर कर आती है। किन्तु नाड़ियों के ज्योतिः अभियान के मार्ग में वृत्र का अवरोध है जिसे वज्र के प्रहार से इन्द्र तोड़ देते हैं ('खानि अतृणत्' तु. क. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः २।११७)। तब वे मुक्तधारा में ('वृथा') प्रवाहित होती हैं द्युलोक के ज्योतिर्मय समुद्र की ओर।... इस ऋक् में आधिभौतिक, आधियाज्ञिक एवं आध्यात्मिक इन तीन दृष्टियों का समन्वय कुशलता के साथ किया गया है। प्राग्वंश का उत्तरण 'अवंश' — यह ध्वनि भी लक्षणीय है।

[१८५७] ऋ. स प्रवोल्हॄन् परिगत्या दभीतेर् विश्वम् अधाग् आयुधम् इन्धे अग्नौ, सं गोभिर् अश्वैर् असृजद् रथेभिः सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार २।१५।४। इस मंत्र में एक प्राचीन इतिहास का उल्लेख है। **दभीति** इन्द्र के कृपापात्र एक राजर्षि (सायण)। इन्द्र ने असुरों के चंगुल से उनको छुड़ाकर उनकी रक्षा की है, इसकी चर्चा ऋक्संहिता के अनेक स्थानों पर है। इस मंत्र में उन सब का नाम नहीं है किन्तु वे संख्या में अधिक रहे — उसका संकेत इस विशेषण 'प्रवोळ्हॄन्' में है, जिसका अर्थ है जो बहा कर अथवा उड़ा कर ले जाएं। अन्यत्र उनकी संख्या एक हज़ार (२।१३।९) अथवा तीस हज़ार दी गई है (४।३०।२१)। कहीं वे दास हैं, कहीं दस्यु हैं। प्रायः उनके दो दलपतियों (सरदारों) के नाम का उल्लेख किया गया है — **धुनि** एवं **चुमुरि**। यहाँ उनके सारे अस्त्रों को जला देने का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु अन्यत्र उनको नींद में सुलाकर निष्कासित करने की बात कही गई है (२।१५।९, ६।२६।६, २०।१३, ७।१९।४; इसे ही घुमाफिरा कर कहा जा रहा है कि 'इन्द्र ने उनको धोखा दिया' १०।११३।९, 'रस्सी से बिना बाँधे भी अटका रखा' २।१३।९)। असुरस्तम्भन के ये दो उपाय पौराणिक आग्नेय सम्मोहन अस्त्र की बात स्मरण करा देते हैं। एक स्थान पर अश्विद्वय को दभीति का रक्षक बतलाया गया है किन्तु लक्षणीय - वहाँ उनका विशेषण 'शतक्रतु' (१।११२।२३) है। एक और स्थान पर 'दभीति' ऋषि का नाम नहीं बल्कि शत्रु का विशेषण है जिसका व्युत्पत्तिगत अर्थ हो सकता है 'ठग, जुआचोर' — धोखेबाज़ (<√दम्भ 'ठगना') ऋषि दभीति के नाम के साथ क्या ऋषि कवष की तरह जीवन का कोई अतीत इतिहास जुड़ा है?...

किन्तु धुनि और चुमुरि कौन हैं? दभीति के प्रसंग में विशेष रूप से प्रायः उनके नाम का एक साथ उल्लेख है। वे वृत्र के अनुचर हैं, अतएव अविद्या शक्ति के प्रकारभेद हैं, इसमें सन्देह नहीं; एक स्थान पर शम्बर का पुर तोड़ने के प्रसंग में अन्यान्य असुरों के साथ उनके भी नाम का उल्लेख किया गया है (६।१८।८)। 'धुनि' की व्युत्पत्ति <√ध्वन, 'शब्द करना' से (तु. ११०९१, टी. १४६२)। उससे झंझावात या तूफ़ानी हवा, अग्नि की शिखा और नदी का बोध हो सकता है (निघ. १।१३)। आलोच्यमान मंत्र के अगले मंत्र में ही हम पाते हैं 'स ईं महीं धुनिम् एतोर् अरम्णात्'। पहाड़ी नदी हहराती, गरजती बहती जा रही है — वही 'धुनि' है। कल्पना की जा सकती है कि वह जब घाटी से उतर कर दोनों किनारों को लहरों का चुम्बन देकर बहती रहती है तब वह 'चुमुरि' है। चुम्ब धातु संहिता में अथवा ब्राह्मण में नहीं है। किन्तु ऋक्संहिता एवं अन्यान्य संहिताओं में एक विशिष्ट संज्ञा 'निचुम्पुण' है। ऋक्संहिता में हम पाते हैं 'पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये। अपां जग्मिर्...→

'उन्होंने इस विशाल नदी के प्रवाह को रोक दिया। उन्होंने तैरना न जानने वालों को अच्छी तरह पार उतारा। वे ऊपर जाकर रयि की ओर आगे बढ़ चले। वह सब सोम की मत्तता में इन्द्र ने किया है [१८७८]

निचुम्पुणः' — (हे इन्द्र), पत्नी सहित ये सारे सोम रस तुम्हें देख कर चल पड़े (तुम्हारी ओर तुम्हें आप्यायित करने) तुम्हारे आस्वादन के लिए ; तुम उन सब अप (जलधाराओं के निकट जाते हो निचुम्पुण होकर ८।९३।२२। यहाँ हमें चुम्प् धातु प्राप्त होती है जो स्पष्ट रूप से चुम्ब की सगोत्र है। यास्क चुम्प को तोड़ते हैं चम् एवं प्री इन दो धातुओं में (निरुक्त ५।१८)। माध्यन्दिन संहिता (वाजसनेयी) में महीधर ने बतलाया यह धातु 'चुप मन्दायां गतौ', उव्वट बतलाते हैं निचुम्पणः नीचैः क्वणन ३।४८; ऋक्संहिता में गेल्डनर के अनुसार 'SPRUDEINDE' SPUTTERING BUBLLING)। माध्यन्दिन में यह संज्ञा अवभृथ का विशेषण है। अवभृथ नदी का वह प्रवाह है, जिसमें यज्ञपात्रों को यज्ञ के अन्त में बहा दिया जाता है। महीधर बतलाते हैं कि अवभृथ 'नितरां मन्दं गच्छति, यद् वा नीचैर् अस्मिन् क्वणन्ति नीच शब्देन'। ध्यातव्य है — ऋक्संहिता के इस मंत्र के अगले मंत्र में ही 'अवभृथ' शब्द है। इन सारे प्रसंगों से निचुम्पुण का जो चित्र उभर कर सामने आता है, वह किनारों को चुम्बन देता हुआ कुलकुल बहने वाले एक नदी के प्रवाह का चित्र है। इन्द्र 'निचुम्पुण' हैं समस्त अप के, जलधाराओं के। ये जलधाराएँ 'वसतीवरा' हैं, सोम के साथ जिन को मिलाया जाता है। वे विश्वदेवता का प्रतीक हैं एवं उनका आवेश सोम को विशिष्ट शक्ति प्रदान करता है। इसलिए वे सोम की पत्नी हैं। इन्द्र जब उनके लिए व्यग्र सोम को पीते हैं (यहाँ यास्क द्वारा कल्पित चम् धातु की ध्वनि है), तब अपनी शक्तिरूपिणी पत्नियों को गाढ़ चुम्बन से आनन्दित करते हैं। लगता है 'निचुम्पुण' की चुम्प् धातु से ही 'चुमुरि' संज्ञा की व्युत्पत्ति है। तो फिर 'धुनि' अशुद्ध प्राणप्रवाह की आदिम उद्दामता है,

'चुमुरि' उसका कुछ सुस्थिर होता हुआ रूप है और सब से अन्त में धुनि जब समुद्र में मिलती है तब वह शान्त हो जाती है (ऋ. २।१५।५) असुर 'धुनि' स्वभावतः पुंलिङ्ग है और उसकी शक्ति के रूप में नदी 'धुनी' स्त्रीलिङ्ग है। अधिष्ठान या मूलाधार के बोध के लिए पुंलिङ्ग का और शक्ति के बोध के लिए स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग वेद में अनेक स्थानों पर है — केवल देव के प्रसंग में नहीं बल्कि अदेव के प्रसंग में भी (तु. इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानम् उत स्त्रियम् ७।१०४।२४)। असुर अदेव होने पर भी प्राण की ही विभूति हैं जिस प्रकार देवता प्रज्ञा की विभूति हैं। ... धुनि और चुमुरि को इन्द्र नींद में सुला देते हैं। इसका अर्थ अब स्पष्ट है। प्राण की समस्त उत्तालता इन्द्र के अनुग्रह से प्राचेतस समुद्र में गहरे जाकर शान्त हो जाती है। ऐसा करते हुए देवता दभीति अथवा आत्मप्रवञ्चक साधक को मुक्त करते हैं। उसके लिए वे आधार में अभीप्सा की अग्नि प्रज्वलित कर देते हैं — यही साधना का आरम्भ है। उसमें प्राण (अश्व) प्रज्ञा (गो) और जीवन की स्वच्छन्द गति का (रथ) प्रवाह बहा देते हैं। यही उसका अन्त है। परवर्ती ऋक् में इसी प्रवाहभावना की अनुवृत्ति है।

[१८७८] ऋ. स ईं महीं धुनिम् एतोर् अरम्णात् सो अस्नातॄन् अपारयत् स्वस्ति, त उत्स्नाय रयिम् अभि प्र तस्थुः सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार २।१५।५। **धुनि** यहाँ स्त्रीलिङ्ग है, जिससे कलकल ध्वनि के साथ बहती नदी का बोध होता है (निघ. १।१३)। सायण इसे 'परुष्णी नदी' बतलाते हैं। यास्क की दृष्टि में, 'इरावतीं (वर्तमान में रावी) परुष्णीम् इत्याहुः पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी' (नि. ९।२६।१)। इस नदी की आध्यात्मिक व्यञ्जना द्र. टी. १८५०[४]। एक ही नदी अनुकूल होने से दिव्या है और प्रतिकूल होने पर आसुरी है। इसलिए कि दोनों ही प्राजापत्य (तु. छा. १।२।१, बृ. १।३।१, ५।२।१) हैं। यहाँ धुनि पूर्ववर्ती ऋक् के असुर 'धुनि' की शक्तिरूपिणी है। फिर धुनि यहाँ ही इन्द्र एवं इन्द्रशक्ति की व्यञ्जनावह है — यह भी हो सकता है (तु. ऋ. 'त्वं धुनिर् इन्द्र धुनिमतीर् ऋणोर् अपः' १।१७४।९)। परुष्णी के विपुल तीव्र प्रवाह को इन्द्र ने 'अरम्णात' अर्थात स्तब्ध कर दिया — उसे समुद्रसंगता करके। उसके प्रवाह में (तु. 'प्रवोळ्हॄन्' २।१५।४) जो सब तैरना नहीं जानते, वे →

'उन्होंने उत्तरवाहिनी करके नदियों को प्रवाहित कर दिया अपनी महिमा द्वारा। वज्र द्वारा उषा के शकट को चूर-चूर कर दिया... मन्दगामिनियों को द्रुत-गामिनियों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया। वह सब सोम की मत्तता में इन्द्र ने किया है [१८५५]।

'उनको पता चल गया कि कहाँ छिपी हैं कन्याएँ। आविर्भूत होकर खड़े हो गए परावृक। पंगु खड़े रहे सामने। अन्धे को दृष्टि मिली। वह सब सोम की मत्तता में इन्द्र ने किया है [१५००]।

बहे जा रहे थे ('अस्नातृन्' अन्यत्र वे 'यदु-तुर्वश' एवं 'तुर्वीति-वय्या' १।५४।६, ६१।११, १७४।९, २।१३।१२, ४।१९।६, २०।१७, ५।३१।८), उनको उन्होंने पार कर दिया ('अपारयत्'; इसलिए इन्द्र 'सुपार' हैं, तु. 'भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिर् उत वामनीतिः, उरुं नो लोकम् अनु नेषि विद्वान्त् स्वर्वज् ज्योतिर् अभयं स्वस्ति ६।४७।७-८, लक्षणीय-इस सूक्त में ही इन्द्र परम देवता १८)। किन्तु जो तैरना जानते हैं वे नदी की धारा के विपरीत ऊपर **रयि** की ओर बहे जा रहे हैं। रयि साधना का लक्ष्य है, समुद्र में पहुँच कर असीम के प्रवाह में तैरते जाना। यज्ञ के अन्त में अवभृथ के भीतर भी यही व्यञ्जना है। 'रयि' में दो शब्द मिल गए हैं — एक 'रयि', और एक विशेष प्रणिधान योग्य 'रा'। इन में किसी का भी पूर्ण रूप नहीं पाया जाता। ऋक्संहिता में ये रूप पाए जाते हैं:— रयिः, रायः; रयिम्, राम् (१०।१११।७), रायः; रय्या (१०।१९।७), रयिणा (१०।१२२।३), राया, रयिभिः (१।६४।१०), राये; रायः, रयीणाम्, रायाम् (७।१०८।१३)। यहाँ स्पष्ट है कि स्वरादि विभक्ति के बारे में 'रा' प्रकृति हुई: रयि द्रुत उच्चारण में 'रै' हो जा सकती है। उसके साथ स्वरादि विभक्ति लगने से 'राय'-प्रकृति प्राप्त होती है। यदि दानार्थक √रा से आकारान्त 'रा'-शब्द हो जाए तो उसका असन्दिग्ध उदाहरण एकमात्र 'राम्'। इसके अतिरिक्त राया, राये, रायः, रायाम् इन चार रूपों में ही 'रयि' एवं 'रा' का मिश्रण हुआ है। एक और शब्द अनेक रूपों में पाया जाता है — 'रे' < 'रै' < रयि अतएव मूल शब्द 'रयि' है और 'रा' उसकी छाया है। निघण्टु में 'रयि' जल (१।१२) एवं 'धन' (२।१०)। अन्त का यह अर्थ 'रा'-प्रकृति के साथ मिश्रण का परिणाम है (तु. नि. रयिर् इति धननाम, रातेर् दानकर्मणः ४।१७)। किन्तु मूल शब्द 'रयि' है, जिसका अर्थ है स्रोत, वेग (<√रि॥री 'बहना, बहते जाना' तु. Lat. rivus 'STREAM', Gk. orinein 'To MOVE', O.Slav. rinati 'To Flow', OHG., OS., Goth. rinnan 'To RUN' < Gmc. Base rinn-) > 'रेतः', संस्कृत 'रयः नदी का वेग'; तु. ऋक्संहिता में 'आपो रेवतीः' समुद्र 'धरुणो रयीणाम्' पूषा 'रायो धारा' (१।२०।१२, ५।१, ६।५५।२; और भी तु. १०।१८०।१); शब्रा. में 'मुख्या अप्' रूप में वैश्वानर 'रयि' १०।६।१।११; छा. में उनका मूत्राशय (वस्ति) 'रयि' (५।१८।२)। रयिप्रशस्ति द्र. ऋ. १०।४७ सूक्त टीम्. १५२८-३५।

[१८५५] ऋ. सो दर्श्यं सिन्धुम् अरिणान् महित्वा वज्रेणान उषसः सं पिपेष, अजवसो, जविनीभिर् विवृश्चन्त् सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार २।१५।६। प्रथम पाद में पूर्व-भावना की अनुवृत्ति है। ल. सिन्धु उदक अथवा उत्तरवाही अर्थात् ऊर्ध्वस्रोता। **उसके बाद** उषा के साथ इन्द्र के विरोध का इतिहास। जब कि देवताओं में किसी के प्रति कोई विरोध नहीं, इसलिए कि वे 'सजोषसः' हैं। विरोधाभास राहस्यिक अर्थ में। उषा के बाद सूर्योदय। उषा प्रातिभ संवित (INTUITIONAL FLASHES) का प्रतीक होने पर भी जब तक उसकी अरुणिमा है तब तक प्रकाश और अन्धकार का मिश्रण है। उपासक का तीव्र संवेग चाहिए, जिससे प्रकाश और अन्धकार का यह खेल समाप्त हो जाए; प्रकाश के देवता **स्वमहिमा** से (महित्वा) प्रकट हों। साधना का यह त्वरण ही देवता के द्वारा उषा का **अनः** पेषण या शकटभञ्जन है। उस समय 'अजविनी' उषाएँ 'जविनी' होती हैं (तु. विस्तारित वर्णन ४।३०।८-११, यह घटना घटित हुई थी 'विपाश' के किनारे, जिसका आधुनिक नाम व्यास ('वियास') है, नाम में पाशमोचन की ध्वनि लक्ष्य करने योग्य है १०।७३।६, १३८।५)। प्रकाश की प्रथम सूचना होने के कारण उषा 'अहल्या' या कुमारी। उनके साथ संगत होकर इन्द्र कौमारहर के रूप में आत्मसात् करने के कारण 'अहल्याजार' (शा. ३।३।४।१८)। अजविनी उषा 'अनः' या बैलगाड़ी →

'विदीर्ण कर दिया वल को अङ्गिराओं द्वारा स्तुत होकर। पर्वत का सुदृढ़ (आवरण) जितना सब हटा दिया हर ओर से। अलग-अलग कर दिया उनके सारे प्राकारों-प्राचीरों को। वह सब सोम की मत्तता में इन्द्र ने किया है [१५०१]

'चुमुरि और धुनि को सुला कर अस्त-व्यस्त कर दिया तुमने। दस्यु की हत्या की है, दभीति की रक्षा करते रहे। कस कर पकड़े रहने से पाया है हिरण्य। वह सब सोम की मत्तता में इन्द्र ने किया है [१५०२]।

में धीमी चाल से चलती है; रथचारिणी उषा अवश्य ही 'जविनी' (मंत्रों में सर्वत्र 'अनः' लक्षणीय)।

[१५००] ऋ. स विद्वाँ अपगोहं कनीनाम् आविर् भवन्न् उद् अतिष्ठत् परावृक्, प्रति श्रोणः
स्थाद् व्यनग् अचष्ट सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार २।१५।७। सायण के मतानुसार
परावृज् (क) एक ऋषि हैं। उनका उद्धृत इतिहास :- 'पुरा किल कन्यकाश् चक्षु-
हीनं पादहीनं परावृजम् जिघृक्षुम् ऋषिं दृष्ट्वा भिदुद्रुवुः, ततः स ऋषिर् इन्द्रं स्तुत्वा
चक्षुः पादं च लेभे।' अन्यत्र उनको 'परावृक्त' बतलाया गया है (४।३०।१६)। यहाँ
ही उनको 'अग्रुवः पुत्रः' अर्थात् कुमारी कन्या का पुत्र बतलाया जा रहा है। अन्यत्र
वे 'नीचा सन्' (२।१२।१२, वहाँ उनको अश्विद्वय द्वारा उपकृत कहा गया है) जिसका अर्थ
हो सकता है अधोलोक वासी, पातालवासी। ४।२०।१५ में परावृक् का उल्लेख नहीं है, किन्तु
अन्ध एवं खञ्ज (लँगड़ा) अलग-अलग दो जन हैं। यह इतिहास स्पष्टतः एक पहेली है।
इसमें सांख्य की कुछ भावनाओं का संकेत प्राप्त होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद में हम
देखते हैं, 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस् तम् अग्रे ज्ञानैर् बिभर्ति' (५।२)। सांख्यमत के
अनुसार कपिल 'आदिविद्वान्' (ल. आलोच्यमान मंत्र में भी वे 'विद्वान्'); वेदान्त
मत के अनुसार 'हिरण्यगर्भ' हैं। उनकी प्रसवित्री (जननी) अव्यक्ता प्रकृति है।
यह प्रकृति पुरुष से असम्पृक्त है लेकिन जगत् जननी है। यह रहस्यमयी घटना,
पुरुष संसर्ग के बिना कुमारी कन्या का सन्तान को जन्म देने जैसी है। वेदोक्त
अदिति भी ऐसी ही कुमारी जननी हैं। रहस्यविदों के ऐतिह्य या पुरावृत्त में यह
घटना प्रसिद्ध है। परावृक् कपिल इस दृष्टि से 'अग्रुवः पुत्रः (क्वाँरी कन्या का पुत्र) हैं। वे
समाधि में निश्चल एवं निमीलित नेत्र अथवा अन्तर्दर्शी हैं अतएव 'श्रोण' (विकलाङ्ग)
एवं 'अनक्' (< अनक्ष < अनक्ष 'अक्षिहीन', अन्ध) हैं। उनके निःसंग एवं केवल
होने पर भी उनकी विभूति है। मंत्र में उल्लिखित 'कनी' अथवा कन्याएँ सब समाधि-
स्थिति में अनभिव्यक्त विभूतियाँ हैं। व्युत्थान में वे उनके जिघृक्षु हैं अर्थात् गहरी भाव-समाधि
से जाग उठने पर उनको ग्रहण करने की कामना करते हैं। आदि कन्यका (कन्या)
प्रकृति है और ये कन्यकाएँ उनकी ही विकृति एवं ऋषि के उपभोग की वस्तु हैं। उस समय
पुरुष आँख से देखते भी हैं, चलते भी हैं अर्थात् वे द्रष्टा, कर्ता एवं उपभोक्ता हैं। किन्तु
तात्त्विक दृष्टि से जगत का कार्य-कलाप पंगु अन्ध-न्याय द्वारा चल रहा है अर्थात् अन्ध
किन्तु विचरणशील प्रकृति के कन्धे पर चक्षुष्मान् किन्तु निश्चल पुरुष बैठे हुए हैं
इसलिए दुनिया चल रही है। इसी दृष्टि से अन्ध एवं श्रोण अलग-अलग,
(ऋ. ४।२०।१५)। पुराण में हम पाते हैं कि कपिल के दृष्टिनिक्षेप से सगरसन्तानें
भस्म हो गई थीं, वे पातालवासी थे। ल. सांख्य एवं योग संश्लिष्ट प्रस्थान एवं
पातालशायी शेषनाग (तु. संहिता का 'अहिर्बुध्न्यः') योग के प्रवर्तक हैं (द्र. टी.
१२६०२)। सन्धा भाषा में सगर का उल्लेख ऋक् संहिता में ही है (द्र. १०।८८।४, तत्र
गेल्डनर)। योग का मार्ग आप्यायन का नहीं, निरोध का मार्ग है। दर्शन की भाषा
में उसका लक्ष्य है 'अपवर्ग' अर्थात् सब कुछ से चेतना को मोड़ दे देना। और आप्यायन
का लक्ष्य है 'सुवर्ग' अर्थात् सब कुछ को लेकर ही चेतना को 'स्वस्ति' की ओर मोड़ दे
देना (तु. छां. शान्तिपाठ, उसका सुप्रसिद्ध महावाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ३।१४।१)।
'अपवर्ग' यह संज्ञा संहिता में नहीं है; किन्तु यहाँ हम 'परावृज्' में उसके अग्रज
को पाते हैं। उसका भी अर्थ है सब कुछ से मुँह मोड़ लेना। सांख्य और वेदान्त, मुनिधारा →

'अब — तुम्हारी जो दक्षिणा महिममयी है, वह वरेण्य (सम्पद) स्तोता के लिए दोहन करो हे इन्द्र, समर्थ बनो स्तोताओं के लिए। (तुम्हारा) आवेश हमें अधिक न जलाए। हम बृहत या विशाल स्वरूप की ही घोषणा करें विद्या की साधना द्वारा सुवीर्य (वीरपुत्र) होकर [१८०३]।'

और ऋषिधारा एक ही आर्यभावना के दो रूप हैं। अति प्राचीन काल से ही वे अनुस्यूत हैं। मुनि अथवा यति तो इन्द्रानुगृहीत हैं, यह पहले ही बतलाया गया है — हालांकि उनके प्रति विद्वेष की बातें भी पाई जाती हैं।

[१८०१] ऋ. भिनद् बलम् अङ्गिरोभिर् गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत, रिणग् रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार २।१५।८। अवरोध तोड़कर प्राण की मुक्तधारा को प्रवाहित कर देने का वर्णन है। 'कृत्रिमाणि' क्रियया निर्वृत्तानि (सायण); तु. गीता. यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः (३।९)।

[१८०२] ऋ. स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्र दभीतिम् आवः, रम्भी चिद् अत्र विविदे हिरण्यं सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार २।१५।९। 'अभ्युप्य' < अभि-√वप 'फैला देना, छितरा देना'। समुद्र में गिरने से पहले मुहाने पर नदी के शतमुखी होने का संकेत। उसके बाद समुद्र में मिलकर शान्त हो जाना। यह प्राण की अनुकूल स्थिति है। किन्तु जब तक उसकी प्रतिकूल स्थिति है, तब तक वह 'दस्यु' अथवा आक्रमणकारी है। ल. धुनि और चुमुरि दो जनों के बावजूद द्वितीय पाद में उनको एकवचन में 'दस्यु' कहा जा रहा है, वे एक ही तत्व का द्वैत रूप होने के कारण मधु-कैटभ अथवा शुम्भ-निशुम्भ की तरह हैं। रम्भि < √रभ ॥ लभ् 'कस कर पकड़ना, जकड़ना' > 'रम्भ' लाठी (तु. आ त्वा रम्भं न जिव्रयो (बूढ़े) ररम्भा शवसस्पते उश्मसि त्वा सधस्थ आ ८।४५।२०), दण्डधारी। यह दण्ड 'हिरण्ययोवेतसः' अथवा सुषुम्णकाण्ड है (द्र. ४।५८।५ टी. १२६३६)। नाड़ी की दृष्टि से धुनि और चुमुरि के मध्य में रम्भ, (तु. चर्यापद का 'धमन-चमन', हठयोग की पिङ्गला और इडा — एक क्षुब्ध, और एक स्निग्ध; दोनों के मध्य में अवधूती अथवा सुषुम्णा)।

[१८०३] ऋ. नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयद् इन्द्र दक्षिणा मघोनी, शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग् भगो नो बृहद् वदेम विदथे सुवीराः २।१५।१०। इस ऋचा की एक टेक पहले २।११ सूक्त के अन्त में प्राप्त होती है, उसके बाद १५ से २० सूक्त के अन्त तक। 'प्रति दुहीयत' प्रत्येक के लिए अथवा उपासक की अभिलाषा के प्रत्युत्तर या फिर आत्म-दान के प्रतिदान के रूप में दोहन करे। **दक्षिणा** मूलतः विशेषण, जैसे उषा का (तु. १।१६४।८, टी. ११८२२) < 'दक्ष' देवता का सृष्टि-सामर्थ्य (द्र. टी. १२६६२) यहाँ विशेष्य है जिससे देवता के 'प्रसाद' का बोध होता है। यही आदिम अर्थ है। ऋत्विक यजमान की ओर से उसके भीतर यह प्रसाद उतार लाने के लिए यज्ञ करते हैं। जब वह प्रसाद उतर आता है तब ऋत्विक के प्रति कृतज्ञता से प्लावित होकर यजमान उनको जो देता है, वह भी गौण अर्थ में 'दक्षिणा' है। तु. बृहदारण्यकोपनिषद में याज्ञवल्क्य की उक्ति: जनक द्वारा उनको सहस्र वृषभ दिए जाने के प्रस्ताव पर भी उन्होंने कहा — 'पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य (उपदेश पूरा न करके) हरेतेति (४।१।८)। अर्थात् 'मेरे पिता की मान्यता थी कि शिष्य को उपदेश के द्वारा कृतार्थ किए बिना उसका धन नहीं ग्रहण करना चाहिए।' दक्षिणा के लोभ में ही ऋत्विक यजमानी अथवा पुरोहिताई करते। इस प्रकार का एक आक्षेप इस संज्ञा के साथ जुड़ गया है — विशेष रूप से यूरोपीय व्याख्या में। किन्तु वह सही नहीं है। कार्यसिद्ध होने के फलस्वरूप कृतज्ञता दोनों पक्षों में थी। उस समय जनक जैसा यजमान जिस प्रकार कह सकता था कि 'सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्याय' (बृ. ४।४।२३) उसी प्रकार ऋत्विक भी मुक्त मन से उनके दान की स्तुति किया करते — (ऋक् संहिता की दानस्तुतियाँ द्रष्टव्य)। इस प्रसङ्ग में ऋक् संहिता का दक्षिणा सूक्त द्र.। उसके आरम्भ में ही हम पाते हैं 'आविर् अभून् महि माघोनम् (शक्तिमत्ता) एषां (देवताओं की, अथवा ऋत्विकों की या फिर यजमानों की)

वृत्रवध एवं सिन्धु या नदियों का अवरोध दूर करने के अतिरिक्त इन्द्रवीर्य के निदर्शन स्वरूप कुछ आख्यानों का उल्लेख इस सूक्त में प्राप्त होता है। अध्यात्म साधना की कुछ व्याख्या भी सन्धा भाषा में है। सोमपान की मत्तता ही इन्द्र की वीरता का उत्तेजक है — यहाँ इस बात पर अधिक ज़ोर दिया गया है। दशम मण्डल के ऐन्द्र लव के एक सूक्त में इस मत्तता का एक सशक्त वर्णन स्वयं इन्द्र द्वारा प्रोक्त प्राप्त होता है [१५०४]।

इन्द्र कहते हैं —

'यही — हाँ, यही (चाहता है) मेरा मन ; गो और अश्व मैं छीन कर ले आऊँगा। ... अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५०५]?

विश्वं जीवं तमसो निर् अमोचि (लगता है सारे जीवों के भीतर उषा की ज्योति फूट पड़ी) महि ज्योतिः पितृभिर् दत्तम (क्योंकि यह ज्योति-साधना वंशानुक्रम से चल रही है) आगाद् उरुः पन्था (देवयान की ज्योतिः सरणि) दक्षिणाया अदर्शि १०।१०७।१। देवता का प्रसाद, ऋत्विक की दक्षता एवं उसके फलस्वरूप यजमान के कृतसञ्चित का दाक्षिण्य — सब को मिलाकर यहाँ दक्षिणा की एक अभिनव छवि उभरी है। दक्षिणा तिमिरविदारक उषा की ज्योति है। वह 'मघोनी' अर्थात उसमें है **मघ** (निघ. 'धन' २।१०, निरुक्त. 'मघम् इति धन नामधेयं मंहतेर् दानकर्मणः १।७; < मंह ॥ मह 'विशाल होना, समर्थ होना', इसी से दान की व्यञ्जना ; तु. Goth. magan 'to be able', mahts OHG. maht 'might, power'; Probably cognate with GK. mekhos 'means, instrument' Lat. machina 'invention', Eng. mechanic) महिमा, विपुलता और शक्ति, उससे 'ज्योति' (तु. तैउ., मह इत्यादित्यः, मह इति चन्द्रमाः १।५।२), द्र. टी. १२१८। **शिक्ष** (तु. ऋ. यद् एषाम् अन्यो [अन्तेवासी] अन्यस्य वाचं शाक्तस्ये.व [समर्थ आचार्य की] वदति शिक्षमाणः ७।१०३।५) समर्थ होओ, शक्तिसंचार करो, आविष्ट होओ। 'अति धक्' < √दह 'जलाना'; यहाँ तुलनीय श्री रामकृष्ण देव की भाषा में 'मैं अधिक कट कर जल गया हूँ अर्थात लोकोत्तर अथवा लोकातीत के शक्तिपात से कार्य के बाहर हो गया हूँ।' अतिदहन का परिणाम 'शूनम्' अथवा वारुणी शून्यता जो ऋषि गृत्समद का ईप्सित नहीं (द्र. २।२७।१७, टी. १७७७)। **भग** (< √भञ्ज ॥ भज् 'तोड़कर घुसना'; टीमू. १३७३; यहाँ) देवता का आवेश एवं तज्जनित ऐश्वर्य। चतुर्थ पाद के लिए द्र. टीमू. १८७७। ऋक् के पूर्वार्द्ध के लिए तु. ऋ. २।१८।८, १०।१२३।७)।

[१५०४] ऋ. १०।११९। अनुक्रमणिका में 'ऐन्द्रो लव आत्मानं तुष्टाव।' सायण का मन्तव्य इस प्रकार है — इन्द्रो लवरूपम् आस्थाय सोमपानं कुर्वन् तदानीम् ऋषिभिः दृष्टः सन् स्वात्मानम् अनेन सूक्तेना.स्तावीत। अतो लवरूपापन्न इन्द्र ऋषिः। षड्गुरुशिष्य के मतानुसार यह सूक्त परिचिति इतिहासवेत्ताओं की है (द्र. गेल्डनर. सूक्त की भूमिका)। लव एक पक्षी का नाम है! माध्यन्दिन में है 'सोमाय लवान् आलभते' (२४।२४, अश्वमेध प्रकरण) हरप्रसाद संवर्धन लेखमाला में एकेन्द्रनाथ घोष का मन्तव्य : हिन्दी में लवा नाम से कई पक्षी परिचित — PERDICULA ASIATICA, PERDICULA ARGUNDA एवं TURNIX TANKI' प्रथम खण्ड पृष्ठ ४९)। कोश ग्रन्थ के अनुसार — 'एक पक्षी जो तीतर-सा परन्तु उससे छोटा होता है'; "बाज झपटि ज्यों लवा लुकाने" — रामायण। किन्तु सूक्त की वाचन भंगिमा से जान पड़ता है, लव यहाँ ऋषि का नाम है। शौनक संहिता में अथर्वा की ऐसी एक आत्मस्तुति है (६।६१) सायण के मतानुसार वह ऋषि की ब्रह्म सायुज्यजनित आत्ममहिमा का कथन है। यह भी ऋषि के सोमपान के फलस्वरूप इन्द्रसायुज्य जनित (तु. इस सूक्त के पश्चात ही १०।१२०।९ टीमू. १२७३)। इन्द्र ऋषि के इष्ट देवता हैं इसलिए वे 'ऐन्द्र' — जिस प्रकार शिवोपासक शैव। सूक्त की टेक है : 'कुवित् सोमस्या.पाम् इति'।

[१५०५] ऋ. इति वा इति मे मनो गाम् अश्वं सनुयाम् इति, कुवित् सोमस्या.पाम् इति — १०।११९।१। 'गो' प्रज्ञा का एवं 'अश्व' प्राण का प्रतीक है। दोनों के सहचार के लिए द्र. १०।६५।११, ८।२०।४, ४।५७।१, ८।१४।३, ७४।१०, ७८।२, ६।४६।२, ७।९।९...। **कुविद्** प्रश्नबोधक अर्थात 'क्या जानूँ!' निघ. 'बहु' अनेक ३।१।

'जिस प्रकार बाधाओं के बावजूद हवा (वृक्ष को) झकझोर देती है वह झूम उठता है, (उसी प्रकार) मेरे द्वारा पिये गए सोमरस ने धारा के प्रतिकूल मुझे उन्नमित कर दिया।... अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५०६]?

'मेरे द्वारा पिये गए सोमरसों ने मुझे उन्नमित कर दिया, जिस प्रकार शीघ्रगामी घोड़ों ने रथ को ऊपर उठा दिया।... अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५०७]?

'मेरे निकट (मनुष्यों के) मनन-स्तवन आए, रँभाती हुई गाएँ जैसे (आती हैं) प्यारे बछड़ों के निकट।... अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५०८]?

'बढ़ई जिस प्रकार सारथी के आसन का (संस्कार या मरम्मत करता है) मैं भी उसी प्रकार संस्कृत (शोधित) करता हूँ हृदय से उस मनन या मंत्र को।... अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५०९]?

'मुझे तो ऐसा नहीं लगता है कि मेरी आँख से ओझल हो सकते हैं पञ्चजन। अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५१०]?

'द्युलोक-भूलोक दोनों मिलकर मेरे एक पङ्ख या डैने के भी समान नहीं।... अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५११]?

'द्युलोक एवं इस महती पृथिवी से बढ़कर मैं महिमावान हूँ। ... अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५१२]?

'बतलाओ, इस पृथिवी को प्रतिष्ठापित करूँ - मैं यहाँ न कि वहाँ? ... अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१५१३]?

[१५०६] ऋ. प्र वाता इव दोधत उन् मा पीता अयंसत, कुवित् सोमस्या.पाम् इति १०।११९।२। सोम्य आनन्द की आँधी बह रही जैसे। **दोधत्** <√ दुध् 'क्रुद्ध होना' निघ. २।१२, द्र. टीका १५५०, अनुमेय 'वृक्ष' का विशेषण। अनुरूप वर्णन तु. ऋ. १०।२३।४। 'उद् अयंसत' उद्यत किया, उत्तोलित किया।

[१५०७] ऋ. उन् मा पीता अयंसत रथम् अश्वा इवा.शवः, कुवित् सोमस्या.पाम् इति - १०।११९।३। सोमपानजनित तीव्र संवेग का चित्र।

[१५०८] ऋ. उप मा मतिर् अस्थित वाश्रा पुत्रम् इव प्रियम्, कुवितं सोमस्या.पाम् इति - १०।११९।४। 'मति' मनुष्य का मनन, मंत्र; सायण - 'स्तोतृभिः क्रियमाणी स्तुतिः'। उपमा द्वारा देवता के प्रति मनुष्य के वात्सल्य का वर्णन।

[१५०९] ऋ. अहं तष्टे.व वन्धुरं पर्य.चामि हृदा मतिम्, कुवित् सोमस्या.पाम् इति - १०।११९।५। मनुष्य के मनन को देवता प्रेमपूर्वक ग्रहण करते हैं एवं उसको संस्कृत-शोधित करके उसमें अपना आसन प्रतिष्ठित करते हैं। 'परि अचामि' (<√ अन्च् 'चलना' निघ. २।१४) भ्रमण करता हूँ, चलता हूँ (बढ़ई के रंदे जैसा और उसके तिरछेपन को बराबर कर देता हूँ)।

[१५१०] ऋ. नहि मे अक्षिपच् चना.च्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः कुवित् सोमस्या.पाम् इति - १०।११९।६। देवता की महिमा के निकट सब तुच्छ है। तु. ३।३०।५, सब इन्द्र की मुट्ठी में है। **अक्षि-पत्** जो आकर आँख में दिख जाए या दृष्टि में पड़ जाए, तु. ६।१६।१८। 'पञ्चकृष्टयः' द्र. टी. १२६४[२]।

[१५११] ऋ. नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति, कुवित् सोमस्या.पाम् इति १०।११९।७। इन्द्र लोकव्याप्त एवं लोकातीत हैं तु. प्र रिरिचे (अतिक्रम कर गए हैं) दिव इन्द्रः पृथिव्या -

'इसी समय कहो तो पृथिवी को ध्वंस कर दूं यहाँ न कि वहाँ — अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१८१४] ?

'द्युलोक में मेरा एक पंख है और दूसरा नीचे फैला दिया है। अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१८१५] ?

'मैं हूँ महाज्योति, मेघों की ओर आकाश में उठ गया हूँ। अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१८१६] ?

'गृह (देवालय) जैसा अलंकृत होकर मैं चल रहा हूँ, देवताओं के निकट हव्य वहन करते हुए। अच्छा, मैंने क्या सोमपान किया है [१८१७] ?

इस सूक्त में उपास्य और उपासक एकाकार हो गए हैं। सोमपातम इन्द्र उपास्य हैं। उनके सौम्य मद की स्फूर्ति अथवा प्रफुल्लता ऋषि में भी संक्रामित हुई है किन्तु उपास्य-उपासक का भेद एकबारगी लुप्त हुआ नहीं। यही भाव बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त किया गया है। प्रत्येक ऋक् के प्रारम्भिक दो चरण (पाद) स्पष्टतया इन्द्र का कथन है और ऋषि वहाँ इष्टदेवता के भीतर खो गए हैं। किन्तु ऋक् की टेक में लगता है, ऋषि सचेतन स्थिति में आकर थोड़े आश्चर्यान्वित होकर स्वयं ही स्वयं से प्रश्न करते हैं, 'मैं ये क्या कह रहा हूँ, क्या मैं सोमपान करके उन्मत्त हो गया हूँ ? दैव आवेश के फलस्वरूप चित्त के ऐसे एक विचलन का सुन्दर निदर्शन है आदिकवि वाल्मीकि के 'मा निषाद' श्लोकोच्चारण के पश्चात् स्वयं से ही उच्चकित प्रश्न 'किम् इदं व्याहृतं मया' अर्थात्, मैंने यह क्या कह दिया [१८१८] ? गृत्समद के वर्णन में ऋषि तटस्थ हैं, और यहाँ वे एकात्म, एकरूप हैं। अतएव यह वर्णन भी अत्यन्त प्रभावशाली है।

अधम् इद् अस्य प्रति रोदसी उभे ६।३०।१; और भी तु० १०।८०।१,३। 'पक्ष' शब्द में 'लव' पाखी (पक्षी) की ध्वनि है। पशु-पक्षियों के नाम से ऋषि का नाम, जैसे शौनक, बक, कूर्म, कुशिक इत्यादि।

[१८१२] ऋ० अभि द्यां महिना भुवम् अभी॰मां पृथिवीं महीम्, कुवित् सो॰मस्या॰पाम् इति १०।११९।८। पूर्वभावना की अनुवृत्ति।

[१८१३] ऋ० हन्ता॰हं पृथिवीम् इमां नि दधानी॰ह वे॰ह वा, कुवित् सो॰मस्या॰पाम् इति १०।११९।९। इन्द्र ने पृथिवी को 'हम सब की प्रतिष्ठा' एवं द्युलोक को 'अतिष्ठा' किया है (तु० ३।३०।९)। इन्द्र के 'सयुक् सखा' उपासक भी वही करते हैं। किन्तु चाहें तो वे — इन्द्र की तरह ही इसके विपरीत कर सकते हैं अर्थात् द्युलोक को उतार कर यहाँ ले आ सकते हैं और पृथिवी को उठाकर वहाँ ले जा सकते हैं (तु० शौ० ६।६१।२,३)। द्युलोक की भावना अनुमेय है।

[१८१४] ऋ० 'ओषम् इत् पृथिवीम् अहं जङ्घनानी॰ह वे॰ह वा, कुवित् सो॰मस्या॰पाम् इति १०।११९।१०। पूर्वभावना की अनुवृत्ति। उपासक के ऐश्वर्य का परिचय। **ओषम्**. निघ० 'क्षिप्र' (२।१५)। [१८१५] ऋ० दिवि मे अन्यः पक्षो अधो अन्यम् अचीकृषम्, कुवित् सो॰मस्या॰पाम् इति १०।११९।११। देवता सर्वव्यापी, उपासक भी वही। तु० (७) 'अचीकृषम् < √कृष् खेती करना हल चलाना' (तु० १।२३।१५, १७६।२, ८।२०।१९) यहाँ 'खरोंचना' (सायण)।

[१८१६] ऋ० अहम् अस्मि महामहो ऽभिनभ्यम् उदीषितः, कुवित् सो॰मस्या॰पाम् इति १०।११९।१२ उपासक के निजी अनुभव का वर्णन। इस पृथिवी पर रहकर ही वे जैसे भूदेव (तु० ता त्वा स्तोमेभिर् ····· देवं देवा अजनन् २।१३।५) एवं सूर्यात्मा (सायण— → एक ज्योति के स्तम्भ के रूप में अन्तरिक्ष की ओर उठते जा रहे हैं।

इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि ऋक् संहिता में जितनी आत्म स्तुतियाँ हैं, प्रायः उन सब के देवता इन्द्र हैं।[2] इन्द्र ही उस संहिता के परम देवता हैं, यह उसका सूचक है।[3]

चरित्र-वर्णन में हमें देवता के तटस्थ लक्षण का परिचय और उनके स्वरूप का परिचय आध्यात्मिक अनुभव में प्राप्त होता है। यह परिचय इन्द्रसूक्तों में जहाँ-तहाँ बिखरा पड़ा है। उसकी ठोस व्याख्या तिरश्ची आङ्गिरस के इस एक तृच में है। ऋषि कहते हैं—

'आओ, अब इन्द्र की स्तुति करें हम सब, शुद्ध की स्तुति करें शुद्ध साम द्वारा। (हम सब के) शुद्ध उक्थ से ही वे वर्द्धित (पूर्ण) हुए हैं। शुद्ध एवं आशीर्युक्त (सोम) उनको प्रमत्त कर दे [1919]।

'हे इन्द्र शुद्ध रूप में हम सब के निकट आओ तुम। शुद्ध तुम (लेकर आओ) शुद्ध रक्षाकवच। शुद्ध होकर संवेग निहित करो (हम सब के) भीतर गहरे। शुद्ध तुम मत्त हो जाओ, सोमार्ह होकर [1920]।

'हे इन्द्र, जिस कारण से शुद्ध तुम, उसी कारण से (हम सब को) दो संवेग, शुद्ध होकर रत्न (दो) [आहुति-] दाता को। शुद्ध होकर ही वृत्रों की हत्या करो तुम, शुद्ध होकर ही ओजस्विता छीन कर ले आने की इच्छा करो [1921]।

इस तृच की व्याख्या की भूमिका में सायण ने अधुनालुप्त शाट्यायन ब्राह्मण का एक उद्धरण दिया है—'इन्द्र ने असुरों का वध करके स्वयं को लगता है, अपवित्र एवं अमेध्य मान लिया। इसलिए उन्होंने चाहा कि कि मेरे शुद्ध हो जाने के पश्चात् वे शुद्ध साम द्वारा मेरे माहात्म्य का स्तवन करें। फिर उन्होंने ऋषियों से कहा कि तुम सब मेरी स्तुति करो। तब ऋषियों ने साम को इस प्रकार देखा—'एतोन्विन्द्रम' इत्यादि [1922]। उसके ही द्वारा उनका स्तवन किया। उस समय इन्द्र पवित्र, शुद्ध एवं मेध्य हुए।'

[1917] ऋ. गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः, कुवित् सोमस्यापाम् इति 10।119।13। देवभूत सिद्ध के आचरण का वर्णन। 'गृह' यहाँ देवयजन गृह, जिसे हम ठाकुरघर (देवालय) कहते हैं वह 'अरंकृत' अर्थात् देवता के सत्कार के लिए नित्य उन्मुख रहता है। उसी घर में अर्थात् इस देहरूपी देवायतन में मैं जल रहा हूँ हव्यवाहन होकर (तु. 6।9।4, 6, टी. 1424; और भी तु. क. 2।1।12-13)।

[1918] रामायण 1।2।15। [1] ऋ. 2।15 सूक्त। [2] द्र. ऋ. 10।48-49 सूक्त, ऋषि वैकुण्ठ इन्द्र, देवता इन्द्र। किन्तु उसके पूर्व के सूक्त के ऋषि सप्तगु आङ्गिरस हैं और देवता वही वैकुण्ठ इन्द्र हैं। इस सन्दर्भ में द्र. टीमू. 1926। [3] तु. वृषाकपि सूक्त की ध्रुवा अथवा टेक; विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः 10।86।

[1919] ऋ. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना, शुद्धैर् उक्थैर् वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान् ममत्तु 8।95।7। क्रमशः जौ का सत्तू, दूध और दही का क्रमशः मिश्रण— जो तारुण्य, प्रज्ञान और प्रज्ञानघनता के प्रतीक हैं।

[1920] ऋ. इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिर् ऊतिभिः, शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः 8।95।8।

[1921] ऋ. इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे, शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि 8।95।9

[1922] द्र. सामसंहिता 1402 औंध संस्करण।

इस कहानी के माध्यम से इस देश की आध्यात्मिक साधना के इतिहास का थोड़ा-सा आभास प्राप्त होता है। जो अनिन्द्र (जो इन्द्र को देवता नहीं मानते) वे सब इन्द्र द्वारा वृत्रवध और सोमपान को लेकर इतनी आसक्ति अथवा मत्तता को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। जो भी हो किन्तु शत्रु की हत्या करना हिंसा में सम्मिलित है और उसकी मत्तता भी कुछ अच्छी बात नहीं। यह खटका या डर ऋषियों के मन में भी था। इसलिए वृत्रहत्या के पश्चात् इन्द्र की शुद्धि की यह व्यवस्था की गई। ध्यातव्य है, परवर्ती युग में अवैदिक बौद्ध प्रस्थान में पञ्चशील के आदि में अहिंसा एवं अन्त में मद्यपान के प्रति उदासीनता जैसे वेदाचार के प्रत्यक्ष प्रतिपक्ष हों।

किन्तु धर्म-अधर्म के इस निरोध की मर्यादा का उल्लंघन करके भी ऋषियों की एक और अखण्ड-उदार दृष्टि थी। कौषीतक्युपनिषद् के अनुसार 'सत्य ही इन्द्र'। इन्द्र ने कहा "विशेष रूप से मुझे ही जानो। मैं मनुष्य के पक्ष में यही कल्याणतम समझता हूं कि वह विशेष रूप से मेरे बारे में ज्ञान प्राप्त करेगा। त्रिशीर्षा (त्रिशिरा) त्वाष्ट्र की मैंने हत्या की, अरुर्मुख (लाल मुंहवाले) यतियों को मैंने सालावृकों (लकड़बग्घों) के मुंह में फेंक दिया, अनेक शर्तों को तोड़कर मैंने द्युलोक में प्राह्लादियों को, अन्तरिक्ष में पौलोमों को और पृथिवी में कालकञ्जों को विद्ध किया। उससे मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसलिए जिसने मुझे जाना है, किसी कर्म द्वारा उसका कोई पुण्य या लोक नष्ट नहीं होगा — वह चाहे मातृहत्या हो, चोरी हो या फिर भ्रूणहत्या हो। पाप करने पर भी उसके मुख से आकाश की उज्ज्वलता अथवा मुखश्री कभी भी नहीं दूर होती [१५२३]।" अर्थात् सत्य मनुष्यकल्पित पाप-पुण्य से परे है। इन्द्र सत्य स्वरूप हैं अतएव वे भी पाप-पुण्य से परे हैं। वे यदि जगत के रूप-रूप में प्रतिरूप होकर रहते हैं तो फिर उनका शत्रु ही कौन अथवा मित्र ही कौन है या फिर उनके लिए पाप ही क्या अथवा पुण्य ही क्या है। इसलिए ऋषि बृहदुक्थ वामदेव्य ने कहा- 'जो लोग तुम्हारे युद्ध की बातें करते हैं, वह तो माया है — क्योंकि आज भी जिस प्रकार तुम किसी को शत्रु के रूप में जानते नहीं, उसी प्रकार पूर्वकाल में कभी कोई शत्रु था- उसे नहीं जानते। हम सब के पूर्ववर्ती किन ऋषियों ने तुम्हारी समग्र महिमा का अन्त पाया है — यही कि तुमने अपने तनु से माता-पिता को एक साथ जन्म दिया?[२] तात्पर्य यह है कि इन्द्र उपनिषद की भाषा में शुद्ध एवं अ-पापविद्ध हैं[३] अर्थात् जो धर्म से पृथक् हैं, फिर अधर्म से भी पृथक हैं,[४] वे वही हैं। तब भी लौकिक दृष्टि से उनके वृत्रवध को जिस अधर्म की संज्ञा दी जाती है उसका एक राहस्यिक अर्थ है। जिसकी चर्चा पहले ही की गई है।[५]

[१५२३] कौ॰ ३।१। यहाँ मुनि-पन्थ के पञ्चशील पालन के प्रति कटाक्ष ध्यातव्य: जघन्यतम हत्या में, शर्त तोड़ने के कपटपूर्ण व्यवहार में, चोरी में, पारदार्य (परस्त्रीगमन) अथवा अब्रह्मचर्य (जिसके लिए शायद भ्रूणहत्या करनी पड़ती है) में या फिर सोमरस का नशा करने पर भी कुछ होता नहीं, यदि मनुष्य 'विज्ञानी' होता है तो। [१] तु॰ ऋ॰ ६।४७।१८। [२] तु॰ ऋ॰ मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर् नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से।.... क उ नु ते महिमनः समस्यास्मत् पूर्व ऋषयो अन्तम् आपुः, यन् मातरं च पितरं च साकम् अजनयथास् तन्वः स्वायाः १०।५४।२-३। 'माता' पृथिवी, 'पिता' द्युलोक। ये सब के माता एवं पिता हैं। अथवा अदिति एवं वरुण (तु॰ ऋ॰ १।२४।१-२ टी॰ १८३५)। [३] ई॰ ८। [४] क॰ १।२।१४। [५] टीमू॰ १५८४।

फिर दूसरी ओर से अध्यात्म दृष्टि में इन्द्र की शुद्धि हमारी 'इन्द्रिय' की शुद्धि हुई। संहिता में इस शब्द के अनेक प्रयोग हैं। व्युत्पत्तिगत अर्थ 'जो इन्द्र का' है— जैसे सोम 'इन्द्रियो रसः' [१५२४] अर्थात इन्द्र की आनन्दचेतना। इसी प्रकार 'इन्द्रियं पौंस्यम्',[1] 'महिमानं इन्द्रियम्',[2] 'इन्द्रिया हयाः',[3] 'इन्द्रियेण भामेन'[4] इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं। यही शब्द जब विशेष्य होता है तब शतपथब्राह्मण के मतानुसार उसका अर्थ है 'वीर्य'।[5] इसी इन्द्रवीर्य से ही दर्शन में इन्द्रिय की कल्पना की गई, जिसकी व्याख्या करते हुए पाणिनि कहते हैं 'इन्द्रियम इन्द्रलिङ्गम इन्द्रदृष्टम् इन्द्रजुष्टम इन्द्रदत्तम् इति वा'।[6] इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग संहिता में भी है।[7]

इन्द्रिय शुद्धि ही अध्यात्म साधना का मूल आधार है। जिससे आधार में इन्द्रवीर्य का जो अबाध स्फुरण होता है, उसको उपनिषद में 'इन्द्रिय का आप्यायन' अथवा 'धातुप्रसाद' कहा गया है। उसकी परमता सौरचेतना में है— संहिता में जिसकी संज्ञा 'इन्द्रियं बृहत्' [१५२५] है। इस प्रकार इन्द्र हमारी साधना के आदि और अन्त से जुड़े हुए हैं। साधना की सिद्धि जो चिन्मय-प्रत्यक्ष में है, वह उनका ही प्रसाद है।

इसके पहले ही हमने देखा है कि इन्द्र का विशिष्ट कार्य है बलकृति, वीरकर्म अर्थात अजेय वीर्य-बल से प्राण और प्रज्ञा का अवरोध तोड़ना। हमारे आधार में इस शक्ति का आवेश ही उनका प्रसाद है। संहिता में उसकी कई संज्ञाएँ हैं जिनका लक्ष्य कोई न कोई अध्यात्मसम्पद है। जिन में एक मुख्य संज्ञा 'ओजः' है— जिसका काव्य रूप इन्द्र के हाथ का 'वज्र' है, जिसके लिए उनका यह एक अनन्य विशेषण 'वज्री' [१५२६] है।

[१५२४] तु· ऋ· ८|३|२०, ९|२३|५, ४७|३, ८६|१०|[1] ४|३०|२३|[2] ८|३|१२, ५९|५, १०|११३|२|[3] ७|१०७|२५ (तु· क· १|३|४)।[4] ऋ· १|१६५|८।[5] श· वीर्यवान् इत्ये.वैतद् आह यद् आहेन्द्रियावान् इति ३|९|२|२५ (४|४|२|१२)। तु· ऋ· श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय १|१०४|६ (६|२५|८, २७|४...)। बौद्ध दर्शन में किसी भी इन्द्रिय के उत्कर्ष की पराकाष्ठा की परिभाषा 'इन्द्रिय' है, जैसे आँख जब परम का दर्शन करती है तभी वह 'इन्द्रिय'।[6] पाणिनि· ५|२|९३, तत्र काशिका वृत्ति।[7] ऋ· इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु, इन्द्र तानि त आ वृणे ३|३७|९।

[१५२५] तु· ऋ· तव त्यद् इन्द्रियं बृहत् ८|१५|७ (१३|८); मा· ३८|२७, तत्र श· एतद् वा इन्द्रियं बृहद् य एष तपति १४|३|१|३१

[१५२६] **ओजः** < √वज् 'समर्थ होना, शक्ति प्रकट करना' तु· <u>Lat</u>. augere 'to increase' < base * aug-, <u>Goth</u>. aukan 'to grow, to increase', <u>GK</u>. auxo 'I increase', <u>Lith</u>. augu 'I grow'; तु· √वक्ष 'बढ़ते जाना'। निघण्टु में ओजः 'जल' (१|१२) 'बल' (२|९); निरुक्त— ओजः ओजतेर् वा, उब्जतेर् वा वृद्ध्यर्थस्य त्याग भावार्थस्य वा. ६|८ (तु· ऋ· ओजायमान १|१४०|६)। आयुर्वेद में 'ओजः' सप्त धातु का चरम। उसकी रक्षा कर पाने पर ही आन्तर प्राणायाम, जिसके फलस्वरूप 'क्षीयते प्रकाशावरणम्, धारणासु योग्यता च मनसः (योसू· २|५२-५३)। इन्द्रशक्ति में चिन्मय प्राण जब यह ओज स्थापित करते हैं तभी वृत्र का अन्तिम आवरण दूर हो जाता है (तु· ऋ· ... मरुतो ये त्वा न्वहन् वृत्रम् दधुस् तुभ्यम् ओजः ३|४७|३। संहिता और योगसूत्र में एक ही तत्व की व्यञ्जना है। इन्द्र का अश्व इस ओजःशक्ति का प्रतीक है (द्र· १०|७३|१०, टी· १२६२)। →

इस ओजस् के दो अध्यात्म रूप हैं जिनमें एक मन का 'मन्यु'[1] और दूसरा प्राण की 'रयि' है। दोनों का ही विशिष्ट लक्षण है तीव्र संवेग अथवा अभीप्सा।[2] इन में 'रयि' शब्द ऋक्संहिता में बहुप्रयुक्त है। निघण्टु में उसके दो अर्थ- 'धन' और 'उदक' दिए गए हैं।[3] प्राचीन एवं आधुनिक सभी व्याख्याकारों ने प्रथम अर्थ को ही ग्रहण किया है, दूसरे अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया। किन्तु निघण्टु का 'धन' एक सामान्य संज्ञा मात्र है, उससे बोध होता है कि 'जिसके पीछे मनुष्य दौड़ता-भागता है।'[4] वहाँ इन्द्रिय भी 'धन' है। अतएव किस प्रकार का धन है, वह शब्द की निरुक्ति एवं प्रकरण से समझ लेना चाहिए। 'रयि' का व्युत्पत्तिगत अर्थ तो 'स्रोत' अथवा नदी का वेग, है, जिसके अनेक प्रमाण हैं।[5] वृत्र के द्वारा अवरुद्ध सप्तसिन्धु की धाराओं को मुक्त करके प्रवाहित कर देना, इन्द्र का यह एक विशिष्ट कृत्य है। यह मुक्त धारा ही 'रयि' है। उसका प्रवहण अथवा प्रतरण अनिःशेष है। हम सब के भीतर वही विजर विमृत्यु प्राण का अनिरुद्ध ऐश्वर्य है — वरुण का प्राचेतस समुद्र जिसका आश्रय है।

यही रयि इन्द्र के प्रसादरूप में हमारे भीतर उतर आए, उसके लिए गहरी ललक ऋक्संहिता के एक सूक्त में व्यक्त हुई [१५२७] है। इस सूक्त के ऋषि सप्तगु आङ्गिरस हैं। उनके नाम का अर्थ है — 'सात किरणें जिनके भीतर हैं'।[1] ये सात किरणें अवश्य ही शीर्षण्य सप्तप्राण हैं, उपनिषद् में जो ब्रह्म के द्वारपाल के रूप में कल्पित हैं। अतएव वे ही 'सप्तगु' हैं जिन्होंने आप्यायित एवं प्रदीप्त समस्त इन्द्रियों द्वारा बृहत् का आस्वादन किया है। सप्तगु का विलोम 'सप्तवध्रि' है।[2] सप्तगु के इष्ट देवता 'वैकुण्ठ इन्द्र' हैं। इन्द्र का यही नाम शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है। वहाँ उसे कहीं वायु[3] अथवा कहीं माध्यन्दिन सूर्य कहा गया है। अनुक्रमणिका में कात्यायन बतलाते हैं कि 'विकुण्ठा नाम की असुरी ने इन्द्र के समान पुत्र की कामना में महातपस्या की थी, जिसके फलस्वरूप इन्द्र स्वयं ही उसके पुत्ररूप में जन्म लेते हैं।' जान पड़ता है, 'विकुण्ठा' अदिति का नामान्तर है; वरुण 'असुर' और अदिति 'असुरी' हैं। तो फिर वैकुण्ठ इन्द्र में महाशून्यता का स्पर्श है। वे वायु अथवा प्राण, माध्यन्दिन सूर्य अथवा प्रज्ञा एवं अन्त में 'विकुण्ठ'[4] अथवा अनिबाध →

---

[1] **मन्यु** < √मन् 'मनन करना, सोचना' मनोवेग, ऋक्संहिता में इन दोनों सूक्तों के देवता (१०।८३-८४), ऋषि 'मन्युस् तापसः' अर्थात् मन्यु तपःशक्ति से उत्पन्न (तु. पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः १०।८३।२, तपसा युजा ३; और भी तु. मन्यो वज्रिन् ६)। इन दोनों मन्यु सूक्तों में अध्यात्म वृत्रवध का मनोरम चित्र है; जो सप्तशती के देवीयुद्ध का बीज है। द्र. टी. १८७१। [2] तु. 'तीव्र संवेग' योसू. १।२१; 'अभीप्सा' क. १।२।४। [3] निघ. २।१०, १।१२। [4] **धन** < √धन् 'दौड़ना' तु. ऋ. १।१६७।२ टी. १५५१, ७१।३, ८८।३...; टी. १३३८। [5] द्र. टी. १८५८।

[१५२७] ऋ. १०।४७ सूक्त। [1] = बृहस्पति (६), जो 'सप्तरश्मि' हैं (४।५०।४)। [2] द्र. टीभू. १२०५, १४४३५। [3] श. १४।५।१।६ (बृ. २।१।६); शां. ४।७ (तत्र इन्द्रवैकुण्ठ = अपराजिता सेना; तु. मुनिपंथ का 'जिन' अथवा मृत्युञ्जय; और भी तु. ऋ. १।११।२)। [4] जैउब्रा. ४।५।१।१, ७।२।१०। →

महाशून्यता के अनुभव से उत्पन्न हुए हैं। इन तीनों भावनाओं में इन्द्र के स्वरूप का एक पूर्णाङ्ग परिचय है। इसी इन्द्र के निकट सप्तगु सब की ओर से 'रयि' चाहते हैं। कात्यायन कहते हैं कि सप्तगु की स्तुति से संहृष्ट या रोमाञ्चित होकर इन्द्र ने अगले तीन सूक्तों में अपनी ही स्तुति की है। प्रथम दो सूक्त में स्पष्टतः इन्द्र की आत्मस्तुति है और उसकी आत्ममहिमा का ज्ञापन है। किन्तु तृतीय सूक्त इन्द्र की नहीं, बल्कि उपासक की उक्ति है।[६] अथच कात्यायन वैकुण्ठ इन्द्र को इस सूक्त का भी ऋषि बतलाते हैं एवं इन चारों सूक्तों को लेकर एक उपमण्डल की गणना करते हैं। इस असंगति का समाधान इस रूप में हो सकता है। यह समस्त उपमण्डल ही सप्तगु की आत्मानुभूति की विवृति है— प्रथम सूक्त में उनकी प्रार्थना है, द्वितीय एवं तृतीय सूक्त में वैकुण्ठ इन्द्र के साथ सायुज्यबोधजनित उनकी आत्मस्तुति है—जो आत्मस्तुतियों की साधारण शैली है और चतुर्थ सूक्त में भावावेश से मुक्त हो जाने के पश्चात् पुनः अपनी उपासक की भूमिका में उतर आना है। किन्तु आवेश का प्रभाव तब भी है, इसलिए हम कह सकते हैं कि वैकुण्ठ इन्द्र इस सूक्त के भी ऋषि हैं। लव सूक्त में वर्णित आत्मस्तुति में भी कुछ ऐसी ही बात है— अर्थात् ऋक् के प्रथम दो चरणों के प्रवक्ता इन्द्र और तृतीय चरण के लव हैं। दोनों स्थान पर देवता ही ऋषि के कण्ठ में स्वयं प्रकाशित होते हैं किन्तु ऋषि की सत्ता का लोप एकबारगी नहीं होता है, लगता है उनकी चेतना आर-पार चप्पू (नाव खेने का डाँड) चलाने का खेल खेल रही है। आवेश का यह लक्षण सर्वकालीन है, सर्वजनीन है। सभी देशों की अध्यात्म साधना के इतिहास में उसका दृष्टान्त-वृत्तान्त है। आवेश में जिस किसी भी स्तर का व्यक्ति कम से कम कुछ समय के लिए स्वयं को देवता के रूप में अनुभव कर सकता है — इसी सहज सत्य को आजकल मनोविज्ञान एवं नृविज्ञान ने भी स्वीकार करना शुरू किया है।

रयि की प्रार्थना में वैकुण्ठ इन्द्र को लक्ष्य करके सप्तगु कहते हैं—

'हमने पकड़ा तुम्हारा दाहिना हाथ हे इन्द्र— प्रकाश की कामना में हे वसुपति, आलोक के मालिक। क्योंकि हम जानते हैं तुमको गोयूथ के गोपति के रूप में, हे शूर! हमें सुदर्शन, मनोरम वीर्यवर्षी रयि दो तुम [१५२८]।

'जिसका आयुध शक्तिशाली है, जिसका प्रसाद सुमङ्गल है, जिसका नेतृत्व स्वच्छन्द है, जो चारों समुद्रों की तरह रयि का धारक है, जो कीर्तनीय शंसनीय एवं बहुवरेण्य है, वही हे इन्द्र, हमें मनोरम वीर्यवर्षी रयि दो तुम [१५२९]।

---

[५] ऋ. १०।४८, ४९ सूक्त। [६] तु. चर्कृत्य इन्द्रो मावते नरे १०।५०।२। [७] द्र. वेमी. टी. १२८९।

[१५२८] ऋ. जगृभ्मा ते दक्षिणं इन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्, विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः १०।४७।१ देवता का दक्षिण हस्त उनके दाक्षिण्य (उदारता, प्रसन्नता) का सूचक है, तु. ६।५४।१०, १।१२८।६, गुहाहितं गुह्यम् गूल्हम् अप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान (इन्द्रः) ३।३९।६, ८।८१।६, १०।१८०।१; यही दक्षिण हस्त फिर वृत्रघाती भी है (६।२२।९, ८।२।३२)। 'वसूनां वसुपते' और 'गोनाम् गोपतिम्' में भागवत के देवता की ध्वनि ध्यातव्य। रयि के साथ वीर्य का सम्बन्ध लक्षणीय २।३०।११, ६।२२।३, ७।४।६, १०।५१।१४। ऋक् के अन्तिम चरण की टेक।

[१५२९] ऋ. स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्, चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारम् →

'बृहत् की चेतना अनायास जिसमें हो, जिसमें देवता रहते हैं, जो बृहत् विपुल एवं गम्भीर हो, विशाल बोधि (अन्तर्दृष्टि) का जो आश्रय हो हे इन्द्र, विश्रुत ऋषिगण जिसके धारणकर्ता हों, वज्रवीर्य से जो आततायियों को पराजित करे, हमें वही मनोरम वीर्यवर्षी रयि दो तुम [१८३०]।

'जो वज्रतेज छीन कर ले आए, भावकम्प, (भावप्रवण) शक्ति जिसका आश्रय हो, जो सब का अतिक्रमण कर जाए, जो लक्ष्य तक पहुँचे, जो उच्छ्वसित, सुदक्ष, दस्युघाती, पुरभेदी (पुरंदर) एवं सत्य है, हे इन्द्र हमें वही मनोरम वीर्यवर्षी रयि दो तुम [१८३१]।

'जिसमें है अश्व का ओज और रथ का वेग, जो वीर्यशाली बलशाली है, जिसमें है शत और सहस्र की प्रचुरता, जो है तुम्हारा वज्रतेज हे इन्द्र, जो कल्याणपुंज एवं भावकम्प्र वीर्य का आश्रय है, जो छीन कर ले आता है स्वर्ज्योति, हमें वही सुदर्शन वीर्यवर्षी रयि दो तुम [१८३२]।

अस्मभ्यं चर्कृत्यं वृषणं रयिं दाः १०।४७।२। रयि वह तीव्र संवेग है जो समस्त विघ्नों, बाधाओं से लड़ते-जूझते हमें लक्ष्य की ओर ले जाता है। यह लक्ष्य 'प्राचेतस समुद्र' है (तु. एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम् १०।५।१, टी.भू. १२३३)। वही समुद्र यहाँ पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में विस्तृत होकर हमारी पृथिवी को घेरे हुए है। उसे 'महारयि' कह सकते हैं। 'चर्कृत्य' < √कृ 'कीर्तन करना'।

[१८३०] ऋ. सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तम् उरुं गभीरं पृथुबुध्नम् इन्द्र श्रुतऋषिम् उग्रम् अभिमातिषाहम् अस्मभ्यं... १०।४७।३। यह भी उसी 'महारयि' का वर्णन है जो ऋषियों की साधना का लक्ष्य है। और वह लक्ष्य है बोधिचेतना की सर्वाभिभावी अथवा परमोत्कृष्ट विपुलता और गम्भीरता, जिसकी अमूर्त संज्ञा ऋक्संहिता में 'बृहत्' है और मूर्त संज्ञा 'देव' है (द्र. ५।५० सूक्त, टी. १२८७)। फिर 'बृहत्' से उपनिषद के 'ब्रह्म' को भी हम यहाँ पाते हैं (द्र. टी. १८६७)। **उग्र** < √वज् 'जिसमें वज्रवीर्य है, ओजस्वी (तु. टी. १८२६)। **अभिमाति** [तु. विश्वो स्पृधो अभिमातीर् जयेम १०।१२८।१, मा नः स्तर (फेंक देना मत) अभिमातये ८।३।२, १।२५।१४, ५।२३।४ ('हिंसकम्' सायण) १०।८४।२, ३।३७।७ ...; < अभि √मन् 'किसी के विरुद्ध क्रुद्ध मन में रखना; क्षोभ, रंजिश (बँगला में 'अभिमान') आक्रोश प्रकट करना'; प्रतितुलनीय 'उपमाति' अनुकूल मनन, प्रसाद ४।२३।३] आक्रमण (तु. अभि √भू), आततायिता।

[१८३१] ऋ. सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षं, दस्युहनं पूर्भिदम् इन्द्र सत्यम् अस्मभ्यं... १०।४७।४। इस मंत्र में 'रयि' और इन्द्र एकाकार। इसके पहले मंत्र में 'रयि' निखिल समृद्ध का ब्रह्म' है और इस मंत्र में क्षत्र' है, जो हमारे दो मुख्य साधन-सम्पद हैं (द्र. क. १।२।२५)। सनद्वाज तु. वाजसनि। **वाज** ॥ वज्र ॥ वाजी ॥ ओजः— 'वज्र' इन्द्र की वृत्रघाती शक्ति, 'वाजी' ओजःशक्ति का प्रतीक अश्व (ऋ. १०।७३।१०; तु. आयुर्वेद का 'वाजीकरण') 'ओजः' सप्तधातु का चरम। 'वाज' इनका ही सगोत्र (निघ. 'अन्न' २।७ 'संग्राम' २।१७) वज्रवीर्य < √वज्, द्र. टी. १८२६।

[१८३२] अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणम् शतिनं वाजम् इन्द्र, भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वर्षाम् अस्मभ्यं... १०।४७।५। 'वाज' अथवा ओजःशक्ति के साथ रयि का समीकरण। इसलिए रयि में यहाँ साधन सम्पद की ध्वनि है। अश्व, रथ एवं वीर (देववीर्य रथी के रूप में कल्पित) में क्रमशः तीव्र संवेग की एक छवि प्रस्फुटित हुई है। वीर, इन्द्रवीर्य (तु. तन्त्र की 'अश्वक्रान्ता, रथक्रान्ता, विष्णुक्रान्ता' जिनके द्वारा सूर्य के उदयन का बोध कराया जाता है)। 'सहस्र' आनन्त्यवाची, 'शत' देवहित आयु की पूर्णता या ऐन्द्री सिद्धि ('शतक्रतु') का बोधक है। 'भद्रव्रात' तु. ऋतस्य रश्मिम् अनुयच्छमाना →

'जो बृहस्पति सप्तरश्मि ऋतधी एवं सुमेधा हैं, उनकी ओर तीव्र गति से जा रहा है (हमारा) मन — जिनको अङ्गिरागण की तरह प्रणति द्वारा ही प्राप्त करना होगा; हे इन्द्र हमें मनोरम वीर्यवर्षी रयि दो तुम [१५३३]।

'— सारे स्तोम (सुर-स्तवक, स्तुतिगान) मेरे दूत हैं। प्रार्थना लेकर इन्द्र की ओर वे जा रहे हैं उनके सौमनस्य की कामना करके। वे उनका हृदय स्पर्श करेंगे — मन को लेकर टेढ़े-मेढ़े चलते-चलते। हे इन्द्र हमें मनोरम वीर्यवर्षी रयि दो तुम [१५३४]।

'जो तुम्हारे निकट मैं चाहूँ, वही दो हमें हे इन्द्र — दो वही महाभूमि — जो अतुल, अद्वितीय है जनगण के मन में। उसके निमित्त द्युलोक भूलोक गीतमुखर हो। हे इन्द्र हमें मनोरम वीर्यवर्षी रयि दो तुम — [१५३५]।

'जिस प्रकार अदिति के निकट हम सब 'अनागस्त्व' अथवा निरञ्जनत्व (निरंजनता) एवं 'सर्वताति', या सर्वात्म भाव के लिए प्रार्थना करते हैं [१५३६], उसी प्रकार इन्द्र के निकट रयि के लिए →

भद्रंभद्रं क्रतुम अस्मासु धेहि, उषः १।१२३।१३; भद्रं भद्रं न आ भरेषम ऊर्जं शतक्रतो ८।९३।२८; भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः १।८९।८। 'विप्रवीर' साधक का वीर्य (शक्ति)। **स्वर्षा** < स्वर्+सन् 'छीनकर लेना' छीन लेना > स्वर्षाति (१।१३१।६, ४।१६।९, स्वर्षाता वृणत इन्द्रम अत्र ६।१७।८, ३३।४...) द्युलोक के उस पार से ज्योति को छीनकर लाते हैं जो मनुष्य के लिए (तु. इन्द्र का वज्र 'स्वर्षा' १।१००।१३, सोम १।९१।२१, इन्द्रः स्वर्षा जनयन्न् अहानि ३।३४।४; सनत् सूर्यं सनद् अपः [प्रज्ञा और प्राण] सुवज्रः १।१००।१८, जेषः स्वर्वतीर् अपः १।१०।८ [= ८।४०।१०], पवमान... सना मेधां सना स्वः ९।९।९...)। 'रयि' अथवा तीव्र संवेग का यही परिणाम है।

[१५३३] ऋ. सप्तगुम् ऋतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिर् अच्छा जिगाति, य आङ्गिरसो नमसोपसद्यो अस्मभ्यं... १०।४७।६। 'सप्तगु' बृहस्पति का विशेषण है, फिर ऋषि का भी नाम है, दोनों में सायुज्य या अभेद की ध्वनि है। अन्यत्र हम देखते हैं कि बृहस्पति परमव्योम में महाज्योति से उत्पन्न — सप्तास्य और सप्तरश्मि होकर (४।५०।४)। इसके पहले के मंत्र में इन्द्र 'स्वर्षा' जिसके परिणाम स्वरूप ही इस बृहत् ज्योति का आविर्भाव (तु. तैउ. की आनन्द मीमांसा में इन्द्र के पश्चात् बृहस्पति का स्थान है २।८)। सारे देवता ही **ऋतधीति** एवं सत्यधर्मा हैं (तु. ऋ. ५।५१।२, ४।५५।२, वरुण, मित्र-अग्नि ६।५१।१०, अङ्गिरोगण ३।९।२), उनमें बृहस्पति विशेष रूप से। ध्यान ऋतच्छन्द होने पर ही उसके भीतर जन्म लेती है 'मेधा' (< मनस्+√धा, मनः समाधान, समाधि) अथवा सत्य में अनुप्रवेश करने की क्षमता। बृहस्पति 'आङ्गिरस' अथवा अङ्गिरोगण के इष्ट देवता हैं (तु. ६।७३।१, १०।६७-६८ सूक्त, ऋषि अयास्य आङ्गिरस, २।२३ सूक्त, ऋषि गृत्समद आङ्गिरस)। इन्द्र-बृहस्पति का सहचार ऋक् संहिता में प्रसिद्ध है (४।४९ सूक्त. ४।५०।१०, ११, ७।९७।१०, ८।९६।१५, १०।६७।६...)। 'नमसा **उपसद्यः**' तु. २।२३।१३। 'उपसत्ति' उपासना, देवता के निकट मनुष्य का बैठना; और 'निषत्ति' मनुष्य के भीतर देवता का आवेश; दोनों के मेल से 'उपनिषत्' (द्र. वेमी. प्रथम खण्ड, पृष्ठ १७९)।

[१५३४] ऋ. वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश् चरन्ति सुमतीर् इयानाः, हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं... १०।४७।७। देवता और मनुष्य के बीच वाक् का दौत्य। **वनीवानः** <√वन् 'चाहना; पाना' + वन् (सायण)। अनन्य प्रयोग। **वच्यमानाः** < वच्॥ वच् →

प्रार्थना करते हैं। इन दो अध्यात्म सम्पदाओं में ही साधनामय जीवन की चरितार्थता निहित है। यह निर्मल चित्त के उत्स से ऊर्ध्वस्रोता प्राण का तीव्र संवेग के साथ पूरे आकाश में फैल जाने जैसा है। इन्द्र का विशेष परिचय इसी रयि में है जो पाषाण का अवरोध तोड़कर प्राण को प्रवाहित कर सकता है। यह उनका 'इन्द्रिय' अथवा योगवीर्य है — इतिहास-पुराण में आत्माराम के अग्रज हलधर 'बलराम' जिसके विग्रह या मूर्त रूप हैं। ध्यातव्य है- उनकी शक्ति (पत्नी) 'रे-वती' हैं।

इसके बाद संहिता से ब्राह्मण ग्रन्थों की ओर आने पर देखते हैं कि वहाँ इन्द्र का साधारण परिचय यह है कि वे देवताओं के अधिपति [१९३७] हैं, देवताओं में श्रेष्ठ हैं,[१] यहाँ तक कि वे ही सब देवता हैं।[२] जो वायु हैं, वे ही इन्द्र हैं; जो इन्द्र हैं, वे ही वायु हैं।[३] अधिज्योतिष दृष्टि के अनुसार वे सूर्य अथवा आदित्य हैं।[४] आध्यात्मिक दृष्टि में वे प्राण[५] या मन[६] अथवा वीर्य हैं।[७] वे अक्षिपुरुष[८] हैं, वे ब्रह्मा हैं।[९] यह लक्ष्य करने योग्य है कि उनका यह परम परिचय ऋग्वेद की दो उपनिषदों में ही अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है।

इन्द्र के इस साधारण परिचय के बाद अब हम उनका विशिष्ट परिचय-रूप, जन्म-रहस्य और परिजन या परिवार के माध्यम से प्राप्त करेंगे।

'टेढ़े-मेढ़े चलना' तु. श्वे. त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि ४।३। नदी जिस प्रकार टेढ़े-मेढ़े बहती हुई अन्त में समुद्र में पहुँचती है, उसी प्रकार स्वर-लहरी, लहराती-बल खाती देवता के हृद्य समुद्र में पहुँचती है।

[१९३५] ऋ. यत् त्वा यामि दद्धि तन् न इन्द्र बृहन्तं क्षयम् असमं जनानाम्, अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीताम् अस्मभ्यं ... १०।४७।८। उपासक में संचारित 'रयि' या तीव्र संवेग अन्त में पहुँचता है 'बृहत् क्षये' (तु. ३।३।२) अथवा 'उरौ अनिबाधे' ५।४२।१७, टी. १६०८[३]) अर्थात परमव्योम अथवा 'उरुक्षये' जो मित्रावरुण का धाम (तु. १।२।९)। वह द्युलोक-भूलोक के उस पार (तु. छा. ८।१।१-३)।

[१९३६] द्र. टी. १२१७[४]; ऋ. १०।१०० सूक्त।

[१९३७] द्र. तैब्रा. २।२।१०।३। [१]तैब्रा. २।३।१।३, श. ३।४।२।२। [२]ऐ.। [३]श. ४।१।३।१९ देवता-विकल्प के कारण, अन्तरिक्ष के दोनों छोर दोनों के स्वधाम हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से वायु में प्राण की और इन्द्र में मन की प्रधानता है। इसी से परवर्ती काल में योग की दो धाराएँ दिखाई देती हैं जिनमें एक प्राण के आधार पर हठयोग की धारा है और दूसरी मन के आधार पर राजयोग की धारा है। स्मरणीय: योगियों की उक्ति — "अशक्तो राजयोगे स्याद् हठयोगेऽधिकारवान्।" [४]श. ४।५।५।७, ५।९।४, ८।५।३।२...। [५]श. १२।९।१।१४। [६]श. १२।९।१।१३। [७]तैब्रा. १।७।२।२, श. २।५।४।८, २।९।१।१५, ५।४।३।१८; तु. 'अनुरूप बल': श. ११।४।३।१२, तैब्रा. २।५।७।४; 'क्षात्र', श. १०।४।१।५। [८]श. १०।५।२।९; द्र. टीमू. १९८३। [९]शां. ६।१४; तु. श. यत् परं भाः, प्रजापतिर् वा स इन्द्रो वा २।३।१।७।

→

२- रूप, जन्म-रहस्य और परिवार

पहले ही बतलाया गया है कि वैदिक देवता अमूर्त हैं किन्तु अरूप अथवा निराकार नहीं। इन्द्र के सहचर मरुद्‌गण को लेकर ऋषियों के रूपोल्लास की बात भी बतलाई गई है किन्तु ऋक्‌संहिता में इन्द्र को लेकर ऋषियों के ऐसे उल्लास का कोई भी परिचय नहीं प्राप्त होता है- यद्यपि वहाँ वे निःसन्देह परम देवता के आसन पर प्रतिष्ठित हैं। इन्द्र यदि आदित्य हैं तो फिर मरुद्‌गण उनका प्रकाशमण्डल और उनके चिन्मय प्राण का ऐश्वर्य हैं। देवता की विभूति को लेकर ही रूपोल्लास सम्भव है, अधिष्ठान रूप या मूलाधार रूप में देवता उसके पीछे प्रच्छन्न रूप में रहा करते हैं। किन्तु तब भी ऋषि की भावना में इन्द्र अरूप नहीं हैं। उपनिषद् के एक स्थान पर ही आदित्य पुरुष के रूप का वर्णन कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है- वे हिरण्मय पुरुष – हिरण्यश्मश्रु (सुवर्ण के समान दाढ़ी मूँछ वाले), हिरण्यकेश हैं, उनके नखाग्र तक सारा का सारा सुवर्ण है, कपि के आसन (पृष्ठभाग) जैसे उनके कमलनेत्र हैं [१५३८]। लक्षणीय है कि ऋक्‌संहिता में इन्द्र का स्वल्पाक्षर रूप-वर्णन भी इसके अनुरूप है। वहाँ भी वे 'वज्री हिरण्ययः'[१] 'हिरण्यवर्णः',[२] 'हिरीमान्',[३] हैं; उनके 'श्मश्रूणि हरिता',[४] एवं वे 'हरिकेशः',[५] अर्थात् उनके केश सुनहले हैं। यह वर्णन आर्य पुरुष का है। संहिता एवं उपनिषद् में देवता के रूपवर्णन में यह सादृश्य आकस्मिक नहीं है बल्कि दोनों में भावना की एक धारावाहिकता सुस्पष्ट है। इसमें देवता की विशिष्ट आकृति ने गौण स्थान अधिकार में कर रखा है। सच तो यह है कि देवता आदित्यवर्ण एवं ज्योतिः स्वरूप हैं।[६] वे हिरण्यज्योतिर्मय हैं, इस कारण उनका एक नाम 'हरि' है। ऋक् संहिता के एक इन्द्रसूक्त के देवता भी अनुक्रमणिका →

[१५३८] द्र. छा. १।६।६-७। मूल में है, 'यथा **कप्यासं** पुण्डरीकम् एवम् अक्षिणी तस्य'। 'कप्यास' शब्द की प्रचलित व्याख्या है, 'कपि का आसन' अथवा बन्दर (वानर) का रक्त वर्ण पिछला भाग। किन्तु, लक्षणीय. बन्दर का मुँह भी लाल एवं 'आस' शब्द 'आस्य' अथवा मुँह भी समझा जा सकता है (तु. ऋ. 'आसा' १।७६।४, २।१।१४, ४।५।१०, ५।१७।२...)। तु. कौषीतक्युपनिषद में इन्द्रद्वेषी 'अरुर्मुख' अथवा लालमुँह वाले यतियों का प्रसङ्ग (३।१) उनकी तुलना क्या बन्दर के साथ की गई है? और भी तु. उदयन एवं अस्तमयन में सूर्य लाल और मध्याह्न में 'हरिकेश' (ऋ. १०।३७।९) अथवा सुनहला दीखता है। जिस प्रकार वर्षा के लिए इन्द्र को 'वृषभ' के साथ उपमित किया जाता है उसी प्रकार इस कारण से सूर्य की कपि के साथ तुलना करना असम्भव नहीं। जिस वृषाकपि को लेकर इन्द्र और इन्द्राणी का मनमुटाव, वह भी 'हरितो मृगः' है १०।८६।३; आगे चलकर 'वृषाकपि' द्र.) [१]ऋ. १।७।२। [२]५।३८।२। [३]१०।१०५।७, 'हिरीमश' हिरण्यश्मश्रु (सायण)। इस मंत्र में इन्द्र के 'हनु' (चिबुक, ठोड़ी) का भी उल्लेख है। [४]१०।२३।४। श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) का वर्णन ८।३३।६; हरिसूक्त में 'हरिश्मशारु' १०।९६।८। हरिसूक्त में द्रष्टव्य. १०।९६।५, ८। यही विशेषण है सूर्य का १०।३७।९, सविता का १।३५।९; अग्नि का ३।२।१३। [६]तु. मा. वेदाहम् एतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ३१।१८, श्वे. ३।८। मंत्र में ऐसे 'आदि महापुरुष' का सन्धान →

के मतानुसार 'हरि' एवं ऋषि 'सर्वहरि ऐन्द्र' हैं।[८] यहाँ भागवत के देवता 'हरि' एवं वेद के देवता इन्द्र का समीकरण पाया जाता है, यह प्रणिधान योग्य है। पूरे सूक्त में घूम-फिर कर नाना रूपों में 'हरि' शब्द एवं समध्वनि 'हर्य्' धातु का प्रयोग उसको हरि-नाम की माला जैसा बना देता है। 'हरि' का मौलिक अर्थ 'ज्योतिर्मय' है, यह ध्यान में रखने पर भावप्रवण या भावुक के निकट यह पूरा सूक्त रोशनी के एक फ़व्वारे जैसा जान पड़ेगा — जिसमें देवता का नाम और रूप एक अनिर्वचनीय ज्योति के परिवेश में एकाकार हो गया है।

इन्द्र के रूप के अनुध्यान के समय में उनकी विग्रहवत्ता का पक्ष संहिता में खूब खुला-खिला नहीं है। नैरुक्तों के देवताओं में अग्नि, वायु एवं सूर्य का [१८३८] तब भी एक नैसर्गिक आधार है किन्तु इन्द्र के सन्दर्भ में वह वैसा स्पष्ट नहीं है। वे आदित्य हैं, अथवा वर्षा के मूसलधार वर्षण में, उत्तरायण के चरम बिन्दु के रूप में 'अभिजित्' हैं[१] — उनका यह परिचय बहुत कुछ नेपथ्य में अर्थात् पर्दे की आड़ में रह गया है। उनके रूप की व्याख्या करके स्पष्ट करने की दिशा में ऋषियों के मन में किसी प्रकार का वैसा कोई आग्रह ही नहीं — हालांकि उनकी पुरुषविधता को उनके निकट एक स्वच्छन्द स्वीकृति प्राप्त हुई है। रवीन्द्रनाथ के देवता 'अरूप रतन' हैं तब भी जिस प्रकार उनके चरण की ध्वनि सुनाई पड़ती है अथवा उनके हाथ में हाथ रखा जा सकता है, उसी प्रकार इन्द्र के सम्बन्ध में भी हम देखते हैं कि प्रयोजनवश ही उनके विशिष्ट अवयव का उल्लेख किया जा रहा है — नहीं तो वे एक अमूर्त चिन्मय प्रवाह मात्र हैं। देवता के स्वरूप को इस प्रकार रूप और अरूप के बीचोबीच स्थापित करना इस देश के अध्यात्मचिन्तन का एक लक्षणीय वैशिष्ट्य कहा जा सकता है।

प्राप्त होता है जो पार्थिव महापुरुष के आदर्श हैं। आदित्य जिस प्रकार हिरण्मय हैं उसी प्रकार याग के फलस्वरूप यजमान के 'हिरण्यशरीर' होने की चर्चा ब्राह्मण में है (ऐब्रा. १।२२, २।३, १४; तु. ऋक्संहिता में अपाला का 'सूर्यत्वच्' होना ८।९१।७, १३८।६) ७ ‹√हृ॥ घृ 'क्षरित होना' प्रकाश देना' टी. १३०७[१]। ८ १०।९६ सूक्त।

[१८३८] द्र. नि. ७।५। [१]द्र. तैब्रा. १।५।२।३+ ता. १६।४।६।

[१८४०] द्र. ऋ. १।३२।१५, १७४।५, २।१२।१२, १३, ३।३३।६, ४।२०।१, २९।४...; १।७३।१० २।१२।१३, ३।३२।३, ६।२२।५, ८।२।३१...; १।१००।१२, ६।१७।२। [१]१।८।५। तु. ह्रदा इव कुक्षयः सोमधानाः ३।२६।८ (बहुवचन का प्रयोग अनन्य; कुक्षि यहाँ उपलक्षण है; जहाँ-जहाँ सोम्य मद का स्फुरण होता है, वही है **कुक्षि**; चेतना के वैपुल्य बोध के लिए ह्रद की उपमा; तु. आपो न सिन्धुम् अभि यत् समक्षरन्त् सोमास इन्द्रं कुल्या [नाला] इव ह्रदम् १०।४३।७), ८।१७।५, २।११।११, १०।२८।२, ८६।१४। द्र. नीचे अनुच्छेद ७। नामान्तर 'उदर' ८।१।२३, २।१, ७८।७, सं यन् मदाय शुष्मिण (उच्छ्वसित मत्तता उत्पन्न करने के लिए सोम की धाराएँ क्षरित होती हैं) एना (उसी से) ह्यस्योदरे समुद्रो न व्यचो (व्याप्ति, विशालता) दधे १।३०।३; 'जठर' २।१६।२, १।१०४।९, ३।३५।६, ४७।१, ९।६६।१५...। यही कुक्षि परवर्ती काल में योग की भाषा में मणिपुर चक्र अथवा ब्रह्मग्रन्थि के नाम से सुपरिचित हुई है संहिता की चार नाभ् अथवा नाभि या ग्रन्थि यही प्रथम (९।७४।६, टी. १२५३[२]), जिसके नीचे सोम को उतरने नहीं देना चाहिए (९।१०।८, टी. १२५५)। यहाँ से धारा ऊपर की ओर बहती रहती है। उसके प्रत्येक घाट से योग के प्रत्येक चक्र की कल्पना की गई है। →

वज्राघात से वृत्र का वध करना इन्द्र का प्रधान कार्य है। वज्र फेंक कर मारने के लिए हाथ चाहिए। अतएव इन्द्र 'वज्रबाहुः' 'वज्रहस्तः' अथवा 'वज्रभृत्' [१८४०] हैं। और यह वृत्रवध वे 'सोमस्य मदे' अथवा सोमपान के नशे में करते हैं। इस प्रसङ्ग में उनके अंग-प्रत्यंग का कुछ-कुछ उल्लेख है। सोमरस पान करने पर पहले वह पेट में जाएगा और वहाँ से उसका नशा धीरे-धीरे माथे पर चढ़ेगा। इसलिए हम देखते हैं कि इन्द्र की 'कुक्षि' सोमपातम है।[1] उसके पश्चात वह सोम हृदय में आता है।[2] वहाँ से शिप्र या हनु में आता है।[3] जिस के लिए इन्द्र की विशिष्ट संज्ञा हुई 'शिप्री', 'शिप्रवान्' अथवा 'शिप्रिणीवान्'।[4] तत्पश्चात् सोम ऊपर की ओर इन्द्र के 'काकुत्' में[5] जाता है — उपनिषद में जिसका नाम 'इन्द्रयोनि'[6] और आधुनिक योगशास्त्र में आज्ञाचक्र है। उसके बाद चला जाता है उनके 'शिर' में[7] — जहाँ उनका 'स्व ओक्य' या स्वधाम है।[8] अध्यात्म दृष्टि में यही रीति अथवा गति है हम सब के भीतर 'अन्तश्चर शुभ्रवान पथ पर' — जिस को अब हम 'सुषुम्णा नाड़ी' कहते हैं।[9] यह ऊपर की ओर प्रवाहित होने का वर्णन ऋक्संहिता के सोम मण्डल में अनेक है। इस प्रकार के प्रासङ्गिक वर्णन के अतिरिक्त इन्द्र के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का और कोई भी उल्लेख प्रायः प्राप्त नहीं होता।[10]

उस समय प्रत्येक नाभि में सोम 'इन्द्रियो रसः' (९।२३।५) अथवा इन्द्रवीर्य का आनन्द। [2] तु. तुभ्येद् इन्द्र स्व ओक्ये (अपने धाम की ओर, लक्ष्यार्थे सप्तमी; **ओक्य** ॥ ओकः 'निवासस्थान' नि. ३।३ < √उच् 'अभ्यस्त होना' > 'उचित' इन्द्र स्वधाम वृत्रवध के पहले भ्रूमध्य है एवं वृत्रवध के पश्चात् सहस्रार — संहिता में जिसका नाम 'परावत' ८।१२।१७, १३।१५, ५०।७ अथवा 'पार्य दिव्' ६।४०।५ है) सोमं चोदामि (मैं भेज देता हूँ; उपास्य एवं उपासक के सायुज्य और सारूप्य की ध्वनि लक्षणीय तु. १०।१२०।८ टी. १२७३) पीतये एष रारन्तु (आनन्दित करे) ते हृदि ३।४२।८, सोमः शम् (शान्तिमय) अस्तु ते हृदे ८।१७।६, ८२।३, सोमो हृदे पवते (पवित्र धारा में ऊपर की ओर प्रवाहित) चारु मत्सरः (रमणीय नशे के रूप में) ९।७२।७ (= ८६।२१)। तु. मनुष्य के सम्बन्ध में: 'शं नो भव हृद आपीत इन्दो (विशुद्ध ज्योतिर्मय सोम; उसके पहले ही है 'अपाम सोमम् अमृता अभूम' इत्यादि) ८।४८।४, अयं च सोमो हृदि यं बिभर्मि १०।३२।९, भवा नः सोम शं हृदे ८।४९।७, १।९१।१३। [3] द्र. ५।३६।२ टी. १७८८; योग में कण्ठ अथवा विशुद्ध चक्र में। [4] द्र. १।२९।२, ८१।४, ६।१७।२; ८।३३।७, ६१।४, ९२।४, १०।१०५।५। [5] द्र. टी. १७६८। [6] तैउ. १।६।१।

[7] तु. ऋ. प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः प्र बाहू शूर राधसे ३।५१।१२ (द्र. टी. १८७१) इन्द्र का पिया हुआ सोम पहले कुक्षि में अर्थात योग की भाषा में नाभिस्थित मणिपुर चक्र में जाता है। यहाँ रहस्यविदों मर्मज्ञों की दृष्टि में अग्नि-सोम का सङ्गम होता है एवं उसके परिणाम स्वरूप अन्नाद वैश्वानर के तेज का रूपान्तर जीवनानन्द में होता है। उसके बाद सोम की धारा वह्नि होकर अथवा अग्निस्रोत के रूप में (तु. ९।९।६, २०।६, ३६।२, ६५।२८...) ऊपर की ओर प्रवाहमान रहती है — देवताओं के लिए सब समय और मनुष्यों के लिए किशोरावस्था तक। उसके नीचे सोम को उतरने नहीं देना चाहिए — यह बात पहले भी बतलाई गई है। यहाँ से सोम ऊर्ध्वस्रोता होकर सर्वत्र फैल जाता है (तु. आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योर् अनु गात्रा वि धावतु, गृभाय [ग्रहण करो] जिह्वया मधु [जिह्वा 'काकुत' या 'इन्द्रयोनि' का बोधक है, वहाँ पवमान सोम सुमधुर इन्दु में रूपान्तरित होता है] ८।१७।५)। उसकी एक मूल धारा ऊपर की ओर जाते जाते अन्त में **शिरस्** में पहुँचती है: तु. सं जामिभिः (अर्थात अन्यान्य धाराओं के साथ) नसते (युक्त होती है) रक्षते शिरः (एवं सिर में पहुँचकर भी सिर को ठीक रखती है) ९।६८।४। तंत्र की भाषा में यह सिर में सहस्रार चक्र है। ऋक्संहिता के अनुसार तब सोम सहस्र धाराओं में —

ये हिरण्मय देवता निश्चय ही 'अजर' एवं 'अमृत' हैं। यही देवताओं का साधारण लक्षण है। बुढ़ापे में प्राण और मन का अवक्षय होता है एवं मृत्यु में उनका लय हो जाता है — यह प्राकृत जीव का धर्म है। देवता उसके ऊपर हैं। प्राण और मन के उपचय और अपचय को बड़ी आसानी से ही प्रत्यक्ष दृष्ट आदित्यायन के साथ उपमित किया जा सकता है। माध्यन्दिन आदित्य देवता के शाश्वत यौवन के प्रतीक हैं। विष्णु की तरह इन्द्र भी माध्यन्दिन सूर्य के देवता हैं। विष्णु 'युवाऽकुमारः [१८४१] हैं, इन्द्र भी वही हैं। वे जन्म से ही 'पुरन्दर युवा कवि' एवं 'अमितौजा' हैं।[1] उनका यौवन नित्य है, वे 'अजुर्य' अर्थात कभी भी जराग्रस्त होना जानते नहीं।[2] किन्तु आश्चर्य यह है कि वे (शिव की तरह) युवा होकर भी 'स्थविर' या पूर्ण परिणत हैं।[3] वे हम सब के 'युवा सखा' हैं।[4] लक्षणीय है, अग्नि भी युवा एवं अजर हैं किन्तु उनका शैशव है। इन्द्र का शैशव नहीं है हालांकि उनका जन्म है। वामदेव के वर्णन के अनुसार तो उनकी मां पहले बियाने की गाय जैसी है, उनको जन्म दिया एकबारगी ही 'स्थविर एवं तुम्र (अर्थात हृष्ट-पुष्ट, मोटे-ताज़े) वृषभ' के रूप में।[5]

क्षरित (९।१०९।१६, ११०।१०, १०८।८; ११) अथवा उत्सृष्ट होता है (९।१३।१, ५२।२...)। वह सोम 'सहस्ररेता' है (९।१०९।१७)। यहाँ का आनन्द ब्रह्मानन्द है, इसकारण सोम ब्रह्मणा, अथवा बृहत चेतना द्वारा व्याप्त होता है। उसके बाद 'शूर' इन्द्र का शौर्य होकर उनकी दोनों बाहुओं में उतर आता है (GK. pekhus < * phākhus, ENG. bough) दो बाँह देहकाण्ड की दो डाल। अध्यात्म दृष्टि में नाड़ीमय देह जैसे एक उलटा वृक्ष हो। सुषुम्ना उसका काण्ड या तना है और अन्यान्य नाड़ियाँ छोटी बड़ी, पतली शाखाएँ हैं। बाहु (बाँह) और नाड़ी में अनेक स्थानों पर एक साम्य दिखाई देता है — विशेष रूप से 'गभस्ति' शब्द में, निघन्टु में जिसका अर्थ है बाहु (२।४) एवं रश्मि (१।५) दोनों ही। हठयोग में सुषुम्णा काण्ड की दो बाँह इड़ा और पिङ्गला हैं। उनके स्पन्द को रोकना ही पुराण में वृत्र का बाहुच्छेद है। देवता के बाहु क्षात्रवीर्य के प्रतीक हैं (तु. बाहू राजन्य कृतः १०।९०।१२)। शिर में ब्राह्मी चेतना और बाहु में क्षात्रवीर्य का स्फुरण ही सोम्य मधु और मद का परिणाम है एवं वही हम सब का 'राधसे' अर्थात ऋद्धि-समृद्धि का निदान है। [8] द्र. ३।४२।८ टी. १८४०.[2] [9] ९।१५।२ टी. १२५६.[2] [10] ये सब उल्लेख लक्षणीय : चारों ओर या सभी दिशाओं में उनके कान खुले हुए हैं अतएव वे 'आश्रुत कर्ण' हैं (१।१३।८); सब ओर देख रहे हैं, इसलिए 'सहस्राक्ष' (१।२३।३; तु. पुराण में इन्द्र 'सहस्रलोचन'; अग्नि भी सहस्राक्ष १।७९।१२, पुरुष वै १०।९०।१); वे 'तुविग्रीव' अर्थात उनकी ग्रीवा चौड़ी और मज़बूत है (८।१७।८); वे 'सहस्रमुष्क' हैं, सहस्ररेता का बोधक (६।४६।३)।

[१८४१] ऋ. १।१५५।६।[1] पुरां भिन्दुर युवा कविर् अमितौजा अजायत १।११।४।[2] इन्द्रम् अजुर्यं जरयन्तम (स्वयं कालातीत अतएव अजर होकर अन्य सब को जराग्रस्त करते हैं, तु. [अग्नि] अजुर्यो जरयन्नरिम् २।८।२) उक्षितं (प्रवृद्ध, सोलह कलाओं में पूर्ण) सनाद् युवानम् (जिनका चिरयौवन) अवसे हवामहे २।१६।१। लक्षणीय. भागवतों के 'नारायण' का कैशोर नहीं किन्तु उनके अवतार 'कृष्ण' का है — किन्तु दोनों ही परम तत्व हैं। इन्द्र नारायण की तरह हैं तब भी उनका राहस्यिक जन्म है।[3] तु. यूनः **स्थविरस्य** ३।४६।१ द्र. ४।१८।१०, ६।१८।१२, २४।१, 'ऋष्वा (उदग्र एवं उन्नत) त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप स्थेयाम शरणा बृहन्ता ६।४७।८, १०।१०३।५, १।१७१।५। इन्द्र के बारे में प्रयोग अधिक। 'वृद्ध' के अर्थ में नहीं बल्कि गाम्भीर्य विशेष के अर्थ में जिसका बोध होता है, वही। पूर्णता जैसे चरम तक पहुँच कर थम गई है। तु. बौद्ध 'स्थविर' > थेर उम्र में प्रवीण न होने पर भी। और भी तु. →

अन्ततः एक रूपाभास की आड़ में हम इन्द्र को षोड़षकल अविकल्प आदित्य वर्ण, अजर एवं अमृत महान्त पुरुष रूप में पाते हैं। देवता के अविकल्प रूप के अनुध्यान की यही नितान्त उपयोगी भावना है। यहाँ हम देखते हैं कि इसका उत्स एकबारगी आर्य दैवतकल्प की गङ्गोत्री में है, किन्तु धीरे-धीरे लोकप्रचलित मूर्ति-पूजा की प्रबलता के कारण वह छिछली एवं गँदली होती आई है। जिस भागवत धर्म में देवतों के रूपोल्लास का इतना अधिक फैलाव है वहाँ भी देखते हैं कि अरूप या निराकार एवं रूप या साकार के समन्वय में ही स्वरूप के अनुध्यान की सार्थकता है – इस सत्य को महामुनि ने एक बार भी विस्मृत होने नहीं दिया कि देवता मानुषी तनु का आश्रय ग्रहण करने पर भी अपने भूत महेश्वरत्व एवं परम भाव को अर्थात अपनी नित्य सहचरित विश्वात्मकता एवं विश्वोत्तीर्णता को मूढ़ों की अवज्ञा के कारण पृथक नहीं कर देते [१५४२]। वेद के देवता ग्रीक अथवा इस देश के लोकप्रचलित देवता की तरह कभी किसी काल में पूर्णतया मनुष्य क्यों नहीं बन पाए, उस सूत्र का पता हमें इन्द्र के अनतिस्पष्ट किन्तु अर्थवह रूपायन में प्राप्त होता है।

परमदेवता का पृथक् कोई भी रूप नहीं है। उनसे यह जो कुछ बाहर-भीतर विश्व की विसृष्टि हुई है अर्थात विचित्र रूपों में उनकी शक्ति का जो निर्झरण एवं विच्छुरण हुआ है, वही उनका रूप है। इसलिए वे 'विश्वरूप' हैं। ऋक् संहिता में त्वष्टा, त्वाष्ट्र, वृषभ-धेनुरूप आदिमिथुन, वाक् के अधीश्वर बृहस्पति एवं आनन्द के देवता सोम- इन सबका उल्लेख 'विश्वरूप' के अर्थ में किया गया है। किन्तु केवल इन्द्र के ही बारे में यह पता चलता है कि वे कैसे विश्वरूप हुए, और आत्ममाया द्वारा अपने तनु या स्वरूप के चारों ओर एक सहस्र-रश्मि परिमण्डल रचकर रूप-रूप में प्रतिरूप हुए, उसका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है [१५४३]। पुरुष सूक्त में विश्व की प्रतिष्ठा एवं अतिष्ठा के रूप में जिस सहस्रशीर्षा पुरुष का उल्लेख है[१] वह इसी विश्वरूप इन्द्र की दार्शनिक व्याख्या है। वहाँ पुरुष विराट् रूप में अभिव्यक्त है, इसका भी उल्लेख है।[२] बृहदारण्यकोपनिषद् में इन्द्र अक्षिपुरुष है, अर्थात प्रत्येक जीव या प्राणी का अन्तर्यामी है एवं उसकी सहचारिणी पत्नी या शक्ति का नाम 'विराट्' है।[३]

'स्थूर'॥'स्थूल'॥'स्थिर'॥'स्थूणा' थूनी, स्तम्भ < √ स्था 'स्थिर रहना'।[४] ६।४५।१। यही पदगुच्छ ८।४५।१-३ में।[५] गृष्टिः ससूव स्थविरं ... वृषभं तुम्रम् इन्द्रम् ४।१८।१० **तुम्र** अनेक स्थानों पर इन्द्र का विशेषण है। < √ *तुम् (धातु में उल्लेख नहीं); किन्तु तु॰ 'तुमुल', Lat. *tumere* 'to swell' *tumor* 'swelling', *tumultas* 'Violent Commotion', OE *thume*, MOD. Germ. *daumen*, ENG. *thumb*। 'शूर' का (< √ शू 'फूल उठना, स्फीत होना') जो मौलिक अर्थ है; 'तुम्र' का भी वही है।

[१५४२] तु॰ गी॰ ९।११, ७।२४-२५।

[१५४३] तु॰ ऋ॰ ६।४७।१८, ३।३८।४, ५३।८, द्र॰ टीमू॰ ११८२। लक्षणीय – अदिति भी

सारे वैदिक देवता प्रायशः रथचारी हैं। इन्द्र विशेष रूप से योद्धा हैं, इसलिए उनका रथ, वाहन एवं प्रहरण तो रहेगा ही। इस से वक्रोक्ति की भूमिका में उनके रूप का संकेत मिलता है। इन्द्र के वाहन का पारिभाषिक नाम 'हरि' अर्थात् हिरण्मय [१५४४] है। एक स्थान पर उनको 'सूर्य की दो झलक' (अश्वद्वय) कहा गया है। साधारणतः संख्या में वे दो हैं। किन्तु एक स्थान पर इस संख्या को क्रमशः बढ़ाकर चार, छः, आठ, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे एवं अन्त में 'एक सौ' किया गया है।[2] इससे ऊपर वे हज़ारों की संख्या में हैं।[3] एक स्थान पर उनको 'मयूररोमा',[4] और एक स्थान पर 'मयूरशेप्य' कहा गया है अर्थात् मयूर पुच्छ की तरह जिनका पुच्छ है[5] जो पुराण के कार्तिकेय का स्मरण करा देता है। इन सब से जान पड़ता है कि इन्द्र के अश्व की कल्पना मूलतः सूर्य की रश्मि से है।[6] आदित्य मण्डल से देवता प्रकाश की गति से चल कर अन्धकार के ऊपर कूद पड़ते हैं। फिर ये ही अश्व 'ब्रह्मयुज' हैं अर्थात् इन्द्र के रथ में उनको जोता जाता है ब्रह्म अथवा बृहत् के मंत्र द्वारा।[7] देवता का अचल रथ हमारी ही चेतना की व्याप्ति या प्रसारण में सचल हो उठता है — यह भावना प्रणिधेय है।

वाहन की तरह इन्द्र का रथ भी हिरण्मय [१५४५] है। वस्तुतः देवरथ एक प्रतीक मात्र है। रथ, वाहन और रथी — इसे लेकर एक त्रिपुटी या त्रयी है। उपनिषद में उनको शरीर, इन्द्रिय और आत्मा कहा गया है।[1] अन्यत्र उनका दार्शनिक प्रतिरूप — भूतमात्रा, प्राणमात्रा एवं प्रज्ञामात्रा है[2] — सम्प्रति हम जिसको जड़[3], प्राण एवं चैतन्य कहते हैं। ऋक्संहिता के ही एक स्थान पर इन्द्ररथ की व्याख्या है, जिसमें यह रथ एक रूपक है, वह स्पष्ट हो जाता है। गृत्समद कहते हैं — 'प्रातः काल ही (इन्द्र का) नया रथ जोता गया, जो सर्वजित है, जिसके चार जुए हैं, तीन चाबुक हैं, सात रश्मि हैं, मनुष्य द्वारा निर्मित दस डाँड (चप्पू, अरित्र) हैं, जो स्वर्ज्योति को छीन कर ले आता है, जिसको हमारी एषणा और मनन ने तीव्रगति से दौड़ा दिया।'[4]

इसी प्रकार सब कुछ हुई है (१।८९।१०), और 'आदित्य'। [1] १०।९०।१...। [2] १०।९०।५। [3] बृ. ४।२।२-३ टीमू. १५८३। इस प्रसंग में द्र. अधुनालुप्त वाष्कल संहिता से युक्त 'वाष्कल मंत्रोपनिषत्' ('अष्टादशोपनिषदः', तिलक मन्दिर, पूना)।

[१५४४] निघ. १।१५। [1] तु. ऋ. स्तवा हरी सूर्यस्य केतु २।११।६। [2] २।१८।४-६। [3] ७।२९।४, ३२।१७, ७।५९।६ (वायु का 'नियुत' इन्द्र का भी) ८।१।२४। [4] ३।४५।१। [5] ८।१।२५। मयूर आकाश का प्रतीक। योग में आकाश तत्व का रंग 'कर्बुर' या रंग बिरंगा, चित्र विचित्र है — उसमें ही समस्त रंगों का उदय-विलय होता है। आकाश में इन्द्रधनुष उगता है, लगता है मयूर के नीले शरीर में उसकी ही छटा है। आकाश भी जैसे 'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णान् अनेकान निहितार्थो दधाति' (श्वे. ४।१) [6] तु. 'युक्ता ह्यस्य (इन्द्रस्य) हरयः 'शता दश' (ऋ. ६।४७।१८) इति सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः। तेऽस्य युक्तास तैर् इदं सर्वं हरति। तद् यद् एतैर् इदं सर्वं हरति, तस्माद्धरयः (=रश्मयः) जैउब्रा. १।४४।५। [7] ऋ. १।८४।३, १७७।२, ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद् —

रथ देवता का आसन है, देवावेश का प्राथमिक आलम्बन है। अधियज्ञ दृष्टि में वह यज्ञ-, अध्यात्म दृष्टि में शरीर एवं अधिभूत दृष्टि में भूतमात्रा है। उपास्य इन्द्र एवं उपासक एक ही रथ पर आसीन हैं, जैसे दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं— यह वर्णन भी प्राप्त होता है।[५] एक स्थान पर इस हिरण्मय रथ को सहस्रपाद अर्थात सहस्ररश्मि सूर्यमण्डल ही इन्द्र का रथ बतलाया गया है।[६] देवता ज्योति का एक नित्य, शाश्वत परिवेश लेकर चलते हैं।

आशू ३।३५।४, ८।१।२४, २।२७। 'मनोयुजः' १।५१।१०.

[१८४५] द्र॰ ऋ॰ १।५६।१, हरित ३।४४।१, ६।२९।२, ८।१।२४, २५, २३।४। [१] ऋ॰ १।३।३-४। [२] कौ॰ ३।८। [३] तु॰ इन्द्र का रथ 'स्थिर' सन्नद्ध, पक्का, पुख्ता, मजबूत : ऋ॰ स्थिरं रथं सुखम्, इन्द्राधितिष्ठन् ३।३५।४। इस प्रसंग में तु॰ पतञ्जलि के तृतीय योगाङ्ग 'आसन' का लक्षण : 'स्थिर सुखम् आसनम्' (योसू॰ २।४६); आसन साधना का आलम्बन शरीर है। यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र के रथ के साथ शरीर के साम्य का संकेत मिलता है। भाषा-साम्य भी लक्षणीय। [४] प्राता रथो नवो योजि सस्निश् चतुर्युगस् त्रिकशः सप्तरश्मिः, दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर् मतिभी रंह्यो भूत २।१८।१। यहाँ **यज्ञ**— विशेष रूप से सोमयाग— इन्द्र का रथ। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार, 'देवरथो वा एष यद् यज्ञः' (२।३७; द्र॰ कौ॰ ७।७)। ऋक्संहिता में भी यज्ञ रथ के साथ उपमित हुआ है (तु॰ १।१२९।१, यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति १०।११४।६, तु॰ ऐब्रा॰ २।२३)। फिर ब्राह्मणों में यजमान पुरुष अथवा आत्मा भी यज्ञ है (ऐ॰ १२।८; शां॰ १७।७, २५।१२, २८।९ श॰ १।३।२।१, ३।५।३।१, १।४।२।३, १०।२।१।२; तै॰ ३।८।२२।१; जैउ॰ ४।२।१; श॰ ७।५।२।१६, ६।२।१।७)। यहा हम देखते हैं कि यह रथ 'मनुष्य' अर्थात् मनुष्य से सम्बन्धित है। इस प्रसंग मे तु॰ दशहोतृमंत्र तैआ॰ ३।१ (तु॰ ऐब्रा॰ ५।२५), जहाँ हमें यज्ञ का अध्यात्म रूप प्राप्त होता है। **चतुर्युग** : रथ में एक जुआ रहता है, जिसके दोनों छोर पर दो वाहन। किन्तु इस रथ में चार जुए हैं इसलिए आठ वाहन। ऋत्विक् गण ही वाहन हैं— सात मुख्य ऋत्विक् और यजमान को लेकर आठ हुए। ये सब ही देवरथ को लेकर स्वर्ज्योति की ओर चलते हैं (ल॰ 'स्वर्षा') तु॰ ऋ॰ २।५।१-६; टी॰ १३१६।[१] **त्रिकशः** 'कशा' चाबुक, निघन्टु में 'वाक्'— प्रचोदनी अथवा प्रेरित करने वाली शक्ति के रूप में (१।११; द्र॰ अत्र सायण)। वस्तुतः 'कशा' यहाँ 'सवन' प्रचोदना की भावना जिसके अन्तर्गत (√सु॰ तु॰ सविता) है। सोमयाग के तीन सवन तीन कशा हैं। तीन लोक को जीतने के लिए तीन सवन। अध्यात्म दृष्टि में ये लोक तीन 'आवसथ' हैं (तु॰ ऐउ॰ १।३।१२)। इन तीनों लोकों के पार होने पर चौथा लोक 'स्वः' (ऋ॰ १०।१९०।३, टीभू॰ १२८८) है। **सप्तरश्मि** तु॰ २।५।२; अध्यात्म दृष्टि में यही सात शीर्षण्य प्राण हैं जो उपनिषद में ब्रह्म के 'द्वारपा' हैं। **दशारित्र** : 'अरित्र' या डाँड़ (पतवार) नाव में होता है। यहाँ रथ जैसे ऊर्ध्ववाही प्राण के स्रोत में अपने आप तैरता जा रहा है, अतएव नाव के साथ उसकी उपमा दी गई है (तु॰ १।४६।७-८, १४०।१२)। अनिवार्यतः 'अरित्र' वस्तुतः रथचक्र है जो उसमें गति का संचार करता है। अधियज्ञ दृष्टि में वे दस उँगलियाँ हैं जो सोमसवन के पत्थर को व्यवहार में लाती हैं (तु॰ १०।९४।७)। अध्यात्म दृष्टि में ये दश इन्द्रिय शक्ति हैं— पाँच संज्ञान की, पाँच आज्ञान की (तु॰ ऐउ॰ ३।१।२)। जिनको अब हम ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय कहते हैं। रथ के दोनों ओर दो पहिए, इस प्रकार अध्यात्म रथ के पाँच जोड़े पहिए हुए। इस प्रसंग में तुलनीय- ऋ॰ अयं (सोमं) द्यावापृथिवी वि ष्कभायद् (बीच में खम्भे की तरह खड़े दोनों को पृथक् किया है तु॰ सुषुम्णा काण्ड) अयं रथम् अयुनक् (उसे वाहन जोत कर सञ्चल किया, निश्चय ही देहरथ अथवा देवरथ) सप्तरश्मिम् अयं गोषु (आधारशक्ति के समूह में, प्रत्येक जीव में; तु॰ निघन्टु में 'गौः' पृथिवी; और उससे ही समाम्नाय का आरम्भ — एक ही बार में आदि या मूल सहेज कर और अन्त 'देवपत्न्यः' द्वारा १।१—५।६, अर्थात् पृथिवी से आरम्भ एवं द्युलोक की ज्योतिर्मयी शक्तियों द्वारा.

उसके बाद इन्द्र का प्रहरण या अस्त्र वज्र, वह भी हिरण्मय [१९४६] है — क्योंकि वे अँधेरे को उजाले के आक्रमण द्वारा नष्ट करते हैं। वज्र के अतिरिक्त इन्द्र के अन्य किसी भी प्रहरण विशेष का उल्लेख नहीं है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से वज्र ओजः शक्ति का प्रतीक है और ओज शरीर की सप्तधातुओं में अन्तिम धातु है। इन्द्र का वज्र वृत्र का अवरोध तोड़ता है, नाड़ी तंत्र के भीतर से प्राण और प्रज्ञा के स्रोत को प्रवहमान रखता है।[1] इन्द्र शतक्रतु हैं अतएव उनका वज्र भी शतपर्वा[2] है जो शम्बर के एक-एक पुर को उसका प्रत्येक पर्व (कोण) विदीर्ण करता हुआ चलता है। फिर उनका वज्र 'चतुरश्रि' अथवा चौकोर या चतुष्कोण है अर्थात् उसके चारों ओर से विद्युत की शिखाएँ तेजी से निकलती हैं[3] जो वृत्र को जला देती हैं। इसलिए कोणों का नाम 'भृष्टि' भी है।[4] जब कभी वे हज़ारों की संख्या में वेग से निकलते हैं तब वज्र 'सहस्रभृष्टि'[5] होता है। आधिभौतिक दृष्टि से यही वज्र निश्चय ही 'अशनि' अथवा 'तन्यतु' है जिसे हम 'वाज' या गाज़ कहते हैं।[6] इन्द्र का —

समापन) शच्या (इन्द्रशक्ति की सहायता से) पक्वम् अन्तः (छोटी उम्र की गाय या बछिया में पक्के दूध की बात अर्थात् अपरिपक्व आधार में पूर्णप्रज्ञा के बीजाधान का उल्लेख ऋक्-संहिता में अनेक हैं १।६२।९, २।४०।२, ६।१७।६, ७२।४, ८।८९।७) सोमो दाधार (निहित किया है) दशयंत्रम् उत्सम् (ऐसा एक उत्स जिससे दश धाराओं में चैतन्य और आनन्द उत्सारित हो रहा है घटी यंत्र से जल की तरह) ६।४४।२४।... आलोच्यमान मूल मंत्र में कहा जा रहा है, यह रथ 'सस्नि' (<√सन 'छीन लेना') अर्थात् छीन लेना चाहता है प्राण देकर भी। न कि 'स्वर' — इसलिए वह 'स्वर्षाः'। उसमें सारी बाधाओं को पार करने की शक्ति (रंह) संचार करती है 'इष्टि' अथवा एषणा (नामान्तर 'इष्') एवं 'मति' अथवा मनन। निविद् की भाषा में एक 'क्षत्र' और एक 'ब्रह्म' (द्र. टी. १४५७[1])। निघन्टु की भाषा में एक 'कर्म' और एक 'प्रज्ञा' है। यज्ञ मूलतः स्वःज्योति की एषणा है (तु. १०।१३०।२ टी. १२८९[1]; और भी तु. शां. स्वर्गो वै लोको यज्ञः १४।१, ता. स्वर्गकामो यजेत — १६।१२।५) प्रज्ञान उसका साधन और साध्य दोनों है (तु. साधन, क. १।२।२४, साध्य ऐ. ३।१।३)।[5] द्र. ऋ. ५।३१।८ टीमू. १३८०; १।१६४।२० टी. १३८७।[6] ८।६९।१६; तु. अश्विद्वय का 'सूर्यत्वक्' रथ १।४७।९, ८।८१।२; फिर कायसिद्धि में अपाला का सूर्यत्वक् होना ८।९१।७; टी. १२७१[6]।

[१९४६] द्र. ऋ. १।५७।२, हरित हरि ३।४४।४, १०।९६।३,४।[1] द्र. ३।३३।६ टी. १२५३[2]।
[2] १।८०।६, ८।६।६ वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर् वज्रेण शतपर्वणा ८।८९।३।[3] द्र. १।१५२।२ टी. १२१०[2], ४।२२।२।[4] <√भृज् 'तलना, भूनना' (तु. 'भर्गः', भृगु): तु. वृत्रस्य यद् भृष्टिमता वधेन नि (गहरे) त्वम् इन्द्र प्रत्यानं (आनन, मुख) जघन्थ (प्रहार किया) १।५२।१५।[5] १।८०।१२ टीमू. १८७२, यद् ईं (यह) मृगाय हन्तवे (वृत्र जैसे वध्य पशु; देवता भी 'मृग' — जिस प्रकार इन्द्र, विष्णु, वाक् इत्यादि किन्तु वे यजनीय हैं; एक ही प्राण के एक मेरु या छोर में अँधेरा और एक में उजाला) महावधः सहस्र-भृष्टिम् उशना (इन्हें संहिता में पुराण के दधीचि के स्थान पर पाते हैं) ययत् (यंत्रित किया; <√यम् जो सङ्कोचन एवं प्रसारण दोनों का ही बोधक है; यहाँ दोनों की ही व्यञ्जना है — उशना ने अपने भीतर ही ओजः शक्ति को समेट कर सहस्रभृष्टि वज्र करके बिखेर दिया; वे इन्द्र के समान हैं इसलिए उनके जैसे ही 'महावधः' हैं, तु. इन्द्र का कथन, 'अहं कविर् उशना' ४।२६।१; फिर यह वज्र सौम्य आनन्द से निर्मित, तु. यं ते काव्य उशना मन्दिनं दाद् वृत्रहणं पार्यं ततक्ष वज्रम् १।१२१।१२) ५।३४।२, →

वज्र त्वष्टा ने तराशा है — इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर है।[6] एक स्थान पर है — 'पिता ने जो वज्र तैयार किया समस्त जीव से, वेदः (प्रज्ञान अथवा ऋद्धि) से।'[8] सायण इस पिता को 'प्रजापति' बतलाते हैं। वे त्वष्टा हैं कि नहीं कहा नहीं जा सकता किन्तु सम्भवतः वे वही महान पिता हैं जिनके घर में जन्म लेने के बाद ही उन्होंने सोमपान किया था।[9] समस्त 'जनु' अथवा जीव से वज्र की सृष्टि का अर्थ है-इन्द्र का यह तिमिर विदारक ओजः समस्त जीवों के जन्म के ही मूल में है और वह स्वरूपतः प्रज्ञा का वीर्य या शक्ति है। अन्यत्र इस घटना को अश्विद्वय के द्वारा गर्भाधान कहा गया है।[10] इस अर्थ में ही हम फिर देखते हैं कि 'समुद्र की गहराई में सोया है वज्र — उदक या जल द्वारा परिवृत होकर।'[11] अर्थात जिस अप्रकेत, अस्पष्ट सलिल की दुर्गम गहराई में वृत्र अथवा अविद्याशक्ति का आश्रय है,[12] वहाँ ही उसके सहचर के रूप में प्राण का स्पन्दन, वाक् का प्रस्फुरण और वज्र का उद्दिद्यमान वीर्य है।[13] अन्ध तमिस्रा को चीर कर प्राण और प्रज्ञा का अधृष्य या अजेय उन्मेष जीव के जन्म का रहस्य है। इसीलिए विश्वरूप त्वष्टा का विशेष रूप से वज्र के तक्षक या देवशिल्पी के रूप में वर्णन किया गया है — वाक् की सहायता से कारण सलिल तक्षण करने के साथ-साथ ही[14] उन्होंने इन्द्र के लिए वज्र का भी तक्षण किया है। पुराण में ऋषि दधीचि की अस्थि द्वारा वज्र निर्माण का उल्लेख है। ऋक्संहिता में यह प्रसङ्ग नहीं है किन्तु काव्य उशना द्वारा वज्र-तक्षण का उल्लेख लक्ष्य करने योग्य है।[15] ब्राह्मण ग्रन्थों में विशेषतया वज्र को 'अप्' अथवा प्राणशक्ति कहा गया है[16] और आध्यात्मिक दृष्टि से 'ओजः' अथवा 'वीर्य' की संज्ञा दी गई है।[17]

अध त्वष्टा ते मह उग्र वज्रं सहस्रभृष्टिं ववृतच्छताश्रिम् (एक साथ शताश्रि भी ६।१७।१०। और भी तु. अग्नि 'तिग्मभृष्टि' ४।५।३, इन्द्रहता पिशाचि 'पिशङ्गभृष्टि' १।१३३।५, भूमि 'चतुर्भृष्टिं' (यहाँ 'दिक्' की व्यञ्जना है) १०।५८।३। [6] तु. ७।१०४।२०, २५ (द्र. २।१४।२; (वृत्र) अपो (प्राणस्रोतों को) वृत्वी (आच्छादित करता है) रजसो बुध्नम् (पृथिवी के मूल में, मूलाधार में) आशयत् (तु. योग का 'आशय' योसू. १।२४), वृत्रस्य यत् प्रवणे (भाटे या बहाव के उतार की स्थिति में) दुर्गृभिश्वनो (उसका प्राण पकड़ में नहीं आ रहा है अर्थात् अविद्या शक्ति की गाढ़ी प्रवणता के ही प्रबल होने से उसको सँभाल पाना कठिन प्रतीत हो रहा है) निजघन्थ हन्वोर् (दोनों 'हनु' या जबड़े, जहाँ प्राण का शक्तिकूट है; तु. इन्द्र का 'शिप्र', 'हनु-मान') इन्द्र तन्यतुम् १।५२।६। [7] द्र. टी. १५७१[6]। [8] सा स्मा अरं (पर्याप्त) बाहुभ्यां यं पिता कृणोद् विश्वस्माद् आ जनुषो वेदसस् परि, येना पृथिव्यां नि ('आ' निकट जाकर, 'नि' गहरे, मर्म में; हत्वी के साथ अन्वय) क्रिविं (रूपान्तर 'कृवि', निघ. 'कूप' ३।२३ तु. शर्यणावत् टी. १२५३[3], सम्प्रति हम जिसको अवचेतना का निचला स्तर कहते हैं, पुराण में 'पाताल') शयध्यै (आशय रूप में लीन रहने के लिए) वज्रेण हत्व्य वृणक् (वज्र के प्रहार से छिन्न भिन्न कर दिया) तुविष्वणिः (घोर गर्जन से) २।१७।६। [9] ३।४८।२, टीमू. १५७२। [10] १०।१८४।२, टीमू. १५५८। [11] समुद्रे अन्तः शयत उद्ना वज्रो अभीवृतः, भरन्त्य स्मै संयतः पुरः प्रस्रवणा बलिम् ८।१००।९। [12] तु. १०।१२९।१, ३। [13] तु. १।३२।८-१०, टीमू. १८५३-५४, १०।१२५।७, टी. १८३७[6]। [14] तु. १।१६४।४१। [15] १।१२१।१२, ५।३४।२ (ऊपर टी. ५; लक्षणीय इन्द्र का सायुज्य 'कवि' उशना के साथ और वज्र के तक्षक या शिल्पी 'काव्य' उशना हैं →

इस प्रकार इन्द्र की पुरुषविधता की एक रूपरेखा का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् अब हम उनके जन्म की कथा के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

हमने पहले ही बतलाया है कि वेद में देवता के जन्म का अर्थ है हमारी चेतना में उनका आविर्भाव [१५४६] आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र के जन्म के सम्बन्ध में ऋक्संहिता में एक रहस्योक्ति इस प्रकार है — 'अश्व से वे निकलकर आए हैं, यह जो वे सब बतलाते हैं, उससे ओज से उत्पन्न हुए हैं ये — मुझे तो यही जान पड़ता है। अथवा वे निकलकर आए हैं मन्यु से; वे अवस्थित हैं हर्म्य-हर्म्य में। जिससे वे उत्पन्न हुए हैं, वह इन्द्र ही जानते हैं।'[1] अश्व, ओजः एवं मन्यु- इन तीनों के साथ 'क्षत्र' अथवा युयुत्सु (युद्धेच्छु) की शक्ति का सम्बन्ध है जो बलकृति अथवा वीरकर्म का उत्स है। असुर के पुर के विपरीत है देवता का 'हर्म्य' (प्रासाद): दोनों में ही 'दुर्ग' अथवा 'अवरोध' की ध्वनि है- किन्तु एक के भीतर अन्धकार है और दूसरा आलोक-दीप्त है।[2] देवता अन्तर्ज्योति हैं — इस भावना का परिचय हमें पहले ही मिल चुका है।[3] अग्नि जिस प्रकार 'सहसः सूनुः' या हमारे उत्साहस के पुत्र हैं, उसी प्रकार इन्द्र भी 'शवसः सूनुः' अथवा शौर्य के पुत्र हैं।[4] एक में साधना के आदिपर्व की सूचना है और दूसरे में उसका मध्य पर्व है — गीता की भाषा में धृत्युत्साह से समन्वित होकर युद्ध करते रहना होगा दुर्योधन अपशक्ति के साथ — यही अध्यात्म कुरुक्षेत्र की रणनीति है।[5]

आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र जिसप्रकार हमारी 'कृति' हैं, हम ही उनके कर्ता हैं [१५४८] हैं, उसी प्रकार अधिदैवत दृष्टि में समग्र विश्व से उनका चिन्मय शौर्य सूर्य की तरह हम सब के भीतर पुञ्जीभूत होता है एवं आधार को आनखशिख आपूरित करता है। उपनिषद् की भाषा में →

ब्राह्मण ग्रन्थ में जो असुरों के पुरोहित हैं ता. ७।५।२०)। [16] तु. श. १।१।१।१६, ७।१।२।१।२६, ७।५।२।४१; तै. ३।२।४।२। [17] श. ८।४।१।२० (तु. ७।३।१।१९, १।३।५।७)।

[१५४६] द्र. टीमू १३६५। [1] द्र. ऋ. १०।७३।१० टी. १२६२ (तु. १०।१५३।२ टी १८३७[1]);+ मन्योर् इयाय हर्म्येषु तस्थौ, यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद (वही)। [2] हर्म्य <√ घृ।। ह 'दीप्ति देना': तु. ऋ. १।१२१।१, ७।७१।४ (८८।३), १।१६६।४... दो स्थानों पर 'प्रासाद' अर्थ से 'कारागृह' (तु. अँग्रेज़ी 'castle'): युयुत्सन्तं तमसि हर्म्ये धाः ५।३२।५, ८।५।२३। पहले में पाताल की ध्वनि है, वहाँ अनन्त नाग के माथे में मणि प्रज्वलित हो रही है, परवर्ती में कण्व के प्रतप्त कारागृह की ध्वनि है अत्रि के 'ऋबीस' की तरह १।११६।८)। तु. मरुद्गण हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्राः ७।५६।१६ टी. १७५५[6]। निघण्टु में 'हर्म्य' गृह ३।४। [3] द्र. ऋ. ६।९ सूक्त टीमू. ११७०[1], १३०६[2]। [4] १।६२।९, ४।२४।१, ८।७०।२ ७२।१४; अग्नि की तरह 'सहसः सूनुः' ६।१८।११, २०।१, १०।५०।६, १५३।२। [5] तु. इन्द्र की 'प्रणीति' अथवा नेतृत्व: 'महे क्षत्राय शवसे हि जज्ञेऽतूतुजिं चित् तूतुजिर् अशिश्नत्' — विपुल क्षात्रवीर्य एवं शौर्य का आधान करने के लिए जब वे जन्मे हैं तब जो निरुद्यम है उसको भी समुद्यत होकर विद्ध किया ७।२८।३। 'अशिश्नत्' = अशिश्नथत् <√ श्नथ्, 'विद्ध करना', अक्षरसाम्यजनित अक्षर लोप।

[१५४८] तु. ऋ. महाँ इन्द्रो नृवद् आ चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः, अस्मद्र्यग्

तब पुरुष के बाहर जो आकाश है, वही होता है उसका अन्तराकाश, होता है उसका गहरा हृदयाकाश; और वह अप्रवर्तिनी पूर्णता से छलकता रहता है।[1] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि देवता ही इन्द्र को जन्म देते हैं; द्यावा-पृथिवी ये दो 'धिषणा' ही इन्द्र के जनक और जननी[2] हैं। इसके पहले ही हमने देखा है कि द्यावा-पृथिवी के आवेष्टन में वसुगण, रुद्रगण एवं आदित्यगण अथवा विश्वदेवगण का समावेश है।[3]

वावृधे वीर्याय उरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर् भूत' — इन्द्र महान हैं, पुरुष की तरह; विचरणशील हैं (अतएव उद्यमी – तु. ऐब्रा. रोहित के प्रति इन्द्र का आदेश-उपदेश 'चरैव' ७।१५) – जो उन्हें आपूरित कर रखा है; दोनों दृष्टियों से ही बृहत् हैं वे, अक्षुण्ण है उनके उत्साह का उपाय; हम सब के लिए ही बढ़ते चले हैं वीरता प्रकट करने; वे विपुल एवं विशाल हैं; कर्त्ता द्वारा सुकृत हुए हैं वे (तु. सूर्य 'क्रत्वा कृतः सुकृतः कर्तृभिर् भूत' ८।६२।१; और भी तु. तैउ. असद् वा इदम् अग्र आसीत्, ततो वै सद् अजायत, तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत, तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते २।७; यहाँ देवता 'स्वयम्भू'; और हमारे भीतर 'सह-ज' होकर भी कृतिसाध्य हैं) ६।१८।१। **नृवत् :** 'नृ' पुरुष की प्राचीन संज्ञा है, देवता एवं मनुष्य दोनों के सम्बन्ध में संहिता में बहुप्रयुक्त; इन्द्र 'नृवत्' क्योंकि वे ही सब कुछ हुए हैं (६।४७।१८)। इसे पुरु रूप की व्याख्या-विवृति पुरुष सूक्त के सहस्रशीर्षा पुरुष में है (१०।९०।१)। पुनः मर्मज्ञों की दृष्टि में **पुरुष** वे ही हैं जो 'पुरिशय' अथवा सब के अन्तर्यामी हैं (श. १४।५।५।१८), अथवा 'पुर' या आधार को चैतन्य के आलोक में आलोकित कर रखा है (< पुर + √वस 'प्रकाश देना')। इसी से वे यहाँ 'चर्षणीप्राः' हैं। वे जिस प्रकार अध्यात्म दृष्टि में आत्मा में 'बृहत्' हैं, उसी प्रकार अधिदैवत दृष्टि में विश्व में भी बृहत् हैं; अतएव वे **द्विबर्हा**। **अमिनः** < √मी 'क्षति करना, निराश करना'; तु. ऋ. आ द्विबर्हा अमिनो यात्विन्द्रः १०।११६।४। तु. 'बर्ह' मयूर के डैने। [1]तु. छा. ३।१२।६-९। [2]तु. ऋ. 'यं सुक्रतुं धिषणे विभ्वतष्टं घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः' — स्वच्छन्द है जिनका क्रतु (प्रज्ञावीर्य), विभ्वा ने जिनको काट-छाँट और बनाया है, जो वृत्रों के हन्ता हैं, उनको जन्म दिया धिषणाओं ने देवताओं ने ३।४९।१। **धिषणा** निघ. 'वाक्' १।११; निरुक्त 'धिषेर् दधात्यर्थे, धीसादिनीति वा, धीसानिनीति वा' ८।३ < √ धि ॥ धी + √सन् 'अधिकार करना' (तु. मन् + √धा = मन्धा > मन्धाता ऋ. १।११२।१३, ८।३९।८, ४०।१२, १०।२।२; निघ. 'मेधावी' ३।१५, समाधिमान पुरुष टी. १३६२[6])। मूल धातु 'धा' 'स्थापित करना' (BASE dhə-dh-, dhe; तु. IE dhes- 'Religious Feeling', devotion)। बाहर स्थापित करने से 'मन के भीतर स्थापित करना' (तु. मन + धा > मेधा), किसी एक में मन लगाना, उससे 'चिन्तन या मनन करने' के अर्थ में √धी। 'धिषणा' में इन दो धातुओं का अर्थ ही आया है। इसीलिए इस शब्द का एक अर्थ 'स्थापन' > जिसमें कुछ स्थापित किया जाए, अर्थात् 'आधार, पात्र' है। और एक अर्थ है 'चिन्तन, एकाग्रता, ध्यान' तु ऋ. ३।२।१। अन्तिम अर्थ में 'धिषणा' निघण्टु में उल्लिखित 'वाक्'; ध्यानी 'प्रज्ञा' कहेंगे। उस समय धिषणा 'देवी' ऋ. १।१०९।४; ४।३४।१, राये देवी धिषणा धाति देवम् (वोयुम्; यहाँ व्युत्पत्ति प्राप्त होती है, तु. ६।१९।२) ७।९०।३; वे 'मही' अथवा विपुला ज्योतिः शक्ति हैं १।१०२।७, ३।३१।१३, १०।९६।१०; वे 'वरूत्री' हैं जिन्होंने सब आच्छादित कर रखा है १।२२।१०, टी. १५६४[5]; अमेय अथवा अपरिमेय इन्द्र को उन्होंने दीप्त किया (तित्विषे) 'मही' होकर १।१०२।७, १०।९६।१० (अहर्यद् ओजसा); हमारे भीतर आविष्ट होकर नया जन्म देती हैं (विवेष यन् मा धिषणा जजान; √विष् 'उजाले के रूप में फैल जाना') ३।३२।१४; इन्द्र की बृहत् इन्द्रिय को, उनके शुष्म एवं क्रतु को, उनके वरेण्य वज्र को धिषणा तेज धार देती हैं अर्थात् वे सूक्ष्म, श्रेष्ठ (अग्र्या) बुद्धि की तीक्ष्णता हैं →

इन्द्र यदि इन दो धिषणा के मिथुन एवं उसके अन्तर्वर्ती देवगण से उत्पन्न हुए हों तो फिर उसका सहज अर्थ हुआ कि विश्व-ब्रह्माण्ड की जो चिद्‌विभूति है, इन्द्र उसके ही घनीभूत रूप हैं — जिस प्रकार सप्तशती में हम देवी को सारे देवताओं के तेजपुञ्ज के घनविग्रह रूप में आविर्भूत होते देखते हैं। विश्वदेवगण का आवेश जब मनुष्य के भीतर जागता है तब वे सभी देवता होकर अपने सुरों (स्वरों) की लहर-लहर में[4] एवं सोमयाग के तीनों सवनों में इन्द्र को जन्म देते हैं।[5]

→ ८।१५।७; इन्द्र को ही अन्तिम विजय के सम्मुखीन करती हैं ६।१९।२ (तु. ३।२६।६), हमारे भीतर संवेगों की जनित्री हैं वे १०।३५।७; 'सं जानते मनसा सं चिकित्रे ऽध्वर्यवो धिषणा-पश् च देवीः' — प्रत्येक मन में एक ही संज्ञान एक ही सम्बोधि अथवा विचक्षण आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि अध्वर्युओं की धिषणा और देवी अप् की है अर्थात् प्राण और प्रज्ञा के समन्वय से ही सिद्धि प्राप्त होती है १०।३०।६ (तु. १।८६।१, टी. १४५८)। धिषणा की प्रज्ञामूर्ति इन सब उक्तियों के माध्यम से स्पष्ट हो जाती है (तु. १।१०२।१, ३।३१।१३, ४।३४।१, ३।६।८)। --- आधियाज्ञिक दृष्टि से धिषणा सोमपात्र है : 'मा च्छेद्म रश्मीँर् इति नाधमानाः पितॄणां शक्तीर् अनुयच्छमानाः इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्य्‌ अद्री धिषणाया उपस्थे' — "हम रश्मियों को (ज्योति की साधना के तन्तुओं को अर्थात् पुरुषानुक्रमिक साधना की धाराओं को (परम्परा) तोड़ें नहीं', इस आकुल आवेदन के साथ पितृपुरुषों के शक्तिसमूह को और भी प्रशस्त करके, तु. ७।७६।४ टी. १२८७[3]) इन्द्र और अग्नि के साथ ही (वे) वीर्यवर्षी (याजकगण) प्रमत्त हो जाएँ क्योंकि वे (सोमसवन के) ये दो पाषाण धिषणा के उपस्थ में होते हैं। इन दो पाषाणों की चोट से कूट-पीस कर निचोड़ा सोमरस 'धिषणा' अथवा सोमपात्र में संचित होता है — जो उसके उपस्थ या गोद में अर्थात् सन्निकट रखे रहते हैं। अध्यात्म दृष्टि में धिषणा ज्वार के समय मूलाधार स्थित योनिकन्द, और भाटे के समय आज्ञाचक्र स्थित इन्द्रयोनि है। दो पाषाणों के संघात (चोट) से रस निकलता है। संघात नितान्त सन्निकर्ष का परिणाम है। अधिदैवत दृष्टि में यही सन्निकर्ष इन्द्र एवं अग्नि का साहचर्य है और अध्यात्म दृष्टि में मन का शौर्य या साहस एवं देह के वीर्य का समागम है। अध्यात्म सवन में उस समय : 'युवाभ्यां देवी धिषणा मदायेन्द्राग्नी सोमम् उशती सुनोति, तावश्विना भद्रहस्ता सुपाणी आ धावतं मधुना पृङ्क्तम् अप्सु' — हे इन्द्र, हे अग्नि, तुम दोनों की सहायता से देवी धिषणा मत्त करने के लिए व्यग्र होकर सोम सवन करे; हे अश्विद्वय, हे भद्रहस्त शोभनपाणि (देवयुग्म), अप् में (निहित सोमरस को मधु द्वारा सम्पृक्त करो १।१०९।४। यहाँ धिषणा देवी अर्थात् चिन्मयी हो गई हैं। यज्ञ अथवा पूजा का उपकरण या उपादान भी चिन्मय — यह समझने में इस देश के लोगों को कष्ट नहीं होता है। शौर्य और वीर्य के सङ्गम से आधार में सोम्य आनन्द जब छलक उठा तब द्युलोक के आलोक-दूत अश्विद्वय आए। उन्होंने अपने सुनन्दन (आनन्ददायक) कल्याणमय स्पर्श से सोम की मत्तता को मधुमय आनन्द में रूपायित किया (द्र. टीमू. १३२८); प्रत्येक नाड़ी में उत्ताल होकर जो धारा बह रही थी, उसको मधुक्षरा किया (ल. मधुपृङ्क्तम् ॥ मधुपर्क)। इसके ही सम्बन्ध में अन्यत्र पाते हैं : **द्रप्सश्** चस्कन्द प्रथमाँ अनु द्यून् इमं च योनिम् अनु यश् च पूर्वः, समानं योनिम् अनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्य् अनु सप्त होत्राः' — द्रप्स (ज्योतिर्मय सोम बिन्दु, तु. मनसो रेतः प्रथमम् १०।१२९।४, टी. १२७५[3]; और भी तु. छा. सृष्टि के आरम्भ में श्रद्धा की आहुति →

इस प्रकार इन्द्र को जन्म देने की संज्ञा है उनको 'तक्षण' करना अर्थात अव्याकृत से उनको व्याकृत करना, अरूप, अव्याख्यात को विशिष्ट रूप देना। एक स्थान पर बतलाया जा रहा है कि दो धिषणाओं ने उनको तक्षण करके बाहर प्रकट किया [१८४५]; अन्यत्र वे 'विभ्वतष्ट' हैं।[1]

देने के फलस्वरूप सोम की उत्पत्ति होती है जो प्रजासृष्टि का साधन आदिम रेतसबिन्दु है ५।४।१...) क्षरित हुआ है उस प्रथम दिन के पश्चात से इस योनि में (जिसके फलस्वरूप वर्तमान मनुष्यजन्म अथवा दिव्यजन्म) फिर (सब की) पूर्ववर्ती जो योनि है, उसमें (अर्थात् अदिति के उपस्थ में जिससे विश्व सृष्टि होती है तु ऋ. १०।५।७, टी. १२६५[1]); (वही) द्रप्स जो संचारित होता जा रहा है वह किन्तु एक ही योनि में (अर्थात सब योनि वही आनन्द-ब्रह्मयोनि हैं तु. गीता. १४।३-४); उसकी मैं आहुति देता हूँ क्रमशः सात होम-मंत्रों द्वारा (ऊपर की ओर प्रवाहित धारा में) १०।१७।११। उसके बाद ही है भाटे अथवा नीचे की ओर उतरने का उल्लेख: 'यस् ते द्रप्सः स्कन्दति यस् ते अंशुर् बाहुच्युतो धिषणाया उपस्थात्, अध्वर्योर् वा परि वा यः पवित्रात् तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतम्' — (हे सोम,) तुम्हारा जो द्रप्स क्षरित होता है, तुम्हारा जो अंशु (आँस, किरण द्र. टी. १५७२) दो बाँहों से च्युत होता है (जो परिकीर्ण होता है) धिषणा के उपस्थ से, अथवा अध्वर्यु से (स्मरणीय. अश्विद्वय देवगण के अध्वर्यु हैं द्र. १०।५२।१ टी. १४२२), अथवा परिकीर्ण होता है पवित्र से ('पवित्र' सोमरस की चालनी (चलनी), अध्यात्म दृष्टि में 'नाड़ीतंत्र') उसको तुम्हारे निमित्त ही आहुति देता हूँ मन ही मन वषट् (द्र. टी. ११४४)। यहाँ 'धिषणा का उपस्थ' नवम मण्डल का 'ऋतस्य योनिः' है (९।८।३, १३।९, ३२।४..., तु. इन्द्रयोनि अथवा उसके ऊपर में सहस्रार), जिससे अक्षर का क्षरण होता है (तु. १।१६४।४२); यह वर्णन विसृष्टि अथवा शक्ति संचालन दोनों के बारे में ही उपयुक्त है। फिर सोम मण्डल में देखते हैं: 'पवस्वा दभ्यो अदाभ्यः पवस्वौषधीभ्यः, पवस्व धिषणाभ्यः' — (हे सोम) कोई तुम्हें धोखा नहीं दे सकता (अर्थात् तुम सब कुछ देखते हो, सब जानते हो — क्योंकि तुम विश्वतश्चक्षु हो) पवित्र धारा में बहते चलते हो तुम प्राण के स्रोतों को उच्छ्वसित करते हुए, बहते चलते हो ज्योतिर्वहा नाड़ियों को सतर्क करते हुए, बहते चलते हो धिषणा से धिषणा में ९।५९।२। अप् जिस प्रकार प्रवहमान प्राण का प्रतीक है, ओषधि उसी प्रकार नाडी का — आज्ञान और संज्ञान की ज्योति के ('ओष' < √वस् 'दीप्ति देना, प्रकाश देना' द्र. टी. १३७०[2]) वाहन के रूप में। उनके भीतर प्राण का प्लावन प्रणालबद्ध हो जाता है। यह स्रोत चलते चलते जहाँ आवर्त की रचना करता है, अध्यात्म दृष्टि में वही धिषणा है — आधियाज्ञिक दृष्टि से वह धिषणा अथवा सोमपात्र का ही प्रतिरूप है (तु. योग का 'चक्र', संहिता में 'नाभ' ९।७४।६ टी. १२५३[2], १५२३)। ये भी सोमपात्र हैं, सौम्य आनन्द के आधार हैं। इनके सम्बन्ध में अन्यत्र बतलाया जा रहा है: 'यूयम् अस्मभ्यं धिषणाभ्यस् परि विद्वांसो विश्वा नर्याणि भोजना (नर के समस्त संभोगानन्द के रहस्य को जानते हो जब) द्युमन्तं वाजं वृषशुष्मम् (वीर्योल्लासमय) उत्तमम् आ नो रयिम् ऋभवस् (हे ऋभुगण) तक्षता वयः (तारुण्य) ४।३६।८। वाज, रयि, एवं वयः — सब उत्पादित होगा धिषणा से नरभोग्य अमृत रूप में (लं. ऋभुगण नरदेव हैं) इन सब धिषणाओं में अधिष्ठित सब देवता 'धिष्ण्य' (३।२२।३; तु. श. 'प्राणा वै देवा धिष्ण्याः, ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति' ७।१।२।४। प्रत्येक चक्र में वायु की धारणा से चेतना का विकास योग की एक परिचित साधना है)। ... अधियज्ञ दृष्टि से जो सोमपात्र एवं अध्यात्म दृष्टि में चक्र है, वही अधिलोक एवं अधिदैवत दृष्टि में द्यावा-पृथिवी की संज्ञा है। धिषण्य तब द्विवचनान्त — जिस प्रकार आलोच्यमान मंत्र में। निघण्टु में 'धिषणे' →

यह द्वितीय विशेषण विशेष तात्पर्यपूर्ण है। ऋक्संहिता में चार स्थानों पर इसका प्रयोग प्राप्त होता है: दो स्थानों पर इन्द्र का बोध होता है, एक स्थान पर इन्द्रपत्नी नादियों का और एक स्थान पर यजमान का बोध होता है।[2] ऋक्संहिता में ऋभुओं के निमित्त अनेक सूक्त हैं। संख्या में वे तीन हैं जो ऋभुक्षा, वाज एवं विभ्वा नाम से परिचित हैं। व्युत्पत्ति एवं परिचय- दोनों दृष्टियों से ही वे 'सुकर्मा' हैं। उन्होंने मर्त्य होते हुए भी अमरत्व प्राप्त किया था — यही उनकी लक्षणीय विशेषता है।[3] 'वाज देवताओं के सुकर्मा हैं, ऋभुक्षा इन्द्र के एवं विभ्वा वरुण के सुकर्मा हैं।'[4] विभ्वा 'विभु' का ही रूपान्तर है जो 'विश्वरूप' अथवा 'सर्वव्यापी' का बोधक है। वरुण रात्रि के आकाश या अव्यक्त महाशून्य के देवता हैं। विभ्वा उनके 'सुकर्मा' या क्रियाशक्ति हैं। अव्याकृत को तक्षण करके इन्द्र को रूप देना, आधार में इन्द्रवीर्य के संक्रमण के लिए नदी या नाड़ी का प्रणाल निर्मित करना, और यजमानसिद्धरूप तक्षण करना — यही उनके तीन कार्य हैं।

इन्द्र के रूपनिर्माण के साथ तक्षण के इस अनुषङ्ग से त्वष्टा इन्द्र के पिता हैं, इस प्रकार की एक परिकल्पना उपस्थित की जा सकती है। त्वष्टा ने इन्द्र के वज्र का तक्षण किया था किन्तु उन्होंने इन्द्र का भी तक्षण किया है, संस्कार दिया है, अतएव वे इन्द्र के पिता हैं— इसका कोई भी संशय रहित प्रमाण ऋक्संहिता में प्राप्त होता नहीं। इन्द्र के पिता का उल्लेख है किन्तु उनका नाम या विशेष कोई परिचय नहीं है। एक स्थान पर केवल यह है— 'त्वा जनिता जीजनत' [१५५०], किन्तु वे कौन हैं, इसके बारे में कुछ नहीं बतलाया गया है। अनेक स्थानों पर 'महान पिता' के घर में उनके 'सोम के गिरिष्ठा पीयूष' पान का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] यहाँ →

द्यावापृथिवी, नामान्तर 'चमू' या पानपात्र (३।३०; तु. ऋ. ५।५१।४, ८।४।४, ७६।१०, ९।४६।३, १०७।१८, १०।२४।१, सर्वत्र द्विवचन लक्षणीय), शौनकसंहिता में 'भुजिष्य पात्र' अर्थात जीवन के समस्त सम्भोग का आधार (१२।१।६०)। द्युलोक और भूलोक की परिधि के भीतर सारे देवता सारे लोक जो हैं, वे सब हमारे आदि जनक-जननी हैं। अध्यात्म दृष्टि में एक सहस्रार और एक मूलाधार है— दोनों के मध्य में इन्द्र का विद्युद्विसर्प। 'विभ्व तष्ट' द्र. मूल का परवर्ती परिच्छेद।
३ द्र. टीभू. १२८२।[1] ४ द्र. ऋ. २।१३।५ टी. १५१६। ५ द्र. ८।२।२१।

[१५४९] ऋ. तं हि स्वराजं (यह इन्द्र का विशिष्ट विशेषण, तु. १।८० सूक्त की टेक - ८४।१०-१२) वृषभं तम् ओजसे (ओजः सिद्धि के लिए) धिषणे निष्टतक्षतुः ८।६१।२।
[1] ३।४९।१। [2] इन्द्र ३।४९।१, ५।५८।४ (इन्द्र 'राजा') नदी ४२।१२ टी. १५५५; यजमान ४।३६।५ (तु. ६) [3] १।११०।४, टी. १२५५। [4] वाजो देवानाम् अभवत् सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा - ४।३३।९।

[१५५०] ऋ. १।१२९।११। [1] ३।४८।२; टीभू. १५७२। [2] ऋ. सुवीरस् ते जनिता मन्यत द्यौर् इन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत, यं ईं जजान स्वर्यं सुवज्रम् अनपच्युतं सदसो न भूम— (लोग) सोचते हैं सुवीर्य द्यौः तुम्हारे जनक, इन्द्र के कर्ता (अर्थात् जनक, तु. ३।३१।२; और भी तु. मीसू. परधात् कर्तुश् च पुत्र दर्शनात् १।२।१३) सचमुच सुदक्षतम →

यहाँ जन्मते ही इन्द्र ने त्वष्टा को अभिभूत करके सोमपान किया था, ऐसा उल्लेख इसी सूक्त के पाँचवें मंत्र में है। अतएव यह 'महान पिता' और त्वष्टा एक हो नहीं सकते। एक स्थान पर 'इन्द्र का जनक द्यौः है— ऐसा समझा जा सकता है'— इस प्रकार का आभास या संकेत प्राप्त होता है।[2] फिर एक स्थान पर अग्नि एवं इन्द्र को सम्बोधित करके कहा जा रहा है: 'एक ही है तुम दोनों का जनिता, तुम दोनों भाई-भाई हो, तुम दोनों यमज (जुड़वाँ) हो, तुम दोनों की माता यहाँ-वहाँ (सर्वत्र) है।'[3] अग्नि द्यावापृथिवी के पुत्र हैं यह बात अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में बतलाई गई है।[4] वस्तुतः द्यावा-पृथिवी 'देवपुत्र'— समस्त देवता ही उनकी सन्तान हैं।[5] अतएव इन्द्र भी उनकी सन्तान हैं। तो फिर इन्द्र के पिता 'द्यौः' एवं माता 'पृथिवी' हैं। देवता के जन्म के बारे में यह सामान्य कथन है। पैरों के तले पृथिवी और माथे के ऊपर आकाश, उसके भीतर ही विश्व का सबकुछ — देवता, मनुष्य, चित्-अचित् सर्वभूत है। दर्शन की भाषा में विश्व-ब्रह्माण्ड के एक छोर पर चिदाविष्ट या चितशक्ति से ओत-प्रोत जड़ (क्योंकि पृथिवी भी देवी) और एक छोर पर विशुद्ध-चैतन्य; चिन्मय सत्ता है। उपासक के जो इष्ट-देवता पुरुषविध हैं वे इन दोनों के मध्य बिन्दु में सूर्य की तरह एक प्रकाशपुञ्ज हैं। इसी अर्थ में इन्द्र द्यावा-पृथिवी के पुत्र हैं, हमसब के भीतर जो पुरुष, वे अग्नि हैं और आदित्य में जो पुरुष, वे इन्द्र हैं। उपनिषद की भाषा में दोनों ही एक हैं। संहिता की भाषा में दोनों भाई-भाई और दोनों यमज हैं। पुरुष सूक्त में भी बतलाया जा रहा है— 'पुरुष के मुख से जन्म लिया इन्द्र और अग्नि ने, प्राण से वायु ने, नाभि से अन्तरिक्ष एवं शीर्ष से द्यौः उत्पन्न हुए।'[6] यहाँ भी अग्नि और इन्द्र सहजात एवं मुख्य है और उनके ऊपर में द्यौः है।

कर्मी हुए, जिन्होंने (ऐसे पुत्र को ही केवल जन्म नहीं दिया बल्कि और भी) ज्योतिर्मय (अथवा 'निर्घोषवान'; 'स्वरः' ज्योति एवं शब्द दोनों का ही बोध होता है, जिसमें सूर्य और आकाश दोनों की ही ध्वनि है; फिर वज्र के पहले विद्युत, उसके बाद निर्घोष) इस सुवज्र को भी जन्म दिया — जो अपच्युत होता नहीं। अपने (स्वधाम से — पृथिवी की तरह (अर्थात् पृथिवी भी स्थिर और वज्र भी स्थिर है; ल. बौद्धशास्त्र में वज्र अविचल शून्यता का प्रतीक है) ४।१७।४। मंत्र के 'मन्यत' के साथ तु. १०।७३।१०, टी. १८४६[1]; और भी तु. इन्द्र का जन्म बल, सहः एवं ओजसे (१०।१५३।२ टी. १८२७[1]), शवः से (८।७०।२, ८२।१४) निखिल ब्रह्माण्ड या भुवन में ज्येष्ठ उस तत् स्वरूप से (१०।१२०।१ टी. मू. १२६३[1])। अर्थात् इन्द्र के पिता निर्नाम; अनाम और नीरूप हैं, उनका कोई भी विशेष परिचय नहीं है (द्र. गेल्डनर, इस मंत्र की टीका)। यहाँ जनिता ने जिस प्रकार इन्द्र को जन्म दिया उसी प्रकार वज्र को भी। ल. तक्षण की बात यहाँ नहीं है। और एक स्थान पर भी 'पिता' वज्र के कर्ता हैं — यह बात ही है, तक्षण की बात नहीं है २।१७।६, टी. मू. १८४६[८])। अतएव त्वष्टा इन्द्र के पिता नहीं हैं, वज्र तक्षण में अनिर्वचनीय →

जान पड़ता है, इन्द्र के पिता का परिचय संहिता में इच्छानुसार सुस्पष्ट नहीं किया गया है। एक स्थान पर 'द्यौः' के प्रति संकेत करने के अतिरिक्त सर्वत्र इस पिता को केवल 'जनिता' के रूप में उल्लेख किया गया है [१८५११]। यह विशेषण 'द्यौः' के बारे में कई बार प्रयुक्त हुआ है,[१] किन्तु त्वष्टा के लिए एक बार भी नहीं— यद्यपि वे 'त्वष्टा विश्वरूपः पुरुधा जजान' हैं।[२] आगे चलकर हम देखेंगे कि इन्द्र के पिता को जिस प्रकार केवल 'जनिता' बतलाया गया है, उसी प्रकार उनकी माता भी अनेक स्थानों पर केवल 'जनित्री' हैं। 'द्यौष्पिता' अथवा आलोकदीप्त शून्यता अनेक रूपों में सृष्टि के आरम्भ में है — यह भावना हमें ग्रीक एवं रोमन पुराण में भी प्राप्त होती है। यह जनिता मानो तटस्थ है और जनित्री भी वही है। सम्भवतः यह सृष्टि के पूर्ववर्ती काल में आदिमिथुन की युगनद्धता है। पिता त्वष्टा एवं माता बृहद्दिवा में उनका ही क्रिया रूप प्राप्त होता है — जिनके द्वारा विश्व का तक्षण एवं सक्षण होता है।[३] पहले ही हमने देखा है कि इन्द्र को वही आदिमिथुन अव्यक्त से तक्षण करते हैं।[४] और त्वष्टा तक्षण करते हैं विश्वरूप को[५] एवं प्रसङ्गतः इन्द्र के वज्र को — इन्द्र को नहीं। इन्द्र त्वष्टा की तरह ही 'जनिता दिवो, जनिता पृथिव्याः जनिताश्वानां जनिता गवाम्' हैं।[६]

इन्द्र यदि वेद के परमदेवता हों तो फिर उनके पिता के परिचय को इस प्रकार रहस्यावृत रखना रहस्यवादी दृष्टि से नितान्त स्वाभाविक है। परम के उत्स को जानने की दिशा में बुद्धि अपनी थिरकन खोकर नासदीय सूक्त के उसी 'अप्रकेत दुर्गम (गहनं) गहराई (गभीरम्) में पहुँचती है जहाँ है 'आनीद् अवातं स्वधया तद् एकम्'। वहाँ जनिता-

इन्द्र के पिता का निमित्त मात्र है।[२] समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा ६।५९।२। इहेह' = इह + अमुत्र, तु. शौ. पृथिवी सूक्त १२।१, वहाँ जिस प्रकार दृश्यमान पृथिवी का वर्णन है, उसी प्रकार फिर बतलाया गया है— 'यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतम् अमृतं पृथिव्याः' ८। [४] तु. १।१४६।१, ३।१।८, ६।७।४,५, ७।२।८...। [५] तु. १।१५७।१, ४।५६।२, ६।१७।८, ७।५३।१, १०।११।८; १२।८। [६] मुखाद् इन्द्रश् चाग्निश् च प्राणाद् वायुर् अजायत, नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः सम् अवर्तत १०।९०।१३,१४।

[१८५११] ऋ. १।१२९।११, ४।१७।१२, १०।२८।६। [१] १।१६४।३३, 'स नू नो अग्निर् नयतु प्रजानन् (पथ की खोज, तु. १।१८९।१ टी. १३१६[६]) अच्छा रत्नं देवभक्तं (देवाविष्ट ज्योतिर्घनता) यद् अस्य (जो सम्भवतः उनकी ही निधि है, तु. १।१।१) धिया (ध्यान द्वारा) यद् (जिस रत्न को) विश्वे अमृता अकृण्वन् द्यौष् पिता जनिता सत्यम् (जिस रत्न को सत्य किया हमारी चेतना में) उक्षन् (हे वीर्यवर्षी अग्नि, साक्षात्कृत देवता का सम्बोधन) ४।१।१०, १७।४, ६।७०।६*, ६।५९।२।[२] ३।५४।१८ टी. १५६८५; तु. गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर् देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः १०।१०।५। त्वष्टा यम-यमी के जनिता एवं सविता। केवल इन्हीं दो स्थानों पर उनके बारे में सामान्यतः जन् धातु का प्रयोग है। उनका यह प्रजनन प्रजापति रूप में, आदि जनिता के निमित्त रूप में है। पुराण में भी प्रजापति ब्रह्मा आदिपुरुष नारायण के निमित्त एवं प्रतिभू या प्रतिनिधि हैं। [३] १०।६४।१०, २।३१।४ टीमू १५७१८। [२] ८।६१।२, टी. १८४८। यही आदि तक्षण है और उसी से इन्द्र 'उतो पमानां प्रथमो नि षीदसि'—

जनित्री और जातक की त्रिपुटी एक अनिर्वचनीय नीहार के भीतर लगता है एकाकार हो गई है। इसलिए एक स्थान पर बतलाया जा रहा है कि इस अजर इन्द्र का स्तवन हम एक मात्र 'परमा धी' द्वारा ही कर सकते हैं, क्योंकि वे 'पुराजा' [१८५२] हैं। वे सब का अतिक्रमण करके 'परम परावत' में अर्थात लोकोत्तर के परम प्रत्यन्त में जन्मे हैं।[१] वहाँ अनालोक के आलोक में सब मायामय है।[२]

ऐसी स्थिति में भी उनका जन्म होता है। जन्म के प्रसङ्ग में पिता की भूमिका कुछ तटस्थ है। किन्तु माता की भूमिका वैसी नहीं है। अतएव इन्द्र के पिता की अपेक्षा इन्द्र की माता का परिचय संहिता में स्पष्टतर है। इन्द्र सात आदित्यों में एक आदित्य हैं [१८५३] इसलिए अदिति उनकी माता हैं। एक नाम प्राप्त हुआ; किन्तु यह नाम 'द्यौष्पिता' की अपेक्षा भी भावमय है। इससे भी स्पष्ट इन्द्र की माता का नाम '**शवसी**' है। ऋक्संहिता में दो स्थानों पर उनका उल्लेख है और इन्द्र के साथ कुछ वार्तालाप भी है। इन्द्र ने जन्मते ही जिज्ञासा की है कि उनके प्रतिस्पर्द्धी कौन-कौन हैं और शवसी उनकी पहचान करा देती हैं।[१] किन्तु हमने पहले ही देखा है, इन्द्र 'शवसः सूनुः' अर्थात शौर्य के पुत्र हैं। इसलिए अदिति की तरह यह नाम भी निश्चित रूप से भाववाची है। अदिति सर्वमयी हैं वे ही एक साथ माता, पिता एवं →

और परम तत्वों में मुख्य रूप से आसीन रहे हो विश्व के मूल में (८।६१।२)। इसलिए त्वष्टा भी एक परमदेवता के रूप में उनके समानधर्मा हो सकते हैं किन्तु उनके जनक नहीं हो सकते।[५] उनका यह तक्षण है: 'प्रजाः पुरुधा जजान', ३।५५।१९; किन्तु उनका यह प्रजनन बहुधा आत्मविभावन है (तु. छा. तद् ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेय ६।२।३)।[६] ऋ. ८।३६।४-५; ८९।५।

[१८५२] तु. ऋ. तं वो (तुम लोगों के लिए) धिया परमया पुराजाम् अजरम् इन्द्र अभ्यनूष्य् (स्तवन करता हूँ, उनके निमित्त मंत्रोच्चार करता हूँ) अर्कैः (अर्चि द्वारा, आग के सुर द्वारा) ६।३८।३; २।३१।१९।[१] ५।३०।५, टी. १८३९।[२] तु. १०।५४।२-३ टी. १८२३।

[१८५३] ऋ. २।२७।१, टी. १३५६; तु. १०।७२।८-९, ८।११४।३ टी. १२८३।[१] द्र. ८।४५।४-६, ७७।१-२। द्वितीय मंत्र में दो इन्द्रशत्रु के नाम हैं—**और्णवाभ** और **अहीशू**। इनका एक साथ उल्लेख: ८।३२।२६। और्णवाभ वृत्र का सहचर एक दानु या दैत्य है (२।११।१८)। < ऊर्णवाभि, अपत्यार्थक प्रत्यय सम्बन्ध से। ऊर्णवाभि < ऊर्ण (पश्म, मुलायजन) + √वाभ, 'बुनना' तु. GK uph-aino, OHG web-an, Eng. weave) मकड़ी; तु. श. यथोर्णवाभिस् तन्तुनो च्चरेत् १४।५।१।२३ (काण्व शाखा का पाठ 'ऊर्णनाभिः' बृ. २।१।२०)। निरुक्त में 'और्णवाभ' नाम के एक पूर्व कालीन आचार्य का बार-बार उल्लेख है। विष्णु के तृतीय पद के सम्बन्ध में उनकी परिकल्पना प्रणिधेय है: शाकपूणि का कथन है, 'त्रेधा निदधे पदम्' (ऋ. १।२२।१७) तात्पर्य 'पृथिव्यां अन्तरिक्षे दिवि'; और्णवाभ का कथन है 'समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि' अर्थात उदयगिरि में, माध्यन्दिन अन्तरिक्ष में, एवं अस्तगिरि या अस्ताचल में (दुर्ग. नि. १२।१९)। लं. अस्तगिरि' तुङ्गता में आरोहण का बोध होता है। शून्यता के देवता वरुण-अस्त के सूर्य हैं। मित्र का अधिकार माध्यन्दिन →

पुत्र हैं, जो कुछ उत्पन्न हुआ है, या होगा — सभी वे हैं, वे ही हम सब के निरञ्जनत्व और सर्वात्म भाव की प्रचोदयित्री अथवा प्रेरणास्रोत हैं।[२] इन्द्र की माता के अस्तित्व का यही आधार है। शवसी अदिति की ही विभूति है, उनका ही क्रिया रूप है। इन दो नामों के अतिरिक्त इन्द्र की माता सर्वत्र ही केवल 'जनित्री' है।[२]

अन्तरिक्ष की ऊँचाई तक है, उसके बाद सूर्य यदि झुके बिना ऊपर की ओर उठ जाते हैं तो वही उनका अथवा विष्णु का 'परम पद' होगा — जहाँ 'आतत चक्षु' (ऋ० १।२२।२०) और 'मधु' का उत्स है (१।१५४।५)। यही और्णवाभ के मतानुसार 'गयशिरः' है जो शाकपूणि के द्युलोक के भी ऊपर की ओर है। गयःशिरस का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'जयशिरः' अथवा परम विजय — अवश्य ही जरा-मृत्यु पर। जो सूर्यद्वार भेद करके वारुणी शून्यता में अवगाहन करने पर सम्भव है। यही उन प्राचीन असद्ब्रह्मवादियों का लक्ष्य था, जो परवर्ती काल में 'जिन' या विजयी, 'महावीर' अथवा 'बुद्ध' हुए (द्र० टी० १२५८[१३])। आर्य भावना में यही मुनिधारा है। नैरुक्त और्णवाभ क्या इसी धारा के आचार्य थे? ऊह अथवा तर्क का जाल बिछाते रहने के कारण क्या उनके पूर्वपुरुष को ऊर्णवाभि अथवा मकड़ी कह कर कटाक्ष किया गया है (तु० 'ब्रह्मजाल', दीघनिकाय सुत्त १)? ऋक्संहिता का इन्द्रशत्रु और्णवाभ क्या तर्कबुद्धि का प्रतीक है? ... **अहीशू** का उल्लेख और्णवाभ के साथ होने के अतिरिक्त ऋक्संहिता के अष्टम मण्डल के बत्तीसवें सूक्त के द्वितीय ऋक् में है, जहाँ वह 'दास' है। उसकी हत्या करके इन्द्र ने प्राण की धारा प्रवाहित की थी। और फिर सन्धा भाषा में ऋक्संहिता के दशम मण्डल के एक सौ चौवालीसवें सूक्त के तृतीय एवं चतुर्थ ऋक् में उसका प्रसङ्ग है। यह नाम सम्भवतः 'मातरि-श्वन्' के अनुकरण पर गढ़ा गया है जिसका अर्थ है 'अही' के भीतर जो स्फीत हो जाए (अही + √शू)। वह वृत्र का अनुचर या सन्तान है। वृत्र 'अहि' अथवा कुण्डली मारने वाला साँप है (१।३२।१, २, ५१।४, ८०।१, ३।३२।११, ४।१७।३...) उसकी पत्नी अथवा शक्ति 'अही' — क्योंकि देवताओं की तरह असुर (अथवा अपशक्तियाँ) भी सशक्तिक हैं (तु० ५।१०४।२३-२४)। यही अही अथवा अविद्या के गर्भाशय में प्रवर्धमान 'दास' अथवा तमःशक्ति 'अहीशू' है। उसके वर्णन में बतलाया जा रहा है: 'घृषुः श्येनाय कृत्वन आसु स्वासु वंसगः, अव दीधेद् अहीशुवः' — घर्षण से दीप्त होकर कृती श्येन के लिए (प्रतीक्षा-रत वे) इन स्वकीय (धेनुओं के मध्य में रहकर ही वृषभ (इन्द्र) ने अवज्ञा की दृष्टि से अहीशू (शक्तियों के प्रति) को देखा) १०।१४४।३। असुर विजयी इन्द्र वृषभ की तरह खड़े हैं उनको असुर की शक्तियों ने घेर रखा है। उन का प्रतिस्पर्द्धी विवरशायी अहीशू दिखाई नहीं देता, दिखाई देती हैं उसकी शक्तियाँ। — वे अवज्ञा की दृष्टि से ('अव दीधेत' < अव √धी 'ध्यान करना, सोचना' तु० 'अवज्ञा' तुच्छ रूप में जानना) उनकी ओर निहार रहे हैं। यह चित्र भागवत के कालियदमन की कथा का स्मरण दिला देता है। इन्द्र घृषु अथवा घर्षण से प्रदीप्त हैं — अग्नि-मन्थन में अरणि की भाँति (< √घृ 'निर्धारित होना, दीप्ति देना + इच्छार्थे स > √घृष जल उठने के लिए घिसना < घृषु !! घृषि 'उत्साहदीप्त')। वृत्रवध के पश्चात् श्येन उनके लिए अमृत का आहरण करेगा, वे उसकी ही प्रतीक्षा में हैं (इसीसे 'श्येनाय' चतुर्थी; श्येन का अमृत आहरण तु० ४।२६।४–२७।५; यही **श्येन** पुराण में विष्णु का वाहन है, यह भाव निर्मेघ आकाश में मध्याह्न के सूर्य के नीचे ही चक्राकार उड़ती हुई चील के चित्र से लिया गया है; पक्षी के साथ देवकाम चित्तवृत्ति की उपमा—

इन्द्रपिता, इन्द्रमाता और नवजातक इन्द्र को लेकर एक दिव्य परिवार का चित्र उभरता है। ऋक् संहिता के दो स्थानों पर इस परिवार का एक रोचक विवरण प्राप्त होता है। तृतीय मण्डल में गाथिन विश्वामित्र बतलाते हैं—

'यह जो सद्यःजात वीर्यवर्षी कुमार सहायक हुए सामने की ओर प्रवाहित करने में अभिषुत अन्ध (धारा को)। पान करो→

द्र॰ १।२४।४, टीमू॰ प्रथम खण्ड। श्येन ही एकमात्र ऐसा पक्षी है जो सूर्य के निकट पहुँचता है; उसकी दृक्शक्ति की तीक्ष्णता यूरोप के लिए एक किंवदन्ती है)। इन्द्र के लिए अमृत आहरण का प्रसङ्ग सूक्त के अन्त तक है (ल॰ सूक्त के विकल्पित ऋषि 'तार्क्ष्य सुपर्ण' हैं)। अगले मंत्र में ही है— 'यं (जिस सोम को) सुपर्णः परावतः (लोकोन्तर से) श्येनस्य पुत्र (आदि श्येन अवश्य ही 'दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान' या सूर्य १।१६४।४६ टी॰ ११८४, १२५९) आभरत् शतचक्रं (सोम का विशेषण) यो सोम अह्यो वर्तनिः (सर्पिणी का 'प्रवर्तक' सायण) १०।१४४।४। सोमाहरण का चित्र इस प्रकार है: परम व्योम से सोम को लेकर श्येन चक्राकार उड़ते-उड़ते नीचे आ रहा है। सुषोमा की धारा पकड़ कर आ रहा है। एकबारगी नीचे तक उतरने में उसको एकसौ बार चक्कर काटना पड़ रहा है क्योंकि सुषोमा के एक सौ घुमाव या चक्कर हैं। निश्चय ही अब उसमें और आवर्त नहीं है क्योंकि शतक्रतु इन्द्र ने अपने शतपर्वा वज्र के आक्रमण से प्रणालिका को सरल कर दिया है। तब शायद आशय की गहराई में जहाँ सोम 'अन्ध', (मंत्र ५) है; वहाँ अही अथवा मूला विद्या संस्कार शेष रूप में अब भी कुण्डली मारे हुए है। दिव्य सोम के स्पर्श से वह जाग उठता है एवं उसी सुषोमा की प्रणालिका (नाली, नाड़ी) से होकर ही चक्कर काटते-काटते ऊपर की ओर चलता है। फिर रूपान्तर की क्रिया शुरु होती है— 'अन्धः' 'पवमान सोम' होता है, अन्त में वह 'इन्दु' हो जाता है (मंत्र ६)। तात्पर्य यह कि देवता के आनन्द के प्रसाद से आधार में जो कुछ अन्धकारमय है वह सब ज्योतिर्मय हो उठता है। वह अन्धकार ही 'अहीशू' है। **वर्तनि** <√वृत् 'आवर्तित होना, चक्कर काटना' घोड़े की चाल ठीक करने के लिए सईस बीच में खड़ा होकर अपने चारों ओर चक्कर कटवाता, उसे 'वर्तनि' कहा जाता; ऐसे ही चक्कर काटते-काटते कम्बुरेखा में ऊपर की ओर जाना या नीचे की ओर आना दोनों ही 'वर्तनि' है, रेखा और पथ भी वही है, तु॰ 'वर्त्म'। और भी तु॰ 'पथः वर्तनिम् (पथ का का मोड़, घुमाव) ४।४५।३, ७।१८।१६; वेद (वरुण!) वातस्य वर्तनिम्' १।२५।९; उषा अप स्वसुस् (अपनी बहन रात्रि का) तमः ('बाधते' अनुमेय, तु॰ ६।६५।२; अथवा वर्तयाति के साथ अन्वय) सं वर्तयाति वर्तनिं (आलोक-पथ को मानो लहर-लहर में प्रसारित करती हैं) सुजातता (क्योंकि वे सुजाता हैं तु॰ १।१२३।३) १०।१७२।४...। ये सब प्रयोग लक्षणीय हैं: पृथिवी में अग्नि 'कृष्णवर्तनि' (८।२३।१९), यद्यपि ज्वार-भाटा में वे 'विवर्तनि' (१०।६१।२०, टी॰ १३६७[२]); अन्तरिक्ष में सरस्वती अथवा सिन्धु 'हिरण्यवर्तनि' (६।६१।७, ८।२६।१८) द्युलोक में अश्विद्वय भी वही हैं (१।९२।१८, ५।७८।२, ३, ८।५।१, ८।१, ८७।५), यद्यपि अन्तरिक्ष और द्युलोक के सन्धि-स्थल पर होने के कारण वे 'रुद्रवर्तनि' भी हैं (१।३।३, ८।२२।१, १४, १०।३९।११); उनका रथ 'रघु' (लघु) 'वर्तनि' (८।९।८) एवं घृतवर्तनि (७।६९।१); सोम भी 'रघुवर्तनि' ९।८१।२, तु॰ १०।१४४।४), नर 'वृजिनवर्तनि' अर्थात् चलता है जैसे जटिल, वर्तुलाकार पथ पर (१।३१।६); किन्तु सुष्टुति 'गायत्रवर्तनि' अग्नि-स्वर में चक्कर देकर ऊपर की ओर उठती है (८।३८।६)। [२] द्र॰ १।८९।१० टी॰ ११८९, १२२७[४], १३१७[४]; १०।१०० सूक्त की टेक टी॰ १३३८→

जब जैसी तुम्हारी इच्छा हो, इस सिद्ध रसमिश्रित सोम की (धारा) सब से पहले [१५४]।' — अकस्मात् तमिस्रा का आवरण छिन्न-भिन्न हुआ; उतर आया आलोक का कैशोर — अन्तरवरुद्ध सौरत प्राणोच्छलता का ज्वार होकर। प्रत्याहृत चेतना की गहराई में भोगवती ओजी धारा अवरुद्ध थी, वह कैशोर के स्पर्श से ऊपर की ओर ज्वार की तरह बहने लगी।... हे देवता, चिरकांक्षित सिद्धि की गंगोत्री में मेरी यह आनन्दधारा उत्तीर्ण हुई है। इसके प्रत्येक तीर्थ में तारुण्य की छलक, ज्योति की झलक और प्रज्ञान घनता की तुषार दीप्ति है। हे ईशान, यही मेरा नैवेद्य है। सब से पहले तुम्हारे ओठों का स्पर्श इसे प्रसाद कर दे। आज मैं अफुरन्त हूँ, अशेष हूँ — तुम्हारी अनन्त कामना की अद्भुत तृप्ति हो, मेरे सौम्य मधु की धारा में।

---

२ तु. १०।१३४ सूक्त की टेक : देवी जनित्र्य. जीजनद् भद्रा जनित्र्य. जीजनत; और भी तु. २।३०।२ 'माता' अस्येद् उ मातुः सवनेषु सद्यो महः [पितुं:] पितुं पपिवाञ् चार्वन्ना १।६१।७। 'चारु अन्न' पुरोडाशादि। ... इस एक यज्ञ सूक्त के अन्त में इन्द्र को 'निष्टिग्रीर पुत्र' बतलाया गया है (१०।१०१।१२)। यह ऋक् स्पष्ट रूप से आदि रस से सम्बन्धित है अर्थात शृंगार या काम-प्रेम विषयक है — जो संभवतः किसी देवनिन्दक (देवनिद) की व्यंग्यानुकृति है (तु सोम मण्डल में अन्त की ओर ९।११२।४)। सायण बतलाते हैं 'निष्टिं दितिं स्वसपत्नीं गिरती. त्य. दितिः।' निस् √तिज् + र + ई 'अतितेजस्विनी' (वैदिक पदानुक्रमकोष)।

[१५४] ऋ. सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुम् आवद् अन्धसः सुतस्य, साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य ३।४८।१। **सद्यःजातः** — ऋक् संहिता में ये तीन देवता सद्योजात हैं — अग्नि (१।१४५।४, सद्योजातो व्यमिमीत [छा गए] यज्ञम् १०।११०।११), इन्द्र (सद्यो यज् जातो अपिबो ह सोमम् ३।३२।९ १०, ८।७७।८), पर्जन्य ७।१०१।१। अर्थात् चेतना में उनका आविर्भाव आकस्मिक है — बहुत खींचतान के पश्चात् सूरज के उजाले से कुहासे के छंट जाने की तरह। तै.आरण्यक में पञ्चमुख महादेव का पश्चिममुख सद्योजात १०।४४; **कनीनः** — [तु. 'कना' 'कनी', 'कन्या', 'कनीयस्', 'कनिष्ठ' < √कन् ॥ चन् 'अच्छा लगना (तु. 'चा-रु')। और भी तु. GK. Kainos 'Girl' < ARYAN BASE gen – to produce), also * kum-family, race' > Lat. genus 'family, origin', OE. enapa 'boy, servant', Germ. Knabe 'boy'] कुमार। किन्तु 'वृषभ', वीर्य-वर्षण में समर्थ। अनुरूप भाव 'कुमारी' किन्तु 'माता'। तु. भागवत का आत्मन्यवरुद्ध सौरत किशोर रासेश्वर। श्रीधर का कथन है कि शृङ्गार में भी उनकी 'चरमधातुर् न तु स्खलितः' (भा. १०।३३।२५), अर्थात् वे आत्माराम और ऊर्ध्वस्रोता हैं। इस घटना के साथ कैशोर का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव वेद के पुरुष षोडशकल हैं। सोमयाग की साधना का तात्पर्य सोम की नित्या षोडशी कला में है (द्र. बृ. १।५।१५, टीभू. प्रथम खण्ड) 'अन्ध' आनन्दचेतना के क्रम में पवमान होकर अन्त में 'इन्दु' रूप में उत्तरण — वही 'ऋतस्य योनिम् आसदम्' — ऋ. ९।५।३, ६४।२२, ३।६२।१३; तु. ९।२५।६, ६२।१६, ७२।६, ७३।१, ८६।२५...)। इस प्रकार सौम्य आनन्द चेतना का सोलह कलाओं में व्यक्त हो जाने का यह समय ही है वैष्णवों का 'ध्येयं कैशोरकं वयः' विष्णु की सप्तपदी का यही हुआ चतुर्थ एवं पञ्चम पद, जिसकी व्याप्ति भग से सूर्य तक है। विष्णु युवा —

'जिस दिन तुमने जन्म लिया, उस दिन ही इच्छानुसार इस सोमांशु का गिरिस्थित पीयूष तुमने पान किया। वह तुम्हारी जन्म दात्री युवती माता ने महान पिता के घर में अविराम निर्झरित किया था सब से पहले [१७५५]।' — हे देवता, जिस मुहूर्त में तुम्हारा आविर्भाव हुआ, तभी यह आधार लपलपाता हुआ जल उठा तुम्हारी अमृत पिपासा की तृप्ति के लिए। साथ ही साथ सुषोमा-वाहित आनन्द की शुभ्र आप्यायनी धारा हिमवान के तुषारमौलि से झर पड़ी। तुम उसका पान करके तृप्त हुए। यह केवल आज नहीं। बल्कि सृष्टि के आदिम प्रत्यूष में विश्वयोनि अदिति जो तुम्हारी जननी हैं उन्होंने ही परमपिता के लोकोत्तर धाम में तुमको सोम्य मधु के अग्निस्रोत में आसिक्त किया था।

इकुमार:' (१।१५५।६) इस मंत्र की भाषा में 'अवृषभ'। इन्द्र कनीन एवं वृषभ दोनों ही हैं। अपाला सूक्त में अपाला उनको 'वीरक' कहकर सम्बोधित करती हैं (८।९१।२); वह भी कनीन अथवा कुमार इन्द्र का बोधक है। **प्रभर्तुम्** ऋक्संहिता के पाँच तुमन्त पदों में यह एक पद है। < प्र 'सामने की ओर', √भृ 'वहन करना, ले जाना' तु. GK. Pherein 'carry; bring forth', (ये दोनों अर्थ जर्मन. IE. भाषा में; (तु. 'भ्रूण' गर्भस्थ शिशु; 'भर' आवेश; 'भरत' अग्निवह), Lat. fero 'I bear' (तु. Lucifer लोकम्भर, जो आलोक लेकर जा रहा है; ARYAN BASE bher-, bhor-, bhr-) प्रकरण के पक्ष में अर्थ है 'ऊपर की ओर प्रवाहित करना, ले जाना' तु. ५।३२।७; और भी तु. 'प्रभर्मन' ८।८२।१, १।७७।७; अनुरूप 'प्रभृति' 'प्रभृथ'। 'सुतस्य अन्धसः' जिस भोगवती धारा को पाषाण की चोट से ऊपर की ओर प्रवाहित किया गया है (कर्म षष्ठी)। सवन के पश्चात देवता उसके 'प्रभर्ता' हुए। **साधोः** जो सिद्ध है उसका (सायण 'रसात्मना संसिद्धम्' तु. अग्नि 'क्रतोर् भद्रस्य दक्षस्य साधोः, रथी-४।१०।२, यजमान गण 'रायो वन्तारो दुष्टरस्य साधोः' ७।८।३)। असिद्ध रस की धारा निम्नगा, और सिद्ध-रस ऊर्ध्वस्रोता। उसको देवता पान करते हैं 'प्रतिकामं यथा' उनकी जितनी इच्छा और जैसी मरजी हो। सोम 'त्र्याशिरः' (५।२७।५) अर्थात् यव, गव्य एवं दधि के साथ उसको मिश्रित किया जाता है। यहाँ उन तीनों को ही **रस** बतलाया जा रहा है निघन्टु में 'रस' अन्न (२।७) उदक (१।१२); रसति जल उठता है (अर्चतिकर्मा-३।१४) अर्थात् 'रस' चित्त के उद्दीपन का भी बोधक है। अतएव अन्न, प्राण और मन इन तीन भूमियों में ही रस है। इस शब्द का अधिकांश प्रयोग ऋक्संहिता के नवम मण्डल में पवमान सोम के लिए हुआ है। एक स्थान पर सोम के सम्बन्ध में बतलाया जा रहा है- 'स्वादुष् किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्, उतो न्वस्य पपिवांसम् (पान करने के पश्चात) इन्द्रं न कश्चन सहत (पराजित कर सकता है) आहवेषु ७।४७।१। यहाँ रस स्वादु, तीव्र एवं मधुर है—जिसमें अन्न (देह) प्राण और मन के ऊपर उसके प्रभाव का संकेत प्राप्त होता है। संक्षेप में रस आस्वादमाधुर्य, आनन्द-चेतना है। लेकिन संभवतः यह आनन्द पिप्पलाद का आनन्द (१।१६४।२०) है — जो सुख अथवा दुख दोनों में ही एक स्वाद पाता है। इसलिए उपनिषद का परमपुरुष 'रसो वै सः' (तै. २।७)। रस संज्ञा की यही व्यञ्जना अलंकार शास्त्र, वैष्णव एवं सहजिया के रस तत्व में है। इसके अलावा रसायन में रस 'पारद' अथवा 'शिववीर्य' है। ऋक्संहिता में नदी का एक नाम 'रसा' है ५।४१।१५, ५३।९, १०।१०८।१ ※२...) जिससे नाड़ी वाहित प्राणस्रोत का बोध होता है।

'माँ के निकट जाकर अन्न चाहा उन्होंने। ध्यान से देखने पर पाया तीक्ष्ण सोमरूपी (उनके) थन को। और सभी को दूर हटाते हुए चले तृषार्त (देवता)। कितना महत (कर्म किया है — सर्वत्र प्रतिरूप है जिनका [१८२६]।' — अखण्डिता अबन्धना अदिति के भीतर उनका आविर्भाव एक प्रचण्ड बुभुक्षा को लेकर हुआ है। कहाँ है उनका अन्न? वही तो माँ के स्तनों में संचित आग्नेरस में ज्वालामय तीव्र सौम्य मधु में। वज्रतेज से सब को दूर हटाकर उसे उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया। तन्द्रा जब दूर हुई तब उनकी महिमा उजागर हुई। रूप-रूप में प्रतिरूप होकर वे प्रत्येक दिशा में विकसित हुए।

[१८२५] ऋ. यज् जायेथास् तद् अहर् अस्य कामेऽशोः पीयूषम् अपिबो गिरिष्ठाम् तं ते माता परि योषा जनित्री महः पितुर् दम आसिञ्चद् अग्रे ३।४८।२। द्र. टीमू. १५८२। 'अस्य कामे', यही अन्वय सम्भव है अर्थात् इसकी कामना करके, इसे चाहकर काम सृष्टि के आरम्भ में 'मनसः प्रथमं रेतः' (१०।१२९।४)। वह जिस प्रकार विसृष्टि का प्रवेग है, उसी प्रकार 'अमृत आनन्द', सम्भोग की पिपासा भी है (तु. तैउ. अथ दैवीः ... प्रजापतिर् अमृत आनन्द इत्युपस्थे ३।१०।३)। **अंशुः** — तु. नि. 'शम् अष्टमात्रो भवति अननाय शं भवतीति वा' जो व्याप्त होते ही सुखद अथवा प्रशान्त आनन्द का कारण होता है या फिर जो प्राण का निमित्त भूत आनन्द है (२।५)। कहना अत्युक्ति होगी, यह शाब्दिक व्युत्पत्ति नहीं है। किन्तु निरुक्तकारों के निकट सोम का अंशु किसका प्रतीक है, उसकी विवृति है। पार्थिव सोम के अंशु 'आँस' या रेशे हैं और दिव्य सोम के प्रसङ्ग में वह किरण है। यह अमृत किरण उपनिषद में आदित्यरश्मि है — जो प्रत्येक जीव में निहित है एवं उसके उत्क्रमण अथवा ऊर्ध्व गति का कारण है। छा. ८।६।२, बृ. ५।५।२...; ऋ. १।२४।७, टी. १५८१)। 'अंशु' वस्तुतः <√अश्॥ अंश् 'पहुँचना, व्यापना, फैलाना'; तु. IE. enk – 'to reach'। 'अंशु' आदित्यमण्डल से पृथिवी पर पहुँचता है एवं साथ-साथ प्रकाश से सब आच्छादित कर देता है। प्रकाश एक स्थान से सर्वत्र फैल जाता है। जीवचैतन्य का यह सुन्दर उपमान है। इसीलिए गीता में जीव पुरुषोत्तम का सनातन 'अंश' (१५।७; 'टुकड़े' या भाग के अर्थ में नहीं, 'किरण' के अर्थ में) एवं ऋक्संहिता में 'अंश' सप्त आदित्यों में अन्यतम है — (२।२७।१, टी. १२७६)। तु. मा. 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिः' १८।४०। **गिरिष्ठा** — तु. ऋ. 'मध्वो रसं सुगभस्तिर् गिरिष्ठां चनिश्चदद् दुदुहे शुक्रम् अंशुः' — मधु का जो रस गिरिस्थित है, जो आनंदसम्पन्न कर देता है एवं जो शुभ्र है, उसको सुग्राही अंशु ने दोहन किया है ('गभस्ति', कर (हाथ) अथवा किरण <√गभ् <√गृभ् 'ग्रहण करना, कसकर पकड़ना'; 'अंशु' मध्यनाड़ी है, 'गभस्ति' सब शाखाएँ हैं; सभी अंशु में मिलित हैं, इसलिए वह 'सुगभस्ति' है) ५।४३।४; इन्द्र का विशेषण है, १०।८०।२ = विष्णु का, १।१५४।२; मरुद्गण का ८।८४।१२; सोम का ९।१८।१, ६२।४, ८५।१०, ९५।४, ९८।९। यजुः संहिता में रुद्र 'गिरिशन्त अथवा 'गिरीश' (मा. १६।२-४) एवं इस गिरि का नाम है 'मूजवत्' (मा. ३।६१)। ऋक्संहिता में है सोम 'मौजवत' अथवा मूजवान गिरि पर उत्पन्न (१०।३४।१) होता है। हिमवान् गिरि पर जिस प्रकार हिम का प्राचुर्य होता है (१०।१२१।४), उसी प्रकार मूजवान पर, मूँज अथवा मुञ्ज तृण की प्रचुरता होती है। ऋक्संहिता के एक स्थान पर हम पाते हैं सोम 'मुञ्ज-नेजन', अर्थात् मुञ्ज तृण द्वारा परिशुद्ध (१।१६१।८; सायण का व्याख्याविकल्प द्र.)। मुञ्ज कुश जैसा ही →

'वज्रवीर्य हैं वे जल्दी ही बाधाएँ दूर कर देते हैं, उनका ओज सब को अभिभूत करता है। इच्छाकृत रूप धारण करते हैं ये। त्वष्टा को इन्द्र ने जन्मते ही अभिभूत करके उनके चमसास्थित सोम का पान किया था- १९५७]। — वे वज्रसत्व हैं, दुर्धर्ष, अपराजेय शौर्य के तीव्र संवेग से सारी बाधाएँ दूर कर देते हैं, उनका ओज सर्वाभिभावी है →

पवित्र है, उससे ब्रह्मचारी की मेखला तैयार की जाती। उसका सोम के साथ सम्बन्ध सम्भवत: संयम और पवित्रता का रूपक है। शुद्ध आचार ही मुञ्जवान् है, सोम उसके शिखर पर अर्थात शीर्ष पर है। **दम** — निघन्टु- 'गृह' (३।४; तु. Lat. domus, GK. domos 'building': ARYAN BASE *demā- 'to build, GK. demein 'to build', GK. damaein 'to tame, to subdue' Lit 'to bring to home' तु. < दम् 'दमन करना, सजाकर रखना,' — 'यथास्थान ठीक-ठीक रखना'।

[१९५६] ऋ. उपस्थाय मातरम् अन्नम् ऐट्ट तिग्मम् अपश्यद् अभि सोमम् ऊधः, प्रयावयन्न् अचरद् गृत्सो अन्यान् महानि चक्रे पुरुध प्रतीक: ३।४८।३। सोम जब अन्न, तब उसकी पारिभाषिक संज्ञा 'पितु' है — जो अन्न एवं पानीय या पेय दोनों का बोधक है (द्र अन्न सूक्त १।१८७; पृथिव्यायतन देवता 'पितु')। 'ऐट्ट' (<√ईड् द्र. 'ईल.') उकसा दिया; इच्छा प्रकट की। **तिग्म** <√तिज्, 'सान देना, तीक्ष्ण करना, विद्ध करना'; तु. Lat. instigare 'to goad'; GK. stigma 'Prick', stizein 'to Prick', to tattoo', O.Pers. tigra 'sharp' Eng. stick। सोम सर्वप्रथम स्वादु—स्वादिष्ठ, उसके बाद तिग्म या तीव्र—तभी उन्मादक (नशीला); सब के अन्त में मधुमय होता है (६।४७।१)। **गृत्स** <√गृ, 'जाग उठना' 'गीत गाना', +[त्]; अथवा गृध् 'लोभ करना, चाहना;' निघ. 'मेधावी' ३।१५। यहाँ प्रकरण के अनुसार स्तन्यपान के लिए 'व्याकुल तृषार्त'; अथवा 'नित्य जाग्रत'। **प्रतीक** नि. प्रत्यक्तं भवति, प्रतिदर्शनम् इति वा (७।३१), < प्रति अञ्च् 'जो सामने आए या दिखे' अतएव 'प्रतिभास, आविर्भाव'। उपनिषद् की प्रतीकोपासना का भी यही अर्थ है — 'जो सामने देख रहा हूँ, उसमें ही देवता के आविर्भाव का अनुभव करता हूँ।'

[१९५७] ऋ. उग्रस् तुराषाल् अभिभूत्योजा यथावशं तन्वं चक्र एष:, त्वष्टारम् इन्द्रो जनुषाभिभूयामुष्या सोमम् अपिबच् चमूषु ३।४८।४। **तुराषाट्** — इन्द्र का अनन्यपर विशेषण है (५।४०।४, ६।३२।५, १०।५५।८)। तृतीयान्त 'तुरा' का एकमात्र प्रयोग १०।९६।७; <√तॄ 'पार होना, अभिभूत करना'। अकारान्त 'तुर' के सम्बन्ध में निरुक्त का कथन — तुर इति यमनाम, तरतेर् वा 'त्वरया तूर्णगतिर् यमः (१२।१४, ऋ. ७।४१।२)। वस्तुत: 'तुर' (यहाँ वही सम्भावित) संवेग, सर्वजयाशक्ति। **अभिभूत्योजा:** (तु. इन्द्र २।३४।६, ६।१८।१; उनका वज्र १।५२।७; इन्द्राविष्ट त्रसदस्यु ४।४२।५; मन्यु १०।८३।४) जिनका वज्रतेज सब को अभिभूत (पराजित) करता है। बहुव्रीहि; अभिभवकारी अर्थ में 'अभिभूति' १।५३।२, ३।१९।६, १०।८४।६, १३१।१ ... यथावशम् (<√वश् 'चाहना' तु. wish। अपनी इच्छा के अनुसार 'तन्वं चक्रे' रूप धारण किया। अत्र सायण — आत्मीयं शरीरं यथाकामं नानाविधरूपोपेतं चक्रे तथा च मंत्रवर्ण:। 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' (३।५३।८); और भी तु. ६।४७।१८, ३।३८।४। जन्म लेते ही इन्द्र ने विश्वरूप त्वष्टा को अभिभूत किया अर्थात विश्वातीत अरूप हो गए। जिस प्रकार रूपोल्लास में उनका आनन्द, उसी प्रकार उनकी अरूप स्थिति में आनन्द। वह भी सोम्य आनन्द है; किन्तु सोम की कला उस समय उपचीयमान अथवा वृद्धि पर नहीं बल्कि अपचीयमान या ह्रास पर होती है — चरम पर जो 'कुहू' अथवा अमा कला है (द्र. नि. ११।३२-३३)। →

उनके आक्रमण से आँखों के सामने से अचित्ति अथवा अप्रचेतना के सारे आवरण दूर हो जाते हैं। देखते हैं कि निरंकुश स्वातंत्र्य की लीला से वे विश्व के रूप रूप में प्रतिरूप हैं अर्थात् वे ही विश्वरूप हैं। पुनः उसी क्षण रूप के परे हैं वे : विश्व रूप का आवरण दूर करके अप्रकेत अथवा अस्पष्ट दुर्गम गहराव में अदृश्य हो जाते हैं और वहाँ से अलख के अमृत को छीन कर ले आते हैं, फिर इसी आधार को ही अमा के रन्ध्र-रन्ध्र में पान करते हैं।

चतुर्थ मण्डल में वामदेव गौतम के एक संवाद-सूक्त में [१५८] इन्द्र एवं इन्द्रमाता का और भी कुछ विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। अनुक्रमणिकाकार के मतानुसार यह सूक्त इन्द्र, अदिति और इन्द्र का कथोपकथन है।[1] इसमें वामदेव की जीवन-कथा का कुछ संकेत है – यह पहले ही बतलाया गया है।[2] इस सूक्त के अन्तिम मंत्र के पूर्ववर्ती मंत्र में 'पिता' का उल्लेख है। वे त्वष्टा हो सकते हैं किन्तु इन्द्र के पिता नहीं हैं।[3] इस मंत्र में ही सन्धा भाषा में इन्द्रमाता के विधवा होने का उल्लेख प्राप्त है। जिसमें परोक्ष रूप में इन्द्र के **पिता** का सन्धान मिलता है।

इस सूक्त के प्रथम मंत्र में जन्म लेने के पहले मातृगर्भस्थ वामदेव को सम्बोधित करते हुए इन्द्र कहते हैं :

'यही है चिरपरिचित पुरातन पथ, जिस पथ से सारे देवता उज्जात (उत्पन्न) हुए थे, इस पथ से ही आजात होना उचित है – (भ्रूण जब) परिपुष्ट होता है। माँ को इस प्रकार विपन्न मत करो – [१५९]।'

उच्छलित आनन्द सहजलभ्य है किन्तु अपक्षय के भीतर से आनन्द आहरण करना पड़ता है 'आमुष्य' अर्थात् बलपूर्वक छीनकर (तु. ऋ. आमुष्य सोमम् अपिबश् चमू सुतं ~~ज्येष्ठं तद् दधिषे सहः ८।४।४ अर्थात् उससे ही उनके~~ सर्वाभिभावी उत्साहस का परिचय मिलता है, ल. यहाँ त्वष्टा का उल्लेख नहीं है। **चमू** जिससे सोम का 'आचमन' अथवा पान किया जाता है; पानपात्र। तु. 'चमस'; 'चमू' बड़ा, 'चमस' छोटा होता है – जैसे कोसा (कसोरा – मिट्टी का प्याला) और चम्मच (तु. इन्द्र चमसेष्वा सोमश् चमूषु ते सुतः ८।८२।७) 'चमू' का अधिकांश प्रयोग सोममण्डल में है। आध्यात्मिक दृष्टि से आधार ही 'चमू' बहुवचन देवता के अनेक होने का बोधक है – वे ही अनेक रूपों में प्रत्येक आधार में रूप एवं अरूप में सोमपान किये जा रहे हैं। उनका सोमपान द्युलोक-भूलोक व्यापी है, इसलिए द्यावा-पृथिवी 'चम्वौ', निघं. ३।३०; तु. ऋ. ९।३६।१, ६९।५, ७१।१, ७२।५ ...)।

[१५८] ऋ. ४।१८ सूक्त।[1] सूक्त के वक्ता कौन-कौन हैं, इसको लेकर यूरोपीय व्याख्याकार अनुक्रमणिका से भिन्न मत का पोषण करते हैं (द्र. गेल्डनर, सूक्तभूमिका)। केवल कात्यायन ने यह अवश्य कहा है – 'संवाद इन्द्रादिति वामदेवानाम्' – किन्तु किस मंत्र के कौन प्रवक्ता हैं, वह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया। सूक्तभूमिका में सायण के उद्धृत श्लोक में है – 'अर्थतस् त्व् अवगन्तव्यो वक्तृभेद इति स्थितिः'। उसके बाद बतलाया जा रहा है, – 'गर्भे शयानं सुचिरं मातुर् गर्भाद् अनिर्गतम्, वामदेवं प्रतिब्रूत आद्ययर्चा शतक्रतुः। द्वितीयादिभिर् अर्धर्चैर् ऋषिर् (वामदेव) अत्राह पञ्चभिः (२-३, ½); →

गर्भ से साधारण मनुष्यों की तरह योनिपथ से वामदेव निकल कर आना नहीं चाहते। इसलिए इन्द्र को उत्तर दिया :—

मैं इस पथ से निकलना नहीं चाहता। यह अवगाहन योग्य नहीं है, दुर्गम है। तिरछे होकर बगल से निकल जाना चाहता हूँ। मुझे बहुत कुछ करना होगा, जो किसी ने नहीं किया है। मुझे किसी के साथ जूझना होगा और किसी के साथ वादानुवाद करना होगा [१५६०]।'

नहीं न्वस्येति सप्त स्युर् अर्धर्चा अदितेर् वचः (४ख-७)। ममच्चन त्वा युवतिर् इत्यृचः पञ्च वै मुनेः (८-१२), दौर्गत्यशान्तिम् अत्राह वामदेवस् तथा न्यया (१३)।' वक्तृभेद का यह प्रकल्प या अनुमान ही सहज एवं समीचीन है। यूरोपीय प्रकल्प में कष्टकल्पना प्रचुर है। २ द्र॰ वेमी॰ प्रथम खण्ड। ३ द्र॰ टी॰ १५६४।

[१५५९] ऋ॰ अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे, अतश् चिद् आ जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरम् अमुया पत्तवे कः ४।१८।१। वामदेव का गर्भवास, जन्म एवं कर्म सभी असाधारण हैं। गर्भ में रहते हुए ही उनके भीतर दिव्य चेतना का उन्मेष हुआ था कि देवताओं का जन्म कैसे होता है, वह आदि से अन्त तक समझ चुके थे (४।२७।१ द्र॰ टी॰ १२६८)। उक्त मंत्र का 'जनिम' नित्यसिद्धि के प्राकट्य का बोधक है। देवता का जन्म मनुष्य की चेतना में ही होता है और— लगता है सूर्य के उदयन की तरह वह प्रकाश की एक परम्परा है। मंत्र के उत्तरार्द्ध में एक सौ लौह पुरियों के उल्लेख में इस पारम्पर्य या धारावाहिकता की सूचना मिलती है। आयसी (लौह) पुरी अन्धतामिस्र का प्रतीक है। तु॰ पुरन्दर इन्द्र के द्वारा शम्बर के निन्नानबे पुरों का भेदन। गर्भ में रहते हुए ही वामदेव ने भी इन पुरों का भेदन किया था। इस मंत्र की गणना वामदेव के कथन के रूप में की गई है। श॰ १४।४।२।२२ एवं ऐउ॰ २।४। इस ऐतिह्य की उपेक्षा करके श्येन के कथन के रूप में कल्पना करना अयौक्तिक अथवा तर्क के विरुद्ध है (द्र॰ गेल्डनर, ४।२६ एवं २७ सूक्त की भूमिका)। स्वेच्छामृत्यु जिस प्रकार पूर्ण ज्ञान के साथ प्रकाश रहते-रहते चले जाना है, उसी प्रकार स्वेच्छाजन्म गर्भवास में भी सचेतन रहकर एवं प्रकाश में उतर आना है। गीता में इसे 'दिव्य-जन्म' कहा गया है (४।५,९)। यह वैदिक सुप्रजनन विद्या का लक्ष्य था (विशेष आलोचना द्रष्टव्य आगे चलकर)। 'उदजायन्त' — यहाँ 'उत्' यहाँ देवजन्म के वैशिष्ट्य की सूचना देता है; वह मानो सूर्य के उदयन की तरह आदि से अन्त तक स्वप्रकाश है। इन्द्र का वक्तव्य है कि देवता यदि मनुष्य की तरह योनिपथ से होकर आते हैं तो भी उनकी चेतना का विपरिलोप नहीं होता है। यही उनका 'उज्जनिम' है। वामदेव गर्भ में रहते हुए ही देवविद् हैं। यदि वे साधारण मनुष्य की तरह जन्म लें भी, तो उस स्थिति में भी वह उनका 'आजान' होगा (ल॰ 'आ जनिषीष्ट')। यही संज्ञा वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में 'श्रेष्ठ' अथवा 'अभिजात' अर्थ में प्रयुक्त हुई है (तु॰ 'आजानदेव' बृ॰ ४।३।३३ मा॰ ३१।१७ तत्र महीधर; अत्र प्रतितुलनीय तैउ॰ २।८; बौद्ध साहित्य में 'आजान अश्व')। अस्वाभाविक रूप में जन्म लेने पर इन्द्र माँ के मरने की आशंका करते हैं। ल॰ मनोविज्ञानवेत्ता युंग के मतानुसार वीरगाथा के सारे वीर मातृहन्ता हैं (तु॰ बुद्ध के जन्म से माया की मृत्यु)।... गेल्डनर के विचार में यह इन्द्रमाता का कथन है। किन्तु देवजन्म के परिणामस्वरूप माँ की मृत्यु— यह प्रकल्प तत्वार्थ के साथ मेल खाता नहीं। इसलिए देवमानव के सम्बन्ध में वह सम्भव है।

[१५६०] ऋ॰ नाहम् अतो निर् अया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान् निर् गमानि बहूनि अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सम् त्वेन पृच्छै ४।१८।२। 'निर् अया' < निर् √इ 'निर्गति होना' लेट् आ, सायण॰ अया = अयानि (तु॰ 'गमानि')। दुर्गहा- सा॰ <√ ग्रह दुर्ग्रहम् दुःखेन ग्राह्यम्,—

जब उनका कर्म असाधारण है, तब जन्म भी क्यों असाधारण नहीं होगा – यह उनका तर्क है। उनके इस आचरण का प्रमाण स्वयं इन्द्र हैं। उन्होंने भी माँ को कम दुःख नहीं दिया। उनके लिए माँ की जो भावना है कि दुर्दम्य पुत्र होने के कारण उन्होंने उसे प्रश्रय ही नहीं दिया। उन्होंने जन्मते ही त्वष्टा के घर में उनका सोमपान किया था। यह क्या उनका अन्याय है। यह क्या उनकी शक्ति का ही परिचय नहीं है?

वामदेव का यह कथन कुछ स्वगत है। अपरोक्ष देवता के साथ बात करते-करते फिर परोक्ष कथन में लौट आना – ऋक् संहिता की वाग्मिता का एक वैशिष्ट्य है। चतुर्थ ऋक् के पूर्वार्द्ध तक वामदेव का स्वगत कथन इस प्रकार है: — 'माँ (उनको रखकर) चली जा रही है (जब) (इन्द्र) एकटक देखते हुए (बोल पड़े), "मैं पीछे-पीछे जाऊँगा, वह नहीं, अभी ही पीछे चलता हूँ।" (उसके बाद) त्वष्टा के घर में इन्द्र ने सोमपान किया शतधाराओं में। दो सोमपात्रों में वह निचोड़ा हुआ। इसके अतिरिक्त और क्या कुछ वे कर पातीं, जिसको हज़ार मास तक, अनेक शरत् तक (गर्भ में) धारण किया है [१८६१]?'

न प्राप्यं भवतीत्यर्थः।' गै. ८√गाह्॥ गाध 'अवगाहन करना, उतर आना' (तु. गाधम' १०।१०६।९, ६।२४।८, ७।६०।८, ५।४७।७)। ऋक्संहिता में इस शब्द का अनुषङ्ग 'दुरित' 'रक्षः' इत्यादि के साथ है (५।४।९, ६।२२।७, ८।४३।३०, १०।९८।१२, १८२।१, ७।११०।१२; ऋषि प्रगाथ काण्व 'दुर्गहस्य नपात'; दुर्गह् यहाँ व्यक्तिवाचक है ८।६५।१२)। 'दुर्-इत' अथवा 'दुर्-एव' के साथ ही मेल अधिक है। पूर्ण रूप 'दुर्गहाणि' है (६।२२।७, ७।११०।१२) और सर्वत्र 'दुर्गहा' है। यहाँ क्या उसके ही अनुकरण पर अव्ययपद है? तो फिर, 'दुर्गहैतत्' का अनुवाद होगा – 'ये एक बला' (आफ़त) है। आधुनिक दृष्टि में 'दुर्गह(म्) एतत्' — मकार के लोप के बाद सन्धि। किन्तु पदपाठ में 'दुःगहा। एतत्' है। सायण द्वारा इस मंत्र की व्याख्या अत्यन्त प्राञ्जल है: 'अन्यैर् अकृतम् इदम् एव (पार्श्वभेद करके बाहर निकल आना) न केवलं मया क्रियते, किन्तु अन्यैर् अकृतानि बहूनि कर्माणि मे कर्तव्यानि। एकेन सपत्नेन विवदमानेन सह युद्धं करवाणि, अन्येन बुभुत्सुना सम्यक् पृच्छामि।' यहाँ सम्प्रदाय प्रवर्तक का चित्र स्पष्ट रूप में उभर आया है। वामदेव द्वारा प्रवर्तित नई धारा में यदि कोई विवादी या विरोधी है तो उसके साथ वाग्युद्ध; यदि कोई संवादी या सम्भाषी है तो उसके साथ परिप्रश्न ज़रूरी है। ल. इस देश की अध्यात्म भावना के इतिहास में गौतमों की चिन्तन-धारा मुनिपंथ का स्पर्श करके प्रवाहित होती आई है। कठोपनिषद् का नचिकेता, न्यायसूत्रकार, शाक्यमुनि – ये सभी 'गौतम' हैं। सत्यकाम जाबाल का उपनयन संस्कार साहसपूर्वक किया था, हारिद्रुमत 'गौतम' ने। गेल्डनर के अनुसार यह ऋक् इन्द्र का कथन है। वृत्र के साथ इन्द्र का युद्ध न हुआ हो, किन्तु सम्प्रश्न किसके साथ? १।१६५।१२ का प्रमाण खूब ज़ोरदार नहीं है।

[१८६१] ऋ. परायतीं मातरम् अन्व-चष्ट न नानु गान्य-नु नू गमानि, त्वष्टुर् गृहे अपिबत् सोमम् इन्द्रः शतधन्यं चम्वोः सुतस्य। किं स ऋधक् कृणवद् यं सहस्रं मासो जभार शरदश् च पूर्वीः ४।१८।३-४। द्र. टी. १५७१[१५], टीमू. १५७२[४]। इन्द्र की माता नहीं चाहती हैं – कोई यह जाने कि उन्होंने इन्द्र को जन्म दिया है। सम्भवतः वे 'रहःसू' (२।२९।१) हैं। उसका एक कारण यह है कि इस शिशु का जन्म अलौकिक है – यह कुमारी माता का पुत्र है। अदिति एक दृष्टि से कुमारी हैं, क्योंकि तत्वतः वे केवल सम्भूति नहीं, बल्कि असम्भूति भी हैं। द्वितीयतः, यह शिशु 'सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः' –

वामदेव के जन्म के समय इन्द्र के साथ अदिति भी उपस्थित थीं। एक ओर देवी माता और देवपुत्र; दूसरी ओर मानवी माता और मानव पुत्र है। वामदेव का जन्म महामानव का जन्म है, मानो नये रूप में इन्द्र का जन्म हुआ है। इन्द्र के सम्बन्ध में वामदेव का कथन कोई कटाक्ष नहीं बल्कि आत्मपक्ष के समर्थन में प्रशस्ति है। यह सुनकर पुत्र गर्व से गर्विता अदिति कहने लगीं,—मेरा यह बेटा क्या अन्य किसी बेटा जैसा है?

'देखो न, उसके साथ तुलना हो सके (ऐसा और कोई) नहीं है—जो जन्मा है अथवा जो सब जन्म लेंगे उनमें [१५६२]।'

'(उसकी चर्चा) नहीं करती हैं, लगता है यह सोचकर छिपा दिया इन्द्र को (उनकी) माता ने—जो वीर्यवान, शक्तिशाली है। उसके पश्चात वह उठकर खड़ा हुआ स्वयंज्योति से प्रावृत होकर, द्यावापृथिवी को आपूरित किया जन्मते ही [१५६३]।'

(३।४८।१), 'जात एव प्रथमो मनस्वान (२।१२।१) अर्थात यह किसी के लाड़-प्यार अथवा परिचर्या की अपेक्षा रखता नहीं। तृतीयतः माँ के मन में आशंका है यदि ईर्ष्यावश अन्य सब देवता ऐसे शिशु का अनिष्ट करते हैं तो फिर उसको छिपाए रखना ही अच्छा है (द्र. मंत्र ५)। इसी लिए शिशु को रखकर माँ का 'परायण' अथवा पलायन। देवमानव के जन्म लेने में जिस प्रकार माँ की मृत्यु सम्भावित है—यह उसके जैसी ही घटना है। किन्तु कुमारी माँ जिस प्रकार शून्य में लीन होती जा रही है, उसी प्रकार साथ-साथ नवजातक ज्योतिरूप में सर्वत्र फैलता जा रहा है—अन्धकार के उत्ससे उत्सारित सौरप्रभास की तरह। (तु. ५)। अतएव यहाँ माँ के परायण (पलायन) के साथ-साथ ही जातक का 'अनुगमन'। अनुगति 'काष्ठा' पर पहुँचकर 'परा गति' हो गई (तु. कठ. १।३।११): लोकोत्तर का आनन्द छीन कर ले आने के पश्चात देवता विश्वरूप त्वष्टा के घर में बैठकर उसकी धारा का पान करने लगे। वह सोम द्युलोक-भूलोक के इन दो सोमपात्रों से निर्धारित हो रहा है (द्र. टी. १५९६) **शतधन्य** होकर अर्थात शतधारा में (< √धन 'दौड़ाना' 'शतधार सोम' तु. ऋ. ९।८५।४, ८६।११, ९६।१४; अनुरूप 'जीवधन्य' सोम, जो जीवन को प्लावित करता है १०।३६।८, और भी तु. १।८०।४ टी. १८६४)। चतुर्थ मंत्र के प्रथम पाद में 'सा ऋधक' सन्धि से 'सऋधक' हुआ है (द्र. गेल्डनर) इसलिए 'सा' माता का बोधक है। **ऋधक**—(तु. नि. 'ऋधग् इति पृथग् भावस्य प्रवचनं भवति' ४।२५) इसके अतिरिक्त और। 'शरदश्च पूर्वीः' अनेक शरत काल। मनुष्य की 'देवहित आयु' है सौर शत शरत (ऋ. २।२७।१०, २।३६।१०, १०।१८।४, ८९।३९, १६१।३,४) उससे कुल १२२० मास—हजार से कुछ अधिक। यहाँ इन्द्रमाता के सहस्र मास गर्भधारण में पुरुष के आयुष्काल की ध्वनि है अर्थात उनका समस्त जीवन देवाविष्ट रहा। परिपूर्णता के लिए दीर्घकाल तक गर्भ धारण। शुक्र माँ के पेट में सोलह वर्ष तक थे अर्थात उन्होंने षोड़शकल पुरुष के रूप में जन्म लिया।

[१५६२] ऋ. नही न्वस्य प्रतिमानम् अस्त्यन्तर् जातेषूत ये जनित्वाः ४।१८।४। तु. नास्य शत्रुर् न प्रतिमानम् अस्ति ६।१८।१२। यह उनका अतिष्ठा (TRANSCENDENCE) अथवा लोकोत्तर या रूप-अरूप से उस पार का रूप है। पुनः प्रतिष्ठा अथवा लोकात्मक रूप में अनेक स्थानों पर उनको सब कुछ का **प्रतिमान** या प्रतिरूप बतलाया गया है; तु. सतः सतः प्रतिमानं पुरोभूः ३।३१।८, १।५२।१२,१३, १०२।६, ८; यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव— →

'यह जो (सब अप्) तीव्र गति से कलकल निनाद करती हुई प्रवाहित हो रही हैं (इस समय), इसके पहले ऋतवती या सती-साध्वी स्त्रियों की तरह जो चीख उठी थीं (अवरुद्ध होकर) — इन सब से ही पूछो कि वे क्या कहती हैं। — ये अप (जलधाराएं) किस पाषाण की परिधि या प्राचीर को तोड़ती हैं (किसके बल द्वारा) [१८६४]?

'अच्छा, यह तो बताओ कि इसके सम्बन्ध में हृद्य समुद्र की गहराई से निकली वाणियों अथवा निवित रूप मंत्रों ने क्या बतलाया? इन्द्र के निन्दनीय (आचरण को) समझा था क्या इन सब ने? मेरे पुत्र ने ही तो वज्र द्वारा वृत्र का वध करके इन नदियों (सिन्धुओं) को प्रवाहित किया था [१८६५]।'

इन्द्र की वीरता का यह परिचय वामदेव के लिए अपरिचित नहीं। क्योंकि गर्भ में रहते ही उन्होंने देवताओं के जन्म (एवं कर्म के) रहस्य के बारे में पूर्णरूप से जानकारी प्राप्त कर ली थी [१८६६]। →

— १०।१११।२। [१८६३] ऋ. अवद्यम् इव मन्यमाना गुहाकर् इन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्, अथोद् अस्थात् स्वयम् अत्कं वसान रोदसी अपृणाज् जायमानः ४।१८।५। इन्द्र के जन्म को छिपाए रखने का कारण पहले ही बतलाया गया है। न्यृष्ट < नि √ऋष् विद्ध करना, जारित करना, व्याप्त होना' तु. हृदं न हि त्वा न्यृषन्त्यूर्मयो ब्रह्माणीन्द्र तव यानि वर्धना, १।५२।७; और भी तु. उदनेव कोशं वसुना न्यृष्टम्' ४।२०।६, कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टम्' १०।४२।२। सर्वत्र इन्द्र के प्रसंग में। 'स्वयम् अत्कं वसानं' तु. २।३५।४, टी. १८३२। अत्क (< अक्त ॥ अक्तु 'प्रकाश' < अञ्ज् 'प्रकाश करना'; वर्णविपर्यय) चमचमाती पोशाक, तु. ३।३८।४। निघण्टु में 'अत्क' वज्र (२।२०; पाठान्तर 'अर्कः')। गेल्डनर के अनुसार मंत्र ३-४ प्रवक्ता का कथन है। इस मंत्र में इन्द्रमाता स्वयं को ही परोक्ष में 'माता' कह रही हैं। इस प्रकार का उदाहरण और भी है तु. १०।१२०।९ इस सूक्त में ही प्रथम मंत्र यदि यूरोपीय मत के अनुसार इन्द्र माता का कथन है तो फिर वहाँ भी परोक्ष कथन है। मंत्र के अन्तिम चरण १०।४५।६ में अग्नि के सम्बन्ध में पुनरुक्त। [१८६४] ऋ. एता अर्षन्त्य् अललाभवन्तीर् ऋतावरीर् इव संक्रोशमानाः, एता वि पृच्छ किम् इदं भनन्ति कम् आपो अद्रिं परिधिं रुजन्ति ४।१८।६। इन्द्र के बल द्वारा वृत्र का अवरोध तोड़कर जलधाराएँ आनन्दमुखर होकर प्रवहमान हैं — यह उसका वर्णन है। ये सब अप् 'ऋतावरी' अर्थात् ऋतमयी, सती या निर्मलचरित्रा हैं। और वृत्र अनृत का मूर्त विग्रह है। उसने जब उनको कस कर पकड़ लिया, तब वे परपुरुष के स्पर्श से सती-साध्वी की तरह चीख पड़ीं। इन्द्र ने आकर उनको मुक्त किया तब वे 'अललाभवन्ती' ('अललेत्येवं रूपं शब्दं कुर्वत्यः' सायण) या कलस्वना हुईं। जलधाराएँ या ये सब अप् समस्त 'अनृत' धोकर बहा ले जाती हैं (१।२३।२२) ऋतावरी होने के कारण। उनकी कलकल ध्वनि इन्द्र की विजयगाथा है। 'परिधि' आवेष्टन, अवरोध।

[१८६५] ऋ. किम् उ स्विद् अस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः, ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद् वि सिन्धून् ४।१८।७। 'निवित्' द्र. टी. १४५८५। निवित् या देवप्रशस्ति के अनुसार इन्द्र अनवद्य; निर्दोष हैं; कोई भी पाप उनका स्पर्श नहीं कर सकता (तु. कौ. इन्द्र का कथन, '... तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते ... नास्य पापं चन चकृषो मुखान् नीलं व्येति ३।१। इन्द्र ने वृत्र की हत्या की थी, उनके विरुद्ध यह नालिश है। हत्या, पाप हो सकता है किन्तु इस क्षेत्र में नहीं। →

V/5

वेद

वेदमीमांसा

तृतीय खण्ड

अनिर्वाण

— हिन्दी अनुवाद :
छविनाथ मिश्र

पृष्ठ २१२ से २७५ तक

देवता का आविर्भाव किसके लिए होता है ?— मनुष्य के लिए। और उसके लिए ही जीवन भर अविद्याशक्ति के विरुद्ध उनको युद्ध करना पड़ता है— हालाँकि अन्तिम विजय उनकी ही होती है, यह स्वतःसिद्ध है। देवता की इसी करुणा से आप्लावित होकर वामदेव ने कहा : —

'मेरे लिए ही तुम्हें (तुम्हारी) युवती (माता) नहीं छोड़ गई। मेरे लिए ही कुषवा ने तुम्हें निगला नहीं। मेरे लिए ही जलधाराओं अथवा विश्वप्राण की शक्तियों का ममत्व जागा है शिशु के प्रति। मेरे लिए ही इन्द्र सहसा उठ खड़े हुए [१५६७]।

→ उन्होंने वृत्र की हत्या करके प्राण की धाराओं को मुक्त किया था, उसमें यदि कोई पाप हो भी गया है, तो फिर वह उसी मुक्तधारा में ही बह गया। मुख्य प्राण अथवा प्रज्ञात्मक प्राण, शुद्ध, अपापविद्ध है— प्राचीन उपनिषदों में यह भावना सुस्पष्ट है। गेल्डनर इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि ऋक् संहिता में वृत्रवध ही इन्द्र का प्रशस्ततम कर्म है, किन्तु वह पाप है, यह बात वहाँ नहीं है। लेकिन याद रखना होगा कि ऋक् संहिता में ही हमें इन्द्र विरोधी देवनिन्दकों के एक समूह या सम्प्रदाय का परिचय प्राप्त होता है। आधुनिक ईसाई धर्म प्रचारक जिस प्रकार कृष्ण को कुरुक्षेत्र में हत्या के प्ररोचक के रूप में अपराधी ठहराते हैं, उसी प्रकार ये सब देवनिन्दक भी इन्द्र के विरुद्ध वृत्र की हत्या का अधिक्षेप या आक्षेप कर सकते हैं। यहाँ उसका ही उत्तर दिया जाता है। वृत्रहत्या पाप है— इस धारणा का मूल क्या है, उसके लिए द्रष्टव्य टीका-मूल १५७४। ... गेल्डनर के मतानुसार भी मंत्र ६-७ इन्द्रमाता का कथन है।

[१५६६] द्र. ऋ. ४।२७।१, टी. १३६५।

[१५६७] ऋ. ममच्चन त्वा युवतिः परास ममच्चन त्वा कुषवा जगार, ममच्चिद् आपः शिशवे ममृड्युर् ममच्चिद् इन्द्रः सहसोद् अतिष्ठत् ४।१८।८। यह मंत्र सद्योजात इन्द्र का वर्णन है, जब आधार में उनका प्रथम आविर्भाव होता है। इन्द्रमाता उनको छिपाकर रखना अथवा छोड़कर जाना चाहती थीं (द्र. ३, ५)। किन्तु देवता स्वप्रकाश एवं अधृष्य, अजेय हैं। उनके सम्बन्ध में कोई द्विधा अथवा शंका की गुंजाइश नहीं है, तब भी हम सब के भीतर देवता का जन्म मानो राहुग्रस्त होना चाहता है। किन्तु देवता के प्रसाद से वह संकट भी दूर हो जाता है। नवजात शिशु को चारों ओर से घेर कर विश्वप्राण की धाराएँ कल्लोलित हो उठती हैं और वे ही उनको संवर्द्धित करती हैं। उसके पश्चात एक दिन सहसा हम आधार के नखशिख में देवता की परिपूर्ण महिमा का अनुभव करते हैं। **ममत्** 'मम' एवं 'मत्'- के मेल से उत्पन्न (गेल्डनर) = संस्कृत में 'मम हेतोः'। 'चन' नञर्थक [निषेधात्मक] एवं चित् सदर्थक [अस्तिवाचक] (गेल्डनर)। 'परास' < परा √अस् 'फेंकना' लिट् अ। 'युवतिः' नित्यतरुणी इन्द्रमाता अदिति, अन्यत्र 'योषा' ३।४८।२)। उनका तारुण्य चिरकाल इन्द्र को आविष्ट किए हुए है, इसलिये वे 'सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः' (३।४८।१)। **कुषवा** (< कु + √सू 'प्रसव करना, जनना' प्रतितुलनीय 'सुषू', जैसे, 'सुषूर् असूत माता' ५।७।८) कुत्सित सन्तान की जननी। अवश्य ही वृत्र की माता दानु अथवा दिति है जो इन्द्रमाता अदिति की प्रतिस्पर्द्धिनी है। नवजातक इन्द्र को वह मादा अजगर की तरह निगल कर खा जाना चाहती है किन्तु ऐसा कर नहीं पाती— क्योंकि आधार में देवजन्म अथवा चेतना का उन्मेष एवं उसका क्रमशः वर्द्धन मनुष्य की दिव्य नियति है। सायण के मतानुसार कुषवा 'काचित् राक्षसी' है।

'मेरे लिए ही है मघवन, व्यंस (तुमको) मर्मविद्ध कर नहीं पाया, तुम्हारे दोनों जबड़ों पर उसका आघात लगा नहीं। उसके बाद मर्मविद्ध होकर भी तुम उसके ऊपर ही रहे, और (उस) दास का सर एक बार में ही वज्र के प्रहार से टुकड़े-टुकड़े कर दिया [१५६८]

'पहले बियान की गाय ने प्रसव किया है समर्थ, वीर्यवान, अजेय हृष्ट-पुष्ट वृषभरूपी इन्द्र को। बिना चाटे ही बछड़े को चरने दिया उसकी माँ ने, जो स्वयं ही अपने लिए रास्ता खोज रही है [१५६९]।

मूला विद्या द्वारा अ-ग्रस्त इस दिव्य चेतना को 'आपः' अथवा विश्वप्राण की शक्तियों ने संवर्द्धित किया (तु. अप के द्वारा अग्नि-शिशु का लालन, वर्द्धन (३।१।४)। उसके फल स्वरूप इन्द्र उत्साह से की वीर्यवत्ता के साथ हम सब के भीतर उत्तेजित हो उठे वृत्रवध के लिए सन्नद्ध होकर (यहाँ आग्निशिखा की ध्वनि है)।

[१५६८] ऋ. ममच्चन ते मघवन व्यंसो निविविध्वाँ अप हनू जघान, अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाञ्छिरो दासस्य सं पिणग्वधेन ४।१८।९। वृत्र अथवा वृत्र के अनुचरों के साथ इन्द्र का युद्ध-वर्णन। **व्यंस** (द्र. १।३२।५, पदपाठ 'वि-अंस' वहाँ वृत्र का विशेषण है किन्तु यहाँ उस नाम का ही एक असुर है) जिसका अंस या कन्धा नहीं है अतएव सर भी नहीं है। वृत्र के विशेषण (१।३२।५) के रूप में इस शब्द का यही अर्थ है। किन्तु वहाँ ही 'स्कन्धांसि' अथवा अनेक कन्धों का उल्लेख है। अनेक कन्धों के होने से अनेक सिर भी हैं। तब 'व्यंस' शब्द का 'वि' विविध या बहु अथवा अनेक का बोधक है। तो फिर यह शब्द द्व्यार्थक है। आदिवृत्र ('वृत्रतर वृत्र' १।३२।५) स्वरूपतः स्कन्धहीन या कबन्ध है, यहाँ तक कि वह 'अपादहस्त' है (१।३२।७) एक अव्याकृत अथवा अव्यवस्थित पिण्डमात्र है। अचित्ति का यह सुन्दर वर्णन है। इसे अन्यत्र 'दानु' (२।१२।११) कहा गया है; तु. फिर 'दानु' वृत्रमाता अथवा मूला विद्या है (१।३२।९)। उसके सभी अनुचर 'अव्याकृत की व्याकृति या विशिष्ट रूप हैं अतएव उनके कन्धे भी हैं, और सिर भी हैं। उनमें 'व्यंस' के अनेक कन्धे हैं, अनेक सिर हैं—(इस मंत्र में ही है 'शिरः' इसलिए यहाँ 'व्यंस' कबन्ध अर्थ में नहीं) — रावण अथवा रक्तबीज के जैसे। व्यंस 'दास' अथवा तमः शक्ति है। उसने एकबारगी इन्द्र के (अतएव उपासक के भी) मर्म की गहराई में अनुविद्ध रहकर ('निविविध्वान्') उनके हनु अथवा शिप्र पर आघात किया (द्र. नि. ६।१७; ऋ. ५।३६।२ टी. १६८८[२]) जो उनके सत्य-संकल्प और वीरत्व का वाहन है। किन्तु इन्द्र ने उससे आगे बढ़कर वज्र के प्रहार से उसके मस्तक को छिन्न-भिन्न कर दिया। ··· गेल्डनर की दृष्टि में मंत्र ६-९ इन्द्रमाता का कथन है।

[१५६९] ऋ. गृष्टिं ससूव स्थविरं तवागाम् अनाधृष्यं वृषभं तुम्रम् इन्द्रम्, अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ४।१८।१०। इन्द्र के वीर्य (शक्ति) और स्वतंत्रता का वर्णन है। इन्द्र, इन्द्रमाता की प्रथम सन्तान हैं। वे सब के 'पुरोजा' या अग्रज हैं (३।३१।१५, ६।३८।३)। अन्यान्य विशेषणों में उनके सामर्थ्य का परिचय है। **तवागा**— अनन्य प्रयोग < 'तवा' < √तु 'शक्ति का छलक पड़ना' (तु. निघ. 'तवस्' बल २।९) + √गा 'चलना' जन्मते ही प्राण की प्रचुरता के कारण दौड़ा-दौड़ी करता है। शक्तियुक्त समर्थ बछड़े का चित्र। अन्यत्र इन्द्रशत्रु शुष्ण 'तमोगा' जिसका चलना-फिरना अँधेरे में होता है (५।३१।४), इन्द्र 'स्वस्तिगा' (८।६९।१६)। दोनों स्थानों पर अवग्रह है किन्तु यहाँ नहीं है। अरीळ्ह < न + √रिह्॥ लिह् 'लेहन करना, चाटना'। साधारणतः बछड़ा होने पर उसकी माँ उसके →

'उसके पश्चात ममता मयी माँ ने (उस) ज्योतिर्मय को सम्बोधित करते हुए कहा, हे पुत्र, देखो, सारे देवता तुमको छोड़ कर चले जा रहे हैं। उस समय इन्द्र ने वृत्र का वध करने में उसके सखा विष्णु से कहा, जहाँ तक हो सके क़दम आगे बढ़ाओ, बलवान बनो [१५६०]

बदन को चाटकर परिष्कार कर देती है, तब तक वह खड़े होने की चेष्टा में लड़खड़ाता रहता है। किन्तु यह बछड़ा बिलकुल गर्भक्लेदरहित अर्थात स्वच्छ निर्मल होकर जन्मा और जन्मते ही जिस पथ पर उछल-कूद करने लगा, माँ को उसी पथ की खोज में दौड़धूप करनी होगी। आध्यात्मिक दृष्टि से मध्यनाड़ी सुषुम्णा है, जिसके गर्त या नाली का उत्खनन इन्द्र ने वज्रबाहु होकर किया है (तु. ३।३३।६, याभ्य इन्द्रो अरदद् गातुम् ऊर्मिम् ७।४७।४ टी. १२५३[३], ४।१९।२, ६।३०।३, १०।८९।७; वरुण १०।७५।२।) यहाँ भी अग्निस्रोत की तरह इन्द्र के 'उत्थान' की ध्वनि है। शतक्रतु लगातार अचिति की गहराई से शम्बर के पुरों का भेदन करते हुए ऊपर की ओर चलते जा रहे हैं।

[१५६०] ऋ. उत माता महिषम् अन्व वेनद् अमी त्वा जहति पुत्र देवा:, अथा ब्रवीद् वृत्रम् इन्द्रो हनिष्यन्त् सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व ४।१८।११।

इन्द्र जिस प्रकार मरुत्वान् या मरुत सहचर हैं, उसी प्रकार वृत्रवध के पहले निष्केवल या निःसङ्ग हैं। देवसेना मरुतगण उनकी ही विभूति हैं, वे तब उनमें ही लीन या लुप्त हैं। सप्तशती में भी अनुरूप भावना है— शुम्भ का वध करने के पहले देवी अकेली हो गई (१०।१-८)। यहाँ भी निष्केवल इन्द्र का उल्लेख नाटकीय मुद्रा में हो रहा है। इन्द्र जिस प्रकार 'वृषभ' हैं फिर उसी प्रकार **महिष** भी हैं। ऋक्संहिता में सारे देवता ही 'महिष' हैं (तु. शृण्वन्तु विश्वे महिषा अमूरा: ७।४४।५, ६।८।४, ९।९७।४७, १०।५।२...), किन्तु इस संज्ञा का प्रयोग विशेष रूप से इन्द्र एवं सोम के सम्बन्ध में किया गया है। व्युत्पत्ति. < 'मह:' विपुल ज्योतिर्मय शक्ति। ल. निघन्टु में 'महिष' महान (३।३) फिर 'मह:' उदक (१।१२)। महिष एक 'मृग' या पशु है— इसका उल्लेख ऋक्संहिता में ही प्राप्त होता है (तु. सोम: ... मृगो न महिषो वनेषु ९।९२।६, ९६।६, ८।६९।१५, १०।१२३।४...)। जब सूर्य अथवा द्युलोक को (१०।१८९।२, १।५४।९) या फिर मरुद्गण को (१।६४।७...) 'महिष' कहा जा रहा है तब उनके शरीर के रंग को सफ़ेद समझना होगा किन्तु हम सब का सुपरिचित महिष सफ़ेद नहीं बल्कि जल से भरे बादल की तरह धूलधूसरित काले रंग का है— हालाँकि हाथी की तरह सफ़ेद महिष कभी-कभी दिख जाता है। वस्तुत: वेद का महिष हमारा परिचित महिष नहीं है बल्कि वह 'चमर' (YAK) है— जो काश्मीर के उत्तर में लद्दाख के अंचल में पाया जाता है। उनके शरीर पर झबरीले रोएँ होते हैं और वे सफ़ेद एवं काले दोनों प्रकार के ही होते हैं। सफ़ेद महिष वेद की भाषा में 'हरिकेश' हैं, वे सहज ही सहस्ररश्मि सूर्य के साथ उपमित हो सकते हैं— और जल भरा बादल काले महिष जैसा होगा। निघन्टु के 'मह:' को उदक या जल कहने की सार्थकता यहीं है। उसके अतिरिक्त 'गो' (अतएव वृषभ) जिस प्रकार प्रज्ञा का प्रतीक है उसी प्रकार 'महिष' प्राण का प्रतीक है— इस क्षेत्र में यह व्यञ्जना भी है। सफ़ेद महिष शुभ्र प्राण, और काला महिष अविशुद्ध अमार्जित प्राण है। ऋक्संहिता में हम देखते हैं अग्नि इन्द्र के लिए सैकड़ों महिष —

'किसने तुम्हारी माँ को विधवा किया? तुम जब सोए रहते हो या सञ्चरण करते रहते हो, तब किसने तुम्हारी हत्या करना चाहा? किस देवता ने तुम्हारी सहायता की, जब तुमने प्रक्षीण किया पिता को उनकी टाँग पकड़ दूर फेंककर [१५६१]?

पका रहे हैं' (पचच् शतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम् ६।१७।११; और भी तु. ५।२९।८, सहस्रं महिषाँ अघः [तुमने खाया] ८।१२।८, ✻ ७७।१०, ✻ ६९।१५) अर्थात् तपःशक्ति के द्वारा अशुद्ध प्राण को परिपक्व, शुद्ध एवं देवभोग्य करते हैं। यही माहिष सप्तशती में महिषासुर हुआ है— अविशुद्ध है इसलिए मृत्युवश प्राणरूपी यह महिष ही यम का वाहन है।... 'अनु अवेनत्'—स्नेहपूर्वक इन्द्र से कहा, (<√वेन ॥ वन 'चाहना, प्यार करना'; 'अवदत्' अध्याहार्य)। इन्द्र स्व-तंत्र हैं अतएव स्वेच्छा से ही वे निःसङ्ग हो जाते हैं, सारी विभूतियाँ उनके भीतर सिमटने लगती हैं। किन्तु माँ की ममता शंकाग्रस्त होकर सोचती है कि 'मेरा बेटा अकेले युद्ध करने जा रहा है, उसको कहीं कुछ हो न जाए'। आशंका की बात उनके मुँह से निकल ही पड़ी! लगता है यह सुनकर इन्द्र ने माँ को सान्त्वना देने के लिए ही कहा, 'मैं तो अकेला नहीं हूँ, देखो, यह मेरा सखा विष्णु साथ में है।' वस्तुतः मरुद्गण का इन्द्र को छोड़कर चले जाने का अर्थ है उनका पुंजीभूत प्रकाश विष्णु अथवा माध्यन्दिन सूर्यरूप में फूट पड़ा — जो वृत्रवध का परिणाम होगा। इसलिए विष्णु का नाम 'एवयामरुत्' (द्र. टीमू. १७६९)।

[१५६१] ऋ. कस्ते मातरं विधवाम् अचक्रच्छयुं कस् त्वाम् अजिघांसच् चरन्तम्, कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत् प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य ४।१८।१२। यहाँ सन्ध्या भाषा में निष्केवल इन्द्र की महिमा का उपसंहार किया जाता है। मंत्र में केवल प्रश्न ही हैं, उत्तर के लिए अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा। प्रथम प्रश्न है, तुम्हारी माँ को किसने विधवा किया?— उत्तर, तुमने स्वयं ही। पहले ही हमने देखा है कि इन्द्र के जन्म-रहस्य को उद्घाटित करने की दिशा में इन्द्रपिता को अनेकशः नेपथ्य में रखकर इन्द्रमाता को स्पष्टतया विकसित किया गया है। यह स्वाभाविक है क्योंकि प्रजनन में पिता की भूमिका हमेशा तटस्थ रहती है। पिता ही पुत्र रूप में जन्म लेते हैं— यह सिद्धान्त भी चिरप्रचलित है। माँ के संरक्षण और पालन-पोषण द्वारा पुत्र एक दिन पिता के समान हो जाता है। तब पिता के साथ पुत्र का विरोध, सूक्ष्म दृष्टि से माँ को लेकर ही शुरु होता है। सांख्य की भाषा में माता प्रकृति है और पिता पुरुष या शुद्ध चैतन्य है। पुरुष को रूपायित करना ही प्रकृति-परिणाम का तात्पर्य है— उपनिषद में पुरुष की दृष्टि से इसे विश्वमूल सत् की स्वयंकृति अथवा सुकृति कहा गया है (तैउ. २।७; और भी तु. ऐउ. १।२।१-३)। पुरुष बीज रूप में प्रकृति में आविष्ट होकर अन्त में वनस्पति रूप में स्फुरित होते हैं— तब वे आदिपुरुष के 'सयुक्', अतएव आदिमाता के पति हैं। पुत्र के पतित्व अथवा माता के पत्नीत्व की बात रोदसी के प्रसंग में पहले ही बतलाई गई है (द्र. टीमू. १७६१...)। फ्रायड के प्रख्यात ईडिपस कम्प्लेक्स एवं हीरो-मिथ की व्याख्या के मूल में यही दार्शनिक तथ्य है जो अध्यात्मजगत का भी एक अनुभूत सत्य है— विशेषतया वेदान्त में। हिरण्यगर्भ, भूत अर्थात् स्थूल सृष्टि उपादानों से उत्पन्न होकर पुनः उन सब उपादानों या तत्वों के पति होते हैं (ऋ. १०।१२१।१)— इस भावना के मूल में भी वही एक तत्व है। इस मंत्र में सन्ध्या भाषा में इसे ही पिता को ग्रास करके जातक इन्द्र की माता को विधवा करना कहा गया है। उस समय परम पुरुष के रूप में एक इन्द्र ही हैं और कोई नहीं। यही इन्द्र का परम रूप है। तब फिर वे वृत्रहन्ता भी नहीं।... किन्तु ये इन्द्र ही पुनः हम सब के भीतर वृत्रहन्ता होकर उत्पन्न होते हैं। तब वृत्र के साथ उनका शाश्वत →

'जीविका के अभाव में कुत्ते की आँत पकाया है मैंने। देवताओं में (किसी को नहीं पाया सहायक के रूप में। अपनी जाया (पत्नी) को देखा अपमानित होते। तत्पश्चात् मेरे लिए श्येन मधु ले आया [१९८२]।'

ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्द्र के पिता 'प्रजापति' [१९८२-क] हैं। यजुः संहिता और ब्राह्मणों में स्वभावतः अधियज्ञ दृष्टि का प्राधान्य है। वहाँ परमदेवता की संज्ञा का उल्लेख 'प्रजापति' के रूप किया गया है यह संज्ञा अति प्राचीन है, उसका उल्लेख ऋक्संहिता में भी है। →

विरोध है। अतः द्वितीय प्रश्न है — तुम जब आधार की गहराई में बीजरूप में सुप्त रहे, या जब तुम अंकुररूप में चरिष्णु या इधर-उधर घूमते फिरते रहे तब किस शक्ति ने तुमको विनष्ट करना चाहा? — उत्तर, वृत्र या अविद्या की शक्ति ने। यही वृत्र फिर विश्वरूप त्वष्टा का पुत्र त्वाष्ट्र विश्वरूप है। जब तक उसका वध एवं त्वष्टा को पराजित नहीं किया जायगा, तब तक इस विरोध का अन्त नहीं होगा। इन्द्र ने उसका वध तो किया ही और उसके पिता त्वष्टा को भी उसकी टाँग पकड़ कर दूर फेंक दिया अर्थात विश्वसम्भूति का मूलोच्छेदन किया। नासदीय सूक्त में इसे ही बतलाया गया है — 'कवियों ने सूक्ष्म रूप से हृदय के द्वारा खोजते हुए अन्त में मनीषा द्वारा सत् के वृन्त को असत् में प्राप्त कर लिया (ऋ. १०।१२९।४)··· तब प्रश्न हुआ, यह किस देवता के प्रसाद से? उसके दो उत्तर हो सकते हैं। इस घट में स्वधा के वीर्य या प्रताप से, क्योंकि उस समय महाशून्य में इन्द्र निःसङ्ग हैं और वहाँ अन्य कोई देवता नहीं है। अथवा इस घट में विष्णु के प्रसाद से, जिनको पूर्व मंत्र में वृत्रवध के समय इन्द्र का सखा बतलाया गया है। यह कहना ज़्यादती है कि पहला उत्तर यति मुनि अथवा मनुष्य का है और दूसरा उत्तर श्रोत्रिय ऋषि अथवा विप्र का है। विष्णु अथवा आदित्य पुरुष में दोनों का समाहार है — उनके सामने 'शुक्लं भाः' और पीछे नीलंपरः कृष्णम् है (छा. ११६।५-६)। पुराण में वे नीलवर्ण हैं किन्तु उनके हृदय में शुभ्रद्युति कौस्तुभ है।··· **मार्डीक** < मृला.क < √मृड् 'प्रसन्न होना'। **पादगृह्य** — तु. ऋ. जिनामि (जीतता हूँ) वेत् क्षेम आ सन्तम् (जो अधिक सुव्यवस्थित है) आभुं (अव्याकृत अवस्था से जो होकर उठता है तु. १०।१२९।३ गुहाशय वृत्रशक्ति) प्र तं क्षिणां पर्वते (वह जब पर्वत की कन्दरा में था तु. २।१२।११) पादगृह्य १०।२८।४। यहाँ हम देखते हैं कि इन्द्र त्वष्टा एवं त्वाष्ट्र दोनों का मूलोच्छेदन करते हैं, वह एक ही भाषा में वर्णित है। किन्तु यही इन्द्र फिर विश्वरूप हैं (तु १०।५०।१, टी. १२३४, ६।४७।१८····)। संक्षेपतः इन्द्र विश्वरूप होकर भी रूपातीत हैं, प्रतिष्ठा होकर भी अतिष्ठा हैं (तु. १०।७०।१)। जहाँ वे अतिष्ठा या लोकातीत अथवा ज्ञानातीत हैं, वहाँ विश्व का उपादान (त्वाष्ट्र, तु. सप्तशती के 'विष्णुकर्णमलोद्भूत' मधु-कैटभ) अथवा निमित्त (त्वष्टा; प्रजापति, ब्रह्मा) कुछ भी नहीं है। यही उनका कैवल्य है।

[१९८२] ऋ. अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्, अपश्यं जायाम् अमहीयमानाम् अधा मे श्येनो मध्वा जभार ४।१८।१३। यह वामदेव के अपने दुर्दशाग्रस्त जीवन का वर्णन है। पहले ही बतलाया गया है कि यहाँ पौराणिक शिव-सती की कहानी का सुस्पष्ट संकेत है (वेमी. प्रथम खण्ड)। शिव वृत्तिहीन, भिखारी हैं। सारे देवता एक ओर और वे अकेले एक ओर हैं। प्रजापति की यज्ञभूमि में उनका अपमान हुआ। इस आख्यान का बीज हमें यहाँ प्राप्त होता है। जिसे किसी ने कभी किया नहीं, वह करने का स्वप्न लेकर जो यहाँ आता है (४।१८।२), उसका यही करुण अथवा दुखद परिणाम सम्भवतः आज भी दुनिया की रीति है। तब भी महामानव हार नहीं मानते। वे जानते हैं, उनकी अभीप्सा श्येन की तरह द्युलोक से अमृत छीनकर निश्चय ही ले आएगी। 'अ-वर्ति' (< √वृत् 'आवर्तित होना, दिन काटना, निर्वाह करना'); वृत्तिहीनता, जीविका का अभाव। 'शुनः आन्त्राणि' — तु. जंगली जाति नागाओं का →

वहाँ सविता 'भुवनस्य प्रजापतिः'[1] त्वष्टा भी प्रजापति – किन्तु पवमान सोम की आनन्द-धारा के रूप में;[2] वे हिरण्यगर्भ रूप में अर्थात् विश्व के चिद् बीज रूप में सब के पहले वर्तमान होने के अतिरिक्त विश्व में जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वे ही उनके एक मात्र परिभू हैं;[3] वे विश्वदेवगण एवं पितृगण के साथ समसंवित अथवा समन्वेतन हैं;[4] गर्भाधान के फलस्वरूप वे ही जीवोत्पत्ति के मूल में हैं।[5] किन्तु निघन्टु में वे अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं – जहाँ विसृष्टि या सर्जनात्मकता अन्तरिक्ष की क्रिया अथवा घटना है।[6] पुरुष सूक्त में हम देखते हैं कि सृष्टि देवयज्ञ अथवा पुरुष की आत्माहुति है।[7] फिर यज्ञ देवकर्म है।[8] कर्म के मूल में प्राण की प्रेरणा है। प्राण अन्तरिक्ष स्थान तत्व है। अतएव आधियाज्ञिक दृष्टि में परम-देवता का स्वरूप 'प्राण' हुआ। इसीलिए यज्ञ अथवा साधना की आवश्यकता के अनुसार परमदेवता को अन्तरिक्ष या प्राणलोक में उतार कर लाया गया है – जहाँ विश्व की विसृष्टि और जिजीविषा का उल्लास है। अथच द्युलोक की प्रज्ञा के साथ अन्तरिक्ष के प्राण का कोई विरोध नहीं। इसलिए ऋग्वेद की →

'कुकुरपीठ' खाना : कुत्ते को भर पेट चावल खिलाकर फिर उसको जलाकर अँतड़ी के पके चावलों को खाना। कुकुर, वेद में प्राणशक्ति का प्रतीक है। उसकी आँत पकाकर खाने में क्या मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की किसी साधना का संकेत है? हठयोगी मत्स्येन्द्रनाथ का असली नाम शायद मत्स्यान्नादनाथ है क्योंकि वे जरा-मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए रोहू मछली की अँतड़ी खाया करते। ALDOUS HUXLEY के एक उपन्यास (AFTER MANY A SUMMER) में इसके समान एक कहानी है। इस बहुपाठी लेखक ने कहाँ से इसे संकलित किया है, वह नहीं बतलाया। ल० मत्स्य प्राचीनकाल से ही प्रजनन एवं प्राणशक्ति का प्रतीक है। वामदेव का कुत्ते की अँतड़ी पकाने के (प्राणवहा नाड़ी का शोधन?) मूल में ऐसी कोई भावना थी क्या?... 'मर्डिता' (<√मृड) सुप्रसन्न, सुखद। देवताओं में इन्द्र के भी तथा वामदेव के भी कोई मर्डिता नहीं थे अर्थात् उनके प्रति प्रसन्न नहीं थे। किन्तु वामदेव के प्रसंग में अन्य किसी के न रहने पर भी इन्द्र थे – ऐसी एक ध्वनि यहाँ है। ऋक्संहिता में इन्द्र यतियों के प्रति प्रसन्न हैं (द्र० टीमू० १५७३[1])। यतिपंथ का प्रचार एवं प्रसार वामदेव का अनन्य कार्य है एवं सम्भवतः उसके लिए ही वे लांछित।

[१५७२-क] तु० तैब्रा० स प्रजापतिर् इन्द्रं ज्येष्ठं पुत्रम् अपन्यधत्त ११५।७।१; ता० सो (प्रजापतिः) ऽकामयतेन्द्रो मे प्रजायां श्रेष्ठः स्याद् इति १६।४।३। [1] ऋ० ४।५३।२। [2] द्र० ७।५।७। ल० त्वष्टा वहाँ 'इन्द्र' और 'प्रजापति' भी हैं, किन्तु इन्द्र के पिता नहीं। [3] १०।१२१।१, टी० १२७६[1]; प्रजापते न त्वद् एतान्य् अन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव १०। [4] प्रजापतिः ... विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः १०।१६९।४; तु० १७१।३,४। [5] १०।८५।४३, १८४।१, तु० मा० 'प्रजापतिश् चरति गर्भे अन्तर् अजायमानो बहुधा विजायते, तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास् तस्मिन् ह तस्थुर् भुवनानि विश्वा' – ३१।१९ [6] निघन्टु ५।४। ऋक्संहिता में सविता प्रजापति ४।५३।२; फिर निघन्टु में सविता अन्तरिक्ष स्थान (५।४) एवं द्युस्थान (५।६) दोनों ही हैं अर्थात् वे प्राण भी हैं प्रज्ञा भी हैं। [7] ऋ० १०।९०।६–१६। [8] १०।१३०।१, टी० १३४४[1]. तु० श० यज्ञो वै कर्म १।१।२।१। [9] कौ० ३।२, ३; [10] तु० ऐब्रा० अनिरुक्तो वै प्रजापतिः ६।२०; तै० १।३।८।५; श० १।१।१।१३, ६।२।२।२१; ता० १८।६।८; शा० २३।२,६, २७।७...। [11] द्र० टी० १५८४[2]

उपनिषद में हम इन्द्र को यह कहते हुए सुनते हैं — 'मैं ही प्रज्ञात्मा प्राण हूँ, अमृत (प्रज्ञा) एवं आयुरूप में मेरी उपासना करो, प्राण ही अमृत है।... जो प्राण है, वही प्रज्ञा है'।[९] ऋक्-संहिता में हमें जिस अनुभव की विवृति प्राप्त होती है वह मूलतः सिद्ध की प्रज्ञास्थिति की है, यजुः संहिता की विवृति साधक के प्राण के आयाम की है। इसलिए पहली विवृति में इन्द्र के पिता परम-देवता हैं और इन्द्र उनके ही अच्युत स्वरूप की आत्मसम्भूति हैं। और दूसरी विवृति में इन्द्र के पिता प्रजापति रूप में निरुक्त या व्यक्त हैं, यद्यपि वे स्वरूपतः अनिरुक्त या अव्यक्त हैं, जिसका उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में बार-बार किया गया है।[१०] इन्द्र भी वहाँ द्युलोक से अन्तरिक्ष लोक में उतर आए हैं — किन्तु वहाँ उनका स्थान अन्तरिक्ष और द्युलोक के सन्धि-स्थल पर है। उस समय 'प्राजापत्य' हैं। पुराण के इन्द्र पिता कश्यप प्रजापति के ही अनिरुक्त स्वरूप हैं।[११]

यज्ञवाद अथवा कर्मकाण्ड के प्रचार-प्रसार में क्रमशः ये अन्तरिक्षस्थानी इन्द्र ही लोकप्रसिद्ध हुए। उनका परम स्वरूप कुछ परदे के पीछे चला गया। इतिहास-पुराण में हम प्रायशः इस इन्द्र को ही देख पाते हैं। ऋक्संहिता में इन्द्र 'मुनीनां सखा' [१५८३] हैं, वे जिस प्रकार भृगुओं द्वारा उसी प्रकार 'यतियों' द्वारा भी स्तुत हैं।[१] यति भी देवताओं की तरह समस्त विश्व को आप्यायित करते हैं।[२] किन्तु यजुः संहिता में हम देखते हैं कि इन्द्र यतियों को सालावृक (HYENA) या लकड़बग्घे के मुँह में फेंक देते हैं।[३] इस विद्वेष का उल्लेख कौषीतक्युपनिषद में भी है।[४] दूसरी ओर मुनिपंथियों में भी इन्द्र के प्रति विद्वेष का परिचय सुस्पष्ट है। शक्र एवं ब्रह्मा को (प्रजापति) बुद्ध के ताबेदार या हुक्म-बरदार के रूप में चित्रित करना बौद्धप्रस्थान का एक रिवाज हो गया था। यह अवश्य परवर्ती काल की बात है। उपनिषद में हम देखते हैं कि इन्द्र परमदेवता के आसन से बहुत नीचे उतर आए हैं। छान्दोग्य में वे प्रजापति के निकट आत्मविद्या के प्रत्याशी हैं।[५] केनोपनिषद में वे ब्रह्मजिज्ञासु हैं, यद्यपि वहाँ देवताओं में वे ही सब से पहले अत्यन्त निकट जाकर ब्रह्म को स्पर्श करते हैं जिसके कारण उनको मान दिया गया है।[६] इन सब के भीतर →

[१५८३] ऋ. ८।१७।१४। [१] य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः ८।६।१८। [२] यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत १०।७२।७। लगता है कि **यति** सामान्य संज्ञा है; उनमें जो निःसङ्ग, वे मुनि हैं। धीरे-धीरे वे वैदिकों से अलग हो गए। [३] तु: तैसं. 'इन्द्र यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्' ६।२।७।५; मैत्रायणी संहिता. 'इन्द्रो वै यतीन्त् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत, तेषां वा एतानि शीर्षाणि यत् खर्जूराः १।१०।१२ (तु. ऐ. २।५।३); काठक संहिता, ८।५। यतियों का मस्तक खजूर के पेड़ जैसा' ऋक्संहिता का 'केशी' मुनि का स्मरण करा देता है (१०।१३६।२)। [४] द्र. कौ. ३।१, वेमी. १३५४। [५] छा. ८।७।१–१५।३। [६] के. ३।१; ४।३।

ज्ञानकाण्ड में और कर्मकाण्ड में उस चिरन्तन विरोध का संकेत प्राप्त होता है जिसने भारतवर्ष की विद्या-साधना को ऋषिपंथा और मुनिपंथा में विभाजित करके दोनों के बीच एक दुर्लङ्घ्य प्राचीर खड़ी कर दी है, जिसकी छाया आज भी हमारी चेतना में व्याप्त है। मुनिपंथियों की तरह ऋषिपंथी भी आज इन्द्र को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं अर्थात् पौराणिक अन्तरिक्षस्थान इन्द्र की छाया में वैदिक परमदेवता इन्द्र म्लान हो गए हैं। यहाँ तक कि जिन भागवत जनों या विष्णु अथवा कृष्ण के उपासकों का धर्म इस देश का अन्यतम, लोकप्रिय, लोकप्रसिद्ध धर्म है एवं वैदिक देववाद का उत्स है, वे भागवत जन भी इन्द्र के प्रति प्रसन्न नहीं हैं। किन्तु ऋक्संहिता में भग एवं विष्णु के साथ इन्द्र का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। भागवत धर्म की अनेक भावनाएँ, ~~रूपकल्प, सौन्दर्यबोध~~ तो वैदिक इन्द्र एवं सोम से लिए गए हैं — उसका प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है। इतनी बात कहने का उद्देश्य केवल यही है कि वैदिक धर्म का मूलस्तम्भ इन्द्रचर्या है; इस क्षेत्र में पौराणिक इन्द्र की कल्पना द्वारा वैदिक इन्द्र के स्वरूप को यदि हम ढँक देते हैं तो फिर वह वेदार्थमीमांसा के पक्ष में एक बहुत बड़े विघ्न के रूप में उपस्थित होगा। इन्द्र के प्रसङ्ग में इस बात को याद रखना ज़रूरी है।

हमने देखा कि सप्तशती की देवी के जन्म की तरह इन्द्र का जन्म भी एक अलौकिक-आविर्भाव है। यही कारण है कि उनके जनित और जनित्री का परिचय रहस्यमय है। आध्यात्मिक दृष्टि से हमारे प्राण की ओजस्विता से ही उनका जन्म होता है; किन्तु अग्नि के जन्म की तरह वह किसी भी बाह्य अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता। कवि की भाषा में उनका आविर्भाव मानो 'तिमिर विदार उदार अभ्युदय' है, चेतना में एक आकस्मिक ज्योति का उद्भास है। यह ज्योति साधनजन्य नहीं बल्कि स्वयंसिद्ध है — उनकी 'स्वरोचिः' अथवा स्वयंज्योति है, जिसकी श्री को वस्त्र की तरह पहन कर वे विश्वरूप की भूमिका में हमारी अन्तर्ज्योति के अमृत बिन्दु में अधिष्ठित होकर विचरण करते रहते हैं [१५६४]।

[१५६४] ऋ. 'आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ् छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः, महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ' — अधिष्ठान रूपी उनको विश्व (देवताओं) ने घेर रखा है, श्री का वस्त्र पहनकर वे ही विचरण करते हैं स्वयंज्योति से दीप्तिमान; वीर्यवर्षी असुर का वही है महत् नाम; विश्वरूप होकर अमृत समूह में रहते हैं वे अधिष्ठित ३।३८।४। **आतिष्ठन्तम्** — इसका एकस्वरयुक्त प्रयोग ऋक्संहिता में और नहीं है। एकस्वर्य से ऐकपद्य का बोध होता है, अतएव यह शब्द 'अतिष्ठा' या फिर 'अतिष्ठा' की तरह पारिभाषिक है। 'आ' निकट है जो, वे 'आतिष्ठा' या अन्तर्यामी के रूप में अधिष्ठित हैं। चतुर्थ पाद में 'आ तस्थौ' अलग-अलग पद है। इसलिए पहले पद से उनकी समष्टि या जीवघन (विश्वप्राण का घनीभूत रूप जो अनन्त जीव व्यक्ति में प्रकाशमान है तु. प्र. ५।५) स्थिति और दूसरे पद से व्यष्टि स्थिति का बोध होता है। वे केन्द्र में हैं, और उनके प्रकाशमण्डल के रूप में विश्वदेवों ने उनको परिभूषित कर रखा है। →

उनकी माता उनके जन्म के रहस्य को गुप्त रखना चाहती हैं कि कोई उसे जान न पाए — क्योंकि वह तो सब से बतलाने की बात नहीं है और सभी दृष्टियों से वह बहुत ही अद्‌भुत है। किन्तु वे समस्त अन्तराल, आवरण दूर करके स्वयंज्योति से दीप्तिमान सहसा आविर्भूत होते हैं और उनके इस आविर्भाव से भूलोक और द्युलोक पूर्णतः ज्योतिर्मय हो जाता है।[1] किन्तु आँख को चकाचौंध कर देने वाली वह दीप्ति हम सब के निकट असहनीय होती है। रामकृष्णदेव की भाषा में वह मानो कोठरीनुमा घर में हाथी घुसने की तरह है जिसकी निरंकुशता से सब कुछ डगमगाने लगता है। वामदेव गौतम की भाषा में 'सारे बाँध, लहराती नदियों की उतरती धाराएँ, आकाश और पृथिवी सब उनके उदग्र, उत्कट बल से थरथरा उठते हैं, जब उनका जन्म होता है क्योंकि चारों ओर भर देते हैं द्यावा-पृथिवी को, भर देते हैं गोष्पद (धेनु या गाय के पद) को अपने प्राणोच्छ्वास से; (सुना नहीं) मनुष्यों की तरह सिंहनाद कर उठे प्रत्येक दिशा में तीव्र गति से जाते झंझावात।'[2] पुरहन्मा आङ्गिरस कहते हैं, — कोई रोक नहीं पाया →

वे ही यहाँ नीचे उतरकर आ रहे हैं और रूप-रूप में प्रतिरूप होकर विचरण कर रहे हैं। तब भी केन्द्र में वे चिद्‌घन एवं स्वयंज्योति हैं और बाहर विचित्र वर्णों के विच्छुरण से इन्द्रधनुष जैसे हैं। वे **असुर** अर्थात् शुद्ध सन्मात्र या शुद्ध सत्ता हैं किन्तु प्राणस्पन्दित (<√ अस् जिसका अर्थ 'अस्तित्व' एवं 'क्षेपण' दोनों ही है एवं इस संज्ञा में ये दोनों ही सम्मिलित या जड़ित हैं। पहले अर्थ में परम देवता 'स्वस्ति' अथवा वह सुमङ्गल आस्तिता हैं जो हम सब का चरम पुरुषार्थ है द्र. टी. १३८५, १३५५[2]; और दूसरा अर्थ उससे मिलती-जुलती 'असिर' संज्ञा में व्यक्त हुआ है जो 'कम्पमान सूर्यरश्मि' का बोधक है, तु. यः (सोमः) सूर्यस्यासिरेण मृज्यते ९।७६।४; 'असुर' स्वस्ति एवं असिर दोनों ही हैं, जिन्हें अन्यत्र 'क्षरत्य-क्षरम्' कहा गया है (१।१६४।४२)। अतएव वे 'वृषा' अर्थात् वीर्यवर्षी एवं विसृष्टि में समर्थ हैं। यह सामर्थ्य उनका 'महत् **नाम**' अर्थात् शक्तिपात (अत्र सायण. नमयति सर्वान् अनेन् शत्रून् इति नाम कर्म, यद् वा नम्यते सर्वैर् नमस्क्रियत इति नाम इन्द्रस्य कर्म शरीरं वा)। देवता का नाम केवल अक्षर-समष्टि नहीं है, बल्कि वह उनका एक शक्तिगर्भ अनुभाव अथवा मनोभाव व्यंजक एक भंगिमा है। इस नाम से ही विश्वरूप की विसृष्टि का उल्लेख अगले पाद में ही है (द्र. टीमू. १८३५)। वे ही विश्वरूप हैं, वे ही जगत हुए हैं। जगत मर्त्य है किन्तु उसका अन्तर्निहित चैतन्य तत्व अमृत अर्थात् अमरणशील है (तु. १।१६४।३०)। प्रत्येक जीव के उसी अमृतात्मा में उनका अधिष्ठान है। और भी द्र. ४।१८।५। तृतीय पाद, टी. १८६३। [1] तु. ४।१८।५, चतुर्थ पाद, टी. वही। [2] विश्वा रोधांसि प्रवतश्च पूर्वीर् द्यौर् ऋष्वाज् जनिमन् रेजत क्षाः, आ मातरा भरति शुष्म्या गोर् नृवत् परिज्मन् नोनुवन्त वाताः ४।२२।४। इन्द्र का जन्म बाहर-भीतर एक संक्षोभ का कारण है (तु. उपनिषद् का ब्रह्मक्षोभ छा. ३।५।२। 'रोधः' यदि रुह् 'ऊपर उठ जाना' है तो फिर पर्वत-शिखर का बोधक है (तु. सा.), और 'प्रवत' उसके ढाल का। **ऋष्व** <√ ऋष् 'विद्ध करना' तु. 'ऋष्टि' बरछा, मरुद्‌गण का प्रहरण (अस्त्र) है। ऋक्संहिता में अधिकांश प्रयोग इन्द्र के प्रसङ्ग में है और कई स्थलों पर अग्नि का भी विशेषण है। ये दो प्रयोग लक्षणीय :— 'गिरिर् न यः स्वतवाँ ऋष्व इन्द्रः' ४।२०।६, 'गिरयश् चिद् ऋष्वाः' ६।२४।८। यहाँ पर्वत के साथ उपमित होने से गिरिशृंग की उच्चता एवं सूक्ष्माग्रता का बोध होता है। निघ. 'महत्' (३।३)। अग्निशिखा (तु. ऋ. ३।५।५) एवं →

प्रतिद्वन्द्वियों के दर्प को चूर-चूर कर देने से उस वज्रतेजा को— जिनके जन्मने के पश्चात् सर्वव्यापिनी महिममयी धेनुएँ स्मृतिमुखर हो उठीं और स्मृतिमुखर हो उठे सारे द्युलोक और भूलोक।'[2] नोधा गौतम के वर्णनानुसार:— इनके भय से पर्वत निश्चल हो जाते हैं, और द्युलोक-भूलोक विचलित हो जाते हैं— ये जब जन्म लेते हैं।— महान हो तुम हे इन्द्र, तुमने तो जन्म लेते ही अपने प्राणोच्छ्वास से आकाश और पृथिवी को विह्वल कर दिया आतङ्क (बल) से— जब सम्भवत: तुम्हारे भय से सारे विचित्र, विलक्षण और निश्चल पर्वत धूल के कणों की तरह काँपने लगे।'[4]

इन्द्र का वज्र ये दोनों एक-एक 'नाभि (केन्द्र) या 'पुर' अथवा ग्रन्थि का भेदन करके ऊपर की ओर उठते जाते हैं, इसलिए ये दोनों ही देवता विशेष रूप से ऋष्व: हैं। 'आ भरति' = आ हरति अर्थात् निकट ले आकर इकट्ठा करते हैं, भर देते हैं (तु. 'भर' आवेश, जिस प्रकार ऋक्संहिता में उसी प्रकार बाँग्ला और हिन्दी में)। यह पद स्वराङ्कित है, इसलिए द्वितीय अथवा चतुर्थ पाद की प्रधान क्रिया के साथ अन्वित है (गेल्डनर)। 'हि' अध्याहार्य। 'गो:' के पश्चात् 'पदम्' - अध्याहार्य अथवा अनुमेय शब्द-पूरण (तु. ४।५।२ टी. १३२०[6], १४८१[4]) गोष्पद हृदय का उपमान; हृदय को भर देते हैं, अत: द्युलोक-भूलोक आपूरित हो जाते हैं, भर जाते हैं (तु. छा. ८।१।१-४)। 'नृवत् वीर की तरह, जैसे वे रणभूमि में सिंहनाद करते हैं, उसी प्रकार झंझावात गरजते हुए चल पड़े। शरीर की प्रत्येक नाड़ी में प्रवहमान महावायु गड़गड़ करती हुई ऊपर में उठ जाती है। इन्द्र के जन्म से अप एवं वायु दोनों ही मुक्त हुए। [2] अषाळ्हम् (अषाल्-हम्) उग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन् महीर् उरुज्रय:, सं धेनवो जायमाने अनोनवुर् द्याव: क्षामो अनोनवु: ८।७०।४। इन्द्र के जन्म के बाद ही आलोक का अवरोध दूर गया और द्युलोक-भूलोक में सर्वत्र जयघोष गूँज उठा। **अषाळ्ह**... < √सह् 'अभिभूत करना, पराजित करना' जिनको कोई अभिभूत नहीं कर सकता— (तु. जेतारम् अपराजितम् १।११।२) ऋक्संहिता में प्राय: सर्वत्र इन्द्र के सम्बन्ध में प्रयुक्त (तु. 'अषाळ्हं सह: १।५५।८; अषाळ्हेन शवसा ६।१९।२)। तु. इस समय जिस पूर्णिमा में सूर्य उत्तरायण के चरम बिन्दु पर होते हैं, वह 'आषाढ़ी'। तब अन्धकार के आँगन में ज्योति की जयन्ती। **उरुज्रि** < 'उरु' (विशाल) + √ज्रि 'तीव्र वेग से बहते जाना' तु. (सोम:) उपज्रयति गोर् अपीच्यं पदं यद् अस्य मतुथा (निरन्तर मनन) अजीजनन् ५।७१।५; (इन्द्र:) विश्वा: सेहान: पृतना (एवं उनके) उरु ज्रय: ८।३६।१ टेक; निघ. गतिकर्मा २।१४; तु. नि. उरुज्रय: बहुजवा: १२।४३। ॥√* जृ ॥* गृ 'गल जाना अतएव बहना' > 'जल' (किन्तु ऋक्संहिता में शीतल अर्थ 'जलाष' है २।३३।७, ८।३५।६), 'गल्दा' ८।१।२० टी. १४५३[4]। 'उरुज्रि' के साथ तुलनीय. विष्णु का विशेषण 'उरुगाय' (१।१५४।२, ५, १५५।४), जो चलने के साथ-साथ प्रकाश की तरह विपुल होकर फैल जाते हैं। ये धेनुएँ भी वृत्र द्वारा अवरुद्ध आलोक धेनु हैं, जो आलोक हम सब के हृदय में छिपा है। 'द्याव: क्षाम:' बहुवचन, तीन पृथिवी एवं तीन द्युलोक, सब मिल कर ये छ: लोक हुए; तु. आध्यात्मिक दृष्टि से तैत्तिरीय उपनिषद के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय पुरुष एवं इन तीनों के ऊपर विज्ञानमय, आनन्दमय पुरुष एवं आत्मा (२।८)। [4] अस्येद् उ भिया गिरयश च दृळ्हा द्यावा च भूमा अनुषस् तुजेते १।६१।१४ ... त्वं महाँ इन्द्र यो ह शुष्मैर् द्यावा जज्ञान: पृथिवी अमे धा:, यद् ध ते विश्वा गिरयश् चिद् अभ्वा भिया दृळ्हास: किरणा नैजन् ६३।१। √**तुज्** 'प्रेरणा देना, उद्दीप्त करना' तु. 'अस्मा इद् उ प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रम्'—

यह भय अथवा कम्पन देवमहिमा के आकस्मिक अभिघात या प्रहार का परिणाम है। जो एक क्षण के लिए चेतना को विह्वल कर देता है, फिर उसको वह उद्दीप्त करता है और अक्षर के प्रशासन द्वारा ऋतच्छन्दा करता है अर्थात् सत्य के सुशृङ्खल शाश्वत विधान के अनुकूल कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है। उपनिषद् के वर्णन के अनुसार — 'यह जो कुछ भी है, यह सारा जगत। उनसे बाहर आकर प्राण में प्रकम्पित है, थरथर करता है। वे प्रहार के लिए उद्यत वज्र की तरह महान भयस्वरूप हैं। जो यह जानते हैं, वे अमृत होते हैं।... उनके ही भय से पवन चलता है, उनके ही भय से सूरज उगता है, उनके ही भय से अग्नि, इन्द्र और यह पञ्चम मृत्यु- सबदौड़ धूप कर रहे हैं, नियम पूर्वक अपना अपना कार्य कर रहे हैं [१५६५]।'

इन्द्र के परिजनों में उनके माता पिता के परिचय के बाद अब उनकी पत्नी का परिचय प्राप्त करना है। हमने पहले ही बतलाया है कि वेद के सारे देवता ही 'पत्नीवान' अर्थात सशक्तिक हैं [१५६६]। जहाँ स्त्री-देवता का प्राधान्य है वहाँ भी उनके मिथुनीकृत या जोड़े के रूप में पुरुष देवता का परिचय प्राप्त होता है। जैसे पृथिवी के द्यौः, उषा के सूर्य, वाक् के वाचस्पति, सरस्वती के सरस्वान्, रोदसी के रुद्र इत्यादि पुरुष देवता हैं। संक्षेप में वैदिक देवताओं में तंत्र सम्बन्धी युगनद्धता का भाव अत्यन्त ही स्पष्ट है — उपनिषद में जिसका तात्विक प्रतिरूप आकाश और प्राण अथवा प्रज्ञा और प्राण है।[१] इन दो तत्वों का समन्वय ही वैदिक साधना, दर्शन और जीवनवाद का मूल विचार-बिन्दु है — जिसके कारण अवैदिक दृष्टि के साथ उसका अति प्राचीन, स्मरणातीत विरोध मुखर रहा है।

किन्तु देवताओं के पत्नीवान होने पर भी अलग से इन देवपत्नियों का नाम या परिचय कुछ विशेष नहीं प्राप्त होता है — प्रायशः पुरुष देवता के नाम के साथ एक स्त्री प्रत्यय जोड़ कर ही उनका परिचय पूरा कर दिया गया है; जैसे 'अग्नायी', 'इन्द्राणी', 'अश्विनी', 'वरुणानी' [१५६७] किन्तु लक्ष्य करने योग्य है कि इसके ही अन्तर्गत 'इन्द्रपत्नी' एक विशेष सम्मान की अधिकारिणी हुई हैं। जिस प्रकार ऋक्संहिता में घूम-फिर कर नाना प्रकार से उनका परिचय प्राप्त होता है, उसी प्रकार उनको लेकर दाम्पत्य की एक सुन्दर छवि भी वहाँ उभरी है। इन्द्र वीर पुरुष हैं —>

वज्र से प्रहार करो इस वृत्र के ऊपर उद्दीप्त होकर १।६१।१२। किन्तु यहाँ द्यावापृथिवी 'भिया तुजेते' अर्थात भय से काँपते हैं फिर उद्दीप्त या उत्तेजित भी हो उठते हैं — जैसे किसी लोकोत्तर या लोकातीत महिमा के सम्मुखीन होने पर होता है। अँग्रेजी में इसे AWE कहते हैं।... अम तु. नि. 'अमं भयं वा बलं वा (ऋ. १।६६।७)१०।२१, और भी तु. त्वम् अध प्रथमं जायमानो ऽमे विश्वा अधिथा इन्द्र कृष्टीः ४।१७।७। यहाँ भी भय के साथ उद्दीपन मिश्रित है।

[१५६५] क. २।३।२; तै. २।२। यह भय तामसिक नहीं, दिव्य है — अध्यात्म-चेतना का उत्स महिमबोध के साथ अन्वित एवं उसका गुणीभूत है (द्र. वेमी. प्रथम खण्ड प्राक्कथन पृष्ठ ५६-५७)।

[१५६६] द्र. टीका १८३६[४], १२८१। [१] जैसे — षोडषकल पुरुष की आदिकला प्राण है, जिससे अन्य पन्द्रह कलाओं की विसृष्टि होती है। फिर यही पुरुष जब प्रलयकाल में 'अकलः' अथवा कलातीत हो जाते हैं, तब वे आकाशवत होते हैं (प्र. ६।४-५); —>

युद्धक्षेत्र में युद्धोन्मत्त के मतवाले पन में उनका समय कटता है, तब भी उनका मन शायद घर की ओर लगा रहता है। वहाँ उनकी कल्याणी एवं प्रिया जाया है और सर्वतोभद्र रमणीयता है। युद्ध समाप्त हो गया है, सोम्य मद, सोम्य मधु में रूपान्तरित हो गया है। अब दिन के अन्त में सूरज के घर जाने (अस्त) की तरह उनके भी घर जाने का समय हो गया है जहाँ सुप्रिया जाया उनके आने की राह देख रही है;[२] उत्कंठिता की आकुलता के साथ अपने →

अतएव ब्रह्मसूत्र में आकाश और प्राण दोनों ही ब्रह्म की संज्ञा हैं एवं ब्रह्म और वाक् की तरह दोनों में एक युग्म है (ऋ॰ १०।११४।८ टी॰ १२५८५। पुनः कौषीतकि उपनिषद् में प्रज्ञा और प्राण में एक युग्म है (३।२)।
[१२८८] द्र॰ ऋ॰ ५।४६।८, १।२२।१२, २।२२।८, १०।८६।१२, ५।३४।२२।[१] ऋक्-संहिता के वृषाकपि सूक्त में इस संज्ञा का प्रयोग है (१०।८६।९,१०)।[२] तु॰ 'युक्तस् ते अस्तु दक्षिण उत सव्यः (बाँयीं ओर के अश्व) शतक्रतो, तेन जायाम् उप प्रियां मन्दानो याह्य.न्धसो (जो रूपान्तरित हुआ है सोम एवं इन्दु में), योजान्विन्द्र ते हरी,...उप प्र याहि दधिषे गभस्त्योः (दोनों बाँहों से अश्वों की रश्मियाँ या रास पकड़कर), उत त्वा सुतासो रभसा (उद्दीपक, उत्तेजक) अमन्दिषुः (उन्मत्त किया) पूषण्वान् (पूषा को साथ लेकर; इन्द्र एवं पूषा दोनों का स्थान भ्रूमध्य में है; पूषा के पश्चात् ही सहस्रार में विष्णु का व्याप्ति-चैतन्य है; इन्द्र और पूषा का सहचार क्रमशः प्राण और प्रज्ञा का सहचार है तु॰ ई॰ १५-१६, वहाँ पूषा ही हिरण्मय पात्र का आवरण दूर कर देते हैं; यहाँ सोम इन्दु हो जाता है) वज्रिन्त् सम् उ. पत्न्या.मदः (परस्पर मत्त हो गए) १।८२।५-६। 'उन्मद' के पश्चात् 'सम्मद' ध्यातव्य. ऊपर उठकर आकाशवासर (वासगृह) में युगनद्ध अवस्था में मदमत्त हो जाने का चित्र। और भी तु॰ 'अपाः (पान किया है) सोमम् अस्तम् इन्द्र प्र याहि कल्याणीर् जाया सुरणं (अनायास आनन्द) गृहे ते, यत्रा.रथस्य बृहतो (देवरथ विश्वव्यापी) निधानं (थम जाना, आश्रय में प्रवेश करना) विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् (दाक्षिण्य अथवा प्रसन्नता के साथ) ३।५३।६। [२]तु॰ 'यदा समर्यं व्य.चेद् ऋघावा दीर्घं यदा.जिम् अभ्य.ख्यद् अर्यः, अचिक्रदद् वृषणं पत्न्य.च्छा दुरोण आ निशितं सोमसुद्भिः'— जब समर (-वाहिनी) को सावधानी के साथ समर्थ पुरुष ने जाँच-पड़ताल करके देखा, जब दीर्घ धावन या द्रुतगमन की ओर ताकते रहे मालिक, आकुल आह्वान भिजवाया पत्नी ने वीर्यवर्षी के प्रति घर में (आने के लिए) — (आधार में) जिनको शाणित कर रखा है सोमसवन करने वालों ने ४।२४।८। युयुत्सु इन्द्र को उत्कंठिता इन्द्रपत्नी घर में लौट आने के लिए कहती हैं। पुरुष की युयुत्सा और नारी की ममता का यह चिरन्तन चित्र है जो निश्चय ही उस युग के वास्तविक जीवन से लिया गया है। **समर्य**— निघ॰ 'संग्राम (२।१७)। पदपाठ॰ 'स-मर्य'; वेङ्कटमाधव और सायण॰ इसलिए अर्थ करते हैं 'समनुष्य'। किन्तु 'समर' पदपाठ में 'सम-अर' जहाँ सभी आकर जुटते हैं। तो फिर पदपाठ का अवग्रह युद्ध में रत योद्धाओं के प्रति दृष्टि आकर्षित करता है, अतएव 'समर्य' समर एवं वाहिनी दोनों ही है। एक स्थान पर यह शब्द इन्द्र का विशेषण है (५।३३।१), इन्द्र 'मरुत्वान्' इस अर्थ में वहाँ अवग्रह उपयुक्त होता है। और एक स्थान पर यज्ञ 'समर्य' एवं हविष्मान् और कृतब्रह्मा (७।७०।३) है; यहाँ 'मर्य' यजमान, इसलिए अवग्रह उपयुक्त है। और सभी स्थानों पर सीधे संग्राम का बोध होता है (तु॰ वयम् अग्ने वनुयाम [पराजित कर सकें] त्वोता [तुम्हारे द्वारा परिरक्षित या संरक्षित होकर] समर्ये विदथेष्व.ह्नां [दिन का प्रकाश पाने की साधना में] मर्तान् [जो कुद्ध मर्त्य या नश्वर] ५।३।६; समर्यजिद् वाजो अस्मा अविष्टु १।१११।५...)।

समर्थ स्वामी को बुलाती हैं घर लौट आने के लिए।[3] फिर किसी समय ऐसा होता है कि मनुष्य के आह्वान पर इन्द्र उसके घर वृत्र का वध करने के लिए जाते हैं। वहाँ देवता और मनुष्य गाढ़ी मित्रता के सूत्र में बंध जाते हैं। उसे लेकर इन्द्र अपने धाम में लौट आते हैं। उस समय देवता के सायुज्य या परम साम्य में मनुष्य ने उनका सारूप्य - (समस्वरूपता) प्राप्त कर लिया है। एक इन्द्र की जगह दो इन्द्र देखकर इन्द्रपत्नी पहले तो दुविधा में पड़ जाती हैं कि असली इन्द्र कौन है। किन्तु पति को पहचानने में उन्हें देर नहीं लगती है क्योंकि वे 'ऋतचित् नारी' हैं[4] अर्थात् वे सत्याश्रयी चेतना से नियंत्रित व्यवहार कुशल नारी हैं।

'वि अचेत' बारीकी से जाँच-पड़ताल करके देखा, जिस प्रकार अर्जुन ने कुरुक्षेत्र-युद्ध के प्रारम्भ में देखा था (तु. ४।२।११, टी. १२२०[3])। **ऋघावा** — रूपान्तर 'ऋघवान' (१।१५२।२; ३।३०।३; १०।२७।२)। < 'ऋघा' < √'ऋघ' > अर्घ् > अर्ह् 'योग्य अथवा समर्थ होना, सामर्थ्य प्रकट करना' तु. 'अर्हन्' रुद्रः २।३३।१०, जिनमें मुनिपंथी अर्हत् की ध्वनि है। ऋघा > √ऋघाय 'समर्थ होना, अभिभूत करना, पराजित करना' तु. इन्द्र 'ऋघायमाणो निरिणाति (धूल में मिला देते हैं) शत्रून्' १।६१।१३। **आजि** — निघ. 'संग्राम (२।१७) < आ √ अज् खदेड़ना, प्रेरणा देना (तु. गायों-बैलों को हाँकने, खदेड़ने का डंडा-पैना)। मूलत: 'आजि' दौड़ (घोड़े की अथवा मनुष्य की, तु. छा. 'अतो यान्य-न्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथा... आजेः सरणम् १।३।५। घोड़े की दौड़ में चाबुक की ज़रूरत पड़ती है इसलिए आदिम है 'आजि'। दौड़ में प्रतिस्पर्द्धा का भाव है, उससे 'आजि' संग्राम, अथवा लक्ष्य की वस्तु। इन्द्र सोच-विचार कर देखते हैं कि वृत्र के साथ लड़ाई दीर्घकाल तक या फिर सप्तशती की भाषा में कहा जाए तो मनुष्य के पूरे जीवन तक चलेगी (२।२)। **अचिक्रदत्** — रिरंसु या रमणेच्छु पशु के, विशेष रूप से 'वृष' या बैल के बाँ बाँ अथवा रँभाने के बोधक के रूप में इस धातु का बहुल प्रयोग है (तु. ७।३६।३, ८।२।६, २७।४, ६७।४, ६८।२, वृषभः कनिक्रदद् दधद् रेतः कनिक्रदत् १।१२८।३, ४।५०।५, कनिक्रदद् वृषभो... रेतो दधाति ५।८३।१...)। यहाँ भी वृष का सम्बन्ध ध्यातव्य है। सोम के बारे में प्रचुर प्रयोग भी ध्यातव्य। यहाँ वीर रस और श्रृंगार रस दोनों को आस-पास दिन और रात के काव्य की तरह व्यक्त किया गया है। 'दुरोणे आ' उभयान्वयी है। इन्द्रपत्नी इन्द्र को बुलाती हैं 'अस्ते'—घर में (३।५३।६), और इधर सोमयाजी उनको आधार के सोमपात्र में उलझाए रखते हैं। देवता किस ओर जाएँ? 'निशित' (दीप्तिमान्) देवता युद्ध के लिए प्रस्तुत हैं (तु. ६।२।५, १३।४, १५।११)। हम सब के भीतर उनकी 'निशिति' (तेजस्विता, दीप्तिमत्ता) सुई के नोक जैसी तीक्ष्ण सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भावना के साथ अग्रसर होती हुई बुद्धि है।[4] तु. 'आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत् ते कुत्सः सख्ये निकामः, स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सद् ऋतचिद्ध नारी'— दस्युघाती मन लेकर आओ घर, तुम्हारे सख्य के लिए जागने दो कुत्स के भीतर गहरा भाव; अपने धाम में निषण्ण होओ दोनों एक ही रूप धारण करके और तुम दोनों को लेकर संशय में पड़ जाए ऋतदर्शिनी (वह) नारी ४।१६।१०। इन्द्र-कुत्स का सख्य और सायुज्य ऋक्संहिता में प्रसिद्ध है। वे दोनों एक ही रथ के आरोही हैं— कृष्ण और अर्जुन की तरह (५।३१।८, द्र. टी. १२८३। 'अस्त' अन्तिम निलयन; कुत्स के घर को 'अस्त' कहने में उनकी योगारूढ़ चेतना की परम भूमि संसूचित हो रही है। वहाँ देवता के साथ उनके सख्य या मित्रता का अन्तिम परिणाम सायुज्य एवं सारूप्य में है। ऋषि त्रिहद्दिव ने भी इसी प्रकार इन्द्र का सायुज्य प्राप्त किया था। ध्यातव्य है— कुत्स का 'अस्त' इन्द्र-योनि है अर्थात् जहाँ मनुष्य का अन्त है वहीं देवता का आरम्भ है। आध्यात्मिक दृष्टि में यह इन्द्र योनि भ्रूमध्य में और उसके उस पार महाशून्य है। वह भी योनि— अर्थात् 'ऋतस्य योनिः' अथवा 'अदितेर् उपस्थम्' →

इन्द्र के दाम्पत्य जीवन का एक सुचित्र अर्थात चित्रात्मक वर्णन सन्धा भाषा में रचित वृषाकपि-सूक्त में प्राप्त होता है [१५६८]। वहाँ इन्द्रपत्नी पति की प्रियतमाओं में अनन्या, चिर अविधवा, पति के गर्व से गर्विता मानिनी, पति की सखी और सचिव, स्वाधीनपतिका एवं सुरतपण्डिता है— संक्षेप में प्रज्ञा, प्रेम और प्राण की महिमा-गरिमा के आलोक में नारीत्व का आदर्श है। इस रहस्यपूर्ण और दुर्बोध सूक्त का विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। स्वभावत: ही यह प्रिया एवं कल्याणी पत्नी सोमपान में भी अंश ग्रहण करती है।[1] भ्रूमध्य के ऊपर की ओर पूषा के धाम में सोमपान जारी रहता है— जिसको संहिता में 'काकुद' और उपनिषद में 'इन्द्रयोनि' अथवा 'नान्दन द्वार' बतलाया गया है।[2] इसलिए इन्द्र उस समय 'वज्री' एवं 'पूषण्वान्' की भूमिका में होते हैं — योग की भाषा में आधार की ओज:शक्ति तब ऊर्ध्वस्रोता होकर आज्ञाचक्र भेदते हुए सहस्रार में पहुँच गई होती है। पुराण की भाषा में वहाँ ही शिवनेत्रजन्मा अग्नि में मदनदहन एवं तत्पश्चात शिव-शक्ति के सामरस्य का उल्लास है। सोम की मत्तता में वृत्रवध के पश्चात 'अस्त' अथवा वारुणी शून्यता में पत्नी के साथ सोम्य मधुपान के आनन्द में ही इन्द्र-लीला की चरितार्थता है। इसीलिए गाथिन विश्वामित्र ने कहा, 'हे मघवन् जाया ही अस्त है, वही योनि है, रथ में जुते सुनहले घोड़े तुमको वहाँ ही ले जाएँ।'[3] योनिरूप में जाया जननी है, फिर अस्त रूप में प्रिया है। एक ही अदिति पुरुष के जीवन में आदि एवं अन्त है। जीवन की परिक्रमा उदयाचल से अस्ताचल की परिक्रमा जैसी है और एक ही नारी उसका आदि, मध्य एवं अन्त है — विश्वामित्र के उस सुगम्भीर ब्रह्मघोष में यह भावना ही ध्वनित होती है।

इन्द्रपत्नी का यह अधिदैवत या परमात्म रूप है। किन्तु ऋक् संहिता में ही उनके अध्यात्म रूप का सुस्पष्ट उल्लेख है। जो अधिदैवत है वही अध्यात्म है अर्थात जो ब्रह्माण्ड में है, वह भाण्ड में भी है, जो बाहर है, वह भीतर भी है — उपनिषद की यह सुपरिचित मान्यता संहिता की भी मान्यता है, यह उसका एक स्पष्ट प्रमाण है। बाहरी आलम्बन को भीतरी आलम्बन में रूपान्तरित करना ही सारे देशों में सभी युगों में धर्मसाधना का एकमात्र तात्पर्य है, जान पड़ता है वैदिक ऋषियों को इस बात की जानकारी थी — नहीं तो उनके याग-यज्ञ भस्म में घी ढालने में ही पर्यवसित होते, फिर तो वह याग कभी भी योग में रूपान्तरित नहीं होता। यह सब पहले बतलाया गया है। फिर भी इस →

अथवा वाक् की योनि है (५।८।३, १२।५, २६।१, १०।५।७, १२५।७ ...) जो ऊर्ध्व में 'परमे व्योमन्' है और नीचे 'अप्स्वन्त: समुद्रे'। सोम्य आनन्द की धारा यहाँ देव एवं देवपत्नी के नित्य सामरस्य में उच्छलित है (द्र. टीमू. १५६८)। किन्तु यहाँ आकर देवता का सारूप्य प्राप्त करने पर भी मनुष्य एक बार में ही देवता नहीं हो जाता। अतएव ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मसायुज्य को 'जगद्व्यापार-वर्जम्' (४।४।१७) कहा गया है। इन्द्रपत्नी या महाशक्ति की दृष्टि में यह भेद स्पष्ट है। सप्तशती में शुम्भ, शम्भु का सारूप्य प्राप्त करता है (५।१८) एवं महाशून्य में देवी को कसकर जकड़ भी लेता है (१०।२२-२३) किन्तु शम्भु नहीं हो पाया। इस कारण वेदान्त का सिद्धान्त है कि ब्रह्मसायुज्य में भोगसाम्य ही होता है, शक्तिसाम्य होता नहीं। [१५६८] ऋ. १०।८६ सूक्त। [1] ३।८२।६, टी. १५६७२। [2] ८।६९।१२ टी. १७५१२; तैउ. १।६, ऐउ. १।३।१२। [3] ऋ. जायेद् अस्तं मघवन्त् सेद उ योनिस् तद् इत् त्वा युक्ता हरयो वहन्तु ३।५३।४। →

उपलक्ष्य में वह स्मरण करवा देना चाहते हैं, इसलिए कि अज्ञानी एवं श्रद्धाहीन, संशयात्मा का स्मृति भ्रंश बड़ी आसानी से ही हो जाता है; और यूरोपीय वेदव्याख्या के प्रभाव में उन तीन अवगुणों के विष से हमारी परप्रत्ययनेय बुद्धि अर्थात दूसरों की धारणा या विश्वास पर भरोसा करने वाली बुद्धि संभवतः अभी भी बेहोशी की हालत में ही है।

अध्यात्म दृष्टि में इन्द्रपत्नी हैं हम सब की 'गिर', 'मति' एवं 'मनीषा' अर्थात हमारे देवाभिसारी वचन, मनन एवं ध्यान। ये इन्द्रशक्ति की ही विभूति हैं। यही शक्ति स्वरूपतः इन्द्र में नित्य संगत है — यह हम आगे चल कर देखेंगे। किन्तु मनुष्य के भीतर यह शक्ति ऊर्ध्वाभिसारिणी है। उस समय वह इन्द्र की 'उशती' जाया अथवा उत्कंठिता पत्नी है। वैष्णव दर्शन में लक्ष्मी और राधा में भी ठीक यही अन्तर है। फिर लक्ष्मी एक हैं; किन्तु राधा स्वरूपतः एक होने पर भी सखीरूप कायव्यूह में बहुरूपा हैं। इन्द्रपत्नी भी अधिदैवत दृष्टि में एक हैं किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि में कभी एक अथवा कभी अनेक हैं। और इन्द्र के सन्दर्भ में हमारे देवकाम चित्त की आकृति मधुर भाव में, कहीं वात्सल्य में व्यक्त हुई है। 'गिर' 'मति' एवं 'मनीषा' ये तीनों संज्ञाएं स्त्रीलिङ्ग हैं, यह भी ध्यातव्य है। कृष्ण आङ्गिरस के इस एक सूक्त के आरम्भ में ही इस मधुर भाव की अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से भागवत धर्म के वृन्दावन लीला के प्रसंग की याद दिला देती है — विशेष रूप से जब हम देखते हैं कि इस सूक्त के ऋषि और भागवत धर्म के प्रवक्ता एवं घोर आङ्गिरस के शिष्य देवकी-पुत्र कृष्ण के नाम और परिचय में अद्भुत मेल है [१५७५]।

भौम अत्रि कहते हैं, 'यह वधू पति की एषणा में चल पड़ी है, जो इसे (वि) वाह करके ले जाएँगे — (इस) महिममयी को, तीव्र संवेगवती को [१५८०]।' वधू कौन है, स्पष्टतः उसका उल्लेख नहीं है। किन्तु अन्यत्र हम देखते हैं कि (यह) मति है, जिसको स्तोम (स्तुतिगान) काट-छाँट कर तैयार करते हैं — जो हृदय से तरङ्गायित होकर पति इन्द्र की ओर चल पड़ी।

अध्यात्म दृष्टि में ४।१६।१० की 'योनि' के उस पार यह एक और 'अस्त' है। वह फिर 'ब्रह्मयोनि' है।

[१५७५] द्र. ऋ. १०।४३।१ टी. १३३६। सूक्त के ऋषि कृष्ण आङ्गिरस हैं; छान्दोग्य उपनिषद में देवकी-पुत्र कृष्ण के आचार्य घोर आङ्गिरस हैं (३।१७।६)। विद्यावंश की दृष्टि से ऋक्संहिता के कृष्ण का आङ्गिरस होने में कोई आपत्ति नहीं। छान्दोग्य सामवेद की उपनिषद है। सामवेद सोमयाग और सामगान का आधार है। ऋक्संहिता में ही हमने देखा है कि सोमयाग का पर्यवसान 'अमृत आनन्द' में उत्तीर्ण होना है (९।११३।११, ६; ध्यातव्य है कि उपनिषद में बहुप्रयुक्त यह 'आनन्द' शब्द ऋक्संहिता में केवल यहाँ ही है)। और भागवत के देवता आनन्दकिशोर कृष्ण हैं जो बाँसुरी के स्वर में सभी को टेरते हैं। भागवत धर्म का प्रचुर चित्रण ऋक्संहिता के सोममण्डल में पाया जाता है। विशेष आलोचना आगे चल कर।

[१५८०] ऋ. 'वधूर् इयं पतिम् इच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीम् इषिराम्' ५।३७।३। गेल्डनर कहते हैं, यहाँ 'वधू' कवि का काव्य है, 'महिषी' राजा की अग्रमहिषी है एवं १०।४३।१ (मति), ४।२२।१५ (गिर), १।६२।११ (मनीषा) का उल्लेख किया है। →

'यह नित्य जाग्रत है, विद्या की साधना से स्फुरित है, दीप्त है। हे इन्द्र, वह जब तुम्हारे लिए जन्मी है (तब) तुम उसको जान लो (अर्थात ग्रहण करो)।'[1] अतएव यहाँ वधू 'मति' अथवा उससे स्फुरित 'स्तुति' दोनों ही हो सकती है। ध्यातव्य है कि इस मति में जिस प्रकार तीव्र संवेग है, उसी प्रकार महिमबोध भी है। वैदिक भक्तिवाद में मनुष्य के साथ देवता का सम्बन्ध एक साथ सायुज्य और सख्य का है।[2] अर्थात् उपास्य एवं उपासक कोई भी वहाँ छोटा नहीं है। पतिपत्नी का सम्बन्ध भी बराबर का है। मंत्र के महिषी शब्द में उसकी ध्वनि है। सायुज्य की इस प्रभावशाली भावना के फलस्वरूप एक ही वैदिक उत्स से ज्ञानी के सोऽहंवाद एवं प्राचीन भागवत धर्म के भक्तिवाद की धारा प्रवाहित हुई थी — अन्त में जिसका उदात्त स्वर इस देश में निम्न स्वर तक उतर गया।[3]

कवष ऐलूष के इस एक इन्द्रमंत्र में ठीक इसी प्रकार का प्रसङ्ग है :- 'वही तो मेरे निकट आश्चर्य का श्रेष्ठ आश्चर्य लगा - कि पुत्र ने बाप-मां के जन्म को याद किया है; पत्नी पति को (वि) वाह करके लिए जा रही है शोभन, सुहाने वचन रचती; पुरुष के लिए ही है सुभद्र यौतुक (उपहार) सुसज्जित [१८८१]।' मनुष्य और देवता के सम्बन्ध को यहाँ विपरीत क्रम में दिखाया जा रहा है - जैसे मनुष्य स्वतंत्र है, देवता ही परतंत्र है। पुत्र मनुष्य और पिता-माता आदि जनक-जननी। →

---

[1] इन्द्रं मतिर् हृद आ वच्यमानाऽच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति, या जागृविर् विदथे शस्यमानेन्द्र यत् ते जायते विद्धि तस्य ३।३९।१। **वच्यमाना** <√वञ्च 'टेढ़े-मेढ़े चलना' (निघ· २।१४ तु· 'वक्र' 'वन्कु' श्वे· 'त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि ४।३, 'वञ्चना'। अग्नि शिखा टेढ़े-मेढ़े होकर ऊपर की ओर उठ जाती है, तु· ऋ· वच्यन्तां ते वह्नयः सप्तजिह्वाः ३।६।२। कवि की वाणी अग्निशिखा की तरह हृदय से निकल कर देवता की ओर ऊपर उठती जाती है, तु· इयं हि त्वा मतिर् ममाच्छा... वच्यते १।१४२।४, स्तोमा...हृदिस्पृशो मनसा 'वच्यमानाः' १०।४७।७, प्र कारवो मनना (मनन के द्वारा < स्त्रीलिङ्ग 'मनना') वच्यमानाः ३।६।१ (मनन का धर्म मन्ता में उपचरित)। 'स्तोमतष्टा' तु· ३।४३।२। 'विदथे शस्यमाना' — मति का रूपान्तर शस्त्र में अथवा 'गिर' में। इस प्रसङ्ग में और भी तु· १०।९१।१३, टी· १३१६[3] (अग्नि के सम्बन्ध में; वहाँ व्याख्या सायण के अनुसार है। किन्तु 'भूयाः सुष्टुति के साथ भी अन्वित हो सकता है। [2] तु· १।१६४।२०। इमा हि त्वा मतयः स्तोमतष्टा इन्द्र हवन्ते 'सख्यं' जुषाणाः ३।४३।२। [3] साधना शुरू होती है प्रपत्ति या शरणागति द्वारा। तत्पश्चात आवेश के फलस्वरूप महिमबोध का अनुभव होने से सायुज्य का बोध होता है, उस समय बेझिझक स्वयं को देवता के रूप में घोषित किया जाता है (१०।१२०।९)। किन्तु तब भी प्रपत्ति का भाव अन्तःसलिला के रूप में भीतर प्रवाहित होता रहता है। वैदिक भक्तियोग की यही रीति है एवं वह गीता और भागवत तक प्रचलित होती आई है। अन्यत्र भक्ति में पौरुष है।

[१८८१] ऋ· तद् इन् मे छन्त्सद् वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज् जानं पित्रोर् अधीयति, जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत् पुंस इद् भद्रो वहतुः परिष्कृतः १०।३२।३। **छन्त्सत्** <√छद् 'प्रकाश पाना; आवृत होना' (तु· √अञ्ज्)॥ चद् 'झिलमिलाना, चमकना'। अतः 'छन्द' प्रकाश, स्वतःस्फूर्त इच्छा, ज्योति या प्रकाश का आवरण। 'वपुः' <√वप् 'छितराना, बिखराना', जैसे बीज; उससे 'बिखरा हुआ प्रकाश, ज्योति की झिलमिलाहट, कुछ एक आश्चर्य। 'वग्नु' <√वच् 'कहना, बोलना'। **सुमत्** (नि· स्वयम् इत्यर्थः ६।२२) →

साधना द्वारा मनुष्य अपने अन्तर में ही उनका आविर्भाव देख सकता है। पत्नी मति है और पति इन्द्र हैं। मनुष्य के मनन के तीव्र संवेग एवं उसके अहिम बोधन में देवता उसकी पकड़ में आ जाते हैं। फिर तब मनन देवतावशीकरण के मंत्र में रूपान्तरित हो जाता है। स्त्री ही जब पुरुष के साथ विवाह कर रही है तब उसकी साधना अथवा हृदय का निचुड़ा सोम्य आनन्द ही वर का यौतुक, (उपहार) या दहेज हुआ।[1] यहाँ विलास विवर्त में देवता मानो भक्त के वशीभूत हैं।

कृष्ण आङ्गिरस के इन्द्र सूक्त में 'मतिः' नहीं, 'मतयः' का प्रयोग है— 'इन्द्र के निमित्त मेरी सुदीप्त मनोवृत्तियाँ एक होकर सभी चंचल हुई, मुखर हुई। गाढ़े आलिङ्गन में वे सब कस कर पकड़ लेती हैं मघवा को, उनका प्रसाद पाने के लिए— जिस प्रकार पत्नियाँ पति को, (तरुणियाँ) जिस प्रकार, सुशोभन सुन्दर तरुण को (कस कर पकड़ लेती हैं) [१५८२]।' वैष्णव की भाषा में यहाँ मतियाँ सखी रूपा मनोवृत्तियाँ हैं और वे सभी 'सध्रीचीः' हैं अथवा उनके एकजुट, एकमत होने पर हमें राधा का परिचय प्राप्त होता है। 'शुन्ध्युमर्य' व्युत्पत्ति की दृष्टि से निर्मल कैशोर की व्यञ्जना वहन करता है। इन्द्र के सम्बन्ध में इस भावना का परिचय हम आगे चलकर अपाला के सूक्त में प्राप्त करेंगे।[1]

जिस प्रकार 'मतयः' उसी प्रकार 'गिरः' अथवा जिस मंत्र से हम देवता को जगाते हैं। वे भी इन्द्रपत्नी हैं। वामदेव गौतम कहते हैं, 'तुम आस्वादन करो हम सब की सभी वाणियों का, जिस प्रकार वधूकाम (वधू की कामना करने वाला) करता है युवती नारी का [१५८३]।' अगस्त्य मैत्रावरुणि के इस एक मंत्र में हम देखते हैं— 'और हमारी वे सब मति अश्व के ओज से युक्त जिसके साथ हैं— उनको (प्यार करती हैं) धेनुएँ जिस प्रकार तरुण शिशु को चूमती चाटती हैं उसी प्रकार। वीरों में सुरभित हैं जो उनको चूम रही हैं (हमारी) वाणियाँ (सन्तान की) जननी पत्नी की तरह'। यहाँ इन्द्र सद्यःजात गाय के बछड़े की तरह हैं। उनके प्रति उपासक के मन में वात्सल्य का भाव और वाणी में मधुर भाव है। मनन के फल स्वरूप देवता ने जन्म लिया। तत्पश्चात उनको वाणियों ने संवर्द्धित किया।[1] मनन के फलस्वरूप चित्त की तन्मयता, उससे चेतना का फैलाव या व्याप्ति और मंत्र रूप में वाक् का स्फुरण (ब्रह्म) एवं उसके द्वारा देवभावना का आप्यायन उपासना का यही क्रम है।

अच्छी तरह, स्वच्छन्दतापूर्वक। [1] 'वहतु' यौतुक, (उपहार, दहेज) बँगला में जिसे 'तत्त्व' कहा जाता है; यहाँ सोम (सायण)।

[१५८२] ऋ. 'अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर् विश्वा उशतीर् अनूषत, परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं ... मर्यं शुन्ध्युं मघवानम् ऊतये' १०।४३।१ तै. १३३६।

[1] तु. ८।५१।२।

[१५८३] ऋ. ... जोषयासे गिरश्च नः वधूयुर् इव योषणाम् ४।३२।१६। यह मंत्र विश्वामित्र गाथिन की रचना में भी प्राप्त होता है ३।५२।३। तु. पूजा के सन्दर्भ में—

किन्तु देवता का ऐसा धाम भी है, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' — जहाँ से मन के साथ वाणी आदि इन्द्रियाँ भी उन्हें न पाकर लौट आती हैं [१५८४]। वहाँ हम उसी 'प्रत्न पति' अथवा चिरन्तन प्रिय को 'मनीषा और हृदय द्वारा पाते हैं, ध्यानचेतना को परिष्कृत करके।' तब मनीषा ही इन्द्रपत्नी है। नोधा गौतम (जो पूर्वमंत्र के भी ऋषि हैं) कहते हैं— 'नित्ययुक्त वे सब मति नयी प्रणति और गीत की शिखा के साथ ज्योति की कामना में दौड़कर आई (तुम्हारे निकट) हे तिमिरनाशन। जिस प्रकार मिलन के लिए उत्सुक पति को उत्कंठिता पत्नियाँ स्पर्श करती हैं उसी प्रकार मनीषाएँ तुम्हें स्पर्श करती हैं।'[2] यहाँ मन और मनीषा का अन्तर स्पष्ट है। मन लक्ष्य की ओर भागता रहता है जिसको संहिता में ही 'मनसो जवः' कहा गया है। वह भी पाता है — किन्तु पाकर भी मानो नहीं पाता, स्वयं ही चुक जाता है। उस समय चित्त में 'मनीषा' अथवा बोधि या अन्तर्ज्ञान की ज्योति दीप्त हो उठती है, जो मन से ऊपर है। यहाँ हम देखते हैं कि उपासक के मन में दास्य भाव और मनीषा में मधुर भाव है। मन के द्वारा आत्मनिवेदन के पश्चात देवता का स्पर्श पाकर मनीषा के द्वारा आनन्द प्राप्त होता है। उस समय देवता के साथ उपासक का सम्बन्ध अन्योन्यसम्भावन अथवा परस्पर के आप्यायन का होता है — जिसमें वैष्णव समञ्जसा रति देखेंगे। वेद में यह भाव ही प्रधान है।

चिद्वृत्तिरूपिणी इन इन्द्रपत्नियों के सम्बन्ध में वामदेव ने सन्धा भाषा में जो अन्तिम विचार व्यक्त किया है, वह इस प्रकार है— 'वे सब कुमारी हैं, झरने की तरह कलस्वना — कलकल ध्वनि करती हुई (कहाँ मानो) मिल जाती हैं; युवती हैं वे सब, ऋत को जानती हैं, उनको प्रपीना (अर्थात् गर्भवती) किया (इन्द्र ने)। मरुभूमि और प्रान्तर →

एक ही भावना :— तां जुषस्व गिरं मम वाजयन्तीम् (वज्रतेज से स्फुरित) अवा धियम्, वधूयुर् इव योषणाम् ३।६२।८। [1] उत न ईं मतयो अश्वयोगाः शिशुं न गावस् तरुणं रिहन्ति, तम् ईं गिरो जनयो न पत्नीः सुरभिष्टमं नरां नसन्ते १।१८६।७। मंत्र के उत्तरार्द्ध में प्रौढ़ मधुर भाव का वर्णन है, पत्नी जब सन्तान की जननी हो। 'सुरभिष्टम' द्र. टी. १४३२। [2] तु. यस्य ब्रह्म वर्धनम् २।१२।१४ टी. १८७१, ६।२३।५, ६, ७।२२।७...।

[१५८४] तैउ. २।४। [1] ऋ. १।६१।२, टी. १२५८। [2] सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर् वसूयवो मतयो दस्म दद्रुः, पतिं न पत्नीर् उशतीर् उशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषाः १।६२।११। **सनायुवः** > सना (चिरकाल) + √यु 'युक्त होना', तु. मधुयुवा ५।७३।८, ७४।७। ध्यातव्य, 'एक मति' अथवा 'मनीषा' नहीं बल्कि अनेक। अतएव चित्त के लय का बोध नहीं होता है अर्थात उसकी गति विक्षेप अथवा विच्छुरण से एकाग्रता की राह पकड़कर निरोध की ओर नहीं है। जाग्रत ध्यान में देवता के आवेश के कारण विक्षेप के ऊपर ही प्रकाश पड़कर उसको मानसोत्तर एक ज्योति के विच्छुरण में रूपान्तरित करता है। [3] तु. 'हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु' — हृदय द्वारा तक्षण किया हुआ मन का संवेग, अर्थात मनोवेग मन से उत्सारित होता है १०।७१।८ (तु. ई. 'तद् एकं अनेजत्' होकर भी मनसो जवीयः है ४; मुण्डकोपनिषद् में अग्नि की तृतीय शिखा 'मनोजवा' है १।२।४; योगसूत्र में इन्द्रियजय के फलस्वरूप 'मनोजवित्व' रूप सिद्धि है ३।४८) →

सब तृषित थे, उनको भर दिया, तृप्त किया; दोहन किया इन्द्र ने उन वन्ध्या धेनुओं का – जो सब, घर की कल्याणी पत्नी हैं [१८८५]। लोक में वे परकीया हैं; किन्तु वे सब जब देवता को चाहती हैं या उनके निकट जाती हैं तब वे उनकी स्वकीया हैं, वे कुमारी हैं। वे सब पहाड़ के झरने जैसी हैं, कल-कल करती हुई, दौड़ते-भागते समुद्र में खो जाती हैं। प्रिय-सङ्गम के लिए उत्सुक वे तरुणी हैं, उसके लिए ऋत के पथ पर जो चलना होगा, वह वे सब जानती हैं। इतने दिनों तक वे इहलोक में प्यासी-, सूखकर मर रही थीं। अब देवता के प्रसाद से उनके जीवन में रस की बाढ़ आ गई। वे सब वन्ध्या थीं, अब देवसङ्गम से प्रजावती एवं पयस्विनी हुई, इन्द्र की कल्याणी जाया या पत्नी हुई---ऐसी भावना हम भागवत में भी पाते हैं। हेमन्त के पहले महीने में नन्द गोपसुत को पतिरूप में पाने के लिए जिन्होंने कात्यायनी व्रत किया, वे सब नन्दव्रजकुमारिका हैं। वस्त्रहरण के लीला-प्रसङ्ग के बाद भगवान ने शुद्धभाव से प्रसन्न होकर उन सब से कहा, – तुम सब सिद्ध हो गई, व्रज में जाओ, इन सब रातों में तुम सब मेरे साथ रमण करोगी।' उसके बाद शारदोत्फुल्ल मल्लिका रास की रात्रि में बाँसुरी के स्वर में टेर कर उन्होंने जिनको बुलाया, वे सभी कुमारी नहीं, बल्कि उनमें पति-पुत्र के साथ जो गृहस्थ जीवन में रम रही थीं – ऐसी वे विवाहिता स्त्रियाँ भी थीं। तब भी यह जानना होगा कि रास में वे सभी कृष्ण प्रिया हैं इसलिए कुमारी हैं।[2] रवीन्द्रनाथ की पतिता ने 'ऋष्यशृङ्ग' में जब देवता का दर्शन प्राप्त किया तब अश्रुजल में उसकी सारी मलिनता धुल गई और उसके भीतर से 'बाहर निकल आई कुमारी नारी' ('बाहिरिया एलो कुमारी नारी')।

[१८८५] ऋ. प्राग्रुवो नभन्वो न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वद् युवतीर् ऋतज्ञाः, धन्वान्यज्राँ अपृणक् तृषाणाँ अधोग् इन्द्रः स्तर्यो दंसुपत्नीः ४।१९।७। **अग्रू** – पुंलिङ्ग में **अग्रु**, अविवाहित पुरुष, तु. 'जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः' अविवाहित, किन्तु चाहता है स्त्री और पुत्र ७।९६।४, अग्रुर जानिवान वा ५।४४।७। निघन्टु में – स्त्रीलिङ्ग में 'अग्रुवः' नदी (१।१३) अङ्गुलि (२।५), अवश्य रूपक के बहाने। समुद्र सङ्गम के पहले तक नदियाँ कुमारी किन्तु सङ्गमोत्सुका हैं। अङ्गुलि का रहस्यार्थ अग्निशिखा, ये दोनों ही एक ही √अज॥ अञ्ज् धातु से निष्पन्न। अग्निशिखा शीर्षण्य प्राण है, इस कारण इन्द्रिय का प्रतीक है। दस उंगली एवं दस इन्द्रिय में संख्यासाम्य है। इन्द्रियाँ जब शुद्ध होती हैं तब 'अग्रुवः'; जब व्यामिश्र या मिश्रित होती हैं तब योषणः (तु. ऋ., ८।११७, ८)। **नभनु** प्रस्रवण, तु प्र पर्वतस्य नभनूँर् अचुच्यवुः ५।५९।७। निघ. नदी (१।१३)। **स्तरीः** वन्ध्या गाय; तु. पर्जन्य 'स्तरीर् उ त्वद् (उनका एक रूप) भवति (जब वे पिता) सूत उ त्वद् (जब माता; अतएव वे मानो अर्द्धनारीश्वर) यथावशं (इच्छानुसार) तन्वं चक्र एषः, पितुः (द्युलोक के) पयः प्रति गृभ्णाति माता (पृथिवी) तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः (अर्थात सारे जीव) ७।१०१।३। माता, पृथिवी देवता और मनुष्य के बीच मानो सेतु है! 'दंसुपत्नीः' पदपाठ 'दम्-सुपत्नीः', अनुरूप 'दम्-सुजूतः' अन्तर से ही 'देवजूत' अथवा दिव्य प्रेरणा द्वारा संचालित १।१२२।१०। [2] द्र. भा. १०।२२।१–५, १८, २७, २९।१, ३-११। →

हमने पहले ही बतलाया है कि इन्द्रपत्नी की कथा इतने सूक्ष्म रूप में बतलाने पर भी ऋक्संहिता में उनके नाम का उल्लेख नहीं है। किन्तु पुराण में उनका 'शची' नाम प्राप्त होता है। इस नामकरण का मूल तो ऋक्संहिता में ही है। वहाँ इन्द्र की एक विशिष्ट संज्ञा 'शचीव' [१५८६] है, अर्थात जिनके पास 'शची' है। निघन्टु में 'शची' के ये तीन अर्थ — वाक् (मंत्र), कर्म (यज्ञ) एवं प्रज्ञा (साधना का फल)[1] प्राप्त होते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति सामर्थ्य बोधक 'शक्' धातु से हुई है।[2] जिसका सहज अर्थ शक्ति हुआ। इस व्युत्पत्ति का संकेत ऋक् संहिता में ही पाया जाता है।[3] इससे तो यही साफ़ झलकता है कि इन्द्र 'शक्तिमान' हैं, 'शची' उनकी स्वरूप शक्ति है। विग्रहवत्ता का थोड़ा सा स्पर्श लगने पर यही 'शचीवः' ऋक्संहिता में ही 'शचीपति' हो गया।[4] स्वामी के बोधक के रूप में 'पति' शब्द वेद में ही रूढ़ है। सारे देवता पत्नीवान हैं। इसलिए सहज में ही इन्द्र-पत्नी का नाम 'शची' हो गया। ऋक्संहिता के दशम मण्डल का यह एक सूक्त आत्मस्तुति है।[5] अनुक्रमणिका के मतानुसार उसकी ऋषिका 'पौलोमी शची' है किन्तु सूक्त में कहीं भी 'शची' का उल्लेख नहीं है। पतिव्रता नारी सौतिनों को पराजित करके दृप्त एवं उच्छ्वसित हो उठी है — इस सूक्त में यह भाव ही व्यक्त हुआ है। चतुर्थ ऋक् में इन्द्र का उल्लेख उपमान रूप में परोक्ष या अप्रत्यक्ष है, अलक्षित है। अतएव इस से इन्द्रपत्नी शची का कोई भी परिचय या पता नहीं मिलता। कौषीतक्युपनिषद में इन्द्र कहते हैं, 'मैंने अन्तरिक्ष में पौलोमों का नाश किया है'।[6] इस बात के साथ पौराणिक प्रकल्प की संगति नहीं बैठती।

बृहदारण्यकोपनिषद में अक्षिपुरुष के वर्णन में बतलाया जा रहा है कि दाहिनी आँख में जो पुरुष है, वह इन्द्र और बाईं आँख में जो पुरुष रूप है, वह इन्द्र की पत्नी 'विराट्' [१५८७] है।

[१५८६] द्र. ऋ. १|२९|२, ५२|३, ८|२|२८, ६८|२, १०|७४|५, १|६२|१२, ६|३१|४, ८|२|१५, ३|५३|२, १०|४९|११, १०४|४; एक बार अग्नि ३|२१|४, एक बार सोम ९|८७|९। साधना के आरम्भ में अभीप्सा की आग, अन्त में सौम्य आनन्द; किन्तु यह सभी इन्द्रशक्ति का खेल है। [1] निघ. १|११, २|१, ३|९। [2] तु. 'शिक्षा' शक्तिसंचार की सामर्थ्य है। द्र. ऋ. ७|१०३|५ टी. १५०३। [3] तु. शिक्षा शचीवस् तव नः शचीभिः १|६२|१२; और भी द्र. ६|३१|४, ८|२|१५। [4] १|१०६|६, ४|३०|१६, ८|१४|२, १५|१३, ३७|१-६ (टेक), ६१|५, ६२|८। अश्विद्वय 'शचीपतिः शचीभिः' ७|६७|५। [5] १०|१५९ सूक्त, अनुरूप १५४ सूक्त (गेल्डनर)। [6] कौ. ३|१

[१५८७] बृ. ४|२|२-३। [1] छां. १|१३|२। [2] छां. ४|३|८। तु. ऋ. मया सो अन्नम् अत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्, अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति... १०|१२५|४। जीवमात्र ही अन्नाद है किन्तु वास्तविक अन्नादी वाक् हैं, जिनका वृहत् वर्णन इस सूक्त में है। ध्यातव्य है कि यहाँ उपनिषद के प्रसिद्ध पाँच द्वारपाल का परिचय प्राप्त होता है — प्रवक्ता के रूप में 'वाक्', उसके बाद क्रमानुसार 'दर्शन', 'प्राणन', 'श्रवण' (एवं उसके साथ फिर 'वचन') एवं मनन। इतना स्पष्ट उल्लेख आकस्मिक हो नहीं सकता। इसलिए ब्रह्म के पाँच द्वारपाल की भावना बहुत ही प्राचीन है।

छान्दोग्योपनिषद में बतलाया जा रहा है कि वाक् विराट् है;[1] विराट् एक छन्द है और उसके देवता 'अन्नादी' हैं, वे ही यह सब देखते हैं अर्थात उनका भोग दृष्टिभोग है।[2] पुरुष सूक्त में पुरुष से विराट के जन्म का उल्लेख है।[3] दाहिनी और बाईं आँख में यह एक युग्म है — तंत्र में सूर्य और चन्द्र का मिथुन या युग्म है। वैदिक भावना में एक आदित्य है और एक सोम है। उपनिषद में पुरुष आदित्य पुरुष हैं, वे षोडशकल हैं और चन्द्र में भी षोडशी कला नित्य है।[4] इसके अतिरिक्त संहिता में इन्द्र सोमपातम या सोमपायी हैं एवं सोमयाग का आन्तिम परिणाम आनन्दलोक में अमृत होना है।[5] यह हमने पहले ही देखा है कि इन्द्र की पत्नी कल्याणी हैं, उनके घर में आनन्द की सुषमा हैं। इन सब से इन्द्रपत्नी का एक तात्विक परिचय प्राप्त होता है। वे परमपुरुष की परमाशक्ति हैं वे विश्वमोहिनी जगन्मूर्ति हैं, सौम्या, सौम्यतरा एवं आनन्दमयी हैं। वे हम सब के भीतर परमपुरुष के लिए आकूति-अर्थात उत्कंठिता पत्नी की भाँति हैं। और वह देवता की ही आत्मशक्ति हैं।

इन्द्र के रूप, जन्म रहस्य एवं परिजन का प्रसङ्ग यहीं समाप्त हुआ। इसके पश्चात हम उनके गुण और कर्म के वैशिष्ट्य की चर्चा करेंगे।

निश्चय ही यह भावना शीर्षण्य सप्तप्राण की भावना से आई है। सात प्राणों में मन के अतिरिक्त और चार द्वारपा का परिचय प्राप्त होता है। मन उनका मालिक है और मन ही मानुष है। [3] १०।९०।५। [4] द्र. प्रश्नोपनिषद. ६।१, छा. ६।७।१; बृ. १।५।१४। [5] ऋ. १।८।७, ८।६।४०, १२।१, ६।४२।२, ८।१२।२०, १।२१।१; ९।११३।११।

२ – गुण और कर्म का वैशिष्ट्य

रूप, गुण, कर्म और मनुष्य के साथ सम्बन्ध — इसे लेकर ही देवता की भावना है। वैदिक देवताओं के रूप का पक्ष बराबर अस्पष्ट रह गया है। इसका उल्लेख पहले ही किया गया है। निःसन्देह इन्द्र वेद के परम देवता एवं 'पुरुहूत' और 'पुरुष्टुत' हैं। तब भी उनको लेकर ऋषि के मन में रूपोल्लास की व्यञ्जना नहीं है। किन्तु रूप को एकबारगी अलग कर देने से केवल नाम लेकर भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। किसी न किसी रूप में देवता की कुछ-कुछ विग्रहवत्ता उपासक की भावना में उभर ही जाती है। इस रूपाभास से युक्त देवता को हम **पुरुष** कह सकते हैं।

ऋक्संहिता **में** यही संज्ञा है किन्तु एक पुरुषसूक्त को छोड़कर कहीं भी देवता के अभिधारूप में वह व्यवहृत नहीं हुई है [१५८८]। पुरुष-सूक्त के 'पुरुष' विश्वरूप हैं। ऋग्वेद के कोई-कोई देवता — विशेष रूप से इन्द्र विश्वरूप हैं — इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

[१५८८] ऋ. पुरुष १०।५७।४, ५, ८, १७; ७।१०४।१५, १०।५१।८, १६५।३; पुरुषसूक्त में १०।९०।१–५, ६, ७, ११, १२। > 'पुरुष'ता ७।५७।४, ७५।८, १०।११५।६; पुरुषत्वता ४।५४।३, ५।४८।५; पूरुषत्रा ३।३३।८, ४।१२।४; पूरुषाद् १०।२७।२२; पूरुषघ्न १।११४।१०; पुरुष्य ७।२७।४। स्त्रीलिङ्ग में 'पुरुषी ७।१०२।२। शतपथ ब्राह्मण में व्युत्पत्ति – अयं पुरुषः सर्वासु **पूर्षु** पुरिशयः (<√शी) १४।५।५।१८; योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः १३।६।२।१; स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः (<√उष् दाहे) १४।४।२।२। नि. 'पुरिषादः (<√सद्), पुरिशयः पूरयतेर् वा' द्र. टी. १५४८। आधार को जो भरा-भरा रखता है (√पृ॥पूर्), जिस प्रकार 'प्राण' — वातास होकर, अथवा चेतना — ज्योति होकर। ॥**पुरीष** — [निघ. 'उदक' १।२२; नि. 'पृणातेः पूरयतेर् वा' २।२२, तु. IE. *Pele* 'to fill', Lat. *Plere* 'to fill'] वस्तुतः जलीय वाष्प, कुहासा; तु. ऋ. पर्जन्यवाता वृषभा पुरीषिणा १०।६५।९ जल से भरा मेघ कुहासे की तरह तेज़ हवा के साथ उड़ता हुआ आता है, उसके बाद ही मूसलधार वृष्टि होती है — इन दोनों विशेषणों में उसका सुस्पष्ट चित्र है; पर्जन्यवाता पुरीषाणि जिन्वतम् अप्यानि ६।४९।६, टी. १६२०[४]; अश्वमेध का अश्व 'उद्यन् समुद्राद् उत वा पुरीषात्' १।१६३।१ (तु. इन्द्र के सम्बन्ध में एक ही उक्ति ४।२१।३) है); उद् ईरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः ५।५५।५; परमपिता को 'दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् १।१६४।१२ टी. १६२०; इन्द्र कहते हैं 'अहम् एतं गव्ययम् अश्व्यं पशुं (तु. उपनिषद् के मुख्य प्राण, और भी तु. 'पुरुष पशु' जिनसे विश्व की विसृष्टि हुई- १०।९०।१५) पुरीषिणं सायकेना (अर्थात् शक्तिपात के द्वारा) हिरण्ययम् पुरु सहस्रा (हज़ारों में, असीम परिमाण में) नि शिशामि (शाणित करता हूँ, सान देकर उज्ज्वल और तीक्ष्ण करता हूँ प्राण को) दाशुषे यन् मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः (मत्त कर दिया) १०।४८।४॥ सरयुः पुरीषिणी ५।५३।९ (द्र. टी. १५५३)। अयं यो वज्रः पुरुधा (विचित्र रूप में) विवृत्तो (चक्कर काटते हुए जाता है, चारों ओर फैलता जाता है) अवः (नीचे) सूर्यस्य बृहतः पुरीषात् (छटामण्डल या प्रकाशमण्डल से) श्रव इद् (यह एक विशिष्ट श्रुति) एना परो (इसके उस पार) अन्यद् अस्ति, तद् अव्यथी (अविचलित रहकर) जरिमाणस् (ज्ञानवृद्ध) तरन्ति (तैरकर किनारे आ जाते हैं) १०।२७।२१ →

अन्य देवताओं के सन्दर्भ में यह संज्ञा एक विशेषण मात्र है।[1] सत्व गुण की अधिकता के फलस्वरूप उपासक के इष्ट कोई भी देवता विश्वरूप हो सकते हैं एवं इन्द्र के पुरुहूत होने के कारण उनकी विश्वरूपता को संज्ञा मात्र में सीमित न रखकर उसकी विस्तार पूर्वक व्याख्या की गई है। और इस व्याख्या का सर्वदेव साधारण दार्शनिक रूपायन पुरुष सूक्त में हुआ है। जो देवता, चेतना के ज्योतिर्वाष्पमय लोक में एक दिन 'पुरुषविध' रूप में अस्पष्ट थे, इस बार वे स्पष्टतः पुरुष हुए। किन्तु ये पुरुष भी मानव एवं अमानव के मध्यवर्ती हैं।

वैदिक देवता पुरुष होने पर भी ग्रीक के देवताओं की तरह कभी पूर्ण रूप से मानव नहीं हो पाए। किन्तु आर्य भावना में मानवता की ओर एक प्रवृत्ति निश्चित रूप से थी, जो 'विश' अथवा जनसाधारण के भीतर मूर्त हुई थी। जिसके कारण इस पुरुष संज्ञा के आधार पर हम आर्य साधना के इतिहास में भावना की एक त्रिधारा देखपाते हैं →

(बृहत् सूर्य अथवा बृहत् ज्योति के नीचे इन्द्र के वज्रशक्ति की लीला और उसके उस पार परमव्योम में सहस्राक्षरा वाक् की श्रुति है, तु. १।१६४।४१); देवानां माने (योनि में, अदिति के उपस्थ में, तु. ५।६३।६ टी. १४३८ 'माया:') प्रथमा (आदि देवगण, सारे आदित्य तु. १०।७२।८ टी. १२८३[1]; 'प्रथमा:' का अन्वय 'देवानाम्' के साथ) अतिष्ठन् (वहाँ ही थे), **कृन्तत्राद्** (गहरे कुआँ से, < √कृत् 'काटना' > कर्त (तु. ५।७३।८, टी. १२२२[10]॥ गर्त; और भी तुलनीय — 'धन्व (सूखी जगह) च यत् कृन्तत्रं च कति स्वित् ता वि योजना [अर्थात दोनों के बीच कितने योजन का अन्तर है] १०।८६।२०; अन्न तु. काठक संहिता. 'शं नो आपो धन्वन्याश शं नस् सन्त्वनूप्याः शं नः समुद्रिया आपश् शम् उ नस् सन्तु कूप्याः २।१[२]; वर्तमान मंत्र में भी 'अनूप' का उल्लेख ध्यातव्य है) एषाम् उपरा (अर्थात् आदित्यों में जो परार्ध में अर्थात अखण्ड सत्ता के ऊपरी हिस्से में था सत्, चित्, आनन्द और अतिमानस में है तु. १०।१६४।१०) उद् आयन् (ऊपर उठ आए; किन्तु वे फिर विसृष्टि की धारा में प्रवाहित नहीं हुए, 'पूर्वे देवाः' अथवा 'साध्याः' रूप में नाक या स्वर्ग में स्वमहिमान्वित होकर रहते हैं तु. १०।९०।१६, द्र. छा. ३।१०।१ ...; और विसृष्टि की धारा में जो प्रवाहित हुए [तु. ऋ. 'अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव १०।१२९।६], उनमें) त्रयस् तपन्ति पृथिवीम् **अनूपा** (स्रोत के अनुकूल, जो विसृष्टि की धारा में बहते जाते हैं, तु. अनूपे गोमान् गोभिर् अक्षाः सोमः ९।१०७।९; ये 'त्रयः' अथवा तीन देवता, यास्क नि. २।२२ और सायण के मतानुसार पर्जन्य, वायु एवं आदित्य; उत्तरायण के आरम्भ होते ही ताप क्रमशः बढ़ता जाता है — वसन्त में आदित्य का मृदु ताप, ग्रीष्म में वायु का प्रखर ताप जिसे हम 'लू' कहते हैं और वर्षा के पहले प्रचण्ड ताप पर्जन्य का; इस प्रकार ये देवता — 'शीतोष्णवर्षैर् ओषधीः पाचयन्ति' [नि.] जो वस्तुतः प्राण का उल्लास है) द्वा (ये दो देवता, निरुक्त के मतानुसार वायु एवं आदित्य हैं) **बृबूकत्** (अनन्य प्रयोग, नि. 'उदकनाम ब्रवीतेर् वा शब्दकर्मणो भ्रंशतेर् वा' २।२२; वस्तुतः 'मेघ', तु. ऋ. 'बृबु' ६।४५।३१, ३२, अनुक्रमणिका के अनुसार एक जन तक्षा (बढ़ई) तु. मनुसंहिता १०।१०७, द्र. गेल्डनर; 'तक्षा' जो अव्याकृत को व्याकृत करता है, तु. ऋ. १।१६४।४१; अव्याकृत 'पुरीष' अथवा जलीय वाष्प (भाप) जम कर 'मेघ' हो जाता है, वही बृबु का लक्षण है — ऐसी एक कल्पना की जा सकती है; ६।४५।३२, ३३ में हम पाते हैं — 'यस्य वायोर् इव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्रिणी ... सदा गृणन्ति कारवः, बृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम्', अर्थात् सूर्य की तरह जल को वाष्प के रूप में सोख कर वृष्टि के रूप में लौटा देते हैं : यहाँ मेघवाष्प और मेघ की ध्वनि है) वहतः पुरीषम् →

सांख्य का परम तत्व, वेद के आदि देवता और वेदाश्रित भागवतजनों के परम देवता सभी 'पुरुष' हैं। किन्तु सांख्य का पुरुष अमानव पुरुष-विशेष है। वेद के पुरुष 'हिरण्मय पुरुष' हैं — जिनके सम्बन्ध में कोई कहता है कि उनका रूप कल्याणतम है, कोई कहता है कि वे मनुष्य को अपना रूप दिखाने के लिए उनके सामने आकर रुकते या खड़े नहीं होते। और भागवतजनों के पुरुष 'मानुषीं तनुम् आश्रितः' पुरुषोत्तम हैं। सांख्य का परम तत्व अमानव होने पर भी 'पुरुष' नाम से परिचित हुआ, यह ध्यातव्य है। सांख्यवादियों ने मुनिपंथी होकर भी इस संज्ञा को वैदिक ऋषियों के निकट से ग्रहण किया है जो पुरुष के अर्थ में मनुष्य को समझते — और वह मनुष्य जो 'आत्मा' और 'तनु' का समाहार है। वेद में ये दोनों शब्द अन्योन्य विकल्पित [१५८५] अर्थात ऋषियों के निकट आत्मा से अलग देह और देह से अलग आत्मा अकल्पनीय है। पुरुष का जो 'अजो भागः' है, वही उसकी आत्मा है, और शरीर अथवा तनु या देह उसकी ही विभूति है — इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता।[1] जो विश्वरूप विराट पुरुष हैं उनके सहस्र शीर्ष आँख, एवं पाँव हैं; यही उनका तनु है। फिर इसे आवृत करके भी वे इसके अतिष्ठा अर्थात लोकातीत और इन्द्रियातीत हैं; यही उनका आत्मा है।[2] आत्मा और तनु के इस सम्परिष्वङ्ग अथवा अटूट सम्बन्ध से आत्मा को विश्लिष्ट या विश्लेषित करते हुए उसको ही सांख्यवादियों ने 'पुरुष' बतलाया और तनु की उपेक्षा की। उनके पुरुष असङ्ग, केवल हैं — वेद के 'निष्केवल' इन्द्र में जिनकी ध्वनि है। और भागवत जनों ने केवल आत्मा को नहीं बल्कि तनु को भी दिव्य बतलाया — अतएव उनके पुरुष 'पुरुषोत्तम' हुए।

(आदित्य वहन करते हैं मेघवाष्प और वायु (हवा) वहन करती है मेघ, उसके बाद जो धारावर्षण होता है वह पर्जन्य का कार्य है; यह सभी विसृष्टि की तपस्या है) १०|२७|२३। अतएव 'पुरीष' जलीय वाष्प का अथवा ज्योति का कुहासा एवं एक अव्याकृत और रहस्यमय कुछ का वाचक है (साम संहिता में 'महानाम्नी आर्चिक' के अन्त में पाँच 'पुरीष पद' हैं। मनुष्य की प्राणचेतनाभंआधारव्यापी ऐसा एक 'पुरीष' > 'पुरुष'। इस प्रसङ्ग में तु॰ पुरुषं (= पुरीषं) 'चौषधीनाम् १०|५१|८ तु॰ टी॰ १४२०)। [1] द्र॰ टीमू॰ ११८२।

[१५८५] द्र॰ टी॰ १८०४। 'आत्मा' एवं 'तनू' दोनों ही मनुष्य के **स्व** या निज के (SELF) बोधक हैं। **आत्मा** उसकी प्राणवायु है तु॰ ऋ॰ मृत्यु के पश्चात 'गच्छतु वातम् आत्मा' १०|१६|३ आत्मन्वन् नभः ९|७४|४, वायु 'आत्मा देवानाम्' १०|१६८|४...। और **तनू** मुख्यतः उसका शरीर है, जिस प्रकार 'स्थिरैर् अङ्गैस् तुष्टुवांसस् तनूभिः' १|८९|८, यत्रा नश् चक्रा जरसं तनूनाम् ९, ता वां (अश्विनौ) विश्वको हवते तनू-कृथे (हिरण्मय शरीर करने के लिए) ८|८६|१-३...। किन्तु दोनों को कभी भी अलग नहीं किया जा सकता। अतएव दोनों का अर्थ ही हुआ तनू और आत्मा के समवाय या नित्य सम्बन्ध से पुरुष का अखण्ड स्वरूप। तु॰ श॰ 'आत्मा वै तनूः' ६|७|२|६। जिस प्रकार ऋक्संहिता में 'दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा' (१०|१०७|७, यहाँ आत्मा उपनिषद की भाषा में 'अन्नमय पुरुष' अथवा देह), उसी प्रकार 'अर्वाचीनचत त्वां तन्वम् इन्द्रम् एव (१०|१२०|८, यहाँ 'तनू' आत्मा है)। द्र॰ टीमू॰ १५००। [1] तु॰ १०|१६|३, ४; वहाँ पुरुष का 'आत्मा' प्राणवायु है जो मृत्यु के पश्चात →

गीता के भगवान कहते हैं कि मैं 'लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' (१५।१८) किन्तु 'पुरुषोत्तम' संज्ञा वेद में नहीं है। छान्दोग्योपनिषद में सिद्ध 'उत्तम पुरुष' का उल्लेख है जो सम्प्रसाद रूप में 'पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर् वा यानैर् वा ज्ञातिभिर् वा नोपजनं स्मरन्न् इदं शरीरम्' अर्थात खाकर घूमता-फिरता है, क्रीडा करता है, स्त्रीगण, यान अथवा आत्मीयों के साथ रमण करता है, यहाँ उपजात शरीर का स्मरण न करके'।[2] ये सिद्ध पुरुष ही लौकिक भावना में देवता के अवतार रूप में कल्पित हुए हैं — यह कहा जा सकता है। परमपुरुष के साथ मर्त्यपुरुष का सायुज्यबोध उसका बीज है। सायुज्यबोध में वैदिक अध्यात्म साधना की भी चरम सिद्धि है। इसी रूप में वासुदेव कृष्ण अध्यात्मानुभव एवं लोक-दृष्टि में पुरुषोत्तम रूप में प्रथित (प्रसिद्ध) हुए हैं। यह लक्ष्य करने योग्य है कि छान्दोग्य में उत्तम पुरुष की यह उक्ति इन्द्र के प्रति प्रजापति की है — लगता है वे ही यह पुरुष हैं। वासुदेव कृष्ण के साथ इस उत्तमपुरुष के सादृश्य की चर्चा हमने पहले ही की है। इस प्रसङ्ग में आङ्गिरस कृष्ण के इन्द्रसूक्त भी स्मरणीय हैं।[4]

विश्वप्राण में लौट जाता है, उसके साथ उसका वह 'शरीर' है जो अन्नमय रूप में ओषधि से उत्पन्न हुआ है, अतएव वह भी विभु अर्थात विश्वव्यापी होकर सारी ओषधियों में व्याप्त हो जाता है-(ओषधिषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ३); 'प्रति' उपसर्ग एवं बहुवचन ध्यातव्य. मानो प्रत्येक ओषधि उसका 'प्रतिशरीर' है, जिस प्रकार विश्वरूप में इन्द्र का 'प्रतिरूप') फिर उसका 'अजो भागः' है जिसको अग्नि वहन करके ले जाएँगे 'उ लोक' अथवा चेतना के अनिबाध (बाधाशून्य) निरापद वैपुल्य में; उसके इस आत्मा, शरीर, एवं अज भाग के साथ जड़ित हैं अग्नि का 'शिवा तन्वः' (४) जो सचमुच उनका भी आत्मा है — क्योंकि वे 'सूरो न रुरुक्वाञ्छतात्मा' — अर्थात सूर्य की तरह चमचमा रहे हैं शतात्मा होकर (१।१४९।३)। सर्वत्र आत्मा एवं तनू एकाकार, अभिन्न हैं। [2] द्र. १०।९०।१; तु. 'आत्मा जगतस् तस्थुषश् च' (१।११५।१, टी. १८५; और भी तु. 'स (पर्जन्यः) रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्न् आत्मा जगतस् तस्थुषश् च' ७।१०१।६ टी. २०३१। यहाँ 'आत्मा के रूप में विश्वभू और अन्तर्यामी परम देवता के ये तीन रूप — पुरुष, सूर्य और पर्जन्य पाए जाते हैं। इनमें पहला तत्व, दूसरा साधारण देवता (द्र. सर्वानुक्रमणी-परिभाषा २।१४-१८), और तीसरा विशिष्ट देवता का रूप है। [3] छा. ८।१२।३, द्र. टीमू. प्रथम खण्ड पृ. ३०१। उपनिषद का यह 'उत्तमपुरुष' शब्द गीता में ठीक पूर्व के श्लोक (गी. १५।१७) में असमस्त रूप में है — किन्तु ईश्वर की संज्ञा के रूप में है। [4] ऋ. १०।४२-४४ सूक्त। इन तीन सूक्तों में ध्यातव्य मंत्रांशों के उद्धरण दिए जा रहे हैं। आरम्भ में ही मधुर भाव की इन दो उक्तियों पर दृष्टि पड़ती है :— 'प्र बोधय जरितर् जारम् इन्द्रम्' — हे वैतालिक! प्रबुद्ध करो प्रिय, बन्धु इन्द्र को (परकीया नारी की तरह) १०।४२।२, ... मे मतयः ... परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिम् ... ४३।१ (द्र. टी. १२२६, १५७८। ध्यातव्य. इन्द्र को जगाने के समय वे 'जार' (उपपति) हैं किन्तु निकट जाकर उनको आलिङ्गनबद्ध करने के समय वे पति हैं अर्थात प्रथम मंत्र में नायिका परकीया है और द्वितीय मंत्र में स्वकीया है — गोपियों की तरह। इन तीन सूक्तों के ही अन्त के मंत्र दोनों एक जैसे हैं। अन्तिम मंत्र के प्रथमार्द्ध में बृहस्पति सर्वत्र — पीछे, ऊपर, नीचे हैं, उत्तरार्द्ध में इन्द्र सामने एवं मध्य में हैं; सखाओं के निकट सखा की तरह हैं →

मुनिपन्थियों का विविक्त अथवा पृथक्कृत 'पुरुष' (SPIRIT) और भागवत जनों का ईश्वर-पुरुष अथवा 'पुरुषोत्तम' (MAN-GOD) — अर्थात पुरुष भावना की इन दोनों कोटियों के बीच वेद का पुरुष (GOD) है। अमानव और मानव के बीच मानो वे नाव खेने का खेल खेल रहे हैं। उनका विस्तार हमें उपनिषद् में दिखाई पड़ता है। मुनिपंथी भावना सम्बन्धी कठोपनिषद में हम देखते हैं कि 'पुरुष व्यापक और अलिंङ्ग हैं — ज्योतिः स्वरूप परमात्मा सर्वत्र व्याप्त हैं एवं चिह्नहीन, उपाधि हीन हैं, कोई उनको आंखों से देख नहीं सकता, उनका रूप किसी के सामने स्थिर नहीं रहता [१८८०]।' इस भावना का झुकाव सांख्य के पुरुष की ओर है। फिर ईशोपनिषद् में परम-पुरुष को सम्बोधित करते हुए कहा जा रहा है कि 'तुम्हारा जो कल्याणतम रूप है, जो दिव्य स्वरूप है, मैं उसे ध्यान के द्वारा देख रहा हूं। हां, वही जो परम पुरुष, तुम्हारा स्वरूप है, मैं भी वही हूं।'[1] इस भावना में हम अनुभव का एक और पक्ष देखते हैं जिसका झुकाव रूपोल्लास की ओर है। यह आर्ष दृष्टि अथवा आर्यदर्शन के अनुकूल है। भागवत जनों की भाषा में यही कल्याणतम रूप भगवान का वही सत्वतनु है जो विश्वरूप में 'विवर्तित' हुआ है: 'यस्यावयव संस्थानैः कल्पिता लोकविस्तरः, तद् वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्वम् ऊर्जितम्।'[2] →

और वैपुल्य की चेतना विकसित करते हैं। इस सख्यरति का उल्लेख कृष्ण के एक अश्विसूक्त में टेक के रूप में प्राप्त होता है; 'मा नो वि यौष्टं सख्या — हम सब के सख्य से दूर मत जाना, वियुक्त मत होना (८।८६।१…)। इस इन्द्र सूक्त के दो दो स्थानों पर मनु के लिए अर्थात सभी मनुष्यों के लिए इन्द्र के सूर्यजय का उल्लेख है (१०।४३।४, ८)। प्रायः एक ही भाषा में पासा खेलने की उपमा दो स्थानों पर है (१०।४२।९, ४३।५)। उपनिषद् में शर जैसी तन्मयता की उपमा एक स्थान पर प्राप्त होती है, 'अस्तेव (धनुर्धर की तरह) सुप्रतरं लायम् (तीर) अस्यन् (१०।४२।१; तु. इषुर् न धन्वन् प्रति धीयते मतिः (९।६९।१)।…
कृष्ण आङ्गिरस के इन तीन इन्द्रसूक्तों के अतिरिक्त तीन अश्विसूक्त भी हैं। जिसके द्वितीय सूक्त (८।८६) में वे स्वयं को 'विश्वक' अर्थात छोटामोटा एक विश्व बतलाते हैं, मानो उनके पिण्ड में ब्रह्माण्ड की अनुभूति हुई है। यह नाम बिलकुल नया है। वैदिक साहित्य में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं है। विश्वक अश्विद्वय का आह्वान करते हैं 'तनूकृथे' अर्थात वे उनका हिरण्मय दिव्य शरीर कर देंगे इसलिए। सायण ने 'तनू' के अर्थ में 'पुत्र' समझा है एवं गेल्डनर ने उनका अनुसरण किया है। किन्तु ऋक् संहिता में ही अग्नि को कहा जा रहा है 'तनूकृद् बोधि (होओ) प्रमतिश् च कारवे (१।३१।९; तु. मैत्रायणी संहिता. 'अग्ने व्रतपते या तव तनूर् मय्य भूद्, एषा सा त्वयि; अग्ने व्रतपते या मम तनूस् त्वय्य भूद् इयं सा मयि १।२।१३; प्रतितुलनीय. ऋ. तनूकृद्भ्यः ८।७९।३, मा. ५।३५ <√ कृत् 'काटना', द्र. भाष्य) इसलिए विश्वक का यह तनु उपनिषद का योगाग्निमय शरीर है – (श्वेताश्वतरोपनिषद. २।१२) जो प्रेति के पश्चात विश्वव्याप्त होता है (ऋ. १०।५६।३)। विश्वक यहां जीवित अवस्था में ही वह अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। विश्वक के पुत्र 'विष्णापू' हैं। इस नाम में व्याप्तिचैतन्य की ध्वनि है। यह शब्द भी वैदिक साहित्य में और कहीं नहीं मिलता। विष्णापू (ऋ. ८।८६।३) खो गए थे। अश्विद्वय तब उनको विश्वक के पास वापस ले आए – इस कथा के सूत्र ऋक्संहिता के कई स्थलों पर प्राप्त होते हैं → (१।११६।२३, ११७।७, १०।६५।१२)। वासुदेव कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न भी खोई हुई निधि हैं।

सामान्यत: इसकी व्याख्या जिस प्रकार हमें उपनिषद में प्राप्त होती है उसी प्रकार संहिता में विशेष रूप से इन्द्र के सम्बन्ध में प्राप्त होती है — इन्द्र रूप-रूप में प्रतिरूप हैं। अवश्य 'रूपं-रूपं' के अर्थ में केवल हम सब के इन्द्रियग्राह्य पार्थिव रूप का ही बोध नहीं होता बल्कि भीतर-बाहर जिस किसी भी लोक के जिस किसी भी रूप का बोध होता है। शौनक संहिता में यह भावना स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त है। स्कम्भ सर्वाधार ब्रह्म हैं। उनको सम्बोधित करते हुए कहा जा रहा है — 'स्कम्भ में सारे लोक हैं, स्कम्भ में तप, स्कम्भ में ही समाहित ऋत है। हे स्कम्भ, तुमको (जो) प्रत्यक्ष जानता है (वह जानता है) इन्द्र में सब समाहित है। इन्द्र में सारे लोक, इन्द्र में तप, इन्द्र में ही समाहित है ऋत। [हे] इन्द्र, तुमको (जो) प्रत्यक्ष जानता है [वह जानता है] स्कम्भ में सब प्रतिष्ठित है।'[२] यहाँ स्कम्भ में ही इन्द्र और इन्द्र में ही स्कम्भ हैं; एवं वे भीतर-बाहर जो है, सब कुछ की प्रतिष्ठा हैं।

यही प्रतिष्ठा तत्व ऋक्संहिता में कभी 'विश्वमिन्व' और 'देवपुत्र' द्यावा-पृथिवी [१८९१] है, एवं प्रतीकी भाषा में कभी वृषभ-धेनु का एक युग्म है, कभी दार्शनिक भाषा में देवता एवं उनकी माया है[३] जैसे इन्द्र की, वरुण की। हमने देखा है कि संहिता में यही मिथुन या युग्म तत्व विशेष रूप से इन्द्र के सन्दर्भ में प्रपंचित हुआ है। मिथुन से प्रजा विसृष्ट होती है। →

८।८६ सूक्त में अनुक्रमणिका के अनुसार ऋषिविकल्प है, — 'विश्वको वा कार्ष्णिः'। सम्भवतः यह विकल्प बाद में दिखाई दिया है… 'विश्वक' इस बहुत कम परिचित नाम से। इस सूक्त के पहले का एवं बाद का सूक्त अश्विद्वय के निमित्त कृष्ण द्वारा ही रचित है, इसलिए बीच का भी सूक्त उनका ही हो सकता है। शांखायन ब्राह्मण में कृष्ण एक विशेष तृतीय सवन के द्रष्टा हैं (३०।९)। उस युग में क्षत्रिय ऋषियों का अभाव नहीं था, तु. छान्दोग्योपनिषद में उद्गीथकुशल प्रवाहण जैबलि (१।८।१)। देवता के साथ कृष्ण का सम्बन्ध लगता है वासुदेव और अर्जुन की तरह है किन्तु एक धाप ऊपर जाकर।

[१८९०] क. 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च'।… 'न संदृशे तिष्ठति रूपम् अस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्' २।३।८-९। तु. श्वे. ४।२०। ध्यातव्य है कि ये दोनों ही मौनभावनोपरक योगोपनिषत् हैं। [१] ई. 'यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि' १६। [२] भा. ११।२।३। 'विवर्तित' तु. शौ. 'यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्' १०।७।२८। अनुरूप भावना ऋ. 'स सध्रीचीः (अनुकूल) स विषूचीर् (प्रतिकूल; 'अपः' अनुमेय) वसान (अर्थात विचित्र प्राण का वस्त्र पहन कर) आ वरीवर्ति (यहाँ 'आवर्तन') भुवनेष्वन्तः' १०।१७७।३। [२] शौ. 'स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भे अध्यृतम् आहितम्। स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षम् इन्द्रे सर्वं समाहितम्। इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रे अध्यृतम् आहितम्, इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्' १०।७।२९-३०।

[१८९१] तु. ऋ. १।७६।२, ३।३८।८, ९।८१।५, १०।६७।११; १।१०६।३, १५९।१, १८५।४, ४।५६।२, ६।१७।७, ७।५३।१, १०।११।९ वे सब, विश्व में सर्वत्र परिव्याप्त हैं, देवगण उनके पुत्र हैं; अर्थात द्युलोक-भूलोक सब चिन्मय या चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानमय है, देवगण उसकी स्वाभाविक विसृष्टि है। [१] द्र. ३।३८।७, त्रिपाजस्य (उनके ये तीन **पाजस्यः** यह कौन अङ्ग है, ठीक-ठीक बोध नहीं होता; तु. अश्व का, मा. २५।८ एवं तत्र उव्वट, अज का, शौ. ४।१४।८, बाँझ गाय का, शौ. १०।१०।२०, अश्व का, बृ. 'द्यौः पृष्ठम् अंतरिक्षम् उदरं पृथिवी पाजस्यम्' १।१।१ = 'द्यौः पृष्ठम् अन्तरिक्षम् उदरम् इयम् [अर्थात पृथिवी] उरः' १।२।३ — यहाँ वक्ष (छाती)? ; निघ. 'पाजस बल' २।९, अतएव पाजस्य, →

हमें ये तीन तत्व – जनक, जनित्री एवं जातक मिलते हैं। किन्तु अदिति-चेतना अथवा अधिदैवत दृष्टि में ये तीनों पृथक तत्व नहीं हैं अर्थात् ये सब एक में तीन और तीन में एक हैं। संहिता की भाषा में – 'अदितिर् माता स पिता स पुत्रः'।[२] आध्यात्मिक दृष्टि में जब इन्द्र जातक होते हैं तब हम इस त्रयी को जिस प्रकार पाते हैं उसी प्रकार अधिदैवत दृष्टि में इन्द्र जब जनक होते है तब भी पाते हैं। जनक इन्द्र विश्वरूप एवं 'विश्वभू' हैं[४] – वे ही यह विश्व हुए हैं अपनी माया से, जो उनकी शची या शक्ति है। यहाँ इन्द्र जनक माया या शची जनित्री एवं विश्व जातक है। यही त्रिपुटी या त्रयी दर्शन में परिणामवाद में विवर्तित हुई है जिसकी सुस्पष्ट द्योतना या व्यञ्जना ईशोपनिषद के आरम्भ में ही – ईश, जगती एवं जगत की उपस्थापना में प्राप्त होती है। इसका पौराणिक रूप शिव, शक्ति और कुमार है जिसका दार्शनिक प्रतिरूप पति, पाश, पशु है।

बलशाली अङ्ग हैं; अतः वृषभ की चोटी या चूड़ा के समान अङ्ग? एवं उसके साथ प्रतितुलनीय गाय का थन?) वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा (उनके तीन थन अतएव वे धेनु भी) पुरुधा (अनेक रूपों में) प्रजावान् त्र्यनीकः (उनके तीन ज्योतिर्मय मुख-अग्नि, चन्द्र और सूर्य रूप में, अथवा अग्नि, विद्युत और सूर्य रूप में तु. ऋ. ३।२६।७ टी. १४७६, १।११५।१ टी. १८५५) पत्यते (सब के पति अर्थात प्रजापति) माहिनावान् (महिमय, महिमान्वित) स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम् (धेनुओं के) ५६।३ द्र. टी. १५४६, 'वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निर् ऊधः' ४।३।१० टी. १३१४, १०।५।७।[२] माया-ऋक्संहिता में माया का सहज अर्थ 'शक्ति' है – कुछ करने की क्षमता। आजकल प्रचलित 'इन्द्रजाल' अर्थ का आभास एक स्थान के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं प्राप्त होता (तु. मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुः १०।५४।२ टी. १८५४; लक्षणीय. यहाँ उद्दिष्ट देवता इन्द्र हैं, उनका 'कर्मजाल' माया है, तु. शौ. अयं लोको जालम् आसीच्छक्रस्य महतो महान्, तेनाहम् इन्द्रजालेनामूंस् तमसाभि दधामि सर्वान् ८।८।८; और भी तु. श्वेताश्वतरोपनिषद् का 'एको जालवान् ईशत ईशनीभिः' ३।१ एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्न् अस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः [रुद्रः] ५।३। प्रतितुलनीय. यातुधान की माया टीभू. १२०३। मूलतः यह माया 'असुरस्य माया' (तु. ऋ. मित्रावरुणा...द्यां वर्षयथो 'असुरस्य मायया' ५।६३।३; धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया, ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः ७, लक्षणीय. माया यहाँ 'धर्म' एवं 'ऋत' की व्यञ्जनावाही है; पतङ्गम् अक्तम् असुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति... १०।१७७।१ टी. ११८३[२])। इन सब स्थलों पर 'असुर' वही अनुत्तर परम देवता हैं, जिनकी विभूति सारे देवता हैं (तु. ३।५५ सूक्त टेक, टीभू. १२७८)। माया उनकी स्वरूपशक्ति अथवा पुराणी प्रज्ञा है, विश्व का प्रथम धर्म है। यही असुर जब विश्वमूल एवं देवताओं के भी प्राग्भावी या पूर्ववर्ती हैं (तु. देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सद् अजायत... युगे प्रथमे १०।७२।२, ३; यहाँ 'असत्' के साथ असुर का ध्वनिसाम्य ध्यातव्य., ये दोनों एक ही तत्व हैं), तब उनकी माया देव एवं अदेव दोनों के बीच ही विद्यमान रहेगी – क्योंकि देवता और असुर दोनों ही उनसे सम्भूत हैं (तु. छा. १।२।१, ८।७।२... बृ. १।३।१, ५।२।१)। इसलिए ऋक्संहिता में जिस प्रकार एक ओर दैवी माया का उल्लेख है उसी प्रकार 'अदेवी माया' का भी उल्लेख है (तु. मरुद्गण 'नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीर् अभि सन्तु मायाः' ७।१।१० लक्षणीय. यह माया वृत्रहत्या के समय पराजित होती है, अतः इसका आयतन अध्यात्म है – किन्तु यह विश्वमूल माया नहीं; 'प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार, यद् अदेवीर् असहिष्ट (पराजित किया था) माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य' ५८।५ —→

पिता, माता एवं पुत्र की स्वाभाविक त्रिपुटी की एक रूप रेखा विश्व के मूल में है — इस भावना ने इस देश की आध्यात्मिक चेतना और साधना को प्रगाढ़ रूप में प्रभावित किया है। संहिता में हम अदिति की आधार-भूमि पर उसकी दार्शनिक उपस्थापना और इन्द्र में उसका विस्तार देखते हैं।

'आत्मा वै जायते पुत्रः'। जनक जाया के भीतर से होकर जातक होते हैं और इन्द्र माया के भीतर से होकर विश्वरूप होते हैं। यही विसृष्टि अथवा अधः परिणाम की धारा है। पुरुष के गुण और कर्म का विलास इस धारा में ही है। संहिता की भाषा में यह 'सत्' का काम' →

('केवल सोम' असङ्ग का आनन्द है जो 'श्रम' एवं 'तपः' का परिणाम है, तु. शौ. 'यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त् सर्वान सम् आनशे, सोमं यश चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः १०।७।३६, ल. 'श्रम' < श्रमण, मुनिपन्थी द्र. तैआ. २।७।१, द्र. टीभू. वेमी. पृष्ठ १८० ; आग्नि 'प्रा.देवीर् मायाः सहते दुरेवाः [दुश्चरित] ५।२।७)। यह अदेव प्रधानतः वृत्र (तु. नद्‌ः 'वज्रेण हि वृत्रम अस्तर [छिन्न-भिन्न कर दिया था] अदेवस्य शूशुवानस्य [स्फीत अथवा उपचित शौर्य जिसका] मायाः... जघन्थ १०।१११।६ ; वह 'मायी मृग' अर्थात् पाशविक वृत्ति की माया, इन्द्र अपनी दैवी माया के द्वारा उसका वध करते हैं १।८०।७ टी. १८६७ ; और भी तुलनीय. १०।१४७।२, ५।३०।६, २।११।१०, ६।२२।६) एवं प्रसङ्गतः उनके अनुचर (तु. शुष्ण की माया १।११।७, ५।३१।७, ६।२०।४ ; स्वर्भानु की ५।४०।६, ८, वृषशिप्र की ७।९९।४; पणि की ६।४४।२२, दस्यु अथवा दस्युओं की १।११७।३, ३३।१०; साधारण रूप में १।५१।५, ६।४५।९, ८।४१।८, १।३२।४...)। यह वृत्र एवं उसके सब अनुचर निःसन्देह आध्यात्मिक अदिव्य, अशिव शक्ति हैं जो ज्योति अथवा हम सब के चित्त की स्वच्छता को धूमायित करते हैं, जिनकी माया के अन्तिम चिह्न तक को शून्यता के देवता वरुण अपने ज्योतिर्मय चरणों के आघात से तितर-बितर करके विशोक लोक में आरोहण करते हैं (८।४१।८, द्र. टीभू. १२८८५। यह वृत्र 'सप्तथ' अर्थात् सातजनों में एक जन :- तु. 'स (इन्द्र) हि द्युता विद्युता (बिजली की कौंध-कौंध में तु. केनोपनिषद्. ४।४) वेति (प्रसन्न होते हैं) साम (हमारे साम-गान से, और तभी) पृथुं योनिम् (अदिति का उपस्थ, सोममण्डल में 'ऋत की योनि'; वही अक्षर परमव्योम जहाँ विश्वदेवगण निषण्ण (आसीन) हैं १।१६४।३९) असुरत्वा (असुर रूप में ही) ससाद (उसमें आसीन हुए) स सनीळेभिः (एक ही नीड़-में रहने वालों के साथ अर्थात मरुद्‌गण को लेकर) प्रसहान (धूल में मिला देते हैं, नष्ट कर देते हैं) अस्य (इस वृत्र के) भ्रातुर् न ऋते (अवश्य अपने भाई को छोड़कर नहीं अर्थात् विष्णु के साथ मिल कर तु. ७।९९।४-६) सप्तथस्य मायाः १०।९९।२। जिस प्रकार अदिति के सात पुत्र सात आदित्य; उसी प्रकार दिति के भी सात पुत्र सात दानव अथवा अदिव्य शक्ति : तु. 'त्वं ह त्यत् (तुम वही हो, जो सम्भवतः) सप्तभ्यः (सातजनों के) जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवं शत्रुर् इन्द्र (अर्थात समस्त विश्व में अब तक सप्तवृत्र अथवा सप्त अविद्या का निरङ्कुश आधिपत्य था, तुमने आकर उनका प्रतिरोध किया) गूळ्हे (अँधेरे और आनन्दहीनता से आच्छादित) द्यावापृथिवी अन्वविन्दो (खोज कर पाया) विभुमद्‌भ्यो भुवनेभ्यो (इतने दिन सातों लोक अनाथ थे, तुमको पाकर सनाथ हुए) रणं (आनन्द) धाः'(८।९६।१६ ; तु. १०।४९।८। टी. १४४६, सप्त दानून १०।१२०।६ टी. १२७३')। ये भी प्राजापत्य अथवा विश्वशक्ति हैं — एक समय ऐसा था कि जब इन्द्र नहीं थे तब भी ये सब थे किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये ही विश्व के स्रष्टा अथवा प्रभु थे — यह भावना वैदिक नहीं है। इनकी क्रिया की अनुभूति हम सब की चेतना में होती है। इनकी माया 'नीहार' अथवा कुहरा या कुहासा है जिसने हम सब के बोध को 'प्रावृत' या आच्छादित करके नाना प्रकार की जल्पना को मुखर कर रखा है। →

अथवा 'मनसो रेतः' अर्थात मन का प्रवेग है, किन्तु उसका बन्धन अथवा वृन्त (ढेंप) 'असत' में है [१५५२]। क्रान्तदर्शी की भूमिका में हृदयद्वारा सूक्ष्म रूप में खोज कर मनीषा के आलोक में असत को उपलब्ध करना चाहिए। यह उत्सृष्टि अथवा ऊर्ध्व परिणाम की धारा है। मुनिपंथियों ने इसके ऊपर जोर दिया है। वे सत से असत की ओर ऊपर उठ जाने पर फिर नीचे की ओर आना नहीं चाहते, बल्कि अपने आपको वारुणी शून्यता में खो देते हैं। ऋषिपंथी भी भूत-भुवन के मेले से ऊपर उठ जाना चाहते हैं और भूमा में पहुँचना चाहते हैं।[1] किन्तु वह भूमा 'सत' अथवा इतिवाची है, जिसका प्रतीक सूर्य अथवा बृहद्दिव है। यहाँ से ऊपर की ओर आकाश को और नीचे पृथिवी को एक साथ देखा जा सकता है। इन्द्र इस आकाश और पृथिवी के मध्य में 'सूर्य' हैं एवं इस कारण वे एक विशेष अर्थ में मध्यस्थान हैं।

केवल प्राणों को तुष्ट-तृप्त करने में उद्भ्रान्त कर रखा है- इसलिए कि अन्तर के देवता का ज्ञान न हो पाए (द्र॰ न तं विदाथ य इमा जजान १०।८२।७; यहाँ 'न विदाथ' = अविद्या; किन्तु इस कारण जो 'इमा जजान', वह तो नहीं है)। इस अदेवी माया को विज्ञानवादी अथवा वैनाशिक बौद्धों ने विश्वजननी के आसन पर बिठाया है एवं उनकी भावना ने शांकर दर्शन को गहरे तक प्रभावित किया है। वस्तुतः विश्व-सृष्टि अदेवी माया से नहीं बल्कि दैवी माया से हुई है। पहले ही हमने बतलाया है कि यह माया 'असुरस्य माया' — अर्थात परमदेवता के विश्वरूप में 'प्रसृता पुराणी प्रज्ञा' है (तु॰ श्वे॰ ४।१८) अतः निघन्टु में माया का अर्थ 'प्रज्ञा' (३।९; ल॰ तत्र॰ समानार्थक 'असुः', 'शची') दिया हुआ है; वहाँ अदेवी माया उपेक्षित है। ऋक्संहिता में यही माया अग्नि, मरुद्गण, अश्विद्वय, पूषा, विष्णु, मित्र और आदित्यगण की — विशेष रूप से इन्द्र और वरुण की है। विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना सौम्य आनन्द के उल्लास में इस माया से ही हुई है : 'अरुरुचद् (आलोकित किया) उषसः पृश्निर् (यहाँ सोम का विशेषण; किन्तु मरुद्गण की जननी की ध्वनि है- क्योंकि आदिदेव अर्द्धनारीश्वर हैं ऋ॰ १०।५।७) अग्रिय (सब के अग्रज) उक्षा (जो धेनु, वे ही वृषभ हैं) बिभर्ति (अपने भीतर वहन करते हैं भ्रूण रूप में) भुवनानि वाजयुः (क्योंकि उनके भीतर थी ओजःशक्ति की कामना; यहाँ धेनु और वृषभ का कर्मविपर्यास दिखाया गया है, तु॰ 'पृश्नि' ६।६६।३ टी॰ १७५५), (उसके पश्चात) मायाविनो (सब देवता, तु॰ पुरुषसूक्त में १०।९०।३, १४, १५) ममिरे रूप दिया है, पूर्वपाद का 'भुवनानि' कर्म) अस्य (सोम का) मायया (यहाँ व्युत्पत्ति प्राप्त होती है, द्रष्टव्य॰ टी॰ १४३८) नृचक्षसः (सर्वजन साक्षी) पितरो (दिव्य पितृगण तु॰ १०।८८।१५; अङ्गिरोगण- सायण) गर्भम् आदधुः (गर्भाधान किया है; यहाँ भी लिङ्ग विपर्यय के कारण सारे देवता माता [< 'ममिरे',] क्योंकि वे सब सृष्टिमूल आधारशक्ति हैं) ९।८३।३। इस प्रज्ञारूपिणी माया से ही विश्व-व्यवहार का संचालन हो रहा है — बाहर-भीतर, सर्वत्र (तु॰ २।१७।५, १।१६०।३ : ३।२७।७, ४।३०।१२, ५।६३।६, ८।४१।३, ९।७३।९, १०।८५।१८, ८८।६...), अदेवी माया इसी दैवी माया से पराजित होती है (तु॰ ४।३०।२१, ८।२३।१५, ९।७३।५, २।२७।१६, १०।७३।५...) जो वाक् के मर्मज्ञ हैं उनको भी यह माया या प्रज्ञा अधिगत होती है। किन्तु 'अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलाम् अपुष्पाम्' — वह अधेनु (जो दूध नहीं देती, बाँझ) माया लेकर विचरण करता है, उसने सुना है केवल अफला, अपुष्पा वाक् १०।७१।५। व्युत्पत्ति-द्र॰ टी॰ १४३८, तु॰ Lat meteri, ——→

सूर्य की भाँति ही अन्तरिक्ष के सानुदेश या समतल भूमि से वे अन्तरिक्ष के सभी स्थानों में सञ्चरण कर रहे हैं।[2] उनका स्वधाम 'वर्षिष्ठ द्युलोक' है,[3] जहाँ से ज्योति का निर्झरण होता है। ज्योति में वे प्रज्ञा एवं निर्झरण में प्राण हैं — उपनिषद की भाषा में वे 'प्रज्ञात्मक प्राण' हैं।[4] पुनः इस रूप में ही वे 'मरुत्वान्' हैं — क्योंकि मरुतगण वायु के प्रबल झोंके हैं। किन्तु जहाँ वायु का प्रबल प्रवाह नहीं है — केवल ज्योति, केवल प्रज्ञान है, वहाँ वे 'निष्केवल' हैं, वे 'शन्तम' अर्थात अनुपम प्रशम रूप में हमारे निकटतम हैं, अपने अनुग्रह से हमारी एकाग्रचित्तता को सम्यक् रूप में स्थापित करके प्रशान्ततम आवेश लेकर आते हैं।[5]

इस इन्द्रभावना को यदि दर्शन की भाषा में अनुवाद करके कहा जाए तो इन्द्र एक ही साथ विश्वातीत एवं विश्वात्मक हैं। पुरुष सूक्त के आरम्भ में ही हमने परमपुरुष का भी यही परिचय प्राप्त किया है वे विश्व के अतिष्ठा एवं प्रतिष्ठा दोनों ही हैं। संहिता में यही इन्द्र के साथ वरुण और विष्णु की सहचरता में व्यक्त हुआ है। विष्णु दिन के उजाले हैं, वरुण रात के अँधेरे हैं। दोनों ही इन्द्र के सहचर अर्थात इन्द्र उजाला और अँधेरा दोनों ही हैं। और्णवाभ ने विष्णु के 'त्रेधा पद निधान' की जिस रूप में व्याख्या की है [१५५३] उसके साथ इस भावना का मेल है। विष्णु का एक पद 'समारोहण' में →

'to measure.', || ment < mens 'mind, thought'. GK. metis 'wisdom'। [3] १।८५।१०। [4] १०।५०।१

[१५५२] ऋ. १०।१२५।४ टी. १५८१, १२४५, १२७५। [1] अग्ने बाधस्व (रोको, हटा दो) वि मृधो (देवता के प्रति अवहेलना) वि दुर्गहा (दुरित, टी. १५६०) पामीवाम् (अस्वास्थ्य) अप रक्षांसि सेध (प्रतिषेध करो, आने मत देना), अस्मात् (यही) अतएव हृद्य समुद्र की ध्वनि है, तु. ४।५८।५ टी. १२७३[6]) समुद्राद् बृहतो दिवो नो (हृद्य समुद्र ही बृहत् द्युलोक है, यहाँ अध्यात्म एवं अधिदैवत दोनों दृष्टियों का मेल है) अपां भूमानम् (अर्थात प्राण का प्लावन) उप नः सृजेह (यहाँ, इसी जीवन में) १०।५८।१२। हम सारी बाधाओं को दूर करके ऊपर द्युलोक में जाएँगे, किन्तु फिर नीचे उतरकर पृथिवी पर आएँगे।[2] तु. ४।२१।१५, ८।५३।१,४, १०।८५।२; द्र. टी. १८३४[2]। [3] ४।३१।५; द्र. टी. १२८८[3]। [4] कौ. ३।२। [5] तु. ऋ. 'इन्द्र नेदीय (अत्यन्त निकट) एद् इहि मित मेधाभिः (मेधा अथवा समाधिभावना को जो 'मित' खनन करके प्रोथित अथवा निश्चल करते हैं; **मित** < √मि 'गाड़ना, रोपना' तु. 'सुमिती मीयमानः' यूपः ३।८।३) ऊतिभिः, आ [इहि] शन्तम शन्तमाभिर् **अभिष्टिर्** (< अभि √स्ति || स्था || स्थि 'रहना' अभि जुड़ने पर गत्यर्थक, जैसे उप √स्था, प्र √स्था ...; तु. ARYAN BASE sta, -sto, — ENG. still; √स्ति 'चुप-चुप चलना' भी हो सकता है, तु. 'स्तेन' चोर, स्त्यान 'ऊँघना' झपकी लेना; अतएव 'अभिष्टि' देवता का निःशब्द आवेश है, जैसे यहाँ है; फिर इन्द्र स्वयं 'अभिष्टि' अर्थात शत्रु के विरोध में अभियात्री तु. जिगायो, शिमिनिः पृतना अभिष्टिः २।३४।४; और भी तु. उप नो वाजान् [ओजः सम्पद] मिमीहि [वितरण करो] उप स्तीन् [अपना आवेश] ७।१५।११; उत त्रायस्व गृणत उत स्तीन् [तुम्हारे द्वारा जो आविष्ट हैं उनकी रक्षा करो] १०।१४८।४; वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् [अर्थात तुम्हारा प्रसाद कभी तो प्लावन की तरह निर्झरित होता है और कभी झिर झिर करके तु. अग्नि के सम्बन्ध में अनुरूप उक्ति ७।२।२;] देवता 'स्ति-पा' देवाविष्ट जनों के रक्षक, पालनकर्ता हैं ७।६६।३, १०।६९।४) आ स्वापे (हे परम आत्मीय) स्वापिभिः (अर्थात मरुद्गण को लेकर) ८।५३।५। देवता के आवेश से अन्तर में एक ओर गहरी प्रशान्ति है और एक ओर ज्योति का तूफ़ान है — क्योंकि देवता प्रज्ञात्मा प्राण हैं। →

अथवा प्रातःकाल के दिग्वलय में निहित होता है। द्वितीय पद निहित होता है विष्णुपद में अथवा माध्यन्दिन अन्तरिक्ष में (दुर्ग)। विशेष रूप से इन्द्र के सोमयाग के माध्यन्दिन सवन में इन्द्र भी माध्यन्दिन सूर्य हैं। ये ही सूर्य स्थावर-जङ्गम के आत्मा हैं।[१] ये लोकात्मक इन्द्र अथवा विष्णु हैं। किन्तु विष्णु का तृतीय पद इस माध्यन्दिन सूर्य को लाँघ गया है और वह 'गयशिरस्' में निहित हुआ है। यह गयशिरः वारुणी शून्यता अथवा परमव्योम है। इन्द्र एवं विष्णु वहाँ लोकातीत हैं। विष्णु युगपत् लोकात्मक एवं लोकातीत हैं जिसे पुराण में उनके नील वक्ष पर शुभ्र कौस्तुभ स्थापित करके दिखाया गया है जिससे नील आकाश में माध्यन्दिन सूर्य की छवि-छटा खिल उठी है। वही छान्दोग्य में आदित्य-पुरुष का 'नीलं परः कृष्णम्' और 'शुक्लं भाः' हुई है।[२] इससे स्पष्ट है कि संहिता, उपनिषद् एवं पुराण में परमपुरुष के तत्व के सम्बन्ध में एक ही भावना को विभिन्न वाग्भंगिमाओं के माध्यम से व्यक्त किया जा रहा है — जिसका हेतु रहस्यविद के चरम अनुभव की वह अनिर्वचनीयता है जो ऋक्संहिता की भाषा में इस प्रकार है — 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद'।[३]

इस प्रसङ्ग में एक बात और ध्यातव्य है। ऋक्संहिता में ये दो विशेषण — 'गोपति' और 'नृतु' इन्द्र में निरूढ़ हैं [१५५४]। इन दोनों संज्ञाओं को लेकर कुछ विवेचन की गुंजाइश है। — **गोपति** का प्रायः समानार्थक शब्द है 'गोपा' जो देवताओं का एक सामान्य विशेषण है। देवता के साथ गो का सम्बन्ध वेद में अनेक रूपों में उल्लिखित है जिसके कारण यह शब्द आध्यात्मिक एवं आधियाज्ञिक दोनों दृष्टियों से ही एक रहस्यार्थ का वाचक होकर →

[१५५३] द्र० नि० १२।१९। [१] ऋ० १।११५।१। [२] छा० १।६।५+६। [३] ऋ० १०।१२९।७, टी० १२४५।

[१५५४] तु० ऋ० 'गोपति' १।१०१।४, ३।३१।२१, ४।२४।१, ३०।२२, ७।९८।६, ८।६१।७, १०।१०८।३, ५।११८।४, ८।६९।४, १०।४७।१, ९।१९।२, ८।२१।३, ३।३०।२१, ६।४५।२१। 'गो' वाक्; 'वाग् वै बृहती' श० १४।४।१।२२; अतएव इन्द्र के सहचर बृहस्पति (तु० ४।४९ सूक्त, ५०।१०-११) 'गोपति' १०।६७।८। सोम के साथ इन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए सोम भी गोपति ९।३५।५ (तु० इन्द्र-सोम ९।१९।२)। इन्द्र का सायुज्य प्राप्त करने के कारण यजमान भी गोपति है — विशेषतया वह जब 'देवाँश्च याभिर् यजते ददाति च' ६।२८।२; यजमान के बारे में श्लिष्ट प्रयोग :- 'शिक्षेयम (शक्ति संचार करता) अस्मै दित्सेयम् (सब देना चाहता) शचीपते मनीषिणे, यद् अहं गोपतिः स्याम्' अर्थात् यदि मैं तुम होता ८।१४।२; देवता के प्रति क्षोभ द्र० टी० १३५४); सामान्य रूप में १०।१९।२। इन कई प्रयोगों के अतिरिक्त 'गोपति' सर्वत्र इन्द्र की संज्ञा है, यह अर्थवह है। इन्द्र के साथ 'गो' का सम्बन्ध बार्हस्पत्य भरद्वाज की इस उक्ति में चरम विन्दु पर है : 'गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः, इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामी द्धृदा मनसा चिद् इन्द्रम्' — गो ही भग होकर, गो ही इन्द्र होकर मेरे निकट प्रकट हुईं, गो में ही प्रथम सोम का सम्भोग; ये जितनी सब गो हैं, हे जनगण वे ही इन्द्र हैं; हृदय से मन से मैं उस इन्द्र को ही चाहता हूँ (६।२८।५)। यहाँ भागवत के देवता 'भग', 'इन्द्र' और 'गो' एक हैं — यह लक्ष्य करने योग्य है। 'स जनास इन्द्रः' यह टेक तु० २।१२ सूक्त; →

उपस्थित हुआ है। निघन्टु में सब मिलाकर 'गो' के ये तीन अर्थ— पृथिवी वाक् एवं रश्मि दिए गए हैं।[1] लक्षणीय है, ये तीन अर्थ तीन लोक के अभिद्योतक हैं। निघन्टु में वाक् माध्यमिका अथवा अन्तरिक्षस्थाना है।[2] वाक् को जब माध्यमिका कहा जा रहा है तब वह निश्चय ही मेघ अथवा झंझावात का गर्जन है। कल्पना की जा सकती है कि इस गर्जन में पृथिवी के समस्त शब्दों या ध्वनियों का समाहार है। बृहदारण्यकोपनिषद में इसे प्रजापति द्वारा अनुशिष्ट दैवी वाक्[3] की संज्ञा दी गई है। इस वाक् के साथ गाय की हम्बा ध्वनि (रंभना) का सादृश्य है।[4] इसी दृष्टि से गो एवं वाक् का समीकरण किया गया है। द्युलोक में सूर्य की रश्मियाँ निस्तब्ध हैं, किन्तु अन्तरिक्ष में झंझा और वृष्टि के शब्दों में मुखर हैं। इस मुखरता की भूमिका में प्रज्ञा मानो प्राण में स्फुरित एवं स्फुटित हुई। जिसके कारण वैदिक भावना या चिन्तन के आलोक में माध्यमिका वाक् प्रत्यक्षतः सृष्टि की प्रवर्तिका है। इस वाक् के ऊपर द्युलोक में जिस प्रज्ञा-ज्योति की सहज स्थिति है—वह भी वाक् है, वह भी गो है। पृथिवी में उसी प्रज्ञा-ज्योति की एक-एक रश्मि अथवा 'केतु' प्रत्येक जीव में अन्तर्निहित होकर विद्यमान है[5] जिससे वे भी गो हैं, उसी प्रसङ्ग में जीवधात्री पृथिवी भी गो है। रहस्यवेत्ताओं की दृष्टि में गो जड़ के भीतर ठहरे हुए प्राण और चैतन्य की तरह गुहाहित है— 'गूढ़ोत्मा न प्रकाशते'।[6]

वहाँ इन्द्र सर्वमय, सर्वव्यापी परमदेवता हैं; 'गो' यहाँ जीव का प्रतीक मान लेने पर वे सर्वत्र हैं एवं वे भी स्वरूपतः इन्द्र हैं— यही भाव सहज में उभरता है। [1] द्र. निघ. १।१, १।११, १।५ (बहुवचन में)। इसके अलावा निघन्टु में 'द्युलोक' एवं आदित्य भी (१।४); 'स्तोता' अथवा उपासक भी 'गौः' (३।१६; देवता 'गोपा', इसी से, क्योंकि वे हमारी ज्योति के रखवाले हैं। भागवत जनों में यही भाव विकसित हुआ है), उसे छोड़कर स्वतंत्र रहस्यपदों में भी 'गौः' है (४।१); फिर अन्तरिक्षस्थान देवताओं के अन्तर्गत 'गौरी। धेनुः। अघ्न्या' (५।५) हैं। इसलिए गो को सभी स्थानों पर पशु के अर्थ में ग्रहण करना कभी भी समीचीन नहीं हो सकता। [2] तु. निघ. ५।५, वहाँ सरस्वती, वाक् एवं गौः का एक साथ उल्लेख अन्तरिक्षस्थान स्त्री देवताओं के साथ किया गया है। [3] बृ. ५।२।३। [4] तु. ऋ. गौरीर् (यह पद श्लिष्ट है: गौर अथवा गवय [ऋ. ४।२१।८; किन्तु तु. ऐब्रा. २।८, वहाँ गवय अलग] गो जैसा मृग, जो प्राण का प्रतीक एवं इन्द्र का उपमान है [१।१६।५], उसके स्त्रीलिङ्ग में 'गौरी' स्वरूप में आनन्दमयी [तु. ८।१२।३]; फिर 'गौर' शुभ्रवर्ण [१०।१००।२, टी १८३६[5]]; अतएव 'गौरी' शुभ्र प्राण का प्रतीक है और उपनिषद की भाषा में प्रज्ञात्मक प्राण है) मिमाय (रंभाई, हम्बा ध्वनि किया) सलिलानि (कारण सलिल तु. अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् १०।१२९।३) तक्षत्य् (अर्थात् अव्याकृत को व्याकृत करके) एकपदी, द्विपदी सा चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी (यह 'पद' श्लिष्ट है, जिससे वाक्, धाम अथवा अंश का बोध होता है) बभूवुषी (अनेक होने की कामना में. तु. रूपं रूपं मघवा बोभवीति ३।५३।८) (तो क्या) सहस्राक्षरा परमे व्योमन् (यही उनका स्वरूप है) १।१६४।४१। वे एकपदी हैं फिर सहस्राक्षरा हैं— यही उनके स्वरूप के दो पक्ष हैं। एक से वे द्विदल अथवा मिथुन (युग्म) हुई— द्वैधापातन के द्वारा (तु. बृ. १।४।३); विसृष्टि की दिशा में यह उनका प्रथम पदक्षेप है। पुनः द्वैधापातन के द्वारा चतुर्दल हुई— यह उनका द्वितीय पदक्षेप है। फिर द्वैधापातन के द्वारा अष्टदल हुई— यह उनका तृतीय पदक्षेप है। तो फिर सब मिलाकर उनके ये चार पद प्राप्त हुए। इन चारों पदों का रहस्य ब्रह्मवेत्ता मनीषी ही जानते हैं। ऊपर के तीन पद गुहाहित हैं जो यहाँ व्यक्त नहीं। मनुष्य के मुख से वाक् का —

अन्तरिक्ष में वह प्रक्षुब्ध एवं प्रबल है, द्युलोक में प्रसन्न है, शान्त और उत्फुल्ल है। ...इन तीन स्थानों में ही इन्द्र 'गोपति' हैं। पृथिवी में वे **गवेषण** हैं—गुहाहित अथवा अन्तर्यामी रूप में प्रच्छन्न ज्योति को ढूँढ़ते हुए विचरण कर रहे हैं।[७] वे **गोत्र-भिद्** हैं, गो का सन्धान पाने पर अवरोध (गोत्र) तोड़ कर उसको बाहर लाते हैं।[८] यही उनका अन्तरिक्ष कृत्य अथवा वीरतापूर्ण कार्य या बलकर्म है। और द्युलोक में अथवा परमव्योम में वे गोपति, गोविद्, गोमान हैं।[९] और अन्त की भूमि पर वे और विष्णु एकाकार हैं— इसका स्पष्ट उल्लेख ऋक्संहिता में ही है। दीर्घतमा औचथ्य के इस एक प्रसिद्ध विष्णु सूक्त के अन्तिम मंत्र में कोई नाम न लेकर इन्द्र को विष्णु के साथ जोड़ दिया गया है यह कहकर कि 'हम सब तुम दोनों की वास्तु भूमियों में जाने के लिए उतावले हो रहे हैं जहाँ गोयूथ बहुशृङ्ग एवं अश्रान्त हैं। अहा, यहाँ तो विस्तीर्णगति वीर्यवर्षी (देवता का) परम पद है, नीचे आकर विचित्र रूप में प्रतिभात हो रहा है'।[१०] भूरिशृङ्ग →

चतुर्थ पद मात्र व्यक्त होता है (ऋ. १।१६४।४५)। अष्टपदी वाक् के साथ तु. अष्टधा प्रकृति। और भी तु. ऐतरेय ब्राह्मण का 'शरभ' — आलब्ध 'पुरुष' के विवर्तन में सब से अन्त में उत्पन्न 'अष्टभिः पादैर् उपेतः सिंहघाती मृगविशेषः' (२।८, यह शरभ अमेध्य (अपवित्र, अयज्ञीय); ऋक्संहिता में एक 'ऋषिबन्धु' [तु. ब्रह्मबन्धु] शरभ का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनके निकट इन्द्र ने 'पारावतवसु' अथवा लोकोत्तर की ज्योति अपावृत या उद्घाटित की थी (८।१००।६)। तंत्र की भाषा में अष्टापदी वाक् को वाक् की 'निवृत्ति कला' कहा जाता है, जिसका परिणाम यह व्यवहार्य जगत है। वाक् स्वयं ही उसकी बागडोर खींच कर रखती है 'नवपदी' होकर। यही अक्षर तत्व है, जिसके अन्तर्भुक्त क्षर है (तु. १।१६४।४२)। स्वरूपतः अक्षर 'एकपदी वाक्' अथवा प्रणव है (तु. तैब्रा. २।४।६।११, सायण भाष्य,) — जिसका उपमान गौरी की हम्बाध्वनि (रँभाना) है; और क्षर 'अष्टापदी वाक्' है। यास्क गौरी को माध्यमिका वाक् मान कर मंत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं, गौरी 'एकपदी मध्यमेन (अर्थात उस समय वे एकाकी हैं; 'मध्यमेन सह एकत्वम् आपन्ना', दुर्ग), द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च, चतुष्पदी दिग्भिः, अष्टापदी दिग्भिश् चावान्तरदिग्भिश् च, नवपदी दिग्भिश् चावान्तरदिग्भिश् चादित्येन च (नि. ११।४०); यहाँ 'गौरी' विश्वमूल प्राण, 'आदित्य' प्रज्ञा, 'दिक्' शक्ति का विच्छुरण है। मेघों का गर्जन चारों ओर फैल जाता है— यही छवि पृष्ठभूमि में है (तु. तंत्र का 'नाद' वैयाकरण का 'स्फोट')। आदित्य का योग या मिलन प्राण और प्रज्ञा के मिथुन भाव का बोधक है जिसकी छवि है एक साथ धूप और वृष्टि, जिसको प्रकाश का धारासार (मूसलाधार वृष्टि) मान ले सकते हैं। [५] द्र. १।२४।७ टीमू. १५७१। [६] क. १।३।१२। [७] तु. ऋ. १।१३२।३, ७।२०।५, ८।१७।१५, इन्द्रस्थ ७।२३।३। केवल एक स्थान पर पूषा का 'गवेषण गण' को सिद्ध करने का उल्लेख है (६।५६।५)। 'गण' यहाँ आलोकसन्धानी मरुद्गण— जो चिन्मय प्राणवृत्ति के रूप में कल्पित हैं। अगले मंत्र में ही 'स्वस्ति' एवं चिरन्तन 'सर्वताति' या सर्वात्म भाव की चर्चा है। तु. गो-इष्टि; आधुनिक अर्थ में 'गवेषणा'। [८] तु. ६।१७।२, १०।१०३।६; बृहस्पति भी 'गोत्रभित्' एवं उसी से 'स्वर्विद्' २।२३।३। **गोत्र** गोशाला, आधार में 'ग्रन्थि' का (तु. ग्रन्थिं न विष्य [खोल दो] ग्रथितं पुनान ऋजुं च गातुं [पथ] वृजिनम् [टेढ़ा-मेढ़ा] च सोम- ९।९७।१८, १०।१४३।२) प्रतीक : तु. त्वम् [इन्द्र] गोत्रम् अङ्गिरोभ्योऽवृणोर् अप (तु. सोम ९।८६।२३; गोत्रं हरिश्रियम् (ज्योतिर्मय) ८।५०।१०; विश्वा यद् गोत्रा सहसा (इन्द्र अपने उत्साह द्वारा) परीवृता (परिवेष्टित जो वृत्र की माया में) मदे सोमस्य दृंहितान्यैरयत् (जितनी ही दृढ़ हो) (विचलित किया, तोड़ दिया) २।१७।१...। [९] तु. त्वां... पुरभित्तमं मघवन्निन्द्र गोविदम् ईशानम् ८।५३।१, १०।१०२।५, ६...; 'गोमत् व्रज' उनका ७।२७।१, ३२।१०, ८।४६।७ (५।६), ७०।६...। [१०] ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो →

गोयूथ अनिवार्य रूप से भागवतों या कृष्ण-भक्तों के गोलोक का स्मरण करवा देता है। यही गोलोक इन्द्र का भी वास्तु या वास-स्थान है। किन्तु ऋक्संहिता में इन्द्र गोपति हैं — विष्णु नहीं, यद्यपि अन्यान्य देवताओं की तरह वे भी 'गोपा' हैं।[११] यहाँ ही इन्द्र की 'गोपति' संज्ञा का वैशिष्ट्य है। परवर्ती युग में देवता के साथ गो का सम्बन्ध हमारे देश में क्षीण हो गया,[१२] केवल विष्णु के अवतार वासुदेव के साथ वह जुड़ा हुआ है। इस भावना का सम्बन्ध निश्चय ही विष्णु से है; किन्तु उसके भी मूल में गोपति इन्द्र हैं। भागवत धर्म पर इन्द्र के प्रभाव का और भी परिचय हम आगे चल कर प्राप्त करेंगे।

इन्द्र का नृतु विशेषण भी विशेष व्यञ्जनावह है। यह ऋक्संहिता में एक बार उषा और एक बार अश्विद्वय के बारे में प्रयुक्त हुआ है [१५५५]। इसके अतिरिक्त दो बार इन्द्र के सहचर मरुद्गण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।[१] और बाकी सारे प्रयोग इन्द्र से सम्बन्धित हैं। प्रकरण पर विचार करके देखने पर जान पड़ता है यह संज्ञा नितान्त ही पारिभाषिक है एवं इन्द्र में निरूढ़ है। किन्तु उन्हें इस नाम से क्यों पुकारा जाता है, वह स्पष्ट नहीं है। लक्ष्य करने योग्य है कि यह इन्द्र के अतिरिक्त अश्विद्वय एवं उषा के बारे में प्रयुक्त हुआ है — विशेष रूप से एक स्थान पर उषा के साथ नर्तकी की उपमा में उस युग के नृत्य की एक सुन्दर छवि की झलक मिलती है।[२] अश्विद्वय एवं उषा द्युस्थान देवता हैं। आदित्य इन्द्र विष्णुपद में सहस्ररश्मि हैं। तो फिर यह क्या ज्योति का नर्तन — अर्थात कम्पमान आलोकरश्मि का वर्णन है?[३] →

भूरिशृङ्गा अयासः, अत्राह तद् उरुगायस्य वृष्णः परमं पदम् अव भाति भूरि १।१५४।६। देवता 'उरुगाय' क्योंकि उनकी ज्योति या दीप्ति सर्वत्र फैल जाती है। उनका परम पद जिस प्रकार लोकोत्तर में है, उसी प्रकार यहाँ — आँखों के सामने झलमला रहा है। इन्द्र-विष्णु के एकत्व की अनुवृत्ति ऋषि के अगले सूक्त में भी है — (१।१५५।१-२)। [११] १।२२।१८। [१२] किन्तु रुद्र अथवा शिव अब भी आम तौर पर 'पशुपति' हैं। किन्तु तंत्र में पशु असंस्कृत प्राण का प्रतीक है। वेद में भी अवश्य सारे पशु मेध्य (यज्ञीय, पवित्र) नहीं हैं (द्र॰ ऐब्रा॰ २।८)।

[१५५५] उषा तु॰ ऋ॰ १०।२९।२; अश्विद्वय तु॰ ६।६३।५। [१] ५।५२।१२, ८।२०।२२। [२] तु॰ उषा 'अधि पेशांसि (रङ्ग की छटा; तु॰ 'पेशवाज़' (नर्तकी की पोशाक) वपते (बिखरा देती है) नृतूर् इवा॰ पोर्णुते (अपावृत करती हैं) वक्ष उस्रे॰व (आलोकधेनु जिस प्रकार) **बर्जहम्** (अनन्य प्रयोग; 'थन', स्तन? व्युत्पत्ति- वर् [< वार् 'जल' अथवा 'द्वार' तु॰ ४।५।८, टी॰ १४७५६] + हा 'छोड़ना' जिसने जल छोड़ दिया अथवा द्वार खोल दिया — 'जल' अर्थ ग्रहण करने पर इस शब्द में मेघ की ध्वनि है — भोर के उजाले में रंगीन मेघ घिर आते हैं, झर झर जल बरसाने के कारण मेघ गाय के थन की तरह हैं; 'द्वार' अर्थ ग्रहण करने पर आलोकबालाओं ने मानो ज्योति का द्वार खोल दिया; ये दोनों उपमाएँ उषा के मुक्तवसन वक्ष के साथ मेल खाती हैं। [३] तु॰ नि॰ 'नरा मनुष्या नृत्यन्ति कर्मसु (गात्राणि पुनः पुनः प्रक्षिपन्ति [दुर्ग] ५।१।२। फिर निघण्टु में 'नरः अश्वाः' १।१४; अश्व के साथ आलोक के वाण की उपमा ध्वनित होती है अश्विद्वय के सन्दर्भ में एवं वे दोनों वास्तव में 'नर' भी हैं। आधी रात के अँधेरे से प्रकाश की किरणें काँपते काँपते तीव्र गति से उषा के कूल पर आती हैं। वही कम्पन उषा की सुनहली किरणों में भी है और फिर → माध्यन्दिन आदित्य के 'मध्ये क्षोभत इव' — आदित्य के मध्य में क्षुब्ध सा है (छा॰ ३।५।२) —

नृत् धातु का मूल यदि 'नृ'[३] धातु हो तो फिर इस नृत्य के साथ पुरुष के ताण्डव का सम्बन्ध है; और उषा के नृत्य के साथ लास्य का सम्बन्ध है। इन्द्र को एक स्थान पर 'नृतमानो अमर्तः' कहने से[४] यही बोध होता है कि उनका यह देवनृत्य शाश्वत काल से जारी है अर्थात यह उनका विश्वनृत्य है। इस विश्वनृत्य का एक सुन्दर वर्णन अन्यत्र इस प्रकार है— 'हे देवगण, तुम सब (कारण-) सलिल में सुछन्दित एक दूसरे का हाथ पकड़ कर खड़े थे, उसके बाद ही तुम सब के नृत्य के आवर्तन अथवा आलोड़न से तीव्र रेणु बिखर पड़ी'।[५] अर्थात देवनृत्य से उठने वाली तीव्र संवेग से सम्पन्न यह रेणु ही विश्व का उपादान हुई। लगता है, इन्द्र के 'नृतु' विशेषण का मूल यहाँ है। परमदेवता के रूप में वे देवनृत्य के पुरोधा हैं। उनका यह नृत्य अनन्तकाल से जारी विश्वनृत्य है—प्राण के समुद्र में वह ताण्डव और ज्योति के समुद्र में लास्य है।[६] देवनृत्य की यही भावना हमें पुराण में दो स्थानों पर प्राप्त होती है— नटराज शिव के ताण्डव में, और वासुदेव कृष्ण के रास या हल्लीश में। नटराज का नृत्य प्राण का नृत्य है— भूतगण के साथ भूतपति का नृत्य है और वासुदेव का नृत्य प्रेम का नृत्य है— गोपियों के साथ गोपति का नृत्य है। दोनों ही यौथ नृत्य हैं। सम्भवतः जिसका बीज मरुद्‌गण के नृत्य में है।

- वह भी एक कम्पन है। आदि से अन्त तक एक ज्योति का नृत्य कहा जा सकता है। इसलिए गृत्समद शौनक कह सकते हैं, 'तव त्यन् नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्, यद् देवस्य शवसा प्रारिणा असुं रिणन्न् अपः, भुवद् विश्वम् अभ्यादेवम् (= आभ अदेवम्) ओजसा विदाद् ऊर्जं शतक्रतुर् विदाद् इषम्' — हे नट, हे इन्द्र, तुम्हारा वही नर का कर्म (अथवा 'नृत्यकर्म'; यह पदगुच्छ समस्त रूप में इन्द्र का विशेषण ८।८३।१; व्यस्त प्रयोग १०।१४७।१, ४।१८।१० [अयेन √ विद् का प्रयोग लक्षणीय], ८।८६।२१; 'नृतो' इस सम्बोधन के सन्दर्भ में नृत्य अर्थ सम्भावित) द्युलोक में जो सर्वप्रथम, सब से पूर्व है, उसकी घोषणा की गई— यह कि तुम देवताओं के देवता हो (यहाँ अनिरुक्त है, अतः परमदेवता की ध्वनि है) प्राणोच्छ्वास से प्राण को प्रवाहित किया था (सूर्योदय का वर्णन. तु. १।११३।१६, टी. १२८८, १३१४) सभी अप् (प्राणधाराओं) को मुक्त कर के; अदेवों को (तमः शक्ति को, प्रतितुलनीय 'देवस्य शवसा') पराजित करें वे ओज के द्वारा शतक्रतु अधिगत करें ऊर्जं ('आवृत्तचक्षुः' होने की क्षमता; तु. क. २।१।१), अधिगत करें एषणा (ऋ. २।२२।४)। अंधकार को पराभूत कर के आलोक या ज्योति के नर्तन की छवि जीवन में रूपान्तर की सूचना है। [४] नृम्णानि च नृतमानो अमर्तः ५।३३।६। यह नाच नृम्ण अथवा पौरुष का नृत्य है। [५] यद् देवा अदः (= अमुष्मिन्) सलिले (तु. १०।१२९।३ + १।१६४।४१) सुसंरब्धा अतिष्ठत, अत्रा वो नृत्यताम् इव तीव्रो रेणुर् अपायत (= अप् आयत, < √ इ 'चलना' लङ् आत्मनेपद अन्त) १०।७२।६। तु. एक आदिम जाति कोलों का नृत्य। वे एक दूसरे का हाथ पकड़े सङ्केत मिलने के इन्तज़ार में गोलाकार खड़े रहते हैं। उसके बाद मादल पर थाप पड़ते ही समुद्र की लहरों की तरह हिल्लोलित हो उठते हैं। **रेणु** विश्व के उपादान भूत प्रकाश-कणिकाएँ (COSMIC DUST) तु. यो (इन्द्रः) धृष्णुना शवसा बाधते तम इयर्ति (उच्चलित करते हैं) रेणुः बृहद् अर्हरिष्वणिः ('अहहः' ध्वनि करके) १।५६।४ और भी तु. ४।१७।१२, ४२।५। [६] एक वृत्रहन्ता इन्द्र का नृत्य, और एक मानो उनकी प्रिया उषा का नृत्य है, द्र. टी. १८८१[२]।

[१८८६] ऋ. ८।२०।२२। [१] 'छन्दः स्तुभः कुभन्यव उत्सम् आ कीरिणो नृतुः, ते मे के चिन् तायव ऊमा आसन् दृशि त्विषे ५।५२।१२। 'छन्दः स्तुभः' — अभीतक था उनका घोर गर्जन →

ऋकसंहिता में उनके नृत्य के दो वर्णन हैं। एक नृत्य में वे 'रुक्मवक्षसः' अर्थात चमचमाता कवच पहने हुए हैं [१।६४।६]। यह उनका योद्धा (योद्धा) वेश है। अतएव उस समय उनका नृत्य प्राण का नृत्य है, रौद्र रस का नृत्य है। ... उनका एक और नृत्य श्यावाश्व आत्रेय ने देखा था। वे बतलाते हैं, कि 'छन्द में स्तुति रचकर धुँधले प्रकाश का आवरण खोजकर उत्स के चारों ओर गीत गाते-गाते वे सब नाचने लगे। आखिर ये कौन हैं, जो मुझ घेरे रहते हैं (सब समय)। चोर की तरह (चुपचाप) (मेरी) दृष्टि में उभर आए — और लगा कि सब अस्तव्यस्त हो गया।'[१] जिस उत्स के चारों ओर मरुद्गण का नृत्य और संगीत हो रहा होता है, वह 'वसु' अथवा ज्योति का उत्स है,[२] 'मधु' अथवा आनन्द[३] का उत्स है। जो विष्णु के परम पद में अथवा देवताओं के परम सधस्थ में है।[४] जो आकाश है।[५] जो इन्द्र अथवा सोम है — वे ही 'उत्सो देवो हिरण्ययः'।[६] वह ऐसा कौन-सा उत्स है-जो विश्वजन की प्यास बुझाता है।[७] इन्द्र और सोम का एक ही भाषा में उत्स रूपी हिरण्मय पुरुष के रूप में वर्णन किया गया है। अतएव इन्द्र इस समय सोम्य अर्थात ज्योत्स्नामेदुर (चाँदनी की तरह स्निग्ध) आनन्दमय पुरुष हैं। —

अब वह छन्दोमय संगीत हुआ। **कुभन्यवः** — अनन्य प्रयोग। ? व्युत्पत्ति; तु. इस ऋषि द्वारा ही प्रयुक्त 'उदन्यु' अर्थात जो जल चाहता है (५।५४।२ मरुद्गण, ५७।१)। उसी प्रकार जो 'कुभन्' चाहता है, वह 'कुभन्यु'। कुभन्॥ कुभा ऋकसंहिता में एक नदी का नाम (१०।७५।६) है, आधुनिक नाम काबुल नदी। श्यावाश्व का वर्तमान यह सूक्त एक मरुत सूक्त है, उसके अगले कई सूक्त भी वही हैं। इस सूक्त के अगले सूक्त में वे क्रमशः कई नदियों के नामों का उल्लेख करते हैं: — 'मा वो रसा नितभा कुभा क्रुमुर मा वः सिन्धुर नि रीरमत (कहीं रोक न दे), मा वः परिष्ठात् (कहीं घेर न ले) सरयुः पुरीषिण्य (कुहासे से ढकी) अस्मे इत् सुम्नम् (सोम्य आनन्द) अस्तु वः ५।५३।९। इस ऋचा में क्रमानुसार इन कई नदियों के नाम इस प्रकार हैं — रसा, अनितभा, कुभा, क्रुमु, सिन्धु, सरयु। इनमें रसा आर्यों द्वारा अधिकृत देश के पश्चिमतम छोर पर और सरयु एकदम पूर्वी छोर पर — — जिसका होना इस समय के अयोध्या में बहुत ही सम्भव है, यदि इस नाम की अन्य कोई भी नदी उत्तराखण्ड में न रही हो। सरयु का ऐसा उल्लेख अन्यत्र भी है — (१०।६४।९ टी. १५५४; और भी तु. ४।३०।१८, सरयु के तटवासी दो इन्द्रशत्रु आर्यों का नाम यहाँ पाया जाता है; इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है अवैदिक किन्तु आर्य व्रात्य प्राच्य देशवासी)। 'अनितभा' यह नाम और कहीं भी नहीं मिलता। इस पद में नञ् तत्पुरुष का स्वर है, अतः उसका अर्थ हुआ जो 'इत-भा' अथवा विगत दीप्ति या निष्प्रभ नहीं है। 'कुभा' का अर्थ है जिसकी दीप्ति या आभा क्षीण हो गई है। 'क्रुमु' नदी वर्तमान कुरम् है जो सिन्धु की एक उपनदी कुभा की ही तरह है किन्तु कुभा का उत्स और भी पश्चिम में है। उसके बाद सिन्धु, उसके बाद सरयु — दोनों के बीच वैदिक संस्कृति का विस्तार और प्रतिष्ठा (१०।६४।९)। नदियों का क्रमानुसार विन्यास ध्यातव्य। **रसा** एक दम पश्चिम में जैसे अँधेरे का देश; और सरयु एक दम पूरब में — जैसे उजाले का देश। भौगोलिक रसा का उल्लेख ऋकसंहिता में तीन स्थानों पर है — १।११२।१२, ५।५३।९, १०।७५।६। किन्तु ऋकसंहिता में ही रसा एक रहस्यमय तत्व में परिणत हुई है। रसा विश्वभुवन की सीमा रेखा पर एक अप्रकेत या आच्छन्न, अस्पष्ट धारा है, जिसकी आड़ में पणियों ने गोधन को छिपा रखा था, सरमा ने जिनको खोजने के सिलसिले में उसे तैरकर पार किया (ऋ. १०।१०८।१-२; जैमिनीय ब्राह्मण २।४३५ ...) यह धारा वारुणी रात्रि की तरह एक ओर जिस प्रकार अन्धकारमय है, दूसरी ओर उसी प्रकार प्रकाशमय है।

युद्ध का उन्माद अब नहीं है, घोर रूप धारण करने वाले मरुद्गण इस समय कोमल और मधुर हैं। उनका गर्जन छन्दबद्ध प्रशस्ति के कीर्तन में रूपान्तरित हो गया है। लगता है रात के धुँधले प्रकाश में अभिसारिका की तरह वे सब उस हिरण्मय पुरुष के निकट आए हैं और उनको घेर कर उनका आनन्द-नृत्य शुरू हुआ है। जान पड़ता है कि ठीक इसी दर्शन की छाया भागवतों या कृष्णभक्तों के कल्पित पुरुषोत्तम के रासनृत्य में पड़ी है। यह भावना आध्यात्मिक अनुभव के भी नितान्त अनुकूल है। दिन के प्रकाश में वृत्रघाती संग्राम की मत्तता, और उसके बाद चाँदनी रात में सौम्य-मधुर आनन्द — विश्वनृत्य के यही दो छन्द हैं। इन्द्र नटराज होते हैं और मरुद्गण उनके नृत्यसहचर।[८]

आज भारतवर्ष में इन्द्र विस्मितप्राय हैं। उनके स्थान पर गोपा विष्णु और नटराज शिव जाग्रत हैं। इस देश के जन-मानस में वे युगल सम्राट हैं। किन्तु एक दिन हरि-हर एकाकार थे उस इन्द्र में ही। और वह इन्द्र के साथ विष्णु और वरुण के सायुज्य में उजागर हुआ था। उसके भी मूल में सर्वजीवसामान्य एक नैसर्गिक घटना थी — विश्व के जीवन में दिवा-रात्रि का यह एक काव्य — जो 'मैत्रम् अहः' और वारुणी रात्रि के छन्द में छन्दित है और इन्द्र इस काव्य के 'युवा कविर् अमितौजाः' — अर्थात अमित ओजस्वी नित्य युवा कवि हैं [१५८७]।

देवी रसा हम सब की 'मही माता' (ऋ. ५।४१।१५) हैं, विश्वप्लाविनी सौम्य आनन्द की धारा हैं (९।४१।६; ४।४३।६) उनके भीतर आग पकड़ा देना अर्थात अग्नि-सोम का मिलन करवाना ही सोमयाजी का पुरुषार्थ है (८।७२।१३)। पुराण के अनुसार सात पातालों में रसातल अन्तिम है; किन्तु पाताल शेषनाग की शिरस्थ मणि से दीप्त है। श्यावाश्व के वर्णन में लगता है वे ज्योतिरग्र आर्य के अभियान का एक चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। यात्रा रसा से शुरू हुई किन्तु उनकी विवृति में निश्चय ही मरुद्गण के दुर्धर्ष ज्योति के अभियान का वर्णन है जिसको कोई रोक नहीं सकता। तमोभाग अश्वी की तरह ही यात्रा रसा के अन्धकार से शुरू हुई। तत्पश्चात ज्योतिर्भाग अश्वी की तरह मरुद्गण अनितभा की धूसरता में आ पहुँचे। उसके बाद वे कुभा के प्रकाश-छाया के सङ्गम पर — अर्थात उषा के कूल पर आए। उसके बाद क्रुमु में आए — जहाँ 'कीर्णरश्मि सविता की ज्योति का उत्क्रमण' (नदी का यह नाम इसी रूप में श्लिष्ट है)। उसके बाद सिन्धु के कूल से सरयु तक प्रकाश का प्लावन — मरुद्गण के साथ-साथ ज्योति का निर्झरण (५।५३।९)। कुभा के कूल पर खड़े होकर कल्पना की आँख से देखने पर बहुत दूर स्थित सरयु ज्योति के कुहासे से ढँकी हुई-सी प्रतीत होगी। अतः सरयु पुरीषिणी। श्यावाश्व के मन में इस प्रकार से कुभा धुँधले, अस्पष्ट प्रकाश का प्रतीक है। ऐसा लगता है कि आलोच्य ऋक् के 'कुभन्यु' शब्द में उसकी ध्वनि है। सूक्त के अन्त के मंत्र में 'यमुना', 'गव्य' और 'राधः' शब्द का उल्लेख लक्ष्य करने योग्य है (५।५२।१७, टी १७५०)।[२] तु. ऋ. २।१६।७, ९।७७।४४; गोर ५।४५।८।[३] १०।३०।८, १५४।५।[४] १।१५४।५ तु. ५।४५।८।[५] तु. उत्सं दुहन्ति स्तनयन्तम् अक्षितम् १।६४।६ (८।७।१६), ८।७।१० टी. १६४४८।[६] ८।६१।६, ९।१०७।४।[७] अश्व भि हि श्रवसा (परमा श्रुति द्वारा) ततर्दिथो-त्सं (फोड़ कर निकाला) न कं चिज् जनपानम् अक्षितम् १।११०।५।[८] इन्द्र नृतुः ८।६८।७, ९।२।३, १।१३०।७, २।२२।४, ६।२९।३, ८।२४।९, १२। [१५८७] ऋ. १।११।४।

अब इन्द्र के गुणगत वैशिष्ट्य की दार्शनिक व्याख्या पर विचार करेंगे। उसके पहले यह ध्यान में रखना होगा कि वेद के मंत्रों में वाक् की जो अभिव्यक्ति है, वह काव्य में है, न्याय में नहीं। अतएव उसके दर्शन के मूल में बोधि या अन्तर्दृष्टि है—जो सहज और स्वतःस्फूर्त है और एक समग्र प्रत्यय या प्रतीति का वाहन है। वह विभज्यवादी अथवा विश्लेषणपरक (Analytic) बुद्धि का दर्शन नहीं है। यह बोधि प्रकृति के नियम के अन्तर्गत ही कालक्रम में जब म्लान होने लगती है और आत्मा की कैशोर दृष्टि की स्वच्छता मलिन-सी हो जाती है। तब बुद्धि का आधिपत्य शुरु होता है। सब कुछ को तोड़कर, अलग करके, देखना, सूक्ष्म रूप में देखना बुद्धि का दस्तूर है। उसका दर्शन 'न्याय' (Logical System) है, जिसका स्थान वैदिक मीमांसा में आन्तर अनुभव की श्रुति और स्मृति के परे है। न्याय का एक बड़ा कार्य यह है कि यदि किसी कारणवश बोधिजनित प्रत्यय आच्छन्न अथवा सन्दिग्ध हो जाए तो वह अपनी संवर्तुल दृष्टि एवं वेधशक्ति की सहायता से उसके भीतर अनुप्रवेश करने में सहायता कर सकता है। अब हम इसी उपाय के द्वारा इन्द्र के गुणों के मर्म में प्रवेश करने की चेष्टा करेंगे।

वैदिक ऋषि की दृष्टि में इन्द्र परमपुरुष हैं— इसके बारे में हमने अनेक बार चर्चा की है। परमपुरुष एक परमतत्व का घन विग्रह है। वेदान्त में इसी परमतत्व को 'ब्रह्म' कहा गया है— जिसका बाह्य और आन्तर दो प्रकार का ही अनुभव होता है। ब्रह्मसूत्र में बाह्य अनुभव में ब्रह्म के लक्षण के बारे में बतलाया गया है कि ब्रह्म जगत की सृष्टि, स्थिति एवं लय का कारण है। इस सूत्र की सूचना उपनिषद के एक आदेश में 'तज्जलान्' है अर्थात ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न होता है, ब्रह्म में सब कुछ का प्राणन होता है एवं ब्रह्म में ही सब कुछ का लय [१५६८] — समुद्र के बुदबुद की तरह होता है। समग्र दृष्टि से जगत को देखकर उसके एक उत्स की कल्पना करने की दिशा में ही सभी धर्मों में मनुष्य ने ईश्वर का परिचय प्राप्त किया है। किन्तु जगत के उत्स के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टि का वैशिष्ट्य यही है कि जगत किसी जगद्बाह्य सत्व की कृति नहीं, बल्कि वह जगत के 'अतिष्ठा' किसी पुरुष की विसृष्टि अथवा उत्सारण है।[१] अतएव जगत एवं जगत के कारण में कोई अन्तर नहीं है। इसी लिए 'तज्जलान्' इस सूत्र के साथ-साथ ही भाष्य किया गया, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात ब्रह्म ही सब कुछ हुए हैं। संहिता की भाषा में 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'।[२] विसृष्टि है विभूति अर्थात 'अनेक होना'।[३] वह दार्शनिक की दृष्टि में एक की विभूति है किन्तु कवि की दृष्टि में देवता की विभूति है। →

[१५६८] छा॰ ३।१४।१। [१] तु॰ ऋ॰ १०।८०।१, १२९।६। [२] ८।५८।२, टी॰ २०१२। [३] तु॰ छा॰ ६।२।३; और भी तु॰ जैमिनीयोपनिषद् १।४६।१ ...। [४] इन्द्र ही 'विभूति' हैं तु॰ ऋ॰ ६।१७।४, ८।४९।६, ५०।६, इन्द्र की 'विभूति' तु॰ १।८।९, ३०।५, ६।२१।१; मरुद्गण इन्द्र की 'विभूति' तु॰ १।१६६।११।

और ऋक्संहिता में वह देवता तो इन्द्र ही हैं, जिनका परिचय हमें पहले मिल चुका है। यह विभूति संज्ञा वहाँ एक मात्र इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुई है, यह भी ध्यातव्य है।[४]

सब कुछ होने में परमदेवता की शक्ति का उल्लास है। यही शक्ति उनकी स्वरूपशक्ति है, इसलिए वे 'शचीवः', शचीपति हैं। उनकी शक्ति का प्रकाश प्राण में है। उपनिषद में इसकी प्राञ्जल अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है— 'यह सब जो कुछ गतिशील- यह जगत है यह सब प्राण के भीतर में काँपता है(और काँपते काँपते ही) बाहर आया है। (और ऊपर की ओर) उद्यत हुआ है एक महत् भय वज्र होकर। जिन्होंने यह जाना है वे ही अमृत या अमर होते हैं [१५८८]।' संहिता में इस प्राण का प्रतीक 'अप' अथवा जल का स्रोत, नदी की धारा हुआ है— जिसके साथ इन्द्र का ही सम्बन्ध सर्वापेक्षा घनिष्ठ है। पूरे विश्व में प्राण का स्रोत प्रवाहित हो रहा है, किन्तु उसका एक 'अर्थ' अथवा लक्ष्य है।[१] यह लक्ष्य नदी के पक्ष में जिस प्रकार समुद्र है, उसी प्रकार मनुष्य के पक्ष में सोम्य आनन्द चेतना है[२] जो उसे त्रिदिव या स्वर्ग के ज्योतिर्मय लोक में अमरता प्रदान करेगी।[३] किन्तु वस्तुतः इस लक्ष्य की चेतना इन्द्र की ही है— जो रूप रूप में प्रतिरूप अथवा अन्तर्यामी हुए हैं। जीवन में चेतना का क्रमिक उत्तरण जारी है। मनुष्य के साथ-साथ देवता ही एक परम अर्थ की ओर ऊपर उठते जा रहे हैं— 'देखो पर्वत के एक सानु या शिखर से दूसरे एक सानु पर आरोहण किया उन्होंने, (और) देखा कि उनको करने के लिए कितना शेष है। उस अर्थ या लक्ष्य के सम्बन्ध में इन्द्र ही सचेतन हैं। (परम धाम में) अपने यूथ के साथ वीर्यवर्षी देवता (वहीं तो) काँप रहे हैं।'[४] पर्वत के एक शिखर से दूसरे शिखर पर उठने पर दृष्टि—

[१५८८] क॰ यद् इदं किं च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् महद् भयं वज्रम् उद्यतं य एतद् विदुर् अमृतास् ते भवन्ति २।३।२। यहाँ 'वज्र' शब्द के द्वारा सुस्पष्ट रूप में ही इन्द्र लक्षित हैं। जब वे 'अतिष्ठा' होते हैं तब वे 'महद् भय' होते हैं जिसे ऋक्संहिता में वरुण का 'शुनम्' कहा गया है(२।२८।१०, टी॰ १८८८), और जब वे 'प्रतिष्ठा' होते हैं तब 'उद्यत' हैं। [१] द्र॰ ऋ॰ १।१५८।६, टी॰ १८६१। यह दीर्घतमा के व्यष्टि जीवन की छवि है। समष्टि जीवन की भी यही रीति है। [२] त्वाम् (सोमम्) अच्छा चरामसि तद् इद् अर्थं (वे ही वह अर्थ), **इन्दो** (पूत,(पवित्र), अतएव इन्द्रयोनि में अथवा भ्रूमध्य में स्थित आनन्द, तु॰ बौद्ध तंत्र में 'विरमानन्द' वहाँ ही मदन-दहन अथवा मोहन और प्रज्ञा का उन्मेष होता है; योग में वही मनःस्थान अथवा इन्द्रपद है) त्वे (तुम में ही) न आशसः (आंशसा, आशा) ९।१।५। [३] तु॰ यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः, लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस् तत्र माम् अमृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव, ९।११३।९, तु॰ ८ (टेक में इन्द्र और इन्दु का सहचार लक्षणीय। अगले सूक्त में भी वही है; दोनों सूक्तों में सोमयाग अथवा श्रेष्ठतम वैदिक साधना की फलश्रुति है; और भी तु॰ ८।४८।३। टी॰ १२५० उसके पहले ऋक् में है – 'अन्तश् च प्रागा अदितिर् भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य, इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः' — अन्तर में प्रवेश किया है, अब तुम अदिति होओ, तुम प्रशमित करो देवता की दीप्त ज्वाला (ज्योत्स्ना होकर); हे इन्दु, इन्द्र के सख्य में आनन्दित (यहाँ भी इन्दु और इन्द्र का सहचार, इन्दु अदिति अथवा सर्वात्मभाव का साधन)। [४] यत् सानोः सानुम् आरुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्, तद् इन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिर् एजति १।१०।२। यहाँ सानु से सानु पर आरोहण गेल्डनर के कथनानुसार यजमान का है। किन्तु यह प्रकल्प—

विस्तारित होती है और बृहत् की चेतना या ब्रह्म-बोध जाग्रत होता है। वही जीव का परमार्थ है। उपनिषद् में इसी परमार्थ के विषय में कहा गया है कि परम देवता ने कवि और मनीषी रूप में शाश्वत काल से जहाँ जिस प्रकार का प्रयोजन है ठीक उसी प्रकार के अर्थ का विधान कर रखा है।[५] देवता अथवा चेतना के इसी उत्तरण का विवरण एक और स्थान पर इस रूप में प्राप्त होता है— शुद्ध आनन्द का उपचार लेकर मनुष्य देवता का आह्वान करता है; 'यह आनन्द अथवा यह देवता उसके ही ध्यान में हिल्लोल के रूप में प्रकट हुए थे— पर्वतों की गुफाओं में एवं नदियों के सङ्गम पर। उस सानु या शिखर से नीचे की ओर एकटक देख रहे हैं वे समुद्र को, और उसी स्थान से हिलते-डुलते काँप रहे हैं वे।'[६] प्रथम ऋक् में चेतना के उत्तरण की छवि है और अगली ऋचा में शक्तिपात का चित्रण है। हम दोनों स्थितियों में देख सकते हैं कि देवता अपनी लोकोत्तर स्थिति में मानो एक हिल्लोलित शक्ति के समुद्र हैं। किन्तु इस शक्ति का उल्लास अर्थहीन नहीं, निर्हेतु या अशुभङ्कर नहीं।

इन्द्र के परमदेवता होने पर भी संहिता में उनकी इस स्वतन्त्र अथवा अपरिमेय शक्ति का पक्ष विकसित हुआ है। दार्शनिकों की दृष्टि में वे सगुण ब्रह्म हैं। मुनिपंथ के प्रभाव में इस प्रकार का एक आरोप इन्द्र के ऊपर लगा था, जिसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। →

ऋक्संहिता का कहीं भी नहीं है बल्कि उसके सर्वत्र सानु के साथ सम्बन्ध देवता का है। ठीक इस स्थान की भावना की सुस्पष्ट ध्वनि इस मंत्र में है:- 'अतिविद्धा विथुरेणा चिद् अस्त्रा त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम्, न तद् देवो न मर्त्यस् तुतुर्याद् यानि प्रवृद्धो वृषभश् चकार'— आनन फानन तोड़ते-फोड़ते उस धनुर्धर (इन्द्र) ने पर्वतों के क्रमानुसार सटे हुए इक्कीस शिखरों को विद्ध किया— वह न देवता न मनुष्य के वश का कार्य है, जिसे शक्तिसम्पन्न होकर वीर्यवर्षी देवता ने सम्पन्न किया (८।९६।२; तु. ७७।६, तैसं. ६।२।४।२)। मनुष्य का परमार्थ इक्कीस सानुओं (शिखरों) के उस पार छिपा हुआ है; वज्रहस्त देवता विद्युत की गति से उनके प्रत्येक आवरण को विद्ध करते जा रहे हैं। साधना के सात पर्वों या सोपानों का प्रसङ्ग पहले अनेक स्थानों पर हमें प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार ज्योति के सात धाम हैं, उसी प्रकार उनके साथ तमिस्रा के भी सात आवरण जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में है — देह, प्राण एवं मन में है। जिसके कारण सप्तअविद्या (तु. ऋ. १०।८९।२) त्रिगुणित होकर विद्या के इक्कीस सानु के (आलोक धेनु के इक्कीस नाम ४।१।१६, टी. १३२०७) साथ और इक्कीस सानुओं (शिखरों) का क्रम जुड़ा है — जिनको सामान्यतः वृत्र का सानु कहा गया है (१।३२।७, ६।३७।२, १।८०।५, ६)। चेतना की उच्च भूमि पर भी असुर की माया है जिसको ब्राह्मण में उसका हिरण्मय पुर कहा जाता है (तु. उपनिषद् का हिरण्मय पात्र - ईशोपनिषद् १५)। निरुक्त में 'सानु समुच्छ्रितं भवति समुन्नुन्नं भवति (२।२४); <√ सन् 'पाना' अर्जन करना, पहुँचना'। मौलिक अर्थ 'पहाड़ की चोटी' है ६।६१।२, १।११७।१६, इन्द्र-विष्णु- 'या सानुनि पर्वतानाम् अदाभ्या महस् तस्थतुः'— विष्णु जिस प्रकार 'गिरिष्ठाः' हैं, उसी प्रकार इन्द्र भी हैं; वस्तुतः सारे देवता ही वही हैं (१।१५५।१)। पृथिवी से वे द्युलोक की ओर उठकर जाते हैं, इसलिए वे पृथिवी के भी सानु हैं (७।३६।१, १।६२।५, १०।७५।२, २।३१।२, ६।४८।५ टी. १३४८६, ७।६३।२७, ७७।४...)। पहाड़ की चोटी पर उठ कर लगता है और भी ऊपर में उठा जा सकता है, →

किन्तु वैदिक ऋषि के मन में सगुण-निर्गुण में कोई भी विवाद और विरोध नहीं। उनकी पुरुष की भावना एक अखण्ड निरवोट प्रतीति है जिसे पूर्णप्रज्ञ दार्शनिक ब्रह्म का नाम देंगे – जिसकी उपमा देते हुए श्री रामकृष्ण देव ने कहा है कि 'गूदा, बीज और कड़े छिलके को लेकर एक पूरा बेल होता है, नहीं तो वज़न में कम हो जाएगा।' इस दृष्टि से वैदिक ऋषियों की इन्द्रभावना पौराणिक शक्ति-भावना की सजातीय है। सप्तशती आद्यन्त देवासुर-संग्राम का एक तत्वनिष्ठ विवरण है – या फिर कहा जा सकता है कि इन्द्र के द्वारा वृत्रवध का ही यह एक संहत एवं बहुरंगा चित्र है। प्रथम चरित्र में देवी नेपथ्य में रहने पर भी मध्यम एवं उत्तम चरित्र में इन्द्र की तरह ही युयुत्सु रूप में अत्यन्त प्रकट हैं। उनकी इस शक्ति का उल्लास अवश्य प्रपञ्च में अर्थात कर्म और गुण के लीलायन में है। किन्तु ऐसी स्थिति में कोई एक शाक्त एक क्षण के लिए भी कल्पना नहीं कर सकते कि उनकी देवी ने इस युद्ध के ताण्डव की मर्यादा का उल्लंघन किया अर्थात वे सगुणा ही हैं निर्गुणा नहीं। बृहदुक्थ वामदेव्य ने जिस प्रकार इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा था, उसी प्रकार वे भी देवी को सम्बोधित करते हुए →

उसी से द्युलोक के सानु की कल्पना (तु. दिवो बृहतः सानु १।५४।४, ४।४५।१, ५।५९।७, ६०।२, ६।७।६, ८।१६।७, ८६।९, १०।६२।९, ७०।५, ११८।२)। वही चेतना का परम धाम है। एक सानु से और एक सानु पर आरोहण करके वहाँ पहुँचा जा सकता है (१।१०।२, २।३।७, ८।९६।२, १।१२८।३)। अध्यात्म दृष्टि में सानु मूर्द्धा है। याज्ञिकों की दृष्टि में अग्नि का अधिष्ठान पृथिवी के सानु - अथवा उत्तरवेदि में है (३।५।३ सायण, स्कन्द; तु. ५।१४६।२, ६।४८।५ ...)। और सोम का अधिष्ठान है 'अव्यय सानु' में, मेषलोम की चलनी ही 'सानु' अर्थात सुषुम्नानाड़ी तंत्र वाहित सौम्य आनन्द की धारा ऊपर की होकर प्रवाहित होकर जहाँ पहुँचती है, वहाँ ही सानु है (तु. 'स त्रितस्याऽधि ['त्रित' अति प्राचीन ऋषि, सोमयाजियों के आदर्श] सानवि पवमानो अरोचयत जामिभिः [सहजात वृत्तियों के] सूर्यं सह ९।३७।४)। अग्नि और सोम के सानु में आरोहण की आध्यात्मिक व्यञ्जना सुस्पष्ट है : माथे में अग्नि के न उठने से (तु. मुण्डकोपनिषद् 'क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः, तेषाम् एवैताम् ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं ['शिरस्य्‌अग्निधारण लक्षणम्' - शङ्कर] विधिवद् यैस् तु चीर्णम् ३।२।१०) परम ज्ञान अथवा परमानन्द प्राप्त नहीं होता। पवमान सोम की धारा उपासक के सानु में सूर्य को प्रकाशित कर देती है (ऋ. ९।३७।४); फिर द्युलोक से एवं अन्तरिक्ष से पृथिवी के सानु के ऊपर वह धारा निर्झरित होती है (तु. पवमाना दिवस् पर्यऽन्तरिक्षाद् असृक्षत, पृथिव्या अधि सानवि ९।६३।२७ टी. १५५८०[8]; और भी तु. ९।३१।५, ८६।३, ९।१।१, ९।२।४, ९।६।१२, ९।७।३, १२, १६, १९, ४० ...)। 'तद् अर्थम्' तु. ९।१।५, ७।६३।४ टी. १२०२[1], सर्वत्र 'अर्थ' क्लीव लिङ्ग। अनिर्वचनीयता के ज्ञापक 'तत्' इस सर्वनाम के जुड़ने से परमार्थ का बोध होता है। [5] ई. ८। [6] ऋ. 'उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्, धिया विप्रो (सोम अथवा इन्द्र) अजायत। अतः समुद्रम् उद्वतश् चिकित्वाँ अवपश्यति, यतो विपान (<√विप्, हृदय का हिल्लोल, आलोड़न) एजति (प्राण का कम्पन) ८।६।२८-२९। 'उपह्वर' कन्दरा, गुफा <√ह्वृ ॥ टेढ़े होकर चलना; तु. 'व्रज' अथवा घेर, परिधि। 'नदीनां संगथः' तु. अन्तः समुद्रे हृद्यन्तर आयुषि, अपाम् अनीके समिथे य आभृतस् तम् अश्याम मधुमन्तम् ऊर्मिम् ४।५८।११ टी. १२५६[4]। 'उपह्वर' एवं 'संगथ' (संगम) दोनों ही योग की ग्रन्थि अथवा चक्र के बोधक हैं। →

कहेंगे कि 'वे सब जिसे युद्ध कहते हैं, वह तो तुम्हारी माया है। नहीं तो किसी समय तुम्हारा शत्रु क्या कोई था? पूर्ववर्ती किसी भी ऋषि ने तुम्हारी महिमा का अन्त पाया है क्या [2000]?' भागवतजनों के वासुदेव कृष्ण के सम्बन्ध में भी यह बात कही जा सकती है। निश्चय ही वे परम पुरुष हैं किन्तु उनका समस्त जीवन युयुत्सु का जीवन है— यहाँ तक कि वृन्दावन में भी; कुरुक्षेत्र की तो बात ही नहीं।

वस्तुतः, परमार्थ तत्व के सम्बन्ध में उपशम एवं उल्लास दोनों ही सत्य हैं। उपशम की विभूति या विशिष्ट रूप चित् और आनन्द तथा प्रज्ञा और प्रेम हैं; और उल्लास की विभूति शक्ति और कर्म है— जिससे प्राण का परिचय प्राप्त होता है। महाभारत काल तक वैदिक धर्म प्राणवन्त था। उसके पश्चात ही अवक्षय शुरु हुआ। वह अवक्षय आज देश को कहाँ तक नीचे उतार लाया है, उसके बारे में हमें होश तक नहीं। पूरे भारतवर्ष भर में आज हम शिव, विष्णु और शक्ति—इन तीन के उपासक हैं। शिव प्रज्ञा है, विष्णु प्रेम है और शक्ति प्राण है। इन तीनों के समन्वय से अखण्ड ब्रह्म की उपलब्धि जीवन की सुष्ठु-सुपुष्ट पूर्णता है। उसके लिए साधना की ज़रूरत है और साधना शक्ति सापेक्ष है। हम शक्ति की भी उपासना करते हैं—किन्तु हमने उसे उल्लास के पक्ष में नहीं बल्कि उपशम के पक्ष में नियोजित किया है। वैदिक ऋषि कहेंगे कि 'तुम सब वरुण और विष्णु की उपासना करते हो, ठीक है, किन्तु उनके साथ इन्द्र के सहचार को भूल गए हो। ओजस्विता के अभाव में तुम सब की पृथिवी ऊसर हो चुकी है, पर्जन्य के धारासार से श्यामल हुई नहीं।' केनोपनिषत के कथनानुसार— 'सभी देवताओं से ऊपर इन्द्र हैं; क्योंकि इन्द्र ने ही सब से अधिक निकट जाकर इसे (रहस्य को) स्पर्श किया है, वे ही इसे सर्वप्रथम जान पाए हैं ब्रह्म के रूप में [2001]।' इस इन्द्र को, इस प्रज्ञात्मा प्राण को पुनः वापस न ले आने से हम सब का जीवन सर्वतोभद्र अथवा सब प्रकार से मंगलमय नहीं होगा।

अब तक के विवेचन में हमें जो जानकारी मिली, वह कुछ इस प्रकार है:—

रूप, गुण कर्म एवं मनुष्य के साथ सम्बन्ध— इन्हें लेकर ही वेद की देवभावना स्पष्ट है। देवता 'पुरुषविध' अर्थात पुरुष की तरह हैं किन्तु उसके बावजूद वे 'अमानव पुरुष' हैं [2002], मगर ग्रीक देवता की तरह पूर्णतः मानव नहीं। उनके रूप का पक्ष बराबर अस्पष्ट है पुरुषविध देवता को सुस्पष्ट पुरुष संज्ञा 'पुरुषसूक्त' में प्राप्त हुई है। →

इसके अगले मंत्र में ही परम सिद्धि का सुप्रसिद्ध वर्णन है— 'आदित् प्रत्नस्य रेतसो' (प्रथम वीर्य का, तु. 10।129।4, अतएव परम देवता नित्य समर्थ, वैष्णव की सन्ध्या भाषा में निरन्तर कामक्रीड़ा जिनका चरित' है, लक्षणीय. यह इन्द्र सूक्त है अतएव 'प्रत्न रेतः' इन्द्र वीर्य) ज्योतिष पश्यन्ति वासरम् (दीप्तिमान) परो यद् इध्यते (दिपता है) दिवा'। इस तृच में इन्द्र और सोम एकात्म, एकरूप हैं।

[2000] ऋ. 10।54।2-3 टी. 1523। [2001] केनोपनिषद् 4।3।

[2002] तु. छा. 4।15।5, 5।10।2; बृ. पुरुषो (ऽ) मानसः 6।2।15।

किन्तु यह पुरुष सांख्य का 'केवल' पुरुष अथवा भागवत का 'उत्तम' पुरुष नहीं - बल्कि दोनों के बीच का है। संहिता की भाषा में वे 'विश्वरूप' हैं और इस संज्ञा की विवृति हमें विशेष रूप से इन्द्र के प्रसङ्ग में प्राप्त होती है।

पुरुष विश्व की प्रतिष्ठा एवं अतिष्ठा दोनों ही हैं [२००३]। यह प्रतिष्ठा-तत्व मिथुन या युग्म में या फिर त्रिपुटी में व्यक्त हुआ है। देवता एवं देवपत्नी में हम मिथुन पाते हैं और पिता-माता एवं पुत्र की भावना में त्रिपुटी।[१] दोनों में ही देवता विश्वरूप हैं अर्थात वे ही यह सब कुछ हुए हैं।

किन्तु विश्वरूप होने पर भी वे फिर विश्वातीत भी हैं। इन्द्र की विश्वातीतता की ओर जब संकेत होता है तब वे वरुण के सहचर हैं और विश्वरूपता की ओर संकेत होने पर वे विष्णु के सहचर होते हैं। उस समय इन्द्र विशेष रूप से 'गोपति', एवं 'नृतु' हैं।

संहिता के पुरुष को उपनिषद में ब्रह्म की संज्ञा प्राप्त हुई। उपनिषद में ही उनका परिचय 'औपनिषद पुरुष' के रूप में है। वे आन्तर अनुभव के विषय हैं। उस अनुभव में वे जिस प्रकार 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्'[१] हैं फिर उसी प्रकार समस्त आनन्द से ऊपर एक परम 'आनन्द' हैं।[२] 'सच्चिदानन्द' नव्यवेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। वे इस विश्व के जन्म, स्थिति और लय के हेतु हैं। यह उनका तटस्थ लक्षण है। उपनिषद में इस भावना का सूचक महावाक्य 'तज्जलान्' हुआ।[३] उसके पहले ही है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। संहिता में अनुरूप महावाक्य है 'पुरुष एवेदं सर्वम्',[४] 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'।[५] पुनः 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'[६], 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस् तन्वं परि स्वाम्'[७] इत्यादि।

अतएव वेद में इन्द्र परमपुरुष हैं, इन्द्र ब्रह्म हैं। आधिदैविक दृष्टि में वे पुरुष हैं, वे विश्वरूप एवं विश्वभू हैं; आध्यात्मिक दृष्टि में वे ब्रह्म हैं। ऋग्वेद की दोनों उपनिषदों में ही इन्द्र का आध्यात्मिक परिचय अत्यन्त स्पष्ट है। ऐतरेय के अनुसार, 'स एतम् एव ब्रह्म ततमम् अपश्यत्... तम् इन्द्र इत्याचक्षते', अर्थात इन्द्र सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी ब्रह्म-पुरुष हैं [२००५]। फिर कौषीतकि में इन्द्र कहते हैं, 'मैं अपने विज्ञान को ही मनुष्य के पक्ष में सब से अधिक हितकारी समझता हूँ।... मैं प्रज्ञात्मक प्राण हूँ। आयु एवं अमृत रूप में मेरी उपासना करोगे... यह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द होता है, जो अजर एवं अमर है।'[१] इसी प्रसङ्ग में इन्द्र को सत्यस्वरूप भी कहा गया है।[२] →

[२००३] द्र. ऋ. १०।९०।१। [१] मिथुन (युग्म) ३।६।९ (टी. १२८१); १।२२।१२, २।३२।८; त्रिपुटी (त्रिक): १।८९।१० (टी. ११८९)।

[२००४] बृ. स यस्तान् पुरुषान् निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ३।९।२६। तु. छा. शान्तिपाठ 'सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्'; यहाँ संहिता के ब्रह्म में और उपनिषद के ब्रह्म में पार्थक्य की सूचना है — संहिता में ब्रह्म वाक् एवं प्रज्ञान; किन्तु उपनिषद में प्रज्ञान है। [१] तै.उ. २।१।३। [२] तै.उ. २।८।१-४। छा. ३।१४।१। [४] ऋ. १०।९०।२। [५] ८।५८।२। [६] ६।४७।१८। [७] ३।५३।८

[२००५] ऐ.उ. १।३।१३-१४। [१] कौ. ३।१, २।८। [२] कौ. सत्यं हीन्द्रः ३।१। [३] ऐ.उ. ३।१।३। —

ऐतरेय में ब्रह्म का स्वरूप लक्षण 'प्रज्ञान' है।[3] अतः इन्द्र भी 'प्रज्ञान' है।[4] संक्षेप में दोनों उपनिषदों में हम देखते हैं कि इन्द्र-सत्य प्रज्ञा, आनन्द और प्राणरूप में एक सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, अजर-अमृत तत्व है। तैत्तिरीयोपनिषद में ब्रह्म का भी यही लक्षण है — वहाँ केवल 'प्राण' अनुमेय है।

कौषीतकि में इन्द्र मुख्यतः प्रज्ञा एवं प्राण हैं तथा ऐतरेय में भी वही हैं। प्रज्ञान की व्याख्या करते हुए ऐतरेय का कथन है — 'एष (यह प्रज्ञान) ब्रह्मा, एष इन्द्र, एष प्रजापतिः, एते सर्वे देवाः, इमानि च पञ्चभूतानि' इत्यादि [२००६]। अन्त में है 'प्रज्ञानं ब्रह्म'। अतएव प्रज्ञान ब्रह्मा एवं ब्रह्म दोनों ही है। पुंलिङ्ग 'ब्रह्मा' शब्द पुरुषवाची है और 'ब्रह्म' शब्द तत्वावाची है, जिसका संकेत निर्विशेषत्व की ओर है। ऐतरेय के ब्रह्मा अधियज्ञ दृष्टि में सोमयाग के अध्यक्ष ऋत्विक् श्रेष्ठ पुरुष हैं, फिर अधिदैवत एवं अध्यात्म दृष्टि में औपनिषद पुरुष हैं जिनको हम संहिता में पुरुषसूक्त के पुरुष रूप में पाते हैं। ये जिस प्रकार 'पुरुष' — उसी प्रकार 'प्रजापति', फिर 'इन्द्र' भी हैं। प्रजापति और इन्द्र ब्रह्म-पुरुष के ही दो रूप हैं। तत्वतः तीनों ही एक हैं। लक्ष्य करने योग्य है कि एक ही तत्व को संहिता में 'इन्द्र', ब्राह्मण में 'प्रजापति' और उपनिषद में 'पुरुष' संज्ञा प्राप्त हुई है। अर्थात संहिता में जो विशेष की भावना थी, वह उपनिषद में आकर सामान्य भावना में पर्यवसित हो गई। जिस प्रकार विशेष भावना आधिदैविक दृष्टि के अनुकूल है, उसी प्रकार सामान्य भावना आध्यात्मिक दृष्टि के अनुकूल है। उसी कारण से संहिता में जो इन्द्र हैं, वे ही उपनिषद में ब्रह्म-पुरुष अथवा प्रज्ञान हैं और प्रजापति दोनों के मध्य में सेतु हैं।[2] किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि में सभी प्रज्ञान है। और यह आध्यात्मिक दृष्टि संहिता में नहीं थी, उपनिषद में कालान्तर में दृष्टिगोचर हुई — यह परिकल्पना अश्रद्धेय है। तो फिर संहिता में बृहद्दिव स्वयं को इस प्रकार उच्चकण्ठ से इन्द्र रूप में घोषणा नहीं कर पाते।[3]

उपनिषद की यह आध्यात्मिक दृष्टि ही दार्शनिक भावना का उत्स है — जो मीमांसा में घनीभूत एवं रूपायित हुई है। ब्रह्म सत्, चित् आनन्द हैं और माया उनकी शक्ति है — ब्रह्म के इस लक्षण से हम सब सुपरिचित हैं। ब्रह्ममीमांसा के आरम्भ में ही ब्रह्म की मुख्य परिचायक इन संज्ञाओं का परिचय है — किन्तु अन्य रूप में। उपनिषद में ये सब क्रमानुसार आकाश, ज्योति, आनन्द एवं प्राण हैं [२००७]।

[२००६] ऐउ. ३।१।३। [1] द्र. ऐउ. ३।१।३। [2] शौ. प्रजापतिश् चरति गर्भे अन्तर् अदृश्य मानो बहुधा वि जायते, अर्धेन विश्वं भुवनं जजान (जन्म दिया है) यद् अस्य अर्धं (अर्थात 'परार्ध') कतमः स केतुः (कहाँ उसका निशान) १०।८।१३ (तु. मा. ३१।१९, प्रश्नोपनिषद २।७)। [3] ऋ. १०।१२०।९, टी. १२१८[2]।

[२००७] द्र. ब्रसू. १।१।२२, २४, १२, २३ (२८)। उसके ऊपर वे आदित्यपुरुष एवं अक्षि पुरुष (२०)। आदित्य पुरुष अधिदैवत, अक्षिपुरुष अध्यात्म। ऋक् संहिता में प्रेति के समय पुरुष के चक्षु का सूर्य में जाने का उल्लेख है क्योंकि इस चक्षु की ज्योति उसी चक्षु से ही आई थी (१०।१६।३, टी. १२१५[3]; और भी द्र. सूर्य चक्षुर् —→

यह तो प्रमुख देवताओं का सामान्य परिचय है, यह पहले ही हम बतला चुके हैं।[1] इसका आधिज्योतिष आधार सूर्योदय है— ऋक्-संहिता में कुत्स आङ्गिरस के दो मंत्रों में जिसका सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।[2] सूर्योदय के समय प्रकाश के निकट अन्धकार का पराभव होता है। इन्द्र के वृत्रवध में भी वही होता है। तब इन्द्र आदित्य हैं। उपनिषद् की भाषा में वे एक हिरण्मय पुरुष हैं जिनके पीछे प्रशान्त आकाश की परः कृष्ण नीलिमा है और सामने सहस्र रश्मि की शुक्ल विभा है। ये आदित्यवर्ण पुरुष ही सौम्य आनन्द के उत्स एवं अमृत प्राण के निर्झर हैं। विश्व रूप इस देवता को बुद्धिस्थ करके अब संहिता में इन्द्र के गुण-बोधक विशेषणों का विवेचन करते हैं। विवेचन में; ब्रह्म, सत् चित्, आनन्द एवं प्राण— औपनिषद भावना के इस क्रम के अनुसार वर्गीकरण कर लेने से हमें आशा है यह विषय सहज-बोध्य होगा।

वैदिक अद्वैतवाद की आलोचना करते हुए हमने देखा है कि वेद में निर्विशेष परमतत्व का जो परिचय प्राप्त हुआ, वह 'एकं सत्' है— [२००८]। ऋषि दीर्घतमा के मंत्र-वर्णन में हम पाते हैं कि उस 'एकं सत्' को ही विप्रों अथवा मेधावियों ने अनेक रूपों में व्यक्त किया है— जैसे इन्द्र, मित्र वरुण अथवा अग्नि इत्यादि के रूप में।[1] यहाँ इन्द्र 'एकं सत्' हैं— यह सामान्य वचन है। भावना के सर्वोच्च शिखर पर जिस किसी भी देवता का निर्विशेष दृष्टि से 'एकं सत्' रूप में अनुभव हो सकता है। इस दृष्टि से इन्द्र 'एकं सत्' की विभूति हैं। किन्तु इन्द्र को स्वरूपतः 'सत्' रूप में ऋषि विशोक काण्व ने अपने भावगम्भीर इन दो मंत्रों में इस प्रकार सम्बोधित किया है— 'और तुम सत्स्वरूप हो। तुम बहरे नहीं हो, तुम्हारे कान (सब) सुनते हैं, बहुत दूर से हम सब तुमको यहाँ बुलाते हैं— इसलिए कि हम सब की रक्षा करोगे। यदि तुम सुन पाते हो यह पुकार तो (हम सब) उसे आसानी से भुला नहीं पाएँगे, तुम अवश्य वही करो। हम सब के आत्मीय होओ, अन्तरंग सुहृद, बन्धु होओ।'[2] यहाँ इन्द्र सत्स्वरूप सर्वव्यापी एवं सर्वान्तर्यामी हैं। उपासक का आवाहन सुनने के लिए उनके कान खुले ही रहते हैं। जिस रूप में वे उस आह्वान का उत्तर देते हैं, वह भुलाया नहीं जा सकता। लगता है, लोकोत्तर से वे यहाँ इस हृदयगुहा में बन्धु रूप में उतर आते हैं। —>

मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' १।११५।१)। इससे इस पुरुष और उस पुरुष की अभिन्नता सिद्ध होती है (तु. तैउ. २।८।५)। १ द्र. वेमी. द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ४८५–४८६। २ ऋ. १।११३।१६, ११५।१। [२००८] द्र. वेमी. द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ५२८...। १ ऋ. १।१६४।४६। २ उत त्वाबधिरं वयं श्रुतकर्णं सन्तम् ऊतये, दूराद् इह हवामहे। यच्छुश्रूया इमं हवं दुर्मर्षं चक्रिया उत। भवेर् आपिर् नो अन्तमः ८।४५।१७-१८। श्रुतकर्ण तु. इन्द्र ७।३२।५; आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् १।१०।९; अग्नि १।४४।१३, श्रुतकर्णं सप्रथस्तमम् १।४५।७ (१०।१४०।६)। अग्नि साधना के आरम्भ में और इन्द्र आदित्य के रूप में अन्त में। 'दूरात्' लोकोत्तर से; 'इह' आध्यात्मिक दृष्टि से इस आधार में। तु. ई. तद् दूरे तद्वन्तिके ५। इस 'दूर' की पारिभाषिक संज्ञा 'परावत्'; तु. —>

इन्द्र को 'सत्' के रूप में घोषणा करने का एक कारण है। पहले भी हम बतला चुके हैं कि जो 'अदेव' अतएव 'अयज्ञ' थे उनकी नास्तिकता के मुख्य लक्ष्य इन्द्र थे, इसलिए उनका एक और नाम 'अनिन्द्र' था। वे सब 'नेन्द्रं देवम् अमंसत' अर्थात् इन्द्र को परमदेवता के रूप में स्वीकार नहीं करते बल्कि सीधे ही वे आँखें तरेरते हुए प्रश्न करते 'कुह सः' — कहाँ है तुम्हारा इन्द्र ? फिर कहते 'नैषा अस्ति' — वह तो नहीं है [२००८]। ऋक्संहिता में यह एक पूरा सूक्त ही इन अनिन्द्रों के तर्क के उत्तर में ऋषि कवि गृत्समद का ज्वलन्त प्रतिभाषण है। निश्चय ही उसमें उन्होंने देवता का आस्तित्व प्रमाणित करना चाहा है किन्तु तर्क के द्वारा नहीं। बल्कि देवमहिमा के प्रति नास्तिकों की दृष्टि आकर्षित करते हुए ऋषि कहते हैं कि यह जिनकी महिमा है, 'स जनास इन्द्रः' — हे जनगण वे ही इन्द्र हैं, 'श्रद् अस्मै धत्त' तुम सब इनके प्रति श्रद्धावान् होओ।[१] वास्तविक देवता का अस्तित्व अतर्क्य है, अनिर्वचनीय है, वह केवल श्रद्धा और बुद्धि की गोचरता अथवा निष्पक्ष अनुभव का विषय है। और वह श्रद्धा हृदय की आकूति से जागती है,[२] नचिकेता के किशोर-चित्त में अलख, अदृश्य देवता के आवेश से उजागर होती है।[३] महिमबोध उसका प्रयोक्ता या प्रयोजक है। देवता की महिमा अथवा महिममय आलोक पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में और आकाश की अनिबाधता में प्रसारित है और मनुष्य के हृदय में उनकी प्रेरणा से, तथा अदिव्य शक्ति पर दिव्य शक्ति की विजय से उद्भासित होता है।[४] बाहर बृहत् का चिन्मय प्रत्यक्ष और अन्तर में एक तिमिर विदारक सूर्योदय— वैदिक ऋषि के निकट देवता के अस्तित्व का केवल यही प्रमापक या मापदण्ड है।

गृत्समद के प्रतिभाषण का अन्तिम मंत्र ध्यातव्य है। इतनी देर तक ऋषि श्रद्धादीप्त हृदय के आवेग के साथ विरोधियों से बात कर रहे थे। इसबार अकस्मात् उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई। वहाँ अन्तर में देवता का दर्शन पाकर वे दृप्तकंठ से बोल पड़े,— '(तुम्हारे लिए) जो सवन करता है, जो अन्न पकाता है, उसके होकर जो दुर्धर्ष तुम (पाषाण) विदीर्ण करके ले आते हो व्रज-तेज, वह तुम ही तो हो सत्य। हम सब हे इन्द्र, सर्वदा तुम्हारे प्रिय पात्र होकर सुवीर्य या वीरपुत्र होकर इस संवित् की साधना अथवा सचेतनता को घोषित कर सकें [२०१०]।' इन्द्र 'सत्' ना 'असत्' इस वितर्क का पर्यवसान इसी दृढ़ घोषणा के माध्यम से हुआ कि वे सत्य हैं। ऋक्संहिता में →

'उद्वत्' निवत्। **दुर्मर्ष** < दुर् √मृष 'सहन करना' 'भूल जाना' 'कर्म' अनुमेय; तु. दुर्मर्षं वाणम् (बाँसुरी का स्वर) ७।८७।८, दुर्मषम् आयुः (अग्नि का तारुण्य) १०।४५।८। 'चक्रियाः' < कृ 'करना' (आशीर्लिङ्) करो। 'अन्तम' < अन्ततम, ध्वनि सादृश्य के कारण वर्णलोप 'सबसे अधिक निकट का'।

[२००८] द्र. ऋ. १०।८६।१, २।१२।५; वेमी. द्वितीय खण्ड. टीमू. ११८७[२]। [१] ऋ. २।१२।५। २१०।१५१।४। [३] क. १।१।२। [४] ऋ. २।१२।२, ६, ७, ८, ११...।

[२०१०] ऋ. यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किला सि सत्यः, वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथम् आ वदेम २।१२।१५। द्र. टी. १८८२। देवता के निमित्त →

यह विशेषण इन्द्र के प्रसङ्ग में बहुप्रयुक्त है।[1] परमतत्व 'सत्' और परम देवता 'सत्य' — इन दोनों विशेषणों के प्रयोग में यह भेद लक्ष्य करने योग्य है।

इन्द्र जिस प्रकार सत्य हैं, उसी प्रकार उनका करण या कारण अथवा कार्य सत्य है [2011]। गृत्समद के इस एक सूक्त में इन कार्यों की एक तालिका है, जिसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।[1] सत्य देवता के सत्यकर्म के मूल में सोमपान की मत्तता है। पवमान सोम परिपूत या विशुद्ध होने से 'इन्दु' होता है। गृत्समद बतलाते हैं कि यह इन्दु भी सत्य है एवं इन्द्र के साथ सत्य इन्दु का शाश्वत सम्बन्ध है।[2] फिर वे 'वसु' अथवा उषा की ज्योति के 'सत्य' सम्राट हैं। उसके ही द्वारा वे अन्धकार के आवरण को निर्जित या पराजित करके पूर्णताकामी पुरुष के लिए एक महावैपुल्य की रचना करते हैं,[3] और आधार को ज्योतिर्मय कर देते हैं[4] — वेदान्त में जिनकी सुपरिचित संज्ञा सच्चिदानन्द है।

पुनः इन्द्र 'सत्य' सत्वा अर्थात जो सब के पति, स्वामी हैं, वीर्यधार एवं वीर्यवर्षी वृषभ हैं, विचित्र है जिनकी माया, जो उत्साहस में सब को पराजित करने वाले, सर्वजित हैं [2012]। 'सत्य सत्वा' यह पदगुच्छ —

गव्य पदार्थ, शस्यजात द्रव्य, पशुमांस एवं सोमरस दिया जा सकता है। ये हव्य प्रतीकात्मक हैं। तु. तंत्र के मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा। **विदथ** <√विद् 'जानना', 'पाना' विद्या की साधना, संवित की साधना, तु. 'का स्वित् तत्र यजमानस्य संवित्' ८।५८।१; 'सुभद्रा संवित्' (मेलजोल) १०।१०।१४। विदथ या विद्या की साधना में पारदर्शी ब्रह्मविद् ब्रह्मा, क्योंकि वे ही 'वदति जातविद्याम्' अर्थात सब विद्याओं के प्रवक्ता हैं १०।७१।११। यही 'विदथ' — जिसका परिणाम 'सुभद्रा संवित्' है, उसके साथ तुलनीय तंत्र का पञ्चम मकार मैथुन। और भी तु. शिव-शक्ति की युगनद्धता एवं सामरस्य; बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य द्वारा वर्णित 'सम्परिष्वङ्ग', जिसका फल 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' इसी प्रकार 'विदथ' अथवा 'सुभद्रा संवित' (४।३।२१)।

[1] ऋ. १।२९।१, ६३।३, १७४।१, २।५२।५५, १५।१. २२।१-३, ४।२२।१०, ६।२२।१, ४५।१० ८।२।३६, १६।८, ९३।२, ४, ९२।१८, ९८।५, १०।४७।४, ८।४०।१०। [2] द्र. १।१६४।४६, १०।५।७, ७२।२, ३, १२९।१, ४।

[2011] ऋ. २।१५।१। [1] द्र. टीमू. १८।४ ...। [2] ऋ. २।२२।१-३। [3] एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड् ढन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः ४।२१।१०। **वसु** निघण्टु में 'धन' (२।१०), बहुवचन में रश्मि (१।५) अथवा द्युस्थान देवता (५।६) <√वस 'प्रकाश देना' (तु. 'वासर' दिन, नि. १।७; 'विवस्वान्' सूर्य का प्राचीन नाम; ॥ उषस्)। आलोक या प्रकाश अर्थ ही मुख्य है, 'धन' अर्थ गौण है। इन्द्र आदित्य हैं, इसलिए 'वसु' के सम्राट हैं। सत्य आलोक का साम्राज्य जिस प्रकार दिन में, उसी प्रकार रात में एवं दोनों को पार करके रहता है। उसी से निघण्टु में रात्रि भी 'वस्वी' (१।७) साम्राज्य सिद्धि सोमयाग के तृतीय अथवा सायन्तन या सायं-कालीन सवन के पश्चात् (छा. २।२४।१२)। उस समय चेतना दिन-रात 'अतमः' (तु. श्वे. ४।१८; तु. क. २।२।१५)। **वृत्र** एवं **वरिवस्** दोनों के मूल में एक ही 'वृ' धातु है किन्तु अर्थ की व्यञ्जना क्रमानुसार सङ्कोच (सिकुड़न) में एवं प्रसार (फैलाव) में है जिस प्रकार यम् धातु के सन्दर्भ में। वरिवस् ॥ वरुण, तु. पुरुष 'भूमिं विश्वतो वृत्वा' (ऋ. १०।९०।१)। **पूरु** निघ. 'मनुष्य' (२।३) बहुवचन में; वैदिक जाति (कौम) वर्ण तु. १।१०८।८ (वहाँ 'यदु', 'तुर्वश', 'द्रुह्यु', एवं 'अनु' का उल्लेख है); जाति के आदिपुरुष तु. ७।१८।१३। <√पृ 'भरना' मौलिक अर्थ 'पूर्ण', उससे सामान्य वचन में 'पूर्णता का साधक'। 'आवः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्' ७।१९।३, सरस्वती के तट पर 'अधिक्षियन्ति पूरवः' ७।९६।२ — दोनों स्थलों पर सुस्पष्ट आध्यात्मिक व्यञ्जना द्रष्टव्य। 'पूरु' > 'पूरुष' <√पृ + √वस् ॥ उष्, 'जो आलोक से पूर्ण' है। वर्तमान मंत्र का भावार्थ भी यही है। [4] तु. तैउ. १।१, २।८।

इन्द्र के प्रसङ्ग में और भी पाया जाता है।[१] सद् धातु से 'सत्वा' अर्थात 'निषण्ण' का बोध होता है, अतएव स्थिर, दृढ़।[२] गौतम वामदेव इन्द्र से प्रश्न करते हैं, तुम्हारी 'निषत्ति' किस प्रकार है?[३] अर्थात आधार की गहराई में तुम किस तरह आसन मार कर बैठते हो? देवता के इस गहरे आवेश में ही वे हम सब के भीतर सत्य हो उठते हैं। फिर अश्वारोहण के अनुषङ्ग की स्थिति में 'सत्वा' संज्ञा के साथ ओजस्विता की भावना जुड़ी हुई है। इसलिए इन्द्र अगस्त्य मैत्रावरुणि के निकट 'सत्वा' ... 'शूरो ...रथेष्ठाः प्रतीचश् चिद् योधीयान् ... ववव्रुषश् चित् तमसो विहन्ता' — सत्वा एवं शूर, रथ पर सवार होकर वे जिस प्रकार विरोधियों के साथ युद्ध करते हुए चलते हैं, उस प्रकार और किसी के द्वारा सम्भव नहीं, वे सर्वव्यापी अन्धकार के विघातक हैं[४] और उसके कारण वे 'सत्वा गवेषणः' हैं अर्थात आलोक सन्धानी 'सत्वा' हैं[५] — उस आलोक के; जिसे पणियों ने प्रस्तर-प्राचीर के अन्तराल में छिपा रखा है।[६] ... ऋक्संहिता में 'सत्वन्' शब्द का अधिकांश प्रयोग इन्द्र से सम्बन्धित—कभी कर्तृवाच्य में या फिर कभी भाववाच्य में किया गया है। भाववाच्य में जिसका अर्थ 'स्थिरांश' होगा। उसके साथ सांख्य के सत्वगुण का सम्बन्ध होना असम्भव नहीं जब विशेष रूप से 'सत्व' के साथ प्रकाश का अनुषङ्ग स्पष्ट दिखता है। स्मरण रहे कि सत्वगुण की भावना भोर के 'तमः' और 'रजः' के पार होने पर सूर्य के प्रकाश फूटने की छवि से आई है।[७] वेद की अधिदैवत दृष्टि सांख्य में अध्यात्म हुई है। तो फिर वेद का 'सत्य सत्वा' इन्द्र पुराण की भाषा में शुद्ध सत्व है। उसके साथ तुलनीय है बौद्ध भावना का 'वज्रसत्व'। ऋक्संहिता के एक स्थान पर इन्द्र को '**सत्यसत्वन्**' इस समस्त पद के द्वारा सम्बोधित करते हुए कहा जा रहा है, 'महोल्लास के लिए इस भयंकर रथ पर तुम आरोहण करो, हे देवता। तुम्हारा पौरुष उच्छलित हो पड़े हे अग्रणी पथिक, चले आओ प्रसाद लेकर मेरे निकट। मैंने तुम को सुना है (हे देवता) अब आगे बढ़कर विचरणशीलों को सुना दो।'[८] यहाँ हम देखते हैं कि —→

[२०१२] ऋ. यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यवान् सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान् ६।२२।१। **वृष्ण्यवत्** जिनके पास है वृष्ण्य अथवा वर्षणशक्ति। ऋक्संहिता में एक बार और मात्र पर्जन्य का विशेषण है ५।८३।२ (तत्र निरुक्त में वर्षणकर्मरतः १०।११)। इन्द्र 'वृष्ण्येभिर् धनस्पृत' (धन अथवा दूरवर्ती लक्ष्य को छीन कर ले आते हैं) ३।४६।२, 'वृषा वृष्ण्येभिः' १।१००।१। 'वृष्ण्य'— जिससे आधार का बाँझपन दूर होता है। इन्द्र 'वृष्ण्य' उनका क्षात्रवीर्य है जिसके साथ 'मनीषा' भी युक्त है, तु. असमं क्षत्रम् असमा मनीषा...महि क्षत्रं स्थविरं वृष्ण्यं च १।५४।८। **पुरुमाय**— जिस माया से वे विश्वरूप हैं (३।५३।८, ६।४७।१८)। [१] द्र. ८।१६।८, ४०।११। [२] तु. संस्कृत 'सादिन्' अश्वारोही; तु. 'सोम शूरो न **सत्वा**' ९।८७।७। [३] का ते निषत्तिः ४।२१।९; उसी से 'उपनिषत्' हृदय में देवता का आवेश। [४] १।१७३।५। 'रथ' यहाँ देवरथ, इन्द्र आदित्य हैं। और भी तु. स युध्मः सत्वा ६।१८।२, इन्द्रो वृत्रं हनिष्ठो अस्तु सत्वा ३।७।५, इन्द्राय पुरुनृम्णाय (पौरुष से उच्छल) सत्वने ८।४५।२१। [५] ७।२०।५। [६] द्र. वेमी. पृष्ठ ५१०-५११। [७] इन्द्र 'सत्वा' द्र. ६।२७।६; ८।४०।१०। [८] स सत्यसत्वन् महते रणाय रथम् आ तिष्ठ तुविनृम्ण भीमम्, याहि प्रपथिन्न् अवसोप मद्रिक् प्र च श्रुत श्रावय चर्षणिभ्यः ६।३१।५। 'सत्यसत्वन्' में मरुद्गण की ध्वनि है क्योंकि वे भी 'सत्वानः' १।६४।२। देवरथ देवता के निकट आनन्द का मूल कारण है और वृत्र के निकट भयंकर है। **प्रपथिन्**— इन्द्र युद्ध में 'प्रपथिन्तम' १।१७३।७। **प्रपथ** उपनिषद् का 'महापथ' —→

सत्व के सत्य से आनन्द-वीर्य एवं प्रगति का वेग उत्सारित हो रहा है। 'अक्षर का ही क्षरण' हो रहा है — यह वैदिक भावना का एक वैशिष्ट्य है। देवता युगपत सत्य एवं ऋत तथा स्थिति एवं गति दोनों ही हैं।

देवता नित्य हैं, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से हमारे भीतर उनका जन्म यजन के फलस्वरूप होता है। तब देवता हमारे 'सूनु' अथवा पुत्र हैं। पहले ही देखा है कि अग्नि 'सहसः सूनुः' अथवा सर्वजित, सर्वाभिभावी उत्साहस के पुत्र हैं। इन्द्र भी उसी प्रकार **सत्यस्य सूनुः** एवं **सत्ययोनिः** हैं [२०१३]। अर्थात सत्य की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप ही हमारे भीतर ऐन्द्री चेतना का आविर्भाव होता है। इन्द्र परम सत्य हैं अतएव उनका सायुज्य प्राप्त करने के लिए हमें भी उनकी तरह होना होगा।

इन दोनों विशेषणों को आधिदैविक दृष्टि से भी देखा जा सकता है। इन्द्र जिस प्रकार सत्यस्वरूप हैं, उसी प्रकार फिर सत्ययोनि भी हैं अर्थात वे स्वयम्भू अथवा अपने आप हुए हैं 'स्वयंजा' अप की [२०१४] धारा की तरह। उस समय वे एक ही साथ जनक एवं जातक हैं। जनकरूप में वे विश्व के अक्षीयमाण उत्स एवं जातक रूप में उसकी शतधारा विसृष्टि हैं। दोनों को मिलाकर वे 'विश्वभू' हैं — अर्थात यह जो कुछ है सब वे ही हुए हैं।[१] इस परिकल्पना का समर्थन या पुष्टि ऋक्संहिता में ही है: 'सत्ययोनि' कहने के साथ-साथ ही उनको 'भुवः सम्राट' कहा गया है; जो 'सत्यसूनुः' हैं, वे ही 'सत्पति' हैं। लोकात्मक अथवा विश्वात्मक भूमिका में वे सम्राट एवं पति हैं और विश्वातीत या लोकोत्तीर्ण भूमिका में सत्यस्वरूप हैं। एक में वे जातक हैं और दूसरी में जनक हैं।

यह **सत्पति** विशेषण ध्यातव्य है। ऋक्संहिता में इसके अनेक प्रयोग हैं और प्रायः सभी इन्द्र से सम्बन्धित हैं [२०१५] इस संज्ञा का मौलिक अर्थ है 'जो कुछ है उसके पति' या मालिक एवं सर्वाधिपति राजा का बोध होता है।[१]

(छा· ८।६।२)। प्रेति के समय उसमें पूषा अग्रणी, तु· ऋ· पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् (१०।१७।४; प्रपथे पथाम् अजनिष्ट पूषा (प्रद्योत की सन्धानी ज्योति होकर द्र· बृ· ४।४।२) प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ६), और भी तु· स्वस्ति (पथ की देवी) इद्धि प्रपथे श्रेष्ठा १०।६३।१६। फिर 'प्रपथ' चौड़ा, तु· अंसेष्वा वः (मरुद्गण का) प्रपथेषु खादयो १।१६६।९। ✓द्र· १।१६४।४२।

[२०१३] ऋ· इन्द्रम् अर्च यथा विदे (जिससे उनको प्राप्त किया जाए) सत्यस्य सूनुः सत्पतिम् ८।४९।१; भुवः सम्राल् इन्द्र सत्ययोनिः ४।१९।२।

[२०१४] ऋ· ८।४९।२। [१] १०।५०।१ टीभू· १४६६।

[२०१५] इन्द्र के अतिरिक्त इसका प्रयोग, ऋ· अग्नि ६।१६।१९, वृत्रहा, ८।७४।१०, ६।२९।१३; रुद्र २।२३।१२; अर्यमा : त्वम् (अग्नि) अर्यमा सत्पतिर् यस्य संभुजम (अर्यमा सम्भोग-उपभोग अथवा आनन्द के देवता हैं, जिस प्रकार अहरभिमानी या दिन के अधिनायक मित्र (आदित्य) ज्योति के देवता हैं और रात्र्यभिमानी या रात के अधिनायक वरुण शुद्ध अस्तित्व के देवता हैं; संहिता के अनेक स्थानों पर तीनों का सहचार लक्षणीय है; तु· वेदान्त का 'सत्-चित्-आनन्द' ब्रह्म) २।१।४; मित्रावरुण ४।६५।२; आदित्यगण ६।५१।४। अग्नि 'सत्पति' इन्द्र के सहचार में ६।६०।६; १०।६५।२; एक स्थान पर इन्द्र के विकल्प में सोम वही १।९१।५। मोटे तौर पर त्रिभुवन के सभी प्रमुख देवता सत्पति हैं। [१] तु· त्रसदस्युः ... मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः (दानस्तुति में) ८।१९।३६। अग्निर् ददाति सत्पतिं ... →

यहाँ जो कुछ है वह 'सत्' है, फिर इन सब के परे या उस पार जो परम तत्व है वह भी 'सत्' है[२]– किन्तु यह भावना जगन्मिथ्यावाद के विपरीत है। वैदिक ऋषि की दृष्टि में जो कुछ अनुभवगोचर है वही 'सत्' है और जो सत् है, वही सत्य है। अतः उपनिषद् में हम देखते हैं कि मर्त्य एवं अमृत, सत्य एवं अनृत दोनों के समाहार के रूप में 'सत्य' की व्याख्या की गई है।[३] यह दृष्टि ही सम्यक् दृष्टि है– जिसका महावाक्य हुआ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं', 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि।[४] और वह आधिदैविक दृष्टि पर आधारित चिन्मय-प्रत्यक्षवाद का मापदण्ड है। वेद में इन्द्र ही जब विशेष रूप से 'सत्पति' हैं, तब जिस माया से वे पुरुरूप एवं रूप-रूप में प्रतिरूप हैं और जो माया उनके स्वरूप के चारों ओर रूपकृत एक परिवेश या परिवेष्टन है[५] वह मिथ्या की नहीं बल्कि सत्य की सृष्टि है।

ध्यातव्य है कि यह 'सत्पति' विशेषण इन्द्र के अतिरिक्त रुद्र एवं वरुण-मित्र-अर्यमा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इस देश की अध्यात्म साधना में ये सब अर्थात्-रुद्र, शिवरूप में, वरुण-मित्र-अर्यमा औपनिषद पुरुष अथवा सत्-चित्-आनन्द रूप में आज भी परमदेवता के आसन पर हैं। इन्द्र को विशेष रूप से 'सत्पति' कहने का महत्व इस से ही समझा जा सकता है। इन्द्र के सहचार में अथवा विकल्प में अग्नि एवं सोम भी 'सत्पति' हैं। साधना की दृष्टि से अग्नि, इन्द्र एवं सोम– इन तीन देवताओं का एक क्रम है। अग्नि पृथिवी स्थान देवता हैं– उनके द्वारा साधना का आरम्भ होता है। इन्द्र अन्तरिक्षस्थान देवता एवं आदित्य दोनों ही हैं। उपनिषद की भाषा में वे प्राणात्मक प्रज्ञा हैं। अतः वे साधना के अन्त हैं। इन्द्र की तरह सोम भी जब पवमान, तब अन्तरिक्षस्थानी; किन्तु जब वे पूत (पवित्र), तब द्युस्थानी आनन्द देवता हैं। वे भी साधना के अन्त हैं– इसे सोममण्डल के अन्तिम दो सूक्तों में अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है [२०१६]। गोतम राहूगण के जिस सूक्त में सोम को 'सत्पति... राजा... वृत्रहा' कहा गया है,[१] वहाँ वे स्पष्ट रूप से ही वरुण-मित्र-अर्यमा के साथ एक हैं।[२] अर्थात् उपनिषद की भाषा में सोम वहाँ आनन्दब्रह्म हैं।→

जेतारम् अपराजितम् ५।२५।६, वीरं ददाति सत्पतिं ६।१४।४; एन्द्र याह्युप नः परावतः... अस्तं राजेव सत्पतिः (हम सब का हृदय ही तुम्हारा आस्ताना या आश्रम है, वृत्रवध के पश्चात् यहाँ ही तुम्हारा विश्राम द्र. ३।५३।४) १।१३०।१। [२] तु. १।१६४।४६, १०।५।७, ८२।२,३, १२९।१। [३] द्र. छा. ८।३।५, बृ. ५।५।१। तु. बृ. स यथोर्णनाभिस् (मकड़ी) तन्तुनोच्चरेद्, यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवम्...आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यम् इति। प्राणा वै सत्यं, तेषाम् एष (आत्मा) सत्यम् २।१।२०। द्र. छा. ३।१४।१, ६।८।७...; ऋ. १०।९०।२। [५] द्र ऋ. ६।४७।१८, ३।५३।८।

[२०१६] द्र. ऋ. ९।११३।३, ९-११, ११४।३ (सोम का विश्वज्योतिर्मय परिवेश)। [२] राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि बृहद् गभीरं तव सोम धाम, शुचिष्ट्वम् असि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम – हे सोम, राजा वरुण के जैसे हैं तुम्हारे सारे व्रत, बृहत् और गहन है तुम्हारा धाम, तुम शुचि (और) प्रिय हो मित्र की तरह, तुमको अर्यमा- →

इससे स्पष्ट दीखता है कि 'सत्पति' विशेषण देवताओं के प्रसङ्ग में उनकी प्रमुखता और महिमा को उद्घाटित करने की दिशा में विशेष सावधानी के साथ व्यवहृत हुआ है। और इस भावना के केन्द्र में इन्द्र हैं। इन्द्र ही विशेष रूप से सत्पति अथवा भुवनेश्वर हैं — एवं यह भुवन सत्यस्वरूप की सत्य विसृष्टि या शक्ति का निर्झरण है।

सत्पति के भावानुषङ्ग में इन्द्र का जो परिचय हमें प्राप्त होता है, अब उसकी चर्चा करेंगे। इस विशेषण में दो प्रकार की भावनाएं ओत-प्रोत हैं — एक है इन्द्र की सत्यता एवं दूसरी पतित्व है। हमारी सत्य-धारणा में ही तो इन्द्र 'सत्यस्य सूनुः' हैं — यह हम पहले ही बतला चुके हैं। प्रियमेध आङ्गिरस का कथन है कि 'हे प्रवृद्ध सत्पति (इन्द्र), जब सम्भवतः तुम "मैं तो मरता नहीं" सोचते हो, वही आगे जाकर तुम्हारा सत्य हुआ [२०१६]।' — देवता स्वरूपतः अमृत हैं, अमर्त्य हैं और हम सब मर्त्य हैं, मरणशील हैं। किन्तु हम सब के भीतर उनका आविर्भाव एवं अत्यल्प मात्रा में प्रवर्द्धन[1] हमारे जीवन को भी अमृतवर्ण कर देता है — अस्तु, हम उनका आश्वासन सुन पाएं कि 'मैंने जब तुम्हारे भीतर जन्म लिया है तब दिन पर दिन बढ़ता ही जाऊंगा और किसी दिन मरूंगा नहीं।' मर्त्य के भीतर यह अमृतसम्भव ही उनके स्वरूप का अथ-क्रियावत सत्य है। उसी से वे हमारे 'सत्पति' हैं — जहाँ उनके सत्य से हम सत्य हैं, वहाँ ही वे हिरण्यगर्भ के रूप में सर्वप्रथम संवृत्त या बीज रूप में अन्तर्गूढ़ होकर भी 'भूतस्य जातः पतिर् एकः' हैं।[2]

की तरह अनुकूल एवं समर्थ करना पड़ता है १।७१।२ (= ७।८८।८)। वरुण सब कुछ के परे हैं, वे लोकोत्तर, लोकातीत हैं। इसलिए उनके व्रत अथवा इच्छा का स्वातंत्र्य अक्षुण्ण है (<√वृ 'वरण करना; चुनना')। मित्र मालिन्य दूर करते हैं अपने आलोक से, इसलिए वे 'शुचि' एवं मित्र की तरह प्रिय भी हैं। अर्यमा में है सम्प्रसाद, प्रसादन या अनुग्रह (रति, आनन्द द्र. बृ. ४।३।१५, छा. ८।१२।३), जिसका आनुकूल्य या अनुग्रह नूतन सृष्टि का उत्स है। इसी दिव्य त्रयी का वैशिष्ट्य सोम में है। इसलिए आधार में उनका 'धाम' अथवा आवेश एवं प्रतिष्ठा जिस प्रकार आकाश की तरह बृहत् है उसी प्रकार समुद्र की तरह अथाह है। इस धाम की चर्चा अगले मंत्र में ही है। फिर उसके अगले मंत्र में उनको इन्द्र की तरह सत्पति, राजा, वृत्रहा एवं क्रतु कहा गया है। सोम की लोकोत्तर महिमा एवं उनमें इन्द्रगुण का आवेश लक्षणीय। **दक्षाय्य** जिनको यजन के द्वारा अनुकूल एवं समर्थ करना होता है [<√दक्ष्, 'अनुकूल एवं समर्थ होना अथवा करना' तु. मा स्रेधत (भूल मत जाना) सोमिनो (तुम सब के भीतर सोम हैं) दक्षत महे (महिमा के लिए) ७।३२।९, दक्षाय्याय दक्षता सखायः (बृहस्पति को अनुकूल एवं समर्थ करना होगा, उसके लिए तुम सब तत्पर होओ) ७।७।८, सुशंसो ('प्रशस्ति के योग्य' अग्नि का विशेषण तु. ६।५२।६, १।४४।६) यश्च दक्षते (प्रसन्न हो कर सामर्थ्य प्रकट करते हैं) १६।६] तु. दक्षाय्य इन्द्रे भरहूतये नृभिः (देवता के आवेश को आधार में लाकर उतारने के लिए तुमको वीरों को दक्ष करना पड़ता है) १।१२९।२ (अग्नि) दक्षाय्यो यो दास्वते (स्वयं को जिसने दिया है उसके लिए) दम आ २।४।३, दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः (अग्नि) ७।२।१। द्र. दक्ष टी. १३६६३।

[२०१६] ऋ. यद् वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे, उतो तत् सत्यम् इत् तव ८।९३।५। इस प्रकार देवसत्य तु. अग्नि का १।१।६, वैश्वानर का ७।८।३। [1] तु. अग्नि 'वर्धमानं स्वे दमे' १।१।८, ६।७।४ टी. १३०६२; इन्द्र १।३२।२, १६५।७, ८।६।३३ … [2] १०।१२१।१। 'संवर्तन' ॥ 'निवर्तन' (तु. २।७।२, १०।१७।४, ५) सिमट आना, बीजभाव, INVOLUTION।

२६३

'सत्पति' के साथ 'वाज' का विशेष सम्बन्ध है। 'वाज' [२०१८] मूलतः ओजःशक्ति है जिससे उनका जन्म हुआ है।[1] अश्व उसका प्रतीक है, जिस प्रकार प्रज्ञा का प्रतीक 'गो' है। इस 'वाज' से ही त्वष्टा ने इन्द्र के लिए वृत्रघाती 'वज्र' का निर्माण किया था। अतः 'वाज' इन्द्र की तिमिरविदारक वज्रशक्ति है। फिर प्रज्ञा की दृष्टि से देखने पर यह शक्ति उषा की भी है जिसके कारण वे 'वाजेन वाजिनी' हैं।[2] आध्यात्मिक दृष्टि से प्रज्ञान की देवी सरस्वती भी 'वाजिनी' हैं।[3] अतएव सत्पति इन्द्र की प्रशस्ति में बार्हस्पत्य भरद्वाज कहते हैं, 'तुम तो ओजस्वी हो, ओजस्विनी उषा के पुत्र हो, भरद्वाज तुम्हारा आवाहन करता है — इसलिए कि तुम गहन का महत् ओज छीनकर ले आओगे। अनेक वृत्रों से हे इन्द्र, सत्पति होकर रक्षा करो, पार उतारो। (इसलिए तुम्हारी ओर ही देखता है एकटक वह — ज्योति के लिए मुष्टिका-युद्ध करते हो जब (अँधेरे के साथ)।'[4] इन्द्र आलोक एवं प्राण हैं अतः वे 'सत्' हैं और वृत्र उसका आवरणकारी है अतः वह 'असत्' है। इस असत् से वे हमें सत् में, तम से ज्योति में, मृत्यु से अमृत में अपने 'वाज' अथवा वज्रशक्ति द्वारा उत्तीर्ण करते हैं। अतः उनके पतित्व का परिचय हमारे समस्त भार को वहन करने में और उनके 'वाजकृत्य' अथवा वज्र के सहयोग में है।[5] अतः माधुच्छन्दस जेता, इन्द्र को 'वाजानां सत्पतिं पतिम्' कहते हैं अर्थात् जिस प्रकार वे सत्पति हैं, उसी प्रकार वाजपति हैं। सत्पति रूप में 'समुद्रवत् विशाल' हैं, और वाजपति रूप में रथियों में रथीतम हैं — हम सब के देहरथ में अधिष्ठित जो विश्वदेवगण हैं, उनमें अनुत्तम या सर्वोत्कृष्ट हैं। एक में उनकी शान्ति का परिचय है और दूसरे में शक्ति का परिचय है।[6]

[२०१८] **वाज** द्र. टी. १८२६, १८३१। [1] ऋ. १०।७३।१० टी. १८४७। [2] ३।६१।१ तत्र उषा इन्द्र साम्य में 'मघोनि'। [3] वाजेषु वाजिनि ६।६१।६। [4] त्वां वाजी हवते वाजिनेयो महो वाजस्य गध्यस्य सातौ, त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं तरुत्रं त्वां चष्टे मुष्टिहा गोषु युध्यन् ६।२६।२। **वाजिनेय** अनन्य प्रयोग है। उषा एवं सरस्वती दोनों ही 'वाजिनी' हैं और दोनों ही वृत्रघातिनी हैं। दोनों में प्रज्ञा और प्राण में अन्तर है। वृत्रशक्ति के अवरोध के फलस्वरूप आधार में इनके न रहने पर अविद्या और निर्वीर्यता दिखती है। उषा प्रकाश के प्रस्फुटन द्वारा और सरस्वती प्राण के प्लावन द्वारा उसे दूर करती हैं। उसी से मनुष्य का नवजन्म होता है। तब वह 'वाजिनेय' है। **गध्य वाज** तु. भरद्वाजेषु दधिषे (निहित किया है हे अग्नि तुमने) सुवृक्तिम् (अन्तरावृत्ति अथवा अन्तर्मुखता का अनायास बल अथवा 'ऊर्ज' <√ वृज 'मोड़ देना' बल) अवीः (अनुकूल होओ, प्रसन्न होओ उनके प्रति, <√ अव[इष]) वाजस्य गध्यस्य सातौ ६।१०।६, ४।१६।११, १६। तु. सोम 'वाजगन्ध्य', वज्र के गहन (गह्वर) से उत्पन्न। वज्र का गहन है आकाश। आकाशवत् शून्यता ही ओजःशक्ति का उत्स है। तु. बौद्ध भावना में 'शून्यता वज्र उच्यते'। सौम्य आनन्द उसी शून्यता का आनन्द है (तु. तैउ. को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ३।५।१)। 'गध्य' <√ गध ॥ गाध > गह ॥ गाह 'अवगाहन करना, अनुप्रविष्ट होना' तु. 'गहन' ऋ. १०।१२९।१। **तरुत्र** <√ तॄ 'अभिभूत करना, पराजित करना, पार हो जाना'। 'मुष्टिहा' तु. नि येन (रयिणा) मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै (अवरुद्ध कर सकूँ) १।८।२। वृत्र के साथ मल्लयुद्ध, जिसमें प्रकाश का प्रहार एकदम सीधे अँधेरे के मर्म पर लगे। जिस प्रकार हम सप्तशती में देखते हैं — विष्णु और मधुकैटभ के समय प्रथम चरित्र में, फिर देवी और शुम्भ के समय

सत्पति इन्द्र का वाजकृत्य अथवा वीरतापूर्ण कार्य वृत्रवध है। वृत्र-शक्ति मूलतः एक है। किन्तु हम सब के भीतर उसके दो रूप हैं — एक रूप में वह 'आर्य' है और दूसरे रूप में वह 'दास' है। दास वृत्र को पहचानना कठिन नहीं; क्योंकि उसका बाहर-भीतर सब कुछ ही अन्धकारमय है। किन्तु यही काला कृष्णवर्ण जब कभी भी प्रकाश का मुखौटा पहन कर आता है तब वृत्र 'आर्य' है। ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्णनानुसार यही आर्यवृत्र अन्तरिक्ष में रजतपुर और द्युलोक में हिरण्मयपुर रचता है। उपनिषद् में वह इन्द्र का प्रतिस्पर्द्धी विरोचन (आलोकदीप्त), और सप्तशती में शुम्भ-निशुम्भ है [२०१८]। बार्हस्पत्य भरद्वाज फिर इन्द्राग्नि से कहते हैं, 'तुम दोनों सत्पति हो, (हे देवता)। तुम दोनों, आर्य वृत्रों की हत्या करो, हत्या करो दास (वृत्रों की), और हत्या करो पूर्ण रूप से समस्त विद्वेषियों की।'[1] इन्द्र के साहचर्य में यहाँ अग्नि भी सत्पति हैं। वे पृथिवीस्थान देवता एवं रक्षोहा हैं। अतएव दास वृत्र सब मुख्यतः रक्षोगण हैं जो पृथिवी पर अथवा उसके आस-पास रहते हैं।[2] मंत्रोक्त 'आर्य', 'द्विष', एवं दास के साथ पतंजलि के 'राग', 'द्वेष', एवं 'अभिनिवेश', ये तीन क्लिष्ट वृत्तियाँ तुलनीय हैं — जो क्रमशः सत्व, रजः एवं तमोगुण के विकार हैं। इन तीनों वृत्तियों की जननी जीव के अहंकार द्वारा आश्रय प्राप्त 'अविद्या' है। संहिता में वही मूल वृत्र है। वह त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप है। देवता की तरह वह भी सप्तरश्मि है अर्थात चैतन्य के सात लोकों तक उसका अधिकार-क्षेत्र फैला हुआ है। उसकी भी ओजःशक्ति या तेजस्विता इन्द्र की तरह है एवं वह स्वयं को इन्द्र के रूप में ही मानता है।[3] सत्पति इन्द्र ने इसी त्वाष्ट्र, विश्वरूप के तीनों सिरों को धड़ से काटकर अलग कर दिया था।[4] यही उनका चरम वाजकृत्य या वीरतापूर्ण कार्य है।

उत्तम चरित्र में। ५ विश्वासु धूर्षु वाजकृत्येषु सत्पते वृत्रे वा.प् स्व.भि शूर मन्दसे १०।५०।२। जीवन-यज्ञ एक रथ जैसा (तु. ऐब्रा. देवरथो वा एष यद् यज्ञः २।३७, और भी तु. ऋ. १०।१०१।७; फिर पुरुष ही यज्ञ है द्र. शांब्रा. १७।७, श. ३।५।३।१, छा. ३।१६-१७)। देवता, को जोता गया है उसकी धुरी में। अब वे ही हमारा सारा भार वहन करेंगे। पथ में अनेक बाधाएँ हैं। वज्र की सहायता से वे उन पर विजय प्राप्त करेंगे। वृत्र ने प्राण की धारा को अवरुद्ध कर रखा है। वे उसे अपने शौर्य एवं सोम्य आनन्द की मत्तता के द्वारा मुक्त करेंगे। ६ ऋ. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त – (संवर्द्धित किया) समुद्रव्यचसं दिवः (उद्बोधन-गीत), रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् १।११।१।

[२०१८] द्र. टीपू. १२७७; इन्द्र का दासवध तु. ऋ. २।१२।४, ३।३४।१। इस प्रसङ्ग में तु. मन्युतापस के 'मन्यु', देवरोष की प्रशस्ति :— 'यस् ते मन्योऽविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वम् आनुषक् साह्याम दासम् आर्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता' — जिसने तुम्हें हे मन्यु, साधना द्वारा पाया, हे वज्र, हे क्षेपणास्त्र, जितना उत्साहस और ओजस्विता वह पुष्ट करता है (अन्तर में) निरन्तर; पराजित करें हम दास एवं आर्य को साहसी तुम्हारे साथ युक्त होकर (देवता के) उत्साहस-सृष्ट, साहस द्वारा १०।८३।१। **मन्यु** क्रोध, रोष (निघ. २।१३) किन्तु पुण्यमय। वह 'स्वयम्भूर् भामः' है अर्थात चित्त की निरपेक्ष, अप्रत्याशित **नित्यदीप्ति** (तु. श्रीकृष्ण की '**सत्यभामा**') जिसका उत्स वारुणी शून्यता में है एवं जो आती है 'बलदेयाय' अर्थात

आध्यात्मिक दृष्टि से 'वृत्र' की संज्ञा 'अंहः' [2020] अथवा चित्त का संकुचन है। कुत्स आङ्गिरस के जिस प्रसिद्ध सौर सूक्त में उगते हुए सूर्य को उन्होंने सर्वभूतात्मा के रूप में घोषित किया है, उसके अन्तिम मंत्र में अंहः का परिचय है। ऋषि कहते हैं— 'हे देवगण, आज जब सूर्योदय हो जाए तब हमें अंहः से, अवद्य से मुक्त करके पार ले जाओ।' यहाँ अंहः स्पष्टतः ही रात्रि का अन्धकार है, जिसको अचित्ति अथवा अविद्या के प्रतीक रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उसका स्वरूप अनिर्वचनीय है, इसलिए वह 'अवद्य' है। अध्यात्म दृष्टि में वह व्यक्तिचेतना का संकुचन है जो विश्व-चेतना के विकास से दूर हो सकता है। कुत्स ने अपने एक और सूक्त की टेक में भी इसी भाव को व्यक्त किया है। विश्वदेवगण को वे सम्बोधित करते हुए कहते हैं— 'दुर्गम पथ से रथ की तरह, हे ज्योतिर्मय कल्याणदाता (देवगण), समस्त अंहः से हमें मुक्त करके पार ले जाओ।'[2] यहाँ हम देखते हैं कि विश्वदेवगण में अकृपण, उदार आलोक का दाक्षिण्य या औदार्य है— अंहः उसके विपरीत प्रकृति की अन्धता एवं कृपणता अथवा अनुदारता है।

अंहः के संकुचन अथवा संकीर्णता से हमें मुक्त होकर बृहत् अथवा ब्रह्म के वैपुल्य में उत्तीर्ण होना होगा। वैपुल्य या विपुलता की एक संज्ञा 'वरिवः' है— जिसका मूल 'वृ' धातु है और जिसका अर्थ है सब कुछ को 'आच्छादित कर रखना'। एक ही धातु से निकले 'वृत्र' और 'वरुण' अर्थात् अन्धकार और प्रकाश के रूप में मानो सत्ता के कुमेरु और सुमेरु हैं। एक मेरु से दूसरे मेरु में उत्तीर्ण होने की अभीप्सा को 'वरिवस्या' अर्थात् चित्त की संकीर्णता से विपुलता अथवा खुलेपन में उत्तरण का तीव्र संवेग कहा गया है [2021] 'वरिवः' का नामान्तर है 'उरु अनिबाध', 'उरुलोक', या 'उलोक'।'[1]

सत्पति इन्द्र ने 'वरिवश्चकार देवेभ्यः'— अनिबाध, असीम बाधारहित विपुलता की सृष्टि की देवताओं के लिए। आधार में —→

अन्तर में बलाधान करने के लिए (तु. ऋ. 10।83।4, 84।5, 6, 83।5)। देवताओं के अन्तर में सब समय इस मन्यु के होने के कारण वे 'सहस्वान' हैं एवं मेरा 'सहः' उनके ही 'सहः' से उत्पन्न। 'मन्यु' मंत्र अथवा मनन का परिणाम है, अतएव 'ब्रह्म' अथवा मंत्र चेतना का बल या शक्ति है। इसके अतिरिक्त 'मन्यु' असुरों का आत्माभिमान अथवा आत्मगौरव भी है द्र. टी. 2023। [1] हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती, हतो विश्वा अप द्विषः 6।60।6। दास एवं आर्य वृत्रों को आध्यात्मिक दृष्टि से पाप और पुण्य का संस्कार बतलाया गया है। दोनों ऊर्ध्व में जाना ही वेदान्त का आदर्श है, तु. बृ. 4।4।22। [2] द्र. टीमू. 1449। [3] ऋ. 10।83।7 [4] द्र. टी. मू. 1562, 1563।

[2020] **अंहस्** ॥ 'अंघ' चेतना का संकुचन, क्लिष्ट वृत्ति, पाप; तु. MG. angst. E. anxiety। [1] ऋ. अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निर् अंहसः पिपृता अवद्यात् 1।115।6। 'अंहस्' की अवद्यता का परिचय दे रहे हैं वसिष्ठ 7।83।6। [2] रथं न दुर्गाद् वसवः सुदानवो विश्वस्मान् नो अंहसो निष् पिपर्तन 1।106।1-6। **सुदानु**— 'दानु' दान देवता का प्रसाद। वह दान आलोक या ज्योति का है, इसलिए सुमङ्गल है।

[2021] द्र. ऋ. 1।181।9। [1] द्र. टीमू. 1174।

ज्योति की शक्ति सिमटी सिकुड़ी हुई थी, इन्द्र ने उसको मुक्त किया; क्योंकि वे 'चर्षणीप्रा' हैं अर्थात् देवकाम चरिष्णु यजमान को अन्तर्यामी रूप में पूर्ण रूप से सर से पाँव तक 'आपूरित' कर रखा है। किन्तु यह आसानी से नहीं होता। इन्द्र ने इसे वृत्रशक्ति के साथ युद्ध के द्वारा और अपनी ज्योतिः शक्ति की महिमा के द्वारा सम्पन्न किया है। इन्द्र के प्रसाद या अनुग्रह से इस प्रकार जो महावैपुल्य में उत्तीर्ण होते हैं उनकी देवयजनभूमि 'वैवस्वत सदन', अथवा सूर्यलोक होता है और वे संवेदनशील, कम्प्रहृदय 'विप्र' एवं क्रान्तदर्शी 'कवि' होते हैं। सत्पति के उसी वाजकृत्य को ध्यान में रखकर वे तब 'स्तुतिमुखर हो जाते हैं' [२०२२]।

वरिवस्या आकाश की विपुलता ले आई। उस आकाश में सूर्य का प्रकाश फूट पड़ा। यह भी सत्पति इन्द्र का वाजकृत्य या वीरकर्म है। वार्षागिर ऋषियों का कथन है,— 'मन्यु को वे ह्रस्व या छोटा कर देते हैं घात-प्रतिघात के कर्ता होकर। हम सब के ही पौरुष के द्वारा सूर्य को वे मानो छीनकर ले आते हैं आज के दिन — क्योंकि वे सत्पति हैं अनेक लोगों द्वारा आहूत [२०२३]।' अर्थात् मन्यु वृत्र का आत्माभिमान है जिसके मूल में अहं:[1] है। उसको 'अस्मिता' कहा जा सकता है, जो अविद्या का सहचर है। देवता का अभिमान असुर में संक्रामित होता है तब वह उनके विरुद्ध आक्रामक मुद्रा में सामने आ जाता है, जिसके कारण देवासुर-संग्राम शुरू हो जाता है। हम सब के भीतर यह जीवन की नित्य घटना है। चेतना के सूर्य को असुर ग्रस लेता है और देवता उसको मुक्त करते हैं — हम सब के ही उद्दीप्त या उत्तेजित पौरुष के बल द्वारा। यही पौरुष दिव्य मन्यु है जो हमारी तपःशक्ति से जन्मता है 'विश्वप्राण का झंझानिल' होकर; जो देवता के सहरथी 'नर' को 'अग्निरूप' कर देता है।[2] तब अन्तर की अग्निशिखा →

[२०२२] ऋ. युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः, विवस्वतः सदने अस्य तानि (वीरकर्म) विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ३।३४।७।

[२०२३] ऋ. स मन्युमीः समदनस्य कर्ताऽस्माकेभिर्नृभिः सूर्यं सनत्, अस्मिन्नहन्त्सत्पतिः पुरुहूतः ··· १।१००।६। **मन्यु-मी** यहाँ 'मन्यु' असुर का आत्माभिमान है— (तु. अमर्त्यं चिद् दासं 'मन्यमानम्' २।११।२, ३।३२।४ ...), इन्द्र उसे खर्व या छोटा करते हैं (व्युत्पत्ति, तु. प्र यो [इन्द्रे] मन्युं रिरिक्षतो [अनिष्टकारी की < √ रिष्, [गुस्सा-क्रोध] मिनाति ७।३६।४; तु. बृहस्पति भी 'ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीः' २।२३।४)। देवता एवं असुर दोनों ही मन्युमी, तु. इन्द्रो मन्युं मन्युम्यो मिमाय ७।१८।१६। 'समदन'॥ 'समत्' संग्राम (निघ. २।१७) < सम् √ अद् 'खाना' भोजन करना, खाना-खिलाना। 'नृ' पौरुष, बल, वीर्य। [1] इस मन्यु का परिचय इस प्रकार है:— 'अदेवेन मनसा यो रिषण्यति (दूसरों का अनिष्ट करता है) शासाम् (प्रशास्ता देवगण का 'व्रत' अनुमेय; **शास्** हलन्त और अकारान्त, आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त दोनों रूपों में पाया जाता है, 'प्रशास्ता' एवं 'प्रशासन' दोनों का ही बोध होता है, द्र. ३।४७।५, ७।४८।३, १०।२०।२, १५२।१ ११४४।७, ६८।५; < √ शस्॥ शंस् 'उद्दीप्त या उत्तेजित होकर कुद्ध कहना' > शास् 'शासन करना', तु. बृ. अक्षर का प्रशासन ३।८।९, हिरण्यगर्भ का 'प्रशिष' ऋ. १०।१२१।२) उग्रो (आत्माभिमानी होकर एवं स्वयं को श्रेष्ठ) मन्यमानो (मान करके) जिघांसति (नष्ट करना चाहता है), बृहस्पते मा प्रणक् (हमारा स्पर्श न कर पाए) तस्य नो वधो (प्रहरण, अस्त्र) नि कर्म (धराशायी कर दें) मन्युं दुरेवस्य शर्धतः (दुराचार एवं स्पर्धित का) २।२३।१२। देवता का मन्यु तप से, और ब्रह्मद्वेषी का मन्यु अदिव्य मनन एवं अहंकार से उत्पन्न होता है। [2] तु. ऋ. त्वया मन्यो सरथम्··· मरुत्वः ··· अभि प्र यन्तु नरो →

आकाश में सूर्य होकर जल उठती है। यही 'पुरुहूत' इन्द्र का वाजकृत्य (वीरकर्म) एवं प्रसाद है और उसी से वे 'तरुत्र सत्पति' हैं— अर्थात गीता की भाषा में दुष्टात्माओं का नाश करके सज्जनों-सन्तों, धार्मिक पुरुषों के परित्राण के लिए उनका ज्योतिर्मय आविर्भाव होता है।[२]

सत्पति के इस प्रकार के आविर्भाव का यह एक उत्तेजक वर्णन कृष्ण आङ्गिरस के इन्द्र सूक्त में प्राप्त होता है: "वृष की तरह क्रुद्ध होकर वे उड़ते गए लोक-लोकान्तर में। जिन्होंने अभिजात की पत्नी बनाया समस्त अपः (जलधाराओं) को, वही मघवा — (स्वयम् को) निचोड़ देता है तत्काल — उसी हविष्मान् मनु के लिए खोजकर प्राप्त की ज्योति। (अब ऊपर की ओर आविर्भूत हो परशु (कुठार) उसी ज्योति के साथ, ऋत की (धेनु) सुदुघा (दुग्धवती) हो पहले की तरह ही। विरोचन हों अरुण (देवता) (अपनी) प्रभा में शुचि होकर, आदित्य से आलोकित द्युलोक की तरह देदीप्यमान हो जाएँ सत्पति [2024]।" अर्थात पृथिवी से द्युलोक तक चेतना के प्रत्येक स्तर पर प्राण की धाराएँ 'दासपत्नी' हुई हैं[१] अर्थात तामस वृत्र के द्वारा ग्रसित हैं। उपासक के आत्मोत्सर्ग से देवता का आनुकूल्य प्राप्त हुआ। अन्धतामिस्रा के विरुद्ध उत्तेजित उनका मन्यु लोक से लोकान्तर तक व्याप्त हो गया। मनुष्य ने उनकी ज्योति का प्रसाद प्राप्त किया और दासपत्नियाँ 'अर्यपत्नी' हुईं।[२] अब उसी ज्योति के स्पर्श से तिमिरविदारक अग्नि-वीर्य ऊर्ध्वगामी हो, जीवन में शाश्वती उषा का ऋतच्छन्द अथवा सत्य एवं सुशृंखल शाश्वत-विधान सहज हो जाए और देवता की अरुणद्युति या आभा माध्यन्दिन या मध्याह्नकालीन महिमा से चित्त के आकाश में आलोकित हो जाए।

अग्निरूपाः १०।८४।१। मन्यु 'मरुत्वस्' अर्थात मरुत्वान् इन्द्र की तरह। २ द्र. ६।२६।२, टीभू. २०१८४। सत्पति तब 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' (गी. ४।८) अग्रसर होते हैं।

[2024] ऋ. वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीर् अकृणोद् इमा अपः, स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज् ज्योतिर् मनवे हविष्मते। उज् जायतां परशुर् ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत् १०।४३।८-९। १ तु. ११३२।११ (टीभू. १८४५), ५।३०।५, ८।९६।१८। और भी तु. इन्द्राग्नी नवतिं (= नवनवति) पुरो दासपत्नीर् (यहाँ तामस वृत्र 'दास') अधूनुतम् (हिला दिया) साकम् एकेन कर्मणा (अग्नि के 'तपः' और इन्द्र के 'ओजः' दोनों के मेल से — एक की क्रिया देह और प्राण में, दूसरे की प्राण और मन में) ३।१२।६। परिणाम स्वरूप आधार पूर्णतः योगाग्निमय एवं वज्रसत्त्व हुआ। २ **अर्यपत्नी** — दास नहीं, किन्तु **अर्य** अथवा जिनका पति 'ईश्वर' है। तु. पाणिनि. अर्यः स्वामिवैश्ययोः ३।१।१०३। यहाँ स्वामी, भूस्वामी, राजा, क्षत्रिय। नहीं तो 'आर्य' ब्राह्मण (काशिका)। तो फिर 'अर्य' भूस्वामी क्षत्रिय एवं नई ज़मीन आबाद करने वाले वैश्य दोनों का ही बोधक है। अब भी उत्तराखण्ड में दोनों को 'ज़मींदार' कहा जाता है। 'दास' भूमिदास। वह अकुलीन और तीन अभिजात या कुलीन एवं मोटे तौर पर ज्योतिरग्र 'आर्य'। इन्द्र ने जिस प्रकार यहाँ अपः या जलधाराओं को अर्यपत्नी बनाया, उसी प्रकार अन्यत्र अग्नि 'अर्यपत्नीर् उषसश् चकार' (ऋ. ७।६।५)। 'अप्' प्राण, उषा प्रज्ञान है। ३ **परशु** पेड़ काटने का औज़ार, कुल्हाड़ी। देवता उसके द्वारा ही वृत्र का अवरोध दूर करते हैं फिर अव्याकृत को व्याकृत करते हैं त्वष्टा के रूप में (तु. १०।५३।९; टी. १४३८। अग्नि का उपमान १।१२७।३, ४।६।८; →

आशंसा या आशा और इच्छा के सम्बन्ध में परवर्ती दो ऋक् भी मननीय हैं, जिस में ऋषि की आध्यात्मिक आकांक्षा की एक सुन्दर छवि उभरी है। ये दोनों मंत्र इन्द्रमण्डल की टेक हैं। ऋषि कहते हैं— 'गो अर्थात ज्योति या आलोक के द्वारा हम पार कर जाएँगे अविद्या के भ्रान्त पथ पर चलना, यव अर्थात तारुण्य के द्वारा (पार कर जाएंगे) समस्त क्षुधा, बुभुक्षा, हे पुरुहूत। हम राजाओं के द्वारा (और) अपनी अन्तर्मुखी शक्ति या चेतना के द्वारा प्रथम धन अथवा लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे। बृहस्पति हम सब की रक्षा करते रहें, पीछे, उत्तर एवं नीचे से अशुभ चाहने वालों की मार से बचाकर। इन्द्र सामने और मध्य से हमारे सखा होकर सखाओं के लिए विपुलता की रचना करें।' [२०२५] — 'गो' ज्योति का प्रतीक है और 'यव' तारुण्य का प्रतीक है।[1] प्रज्ञा की ज्योति मन के अन्धकार एवं तज्जनित प्रमाद को दूर करेगी,[2] और प्राण का तारुण्य समस्त बुभुक्षा को संतृप्त करेगा। एक से निःश्रेयस और दूसरे से अभ्युदय प्राप्त होगा। दोनों के समाहार एवं समन्वय से जीवन पूर्ण होगा। श्रेष्ठ धन अथवा 'वरिवः' अर्थात चेतना के अबाध वैपुल्य[3] को जीत कर हम, अग्नि इन्द्र और सोम की तरह 'धनञ्जय' हो जाएँगे।[4] उस विजय के मूल में →

विजेहमानः (लपलप करता हुआ) परशुर् न जिह्वां द्रविर् (जिस किसी को भी धातु को पिघला देता है स्वर्णकार की तरह) द्रावयति दारु धक्षत् (जलाने के समय) ६।३।४। अग्नि-शिखा की तुलना परशु के साथ की गई है। अतः आलोच्य मंत्र का परशु अग्नि का उपमान है। इन्द्र का भी उपमान हो सकता है, तु. अभीद उ शक्र परशुर् यथा वनं (काठ) पात्रेव (मिट्टी के बर्तन की तरह) भिन्दन्त सत (प्रतिपक्षभूत) एति रक्षसः - ७।१०४।२१। तब परशु इन्द्र का 'वज्र' (तु. निघ. २।२०)। अग्नि और इन्द्र का सहचार ध्वनित है। 'ऋतस्य सुदुघा' धेनु उषा, तु. ऋ. माता गवाम् ऋतावरी... उत माता गवाम् असि ४।५२।२,३। 'गो' किरण (निघ. १।५; तु. अरुण्यो गाव उषसाम् १।९२।१)। उषा **ऋतावरी** (तु. ऋ. ३।६१।६, ८।७३।१६, ५।८०।१) क्योंकि उषा से ही सत्य की ज्योति प्रस्फुटित होती है एवं उसी से जीवन में ऋतच्छन्द दीखता है। यही अदिति (८।२५।३), सरस्वती (२।४१।१८, ६।६१।९) एवं द्यावापृथिवी का भी विशेषण है (३।५४।४, १।१६०।१, ३।६।१०, ४।५६।२...)। 'विरोचताम्' — यहाँ भी अग्नि की ध्वनि तु. औषस अग्नि 'विरोचमान' १।७५।२,९।

[२०२५] ऋ. गोभिष् टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्, वयं राजभिः प्रथमा धनान्य स्माकेन वृजनेना जयेम। बृहस्पतिर् नः परि पातु पश्चाद उतोत्तरस्माद् अधराद् अघायोः, इन्द्रः पुरस्ताद् उत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु - १०।४२।१०-११। लक्षणीय: उपमण्डल के प्रत्येक सूक्त की ऋक् संख्या ११ है। [1] **यव** तु. 'युवन्' 'योनि' < √यु 'युक्त होना, जुड़ना' फिर 'वियुक्त होना' और भी तु. 'योः' शक्तिबीज, 'योषा', Lat. juvenis 'YOUNG', juvencus 'BULLOCK', Lith. jaunas, O. Slav. yunus 'YOUNG' OHG. JUNG. Goth. juggs 'YOUNG'। स्मरणीय: सोम रस में क्रमानुसार 'यवचूर्ण, गाय का दूध एवं दही मिलाना' विशुद्ध आनन्द में तारुण्य, प्रज्ञान एवं प्रज्ञानघनता के आधान के लिए; तु. तं (सोम को) यवं यथा (जिस प्रकार यव से) गोभिः (दूध से) स्वादुम् अकर्म (किया) श्रीणन्तः (मिलाकर) ८।२।३ (पहले यव मिलाना, उसके बाद दूध मिलाना, उससे सोम और यव दोनों ही स्वादिष्ठ हो गए। तारुण्य के साथ प्रज्ञा का मिश्रण होने से ही जीवन सुस्वादु होता है, मधुमय होता है)। और भी तु. 'वसुमद् हिरण्यवद् अश्वावद् गोमद् यवमत् सुवीर्यम्' ले आएंगे सोम (९।६९।८; तु. १०।४२।७)। फिर 'शतं शवं नो अन्धसा पुष्टं पुष्टं परिस्रव' सोम की भोगवती धारा का रूपान्तर तारुण्य एवं पुष्टि में होता है ९।५१।१। [2] **अमति** प्रतितुलनीय• सूक्त के →

एक ओर आदित्यश्रेष्ठ वरुण, मित्र एवं अर्यमा की राजमहिमा[५] का सदय या अनुकूल आश्वासन और दूसरी ओर हम सब की ही अन्तर्मुखता का बल रहेगा।[६] देवता एवं मनुष्य के सहयोग से अर्थात एक के प्रसाद से और दूसरे के प्रयास से साधना की जयन्ती होगी। इसी लिए दोनों के बीच सख्यरति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधना के दो देवता — बृहस्पति और इन्द्र हमारे परम सखा हैं। साधना के सहायक के रूप में दोनों ही अन्तरिक्षचर हैं। एक सखा प्रज्ञा की ज्योति जलाते हैं और दूसरे सखा प्राण को बलिष्ठ करते हैं। वृत्र की माया से क्लेशयुक्त चेतना का अभिघात या प्रहार जीवन के ऊपर होने ही वाला है। बृहस्पति से कहते हैं, तुम्हारी ज्योति, पीछे, ऊपर-नीचे अव्यक्त की गहराई में एक रक्षा-कवच रच कर के उससे हमारी रक्षा करे। इन्द्र से कहते हैं तुम हमारे सामने दिशा निर्देशक और अन्तर में अन्तर्यामी रूप में रहो। और वहाँ से ही अहन्ता या अहंकार की जटिल ग्रन्थियों को खोलकर हमें विपुल करो, बृहत् करो।

कृष्ण आङ्गिरसने सप्तति इन्द्र को विरोचन ज्योति रूप में देखा — उन्हें लगा कि वे आदित्य-प्रभास्वर आकाश हैं। इसी दर्शन की पारिभाषिक संज्ञा 'चक्षः' है [२०२६]। अधिदैवत अनुभव में देवता को आदित्य रूप में देखना, और उसके भी पश्चात उनको आकाश रूप में सुनना अर्थात इसी दिव्य श्रवण की संज्ञा 'श्रवः' हुई। उस समय देवता 'ब्रह्म' हैं, →

आरम्भ में ही 'मतयः स्वर्विदः' द्र. टी. १३३६, १५८२, ११८१।[४] 'दुरेवा' तु. दुरित, दुश्चरित। वेदान्त की भाषा में 'अमति' अविद्या, 'दुरेव' विक्षेप।[२] निघन्टु में **वरिवस** धन अथवा लक्ष्य (२।१०)। अगले मंत्र में ही उसका उल्लेख ध्यातव्य है।[४] 'धनानि जयेम॥ 'धनञ्जय'; ऋक्संहिता में केवल तीन देवता 'धनञ्जय' हैं: अग्नि १।७४।३, ६।१६।१२; इन्द्र ३।४२।६, ८।४५।१३; सोम ९।८४।५, ४६।५।[५] राजभिः — ऋक्संहिता में बहुवचनान्त 'राजन्' प्रायः सर्वत्र वरुण, मित्र एवं अर्यमा का बोधक है (१।४१।३, ७।४०।४, ६६।११, १०।६३।४, १।२६।६, ८।१९।३५); दो स्थानों पर आदित्यगण का बोधक है (७।६६।६, १।१२२।११; स्मरणीय वरुण, मित्र, अर्यमा आदित्यश्रेष्ठ हैं); एक स्थान पर केवल मरुद्गण की उपमा (१०।७८।१) है। अतएव यहाँ यजमान लक्षित या अभीष्ट नहीं।[६] **वृजन** (निघ. 'बल' २।९)। ऊर्ज < √ वृज् 'मरोड़ देना, मोड़ देना' तु. अगस्त्य मैत्रावरुणि के सूक्तों की टेक ऋ. विद्याम एषं वृजनं जीरदानुम् (क्षिप्रद) १।१६५।१५। वहाँ 'इष' के साहचर्य के कारण 'वृजन' = 'ऊर्ज'; 'इष' लोकोत्तर की एषणा, 'ऊर्ज' अथवा 'वृजन' रूपान्तर की शक्ति — जिस प्रकार 'सु-वर्ग' अथवा 'परावर्ग' (अपवर्ग) — जिससे मन को इधर से उधर की ओर मोड़ दिया जाता है।[७] द्र. १।१६४।२०, टीमू. १३८९।[८] तु. ८।९६।१५, १०।६७, ६८ सूक्त। द्र. तैउ. २।८; आनन्दमीमांसा में इन्द्र के पश्चात बृहस्पति का स्थान है अर्थात साधना की अवस्था में इन्द्र प्राण का स्पर्श करता हुआ मन है, बृहस्पति प्रज्ञान है। ऋक्संहिता के ज्ञानसूक्त के ऋषि बृहस्पति आङ्गिरस हैं (१०।७१)। निघन्टु में दोनों ही अन्तरिक्षस्थान देवता हैं — क्रम इस प्रकार है 'इन्द्र। पर्जन्य। बृहस्पति' अर्थात वृत्रवध के बाद प्राण का प्लावन एवं प्रज्ञान का उन्मेष। आधियाज्ञिक दृष्टि से यही प्रज्ञान मंत्रवीर्यजात है।[९] **अघायु** (= अघ-यु) पापात्मा, जो दूसरों का अनिष्ट चाहता है। प्रतितुलनीय 'देव-यु', 'ऋत-यु'। तु. उससे बचने के लिए शुनःशेप की प्रार्थना (ऋ. १।२४।३) कृष्ण की प्रार्थना के अनुरूप है; कुत्स आङ्गिरस के अग्निसूक्त की टेक 'अप नः शोशुचद् अघम्' १।९७ (टी. १३१२)। 'अघ'॥ 'अंहः' चेतना का संकुचन, जो काटता है, चेतना के प्रसारण द्वारा अर्थात सृष्टि-रहस्य के विज्ञान द्वारा। अतएव ऋक्संहिता के उपान्त्य या अन्तिम सूक्त के पूर्ववर्ती सूक्त का नाम 'अघमर्षण सूक्त' है। ... 'राजभिः धनानि जयेम' इस वाक्यांश में भारत (महाभारत) युद्ध की ध्वनि है, ऐसा प्रतीत होता है। →

और उनके ही साथ अविनाभूत अथवा अभिन्न वाक् को हम सुनते हैं।[1] यही वाक् अन्तरिक्ष में 'गौरी', द्युलोक में 'ससर्परी', और आदित्य मण्डल के उस पार 'ब्रह्मी' है।[2] वाक् के ये तीनों पद ही गुहाहित हैं। संहिता में उसे 'अक्षर'[3] भी कहा गया है, जो समस्त दैवी वाक् का उत्स है।[4]

मेधातिथि काण्व एवं आङ्गिरस प्रियमेध दोनों ऋषियों ने मिल कर सत्पति इन्द्र के श्रवण की चर्चा इस प्रकार की है : 'जो गाथश्रवा सत्पति हैं, जो चाहते हैं श्रवः, जो पुरुरूप हैं, हे कण्वगण तुम सब गीतों में व्यक्त करो उस ओजस्वी को।' [2026] — मात्र इन कई विशेषणों में सत्पति का सर्वोत्तम परिचय मानो दिव्य भावना का मूर्त रूप है। 'गाथश्रवाः' और 'पुरुत्मा' इन दोनों संज्ञाओं का प्रयोग और कहीं भी नहीं है। इन्द्र 'गाथश्रवाः' अर्थात उनका श्रवण गीतमय है — हम उन्हें परमव्योम में साम की झङ्कार के रूप में सुनते हैं। यही साम, 'बृहत्साम' — जो यास्क के मतानुसार 'इन्द्रभक्ति' [इन्द्र-विभाग] अर्थात विशेष रूप से इन्द्र का उद्दिष्ट है।[1] बृहत साम की योनि या मूल यह एक ऐन्द्री ऋक् है — जिसमें सत्पति के रूप में इन्द्र की वाजसाति अर्थात शत्रुञ्जय ओजस्विता एवं वृत्रहत्या का प्रसङ्ग है।[2] ताण्ड्य ब्राह्मण में 'बृहता वा इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्'[3] यह कर इसी को स्पष्ट किया गया है। बृहत् साम में समस्त साम का अन्त अथवा पारम्य है।[4] पहले बृहत्, उसके पश्चात रथन्तर; और यही दोनों साम गवामयन के महाव्रत के दो पक्ष हैं।[5] रथन्तर साम सूर्य है और बृहत् साम उसके पीछे द्युलोक या ज्योतिर्मय आकाश है।[6] इसी आकाश में वाक् सहस्राक्षरा होकर बृहत्साम में झङ्कृत होती हैं। वस्तुतः यही प्रणव की अथवा एकपदी वाक् की झङ्कार है — क्योंकि वाक् का रस ऋक्, ऋक् का रस साम, साम का रस उद्गीथ एवं उद्गीथ का रस ओङ्कार है।[7] ⟶

[2026] ऋक्संहिता में यही मित्र और वरुण के माध्यम से सूर्य का 'चक्षुः' है, तु. नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो (महिमा का) देवाय ('देवता के उद्देश्य से, उनको पाने के लिए) तद् ऋतं (उनके उसी ऋत का, तु. ५।६२।१ टीमू. १२८२) 'सपर्यत' (सेवा करो, विचार करो, जिससे ज्योति का आवरण दूर हो जाए और मित्रावरुण का ध्रुव ऋत (सत्य) तुम सब के निकट प्रकट हो, तु. ई. १६) दूरे दृशे (जिनको 'दूर' या द्युलोक में देखते हैं) देवजाताय (अर्थात जो देवताओं की पुञ्जज्योति हैं, तु. ऋ. 'देवानाम् अनीकम्' १।११५।१) केतवे (अन्तर में जो अलख का 'केतु' अथवा ज्ञापक हैं) दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत १०।३७।१। सूर्य को मित्र और वरुण के नेत्र रूप में देखना (ऋ. १।११५।१)। इसी नेत्र का उन्मेष मित्र और निमेष वरुण हैं। [1] १०।११५।८। [2] १।१६४।४१, २।५३।१५, ९।२२।५। [3] १।१६४।४२। [4] १।१६४।३९, तु. शौ. १०।८।१०, तत्र गोपथ ब्राह्मण १।१।२२।

[2027] ऋ. गाथश्रवसं सत्पतिं श्रवस्कामं पुरुत्मानम्, कण्वासो गात वाजिनम् ८।२।३८। [1] नि. ७।१०। [2] ऋ. ६।४६।१। द्र. सायण भाष्य, ऐब्रा. ४।१३। [3] ता. ८।८।९। [4] ता. १९।१२।८। [5] ता. ११।१।४; १६।११।११; 'महाव्रत' द्र. ऐउप. भूमिका। [6] 'रथन्तर' द्र. ऋ. १।१६४।२५, 'बृहत्' ता. १६।१०।८, ७।६।१६, ऐब्रा. ८।२, श. १।७।२।१७ ... [7] छा. १।१।१। [8] ऋ. ९।२२।५, सम्पूर्ण तृच द्रष्टव्य। [9] 'तस्मै (इन्द्र के निमित्त) नूनम् (अभी) अभिद्यवे (ज्योतिर्मय) वाचा विरूप (ऋषि का नाम, इन्द्रसायुज्य हेतु जो पुरुरूप अथवा विश्वरूप) नित्यया वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्' ८।७५।६। इन्द्र अभिद्यु (ज्योतिर्मय, प्रायः मरुद्गण का विशेषण। द. ६।५१।१५, ८।७।२५, ८।३।९, १०।७७।३, ७८।४, १।६।८; 'द्युलोकाभिसारी' ⟶
२७१

गाथश्रवा: इन्द्र में 'गाथ' बृहत्साम का उद्गीथ अर्थात बृहत के स्वर के तरङ्गशीर्ष में ओङ्कार की झंकार है। यही एकसाथ वाक् एवं ब्रह्म अथवा 'ब्रह्मीवाक्' है। इन्द्र ब्रह्म हैं, वाक् उनकी स्वरूपशक्ति है। परमव्योम में वाक् नित्या अथवा परा है, उनका 'श्रव:' अथवा श्रुति भी नित्य है। मानुषी तुरीया वाक् या वैखरी[१०] उसी गुहाहिता नित्या वाक् की प्रतिध्वनि अथवा प्रतिश्रुति है। देवता मनुष्य को चाहते हैं इसलिए मनुष्य भी देवता को चाहता है। अत: जिस प्रकार दिव्या वाक् परमव्योम से मनुष्य के हृदय में उतर कर आती है उसी प्रकार वहाँ से प्रतिध्वनित होकर देवता के निकट लौट जाती है।[११] परिणाम स्वरूप हमें एक तो परा वाक् का और एक उक्थ अथवा उद्गीथ का – ये दो 'श्रव:' प्राप्त होते हैं। इन्द्र 'आश्रुत्कर्ण'[१२] – अर्थात प्रत्येक दिशा में उनके कान लगे रहते हैं ताकि वे अपने निमित्त हम सब के उक्थ या उद्गीथ का शंसन अथवा प्रशंसा सुन सकें। इसीलिए वे 'श्रवस्काम:' हैं। पुन: ये इन्द्र ही 'पुरुत्मा' अर्थात 'पुरुरूप' अथवा 'विश्वभू' हैं– वे ही विश्व के रूप में सब कुछ हुए हैं। किस प्रकार वे रूप-रूप में प्रतिरूप हुए, यह जैमिनीयोपनिषद में विस्तार के साथ बतलाया गया है: 'यह जो कुछ है, सब आरम्भ में आकाश था। यह जो आकाश है, वह इन्द्र ही है, यह जो इन्द्र है, वे सप्तरश्मि यही सूर्य हैं। सूर्य के रूप में प्राणमय स्वरूप वे ऊर्ध्व में प्रतिष्ठित हैं। उनकी रश्मि ही असु अथवा जीवनी शक्ति के रूप में समस्त जीवों में ऊपर से उतर कर व्योमान्त संख्या में प्रतिष्ठित हुई है।[१३] इसे ही संहिता एवं उपनिषद में 'सीमा' विदीर्ण करके आदित्यरश्मि का जीव में अनुप्रवेश कहा गया है।[१४] सामभावना की दृष्टि से बृहत्साम के पश्चात जो रथन्तर साम है यह प्रत्येक जीव के हृदय में उसका ही कम्पन है। देवता 'पुरुत्मा' होकर प्रत्येक हृदय में उस सुर की झङ्कार सुनते हैं। अपनी ही वाक् की प्रतिध्वनि सुनते हैं।

इसी 'पुरुत्मा' अथवा विश्व रूप सत्पति को गातु आत्रेय 'पाञ्चजन्य' रूप में देखते हैं अर्थात सब के भीतर उनका आविर्भाव अथवा प्रकाश एवं आवेश देखते हैं। ऋषि कहते हैं, 'यथार्थत:, एकमात्र तुम ही पाञ्चजन्य सत्पति हो। तुमको उत्पन्न होते सुनता हूँ ईशान रूप में जन-जन में। तभी तो कस कर पकड़ रखा है उसी इन्द्र को मेरी आशंसाओं ने नित्य नूतन रूप में प्रात:काल एवं सायंकाल उनका स्तवन करते हुए।' [२०२८]। →

१।४७।४, १२७।७, ३।२७।१३।१।५३।५, ८।४।२०) प्रज्ञा में, फिर 'वृषा', सार्थक शक्तिपात में। 'सुष्टुति' इन्द्रभक्ति बृहत्साम। उसका उद्गीथ ओंकार, वही नित्या वाक् – जो ब्रह्म के अविनाभूत (अभिन्न) है। देवता की प्रचोदना या प्रेरणा शक्तिपात में, मनुष्य की प्रेरणा सामझङ्कार में, उससे प्रत्युत्तर देने में है। [१०] १।१६४।४५। [११] द्र. वेमी. 'दैव्य होतृद्वय' टीभू. १५४२। [१२] ऋ. १।१०।९ [१३] द्र. जैउ. १।२८, २९ संक्षिप्त अनुवाद। 'व्योमान्त' होता है एक के बाद बारह शून्य बिठाने पर यानी दस खरब। [१४] द्र. ऋ. १।२४।७, १०।८१।१, तैउ. २।६, ऐउ. १।३।१२।

[२०२८] ऋ. एकं नु त्वा सत्पतिं पाञ्चजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु, तं मे जगृभ्र आशसो नविष्ठं दोषा वस्तोर् हवमानास इन्द्रम् ५।३२।११। 'पाञ्चजन्य' द्र. टी. १३७४[३]। यशस् टी. १३४२। **दोषा वस्तो:** दिन में एवं रात में, तु. कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोर् अश्विना १०।४०।२, ४, १।१०४।१, ६।५।२, ३९।३, ७।१।६, ८।२५।२१। दोषा ८√दुष् 'मलिन करना, दु:खी करना' (तु. ७।१०४।९, १०।८६।५), अन्धकार, रात्रि (निघ. १।७) 'वस्तो:' ८√वस् 'प्रकाश देना' दिन (निघ. १।९)। 'दोषावस्त:' अग्नि का विशेषण, रात को जो दिन करते हैं (ऋ. →

अर्थात् देवता हम सब के भीतर नवजातक रूप में आविर्भूत होते हैं— जो कुछ अनृत है, असत्य है उसके महाभय और उद्यत वज्र होकर। यह जिस दिन सुना है, उसी दिन से मेरी आशा और अपेक्षा-प्रतीक्षा मेरी साँझ के अँधियारे में और भोर के उजाले में आकुल होकर उनको पुकारा है और उनके अद्‌भुत, अपरूप आविर्भाव के नित्य नये विस्मय से चकित होकर उन्हें जोर से बाँहों में कसकर सीने से लगा रखा है।

इस प्रकार उनको प्राप्त कर लेने पर जीवन देवकर्म के द्वारा दीर्घ शतवर्षव्यापी एक यज्ञ जैसा हो जाता है [२०२८]। जिसके हर पर्व या सोपान में इन्द्र का आवेश अथवा आवेग है। अतः मेध्य काण्व का अनुशासन या आदेश इस प्रकार है; 'जो रणजित हैं, जो विश्वेश्वर सत्पति हैं— जो कुछ प्रजात या उत्पन्न होगा, उसके भीतर उनको संविष्ट करो। तुम भी (हे इन्द्र) अनायास प्रतीर्ण करो (उन्हें इस पार से उस पार) शक्तिपुञ्ज के द्वारा— जो तुम्हारे उक्थ के साधक हैं, जो क्रतु अथवा जीवन की साधना अथवा पुरुषयज्ञ विशुद्ध करते हैं अनुषक्त या संसक्त रहकर।'[१]— पुरुष का शतशरदव्यापी जीवन एक ओर जिस प्रकार एक यज्ञ है, उसी प्रकार दूसरी ओर देवों और 'असुरों का एक संग्राम है। यह संग्राम जीवन के अन्त तक चलता है। आधार में शम्बर के निन्यानबे पुरों ने प्रत्येक शरद की ज्योति को प्रस्तर-प्राचीर की परिधि की ओट में रोक रखा है। उन एक-एक पुर को वज्र के द्वारा तोड़कर ज्योति को मुक्त करना इन्द्र का एक 'क्रतु' अथवा दिव्य संकल्प का सार्थक सम्पादन या समापन का कृत्य है। शततम पुर 'सर्वताति' या सर्वात्म भाव का है— जहाँ वृत्र अथवा नमुचि के अधिकार की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है। इन्द्र वहाँ 'शतक्रतु' हैं।[२] उस समय जीवन वैवस्वत दीप्ति से प्रभास्वर होता है।[४] देवता की यही विजय आध्यात्मिक दृष्टि से हमारी जीवनव्यापी यज्ञसाधना है— इन्द्र के निमित्त 'महद् उक्थ' का शंसन है।[५] सब के अन्तश्चर या अन्तर्यामी के रूप में वे ही संग्राम एवं यज्ञ दोनों के नायक हैं। संग्राम में उनकी शक्ति के उल्लास में

११।७, ४।४।८, ७।१५।१५। [१]तु. के. 'आशा-प्रतीक्षे' ११।८।
[२०२८] द्र. ऋ. १०।१२०।१। टी. १३४४१। तु. पुरुषयज्ञ छा. ३।१६-१७। [१]ऋ. 'आजितुरं सत्पतिं विश्वचर्षणिं कृधि प्रजास्वाभगम्, प्र सू तिरा शचीभिर् ये त उक्थिनः क्रतुं पुनत आनुषक्' ८।५३।६। आजितुर— 'आजि' (द्र. टी. १२७७[३]) √तॄ 'पार होना' जय करना'। अनन्य प्रयोग। आभग आविष्ट तु. ऋ. ११३६।४ (सोम 'देवेष्वाभगः'), १०।४४।८ (इन्द्र 'इष्टो ... आभगः')। 'उक्थ' तु.— गवामयन में महाव्रत के दिन माध्यन्दिन सवन में इन्द्र के निमित्त महत् उक्थ' का शंसन। प्र √तॄ' ऊपर की ओर ठेल कर आगे ले जाना। 'क्रतु' जीवनसाधना, पुरुषयज्ञ— जिससे सोम पवमान। [२]द्र. २।२७।१०, ३।३६।१०, १०।१८।४, ८५।३९, १६१।३,४; [३]तु. ४।२६।३ (टी. १२३८), ७।१९।५। [४]अन्धकार का अधिकार शम्बर के निन्यानबे पुर तक है (४।२६।३)। शततम (सौवें) पुर में वृत्र भी नहीं नमुचि भी नहीं (७।१९।५)। 'नमुचि' छोड़कर भी छोड़ता नहीं, वह वृत्र अथवा अविद्या का संस्कारशेष है। शततम पुर में वह भी नहीं रहता। अतएव वह लोकोत्तर वारुणी शून्यता है— 'न तत्र सूर्यो भाति' इसलिए 'निवेशन' (द्र. १।३५।१, टी भू. १२८५, १५३६)।

हमारी आयु का प्रतरण;[६] और फिर हमारे शंसन में उनके क्रतु की निरञ्जनता या निर्मलता है। देवता और मनुष्य की यह अन्योन्य सम्भावना ही सृष्टि में उनके अर्थ का शाश्वत विधान है।[७] उसके अनुवर्तन में देवता के आवेश से जिस प्रकार जीवन सार्थक होता है उसी प्रकार वह आवेश उत्तरपुरुष में भी संक्रामित होता है।[८]

ये सर्वव्यापी सत्पति इन्द्र हमारे यात्रा-पथ के नित्यकालीन रक्षा-कवच जैसे हैं। अतः उनके निमित्त भर्गप्रागाथ के कण्ठ से अजपा के छन्द में यह सङ्गीत झंकृत हुआ: '(वह देखो) इन्द्र एकटक देख रहे हैं वे तो वृत्रहन्ता हैं, जो उस पार भी वरेण्य रूप में रक्षा करते रहते हैं। वे रक्षा करें-जो हमारा अन्तिम और मध्यम है। वे पीछे से और सामने से रक्षा करते रहें हम सब की। तुम पीछे से, नीचे से, ऊपर से, सामने से (अथवा 'पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और पूर्व से') निविड़ होकर, निकट रहकर, चारों ओर से हम सब की रक्षा करो। दूर कर दो हमसे देवता का भय और अदिव्य अस्त्र-शस्त्र जितने हैं सारे। आज और कल — हे इन्द्र... उसके बाद भी रक्षा करो हम सब की। हम तुम्हारा स्तवन करते हैं, गीत गाते हैं हे सत्पति — नित्य प्रति दिन, दिन हो या रात हम सब की रक्षा करो तुम [२०३०]।'— सत् के रूप में इन्द्र देश-कालव्यापी हैं चित् के रूप में वे सर्वसाक्षी हैं, आनन्द के रूप में वे वरेण्य हैं और शक्ति के रूप में वे वृत्रहन्ता ईशान अथवा पति हैं। औपनिषद पुरुष का स्वरूप लक्षण यहाँ इन्द्र में सुस्पष्ट है।

वहाँ अनालोक का आलोक। [५] द्र. ऐउ. भूमिका। 'महदुक्थ' का शंसन निष्केवल इन्द्र के निमित्त, जो दिवा-रात्रि के उस पार में 'शिव एव केवलः (श्वे. ४।१८) हैं। [६] ऋ. १।११३।१६, टीमू. १२१४। [७] 'अर्थ' देवता का व्रत अथवा लक्ष्य, वे जो चाहते हैं। तु. ई. ८, ऋ. १।१०।२। [८] द्र. उपनिषद का पितापुत्रीय 'सम्प्रदान' अथवा 'सम्प्रत्ति' कौ. २।१५; बृ. १।५।१७-२०।

[२०३०] ऋ. इन्द्र स्पळ्‌उत वृत्रहा परस्पा नो वरेण्यः, स नो रक्षिषच् चरमं स मध्यमं स पश्चात् पातु नः पुरः। त्वं नः पश्चाद् अधराद् उत्तरात् पुर इन्द्र नि पाहि विश्वतः, आरे अस्मत् कृणुहि दैव्यं भयम् आरे हेतीर् अदेवीः। अद्याद्या श्वःश्व इन्द्र त्रास्व परे च नः, विश्वा च नो जरितॄन् त् सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः ८।६१।१५-१७। **स्पश्** <√स्पश्॥पश् 'देखना' (तु. lat. 'specio' 'Look' > 'स्पश' चर) साक्षी, सर्वदर्शी। इस शब्द में 'आविः' या भोर के समय — आकाशभय ज्योति के फूट पड़ने का आभास है। इन्द्र ने देखा और देखते ही उजाला फूट पड़ा, वृत्र दूर हो गया। तु. 'प्र वः (मरुद्गण का) स्पळ् (आँख खोल कर देखना, दृष्टि) अक्रन्त् (फैल गया, <√क्रम् पैर रखना) सुविताय दावने (चलने की क्रिया को सहज करने के लिए; अर्थात् तुम सब की दृष्टि के सामने देवयान का पथ प्रसारित हुआ) ५।५९।१, विश्वा इद् उस्राः (उषा का आलोक) स्पळ् (देखते देखते) उदेति सूर्यः १०।३५।८। **परस्पा** द्र. टी. १३२३[६]। वृत्रवध के पश्चात् अन्तराकाश देवता के नेत्रों की शुक्ल दीप्ति से पूर्ण हो गया। किन्तु उसके पश्चात भी उनकी दृष्टि का 'नीलं परः कृष्णम्' है। उसी दिवारात्रि हीन अप्रकेत, अस्पष्ट भूमि पर हम जब दिशाहारा या दिग्भ्रमित हो जाते हैं (तु. १०।१२९।२), तब वे ही हमारे वरेण्य बन्धु और रक्षक होते हैं 'चरम' और 'मध्यम', अर्थात हम सब में जो छोटे और बिचले हैं, देवता उनकी रक्षा अवश्य करें — जो उत्तम हैं उनकी तो रक्षा करेंगे ही। **दैव्य भय** लोकोत्तर में निष्केवल इन्द्र के धाम में, तु. ऋ. इन्द्रो अङ्ग महद् भयम् अभी (= अभि) षद् अप चुच्यवत्, स हि स्थिरो विचर्षणिः (अटल, अचल रहकर ही अस्थिर हैं) २।४१।१०। —

श्यावाश्व आत्रेय के दो इन्द्र सूक्तों में हम देवता को सत्पति और शचीपति के रूप में एक दूसरे के आस-पास पाते हैं। इन दोनों सूक्तों का गठन एक ही प्रकार का है। किन्तु इनकी रचना, लगता है, एक दूसरे के विपरीत है। प्रत्येक सूक्त में सात मंत्र हैं। प्रथम छः मंत्रों में एक लम्बी टेक है अर्थात मंत्र के आरम्भ का कुछ अंश छोड़कर बाकी सब ही टेक है। उससे जान पड़ता है, कुछ अक्षर दे देकर या जोड़कर जप की तरह गाने के लिए ही इन दोनों सूक्तों की रचना की गई है। ऋक्संहिता में इस प्रकार का रचना-विन्यास और नहीं प्राप्त होता।

श्यावाश्व के इस प्रथम सूक्त में इन्द्र 'सत्पति' हैं। जिसकी टेक इस प्रकार है: 'पान करो सोम, मत्त होकर आनन्द में हे शतक्रतु – जो तुम्हारे हिस्से के रूप में रखा है उन सब ने। सभी प्रतिस्पर्धियों को तुम धराशायी कर दो। विपुल (तुम्हारा) संवेग, प्राण-विजेता या अप्सुजित् रूप में तुम मरुद्गण को साथ लेकर, हे इन्द्र, हे सत्पति [2031]।' – सौम्य आनन्द की मत्तता में प्रत्येक नाड़ी में अवरुद्ध प्राण की धाराओं को मुक्त करते हैं सत्पति इन्द्र, उसकी ही यह ओजपूर्ण भावना या कल्पना है। →

पर्वत का उत्तुंग शिखर स्थिर रहता है किन्तु वहाँ से ही झरना नीचे उतरता है। सृष्टि भी उसी प्रकार अक्षर का क्षरण है। उसी अक्षर से क्षर झरता है। तु॰ क॰ 'यद् इदं किंच जगत सर्व प्राण एजति निःसृतम्, महद् भयं वज्रम् उद्यतम्... भयाद् अस्याग्निस् तपति.. इत्यादि 2|3|2-3। इसी अक्षरभीति को मर्मज्ञों, रहस्यविदों की भाषा में मोक्षभीति कहते हैं। और फिर अदिव्य शक्ति की 'ईति' अथवा आक्रमण से भय।

[2031] ऋ॰ .... पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो, यं ते भागम् अधारयन् विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः सम् अप्सुजिन् मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते 8|36|1। गायत्री से जगती तक सात साधारण छन्द हैं। उसके पश्चात फिर सात अतिच्छन्दः हैं। जगती विश्वदेव गण का छन्द है। उसका जो अतिक्रमण करता है, वह लोकोत्तर का अतिच्छन्द है। इस सूक्त की प्रथम छः ऋचाएँ शक्वरी छन्द में हैं। यह सात गायत्री पाद द्वारा रचा जाता है। गायत्री अग्नि का छन्द है और अग्नि पृथिवीस्थान देवता है। साधारण गायत्री छन्द में तीन पाद दृश्यमान तीन लोक के साथ अन्वित अथवा युक्त है। शक्वरी में गायत्री के पश्चात और भी चार पादों द्वारा अग्नि को लोकोत्तर में उठा लिया जाता है। ध्यातव्य है – तीन पादों के पश्चात इन्द्र का सम्बोधन शतक्रतु है – शततम भूमि पर उनका अवस्थान है। और सात पादों के पश्चात वे 'सत्पति', अर्थात् लोकोत्तर सन्मात्र अथवा शुद्ध सत्ता रूपी उपादान हैं – किन्तु अशक्त या शक्तिहीन नहीं। शततम भूमि पर वृत्र का अँधेरा नहीं बल्कि सौम्य आनन्द की मत्तता है। जिससे वे मरुत सहचर होकर अदिव्य शक्ति की सारी बाधाओं को दूर करके चेतना को परिव्याप्त एवं प्राण को अवरोधमुक्त करते हैं। सूक्त की अन्तिम ऋचा का छन्द महापंक्ति है – जिसमें छः गायत्री पाद; और अग्नि की प्रतिष्ठा तपोलोक में है। इस छन्द की अक्षर-संख्या जगती छन्द ही जैसी है किन्तु अधिष्ठात्री देवता में अन्तर है। जगती छन्द के पाद में बारह अक्षर होने के कारण देवता द्युस्थानीय आदित्य हैं। महापंक्ति की अनुवृत्ति या अनुवर्तन अगले सूक्त की दूसरी ऋचा से जारी है। ... **कम्** (उदात्त) एक अनुकूल परिवेश की व्यञ्जना वहन करता है – जिस प्रकार यहाँ:– 'सोम पान करके तुम मत्त हो गए, यह अच्छा हुआ'। उपनिषद में 'कम्' सुख, तु॰ बृ॰ 1|2|1, छा॰ 4|10|5 (द्र॰ तैत्तिरीय संहिता॰ 'नासौ अकं भवति यजमानाय' 5|3|7|1)। निघ॰ 'सुख' (3|6); 'उदक' (1|12)। **सेहान** <√ सह 'अभिभूत करना' (पराजित करना) (तु॰ ऋ॰ 8|36|2, 7|15|2)। **पृतना** – [<√ स्पृध || स्पृत || पृत् 'स्पर्धा या प्रतिद्वन्द्विता करना, ललकारना, लड़ाई करना', >पृतन्य, निघ॰ 'संग्राम' (2|17); 'मनुष्य' 2|3] सैन्य। **ज्रयस्** – तु॰ निघ॰ 'ज्रयति' →

शची-पति इन्द्र की विपरीत टेक इस प्रकार है :– 'हे शचीपति इन्द्र (तुम्हारी) जितनी परिरक्षिणी शक्तियाँ हैं, उन्हें लेकर माध्यन्दिन सवन के सोम का (रस) पान करो, हे वृत्रहा, हे अनिन्द्य, हे वज्रधर।'[1] यह टेक पूर्ववर्ती टेक का परिशेष है। मरुत्वान् इन्द्र अब शचीपति हैं। युद्ध के अन्त में 'एकराळ (एकराट्) अस्य भुवनस्य राजसि शचीपते'[2] – अर्थात शचीपति इस भुवन के एकछत्र राजा हैं। इस बार उनका मन घर की ओर मुड़ गया है जहाँ कल्याणी जाया उत्सव का आयोजन करके प्रतीक्षारत है।[3] अब से वे योगक्षेम के ईश्वर हैं, जो अर्जित या प्राप्त हुआ है उसको प्रतिष्ठित करना उनका कार्य है।[4]

भावानुषङ्ग की दृष्टि से 'सत्पति' के पश्चात ही इन्द्र का एक सार्थक विशेषण **असुर** है। ब्राह्मणग्रन्थानुसार असुर 'वृत्र' है। किन्तु ऋक्संहिता में असुर प्रधानतः देवता की संज्ञा है — विशेष रूप से वहाँ शून्यता के देवता वरुण ही असुर हैं। विश्वामित्र के एक सुप्रसिद्ध सूक्त की टेक है 'महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम्'— देवताओं का जो महान असुरत्व है वह एक ही है अर्थात सारे देवता ही अन्त में 'असुर' हैं, यही उनकी महिमा है [२०३२] इस शब्द की व्युत्पत्ति विक्षेपार्थक 'अस्' धातु से हुई, जिससे प्राणवाची 'असु' शब्द निकला है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति 'असुना सुतान् असृजत, तद् असुराणाम् असुरत्वम्'।[1] अर्थात असुर का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ 'प्राणवान', 'प्राणोच्छल'। समस्त प्राणोच्छलता के उत्स हैं सूर्य, इसलिए –

गतिकर्मा २।१४, तु. ऋ. ८।६९।१५ टी. १२६४[२] तत्र 'उरुज्रयः' ८।६०।४। <√ ज्रि 'तीव्र गति से चलना' > √ ज्रयस् > ज्रयसानौ मित्रावरुण ५।६६।५। 'ज्रयसानस्य' अग्नि १०।११५।४। 'उरुज्रयः' तु. विष्णु उरुगायः (१।१५४।१, ६) — जितना ही ऊपर की ओर उठते हैं, उतनी ही उनकी किरणें फैलती जाती हैं, उसी से उनकी गति का वैपुल्य''। इन्द्र यहाँ उत्तरायण के सूर्य हैं। **सम् अप्सुजित्** (तु. प्रथमे व्योमनि देवानां सदने ८।१३।२, ९।१०६।२; दोनों स्थानों में इन्द्र) = अप्सु सम्-जित्। सूर्य जब उत्तरायण के चरम बिन्दु पर होते हैं तभी इस देश में वर्षा होती है। वह ही सूर्य की अतिस्थिति और इन्द्र का 'शततम वेश्यं' है। वहाँ ही 'विश्वाः पृतनाः' अभिभूत। उनका संवेग 'विपुल' है एवं समस्त अप् के सम्बन्ध से उनकी विजय सम्पूर्ण।
१ ... शचीपत इन्द्र विश्वाभिर् ऊतिभिः माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्न् अनेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ८।३७।१। इस ऋक् का छन्द जगती का परवर्ती छन्द अति-जगती छन्द है, जिसकी अक्षर संख्या ५२ (१२+८+८+१२+१२) है। द्युलोक से पृथिवी पर उतर कर फिर द्युलोक में उत्तरण एवं स्थिति जनलोक में अथवा आनन्द धाम में। व्यक्तिचेतना विश्वचेतना के द्वारा सम्पुटित। **अनेद्य** < √ निद् 'निन्दा करना' अनिन्दनीय (तु. पूर्वे जरितारः ... अनेद्या ... अरिष्टाः ६।११९।४)। इसके अतिरिक्त सर्वत्र मरुद्गण का विशेषण (१।८७।४, १६५।१२, ५।६१।१३); इन्द्र में उपचारित होने से मरुद्गण की ध्वनि है - यद्यपि इन्द्र यहाँ मरुत्वान् नहीं हैं। माध्यन्दिन सवन का सोम विशेष रूप से इन्द्र का है। [२] ८।३७।३। [३] तु. ३।५३।४, ६ (टी. १५६८[३], १५७७[२])
[४] क्षेमस्य प्रयुजश् च त्वम् ईशिषे ८।३७।५। उपासक के दिव्यजीवन का योग-क्षेम इसके बाद से इन्द्र ही वहन करते हैं (तु. गी. ९।२२)। ऋक्संहिता में योग-क्षेम का उल्लेख १०।१६६।५। और भी तु. तैउ. योग-क्षेम इति प्राणापानयोः ३।१०; अध्यात्म प्राण का अधिदैवत सूर्य में लौट जाना 'योग' है और अपान के फलस्वरूप देह में प्रतिष्ठा 'क्षेम' है (तु. ऋ. १०।१८९।२, टी. १४६३[२])।
[२०३२] ऋ. ३।५५ सूक्त। द्र. वेमी. टीभू. १२७८। विस्तृत विवेचन द्युस्थानीय 'वरुण'-प्रसङ्ग में। [१] तै ब्रा. २।३।८।२। [२] ऋ. १।११३।१६। सूर्यरश्मि को एक स्थान पर 'असिर' कहा गया है (९।६९।४, द्र. टी. ११७४)। सूर्यरश्मि 'असिर', सूर्य 'असु', देवता 'असुर' अर्थात —

संहिता में उनका एक परिचय 'जीवो असुः' है।[2] मूलतः, असुर 'द्यौः' अथवा प्रकाशसे झिलमिलाता आकाश है।[3] निस्पन्द, निस्तब्ध आकाश ही सूर्यबिम्ब में झिलमिला उठता है। अतएव आकाश और सूर्य दोनों ही असुर हैं — वेदान्त की भाषा में एकही प्राणब्रह्म का अक्षोभ्य एवं क्षोभमय प्रकाश या प्रकटन है।[4] आकाश जब असुर, तब इस संज्ञा की व्युत्पत्ति में अस्त्यार्थक अस् धातु का अनुषङ्ग होना अत्यन्त स्वाभाविक है। उस समय दर्शन की भाषा में असुर 'असत' है। इस असत से ही सत की उत्पत्ति के पश्चात् देवताओं की विसृष्टि होती है।[5] यहाँ वेद के चिन्मय प्रत्यक्षवाद के अनुसार असत् आकाश, सत् सूर्य और सारे देवता सूर्यरश्मि एवं ये सभी 'असुर' हैं। किन्तु रात्रिकालीन आकाश के देवता वरुण के ही विशेष रूप से असुर होने के कारण इस संज्ञा की व्यञ्जना 'सन्मात्र' या शुद्ध सत्ता की ओर है। अतः कहा जा सकता है कि इन्द्र जब मरुत्वान्, तब वे 'सत्पति' हैं; और जब निष्केवल, अनन्य या विशुद्ध, तब 'असुर' हैं। उस समय वे 'अस्त'-गामी सूर्य जैसे हैं।

इस एक मंत्र में हम सत्पति एवं असुर ये दोनों विशेषण एक साथ देखते हैं :- 'हे इन्द्र, इन सब देवताओं के तुम राजा हो। रक्षा करो वीरपुरुषों की। रखवाली करते रहो, हे असुर, हमारी (सबकी)। तुम सत्पति हो, (तुम) मघवा हो — हमें उत्तीर्ण करो। तुम सत्य हो, तेजस्वी, दीप्तिमान हो — प्रदान करो उत्साह' [२०३३]।' — यह एक मंत्र ही देवता का सम्पूर्ण परिचय है अर्थात् वे लोकोत्तर 'असुर' अथवा असतकल्प या असतप्राय शुद्ध सत्ता (सन्मात्र), सत्य, सत्पति, शक्ति एवं शक्ति सञ्चारण समर्थ हैं।... और एक मंत्र में असुर की —→

सर्वत्र सत्तावाची 'अस्' एवं क्षेपण वाची 'अस' धातु का मिश्रण है। तु. प्र. विश्वरूपं हरिणं (हिरण्यवर्ण) जातवेदसम् (तु. ऋ. १।५०।१, टी १२२०[6], अग्नि और सूर्य का मेल) परायणं ज्योतिर् एकं तपन्तम् सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः (जीवरूप में) प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः १।८। [2] द्र. ऋ. १।१२२।१, ३।२९।१४, असुरः पिता नः ५।८३।६, १।१३।१, ८।२०।१७, १०।९२।६। [4] तु. छा. आदित्य-क्षोभ ३।५।३; फिर उसके पीछे पूर्ण अप्रवर्ती आकाश ३।१२।७। [5] द्र. ऋ. १०।७२।२, ३; १२९।६।

[२०३३] ऋ. त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन् पाह्यसुर त्वम् अस्मान्, सत्पतिर् मघवा नस् तरुत्रस् त्वं सत्यो **वसवानः** सहोदाः १।१७४।१। **तरुत्र** <√तॄ 'पार करना, पार होना', —— 'तैरना'; उससे 'बाधा पार करना,' 'अभिभूत करना' 'रक्षा करना' 'तीव्र वेग से चलना'; तु. आयु का 'प्रतरण' अर्थात् जरा और मृत्यु की बाधा पार होकर अजर, अमृत होना; तु. 'तरुण' अजर (१।१८६।७); 'तरणि' सूर्य (१।५०।४)। **वसवानः** सर्वत्र इन्द्र का विशेषण है;—केवल १।७०।२ में वरुण, मित्र, अर्यमा 'वस्वो' (ज्योति या प्रकाश से) वसवानाः ... अप्रमुरा महोभिः (ज्योति की महिमा से चिन्मय) 'वसु' द्विरुक्ति लक्षणीय : वसवानः वसुः सन् १०।२२।१५, वसवानः वसुजुवम् ८।९९।८। [1] ३।३८।४, द्र. टीमू १९७४।

[२०३४] ऋ. अर्चा दिवे बृहते शूष्यं वचः स्वक्षत्रं यस्य धृषतो धृषन् मनः, बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः पुरो हरिभ्यां वृषभो रथो हि षः १।५४।३। **अर्च** <√अच॥ ऋच् (६।३८।२, ७।७०।६...) 'गान करना,' (तु. निघ. अर्चति। गायति ... पूजयति। मन्यते १।१४), 'जल उठना (तु. निघ. अर्चिः। शोचिः। तपः। तेजः १।१७), दोनों अर्थों को मिलाकर 'गाने के स्वर (सुर) में जल उठना', 'आग का गान या गीत गाना'; > 'अर्क' गान (गीत), सूर्य — इन दोनों को मिलाकर निघण्टु में 'वज्र', जिसमें एक साथ विद्युत-दीप्ति एवं माध्यमिका वाक् — (२।२०)। **बृहत् दिव** (द्र. टीमू ११७९, १५५५, १८५७२) आलोक-दीप्त आकाश की अनिबाध विपुलता, —

महिमा और भी सुस्पष्ट रूप में व्यक्त हुई है। वहाँ वे 'विश्वरूपः ... श्रियो वसानश् चरति स्वरोचिः'।[1] अर्थात् वे अपनी ज्योति की श्री को वस्त्र की तरह पहने विश्वरूप होकर, हमारी अन्तर्ज्योति के अमृत बिन्दु में अवस्थित होकर विचरण करते रहते हैं।

सन्ध्या भाषा में रचित इस एक मंत्र में सव्य आङ्गिरस कहते हैं, 'आग के स्वरों में अथवा लय-तान में प्रज्ज्वलित करो (इस) बृहत् द्युलोक या आकाश के निमित्त प्राण को मत्त करने वाली वाक् — शक्ति का स्वातंत्र्य जो धर्षणकारी के धर्षक मन में है। बृहत् जिनकी श्रुति है, उसी असुर को बृहत् किया गया। (ज्वाला और सुर या स्वर), इसलिए कि सुनहले रंग के इन घोड़ों के पुरो (गामी) वर्षक रथ हैं वे [२०३४]।' — अर्थात् वह जो बृहत् द्युलोक दिख रहा है, जिसके पीछे अस्तित्व की प्रशान्त नीलिमा है और सामने चैतन्य का शुक्ल विस्फुरण या छितराव है — वही तो परमदेवता 'असुर' हैं। उनका ही आलोकदीप्त रूप हम देखते हैं और जब ज्योति नहीं होती तब हम उनका अगम सुर सुनते हैं। वह सुर, बृहत का स्वर है, जो उनकी ही अविनाभूत, अभिन्न वाक के गुहाहित तीन पद हैं। उन्हें देखकर एवं सुनकर हम उनको अपने भीतर बृहत् करके प्राप्त करते हैं। यही असुर मनस्वान्[2] इन्द्र भी हैं।[1] वे वृत्र के धर्षक हैं और धर्षक मन में अपराजित क्षात्रबल स्वतःस्फूर्त है। जब इसी असुर के प्रति वाणी का अर्घ्य ले जाकर चढ़ाना होगा तब उसमें किसी प्रकार का दैन्य अथवा कार्पण्य नहीं होना चाहिए बल्कि वह उच्छ्वसित प्राण का अग्नि साम हो। क्योंकि उनमें तो कोई दीनता नहीं बल्कि वे तो शक्ति के निर्झर वह देवरथ हैं जो सारे वाहनों को पीछे छोड़ता हुआ अपने तीव्र वेग से चलता है।[3]

जो उपनिषद् में ब्रह्म का प्रतीक है। इन्द्र के साथ सायुज्य में जब मनुष्य ब्रह्म हो जाता है तब वह भी 'बृहद्दिव' कहलाता है (१०।१२०।८)। प्रत्यक्षतः 'बृहत् दिव' का उल्लेख अगली ऋचा में है। **शुष्म** (< 'शूषम्' निघ. बल २।९, सुख ३।६ < √'श्वस्', 'साँस निकालना'। प्राण के आनन्द से उत्पन्न (सौम्य आहुति ५।८६।६, स्तोम ७।६६।१)। **स्वक्षत्र** (तु. स्व-यशस्, स्व-तवस्, स्व-भानु, स्व-राज,) 'स्व' स्वतंत्र, 'क्षत्र' बलवान; तु. स्वक्षत्रं ते धृषन् मनः (इन्द्र को) ५।३५।४। अध्यात्म दृष्टि में 'क्षात्र' वीर्य है, ब्रह्म प्रज्ञा है — दोनों का सहचार प्रसिद्ध है। **बर्हणा** √ बृ < (द्र. GELDNER ऋ. १।५४।२, असमस्त पद होने पर भी समस्त-वत्) < √बृह 'बृहत् करना या होना' बृहत्व, तु. उसके बाद ही 'प्राचीनेन (पुरःसर) मनसा बर्हणावता (बृहत की भावना से युक्त) १।५४।५, विश्रुतं सहः ... बर्हणा भुवत् (बृहत् हुआ, अधृष्य, अजेय हुआ) १।५२।११। **बृहच्छ्रवस्** तु. देवान् हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः, ये वावृधु प्रतरं विश्ववेदस इन्द्र ज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः — १०।६६।१ वर्द्धनशील देवमहिमा की उज्ज्वल छवि है। ज्योति जब बढ़ते-बढ़ते आकाश हो गई, तभी श्रुति बृहत् हुई; यहाँ परमव्योम में सहस्राक्षरा वाक् की श्रुति है जिसका स्वरूप ओंकार है। [1] द्रष्टव्य: २।१२।१। [2] तु. (इन्द्र) जेतारम् अपराजितम् १।११।२। [3] तु. ईशोपनिषद्, नैनद् देवा आप्नुवन् ... अर्षत् ४।

[२०३५] ऋ. तम् उ त्वा नूनम् असुर प्रचेतसं राधो भागम् इवेमहे, महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नवन् ८।७०।६। **प्रचेतस** जिनके चैतन्य में अग्राभिसारजनित व्याप्ति है; तु. सानु से सानु पर अर्थात् एक शिखर से दूसरे शिखर पर आरोहण करने के कारण क्षितिज का फैलाव — जिससे विष्णु 'उरुगाय'। तालाब में ढेला फेंकने के बाद लहरों —

ऋषि नृमेध एवं प्रियमेध कहते हैं, 'तुम वही प्रचेता हो, हे असुर! आज (तुम्हारे निकट) हम आ रहे हैं। तुम हम सब की समृद्धि के भाग हो। चमड़े का विशाल (वर्म, कवच) जैसा तुम्हारा आश्रय है हे इन्द्र। तुम्हारा जितना सौमनस्य है अर्थात तुम्हारी प्रसन्नता, अनुकूलता जितनी भी है वह हमें ग्रस ले [२०३५]।'— देवता के असुरत्व का प्रकाश या व्यञ्जना 'प्रचेतना' अथवा चेतना की समुद्रवत उस व्याप्ति में है जिसमें सरस्वती झलक-झलक कर प्रज्ञान की लहर जगाती हैं;[1] जो सृष्टि के आरम्भ में अन्धकार के द्वारा आच्छादित अन्धकाररूप 'अप्रकेत' सलिल का विपरीत मेरु है।[2] इसी प्रचेतना में इन्द्र 'असुरः प्रचेताः' अर्थात वारुणी या सर्वव्यापी शून्यता में अवर्ण प्रभास अथवा दीप्ति की प्रच्छटा हैं।[3] इसी प्रभास में हम सब का भाग है जो हमारी साधना की चरम सिद्धि है। उनकी प्रचेतना ही हमारा परम आश्रय है जो वर्म (कवच) की तरह हमें ढँके हुए है। असुर रूप में वे सन्मात्र या शुद्धसत्ता हैं, प्रचेता रूप में चिन्मय हैं और फिर 'सुषुम्ण सूर्यरश्मि' के रूप में वे हमारे भीतर अनुविद्ध आनन्द के तीर हैं।[4] इन्द्र का यह परिचय ही उपनिषद में 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म··· आनन्दम् रूप में प्राप्त है।[5]

देवता जब शुद्ध सन्मात्र असुर, तब उनका अन्यतम वैशिष्ट्य है 'स्वधा' अर्थात स्वयं को अपने आप में धारण कर रखना। आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध सन्मात्र में हमारी स्थिति उस समय होती है, जब चेतना की अन्तर्मुखता में हम अपने भीतर गहरे पैठ जाते हैं। उस समय बाहरी जगत के आश्रय में चेतना का उल्लास नहीं बल्कि अपने भीतर ही उसका उपशम है। उपनिषद के कथनानुसार तब केवल विशुद्ध अस्तित्व की उपलब्धि होती है और उसी से बाहर-भीतर अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों का ही प्रसन्न, निर्मल तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है [२०३६]। संहिता की भाषा में यही 'असुर की स्वधा' है और तब देवता स्वधावान् होते हैं। सारे देवता ही स्वधावान् हैं किन्तु तब भी विशेष रूप से अग्नि[1] एवं इन्द्र स्वधावान् हुए।

का क्रम से फैलते जाने की तरह प्रचेतना में चेतना का क्रमिक प्रसारण होता है; इसके विपरीत केन्द्र में सिमट आना अथवा संवृत्ति (INVOLUTION) है— जिस प्रकार सृष्टि के पूर्व 'तम आसीत् तमसा गूळ्हम अग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदम' १०।१२९।३। वरुण सर्वव्यापी होने के कारण विशेष रूप से 'असुरः प्रचेताः' हैं (तु. शुनःशेप का वरुणसूक्त १।२४।१४, ८।८३।२, १०।८५।१७, ५।७१।२)। ऋक्संहिता में इस संज्ञा का सर्वाधिक प्रयोग अग्नि के बारे में किया गया है क्योंकि वे प्रचेतना के आदि में हैं, जिस प्रकार वरुण अन्त में हैं। 'राधः' = भाग, अंश। देवता की संसिद्धि (सम्यक् सिद्धि अथवा ऐश्वर्य) का मात्र एक अंश ही हम प्राप्त करते हैं, पूर्ण मात्रा में प्राप्त करना हम सब के लिए सम्भव नहीं। **कृत्ति** ८√कृत, 'कतरना, काटना, पशुओं की खाल से ढाल बनाई जाती है। अनन्य प्रयोग) तु. 'कृत्तिवास'। **सुम्न** सुख, आनन्द। तु. सुषुम्ण सूर्य रश्मि जो 'विद्दृति' अथवा नान्दन या आनन्द द्वार के भीतर से हम सब के अन्तर में निहित होती है। [1] तु. ऋ. ९।३।१२। [2] १०।१२९।३। [3] तु. क. २।२।१२। [4] तु. ऋ. १।२४।७ (टी. मू. १५८ १), मा. १८।४०; ऐउ. १।३।१३। [5] तैउ. २।१।३; आनन्द-मीमांसा २।८।१-४।

[२०३६] क. अस्तीत्येवोपलब्धव्यस् तत्त्वभावेन चोभयोः (ज्योति और अन्धकार का), अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्व भावः प्रसीदति २।३।१३। [1] टीमू. १३९१।

— क्रमशः

VI/6

वेद-मीमांसा

वेद मी मां सा

तृतीय खण्ड

अनिर्वाण

—हिन्दी अनुवाद
छविनाथ मिश्र

पृष्ठ २८० से ३०८ तक

नासदीय सूक्त में हम देखते हैं कि जब सृष्टि के आरम्भ में उस अनिर्वचनीय एक के अतिरिक्त और कुछ का अस्तित्व ही नहीं था तब उनके साथ अभिन्न रूप में 'स्वधा' अथवा आत्मस्थिति की शक्ति थी जिससे आगे चलकर उन्होंने वातास के बिना साँस ली; उसकी आत्मविसृष्टि या स्वयं को विस्मयकर रूपों में निर्धारित अथवा रूपायित करने का आधार ही यह स्वधा हुई[२०३६]। तब स्वधा तंत्र की कामकला अर्थात गुणसाम्य में निमेषिता किन्तु अन्तर्गूढ़ आत्मारामता में अस्थिर थी। यही 'स्वधा' आगे चलकर संस्कृत में 'सुधा' हो गई। सोम की 'देवी स्वधा' अथवा दिव्य स्वधा का उल्लेख भी संहिता में है। सोममण्डल के उपान्त्य सूक्त में आनन्दलोक के वर्णन में हम पाते हैं 'स्वधा च यत्र तृप्तिश्च'।[४] अतः स्वधा में उन्मत्त होने या तन्मय होने का उल्लेख संहिता में बार-बार प्राप्त होता है। यही भावना उपनिषद के 'आत्मरति' की सजातीय है।[५]

इन्द्र की स्वधा का प्रथम परिचय उनकी महिमा में प्राप्त होता है। अगस्त्य मैत्रावरुणि कहते हैं, 'जब इस प्रकार महिमा में वे वीरों से आगे बढ़ कर हैं (तब) स्वतंत्र रूप से ये दोनों रोदसी उनकी मेखला हो सकती हैं। कस लिया है इन्द्र ने मेखला (करधनी) की भाँति करके पृथिवी को, धारण कर रखा है स्वधावान् ने द्युलोक को किरीट की तरह[२०३८]'- जिन वीरों की महिमा का इन्द्र ने अतिक्रमण किया है, वे उनके नित्य सहचर मरुद्गण हैं। वे सब विश्वप्राण रूपी ज्योति के झंझावात हैं। मरुद्गण प्राण[१] हैं और इन्द्र प्रज्ञात्मक प्राण हैं।[२] प्रज्ञा, प्राण को अतिक्रान्त कर गई है- यही उसकी महिमा है। इसी महिमा के कारण ही इन्द्र द्युलोक-भूलोक के भर्ता या अधिपति हैं। भूलोक हम सब की प्रतिष्ठा और द्युलोक अतिष्ठा या अतिस्थिति है। इसलिए भूलोक या पृथिवी इन्द्र की मेखला है और द्युलोक किरीट है। किन्तु भूलोक अवर या अन्य है और द्युलोक पर या अन्यतम है। अवर, पर की कुक्षि में है। तब द्युलोक जिस प्रकार भूलोक के ऊपर की ओर है, उसी प्रकार फिर उसमें अनुस्यूत भी है। →

[२०३६] ऋ. १०।१२९।२ (यही उपर्युक्त स्वधा है); स्वधा अवस्तात् ५; कुत अयं विसृष्टिः ६ (विसृष्टि 'अधः स्विद् आसीद् उपरि स्विद् आसीत्' इसी दो स्वधा के सङ्गम से)।[१] तु. कामस् तद् अग्रे सम अवर्तत (सिमटी हुई थी) अधि १०।१२९।४। लक्षणीय. सर्वाग्रे 'एकं तत्' अर्थात् जब असत् अथवा सत् कुछ था ही नहीं (१०।१२९।१), उनकी 'स्वधा' थी। उसमें अन्तर्निहित था 'अग्रे कामः' (४)। फिर इसी काम के क्षेत्र रूप में वही 'अग्रे' था 'अप्रकेतं सलिलम्' (३)। समुद्र की भित्ति जैसी उस सलिल की भित्ति हुई 'स्वधा अवस्तात्' (५)। ऊपर नीचे 'इन दोनों स्वधा के बीच प्रयति' अथवा प्रयत्न का खेल- जिस प्रकार सम्परिष्वक्त अथवा आलिङ्गनबद्ध स्त्री-पुरुष के बीच होता है (तु. बृ. १।४।३)। उस के परिणाम-स्वरूप 'विसृष्टि' अथवा सत् का आविर्भाव, जिसके प्रमुख देवगण हुए (ऋ. १०।१२९।६)। जब इस विसृष्टि के रहस्य को कवियों ने हृदयङ्गम किया तब उन्होंने देखा कि सत् का वृन्त असत् में है (४)। यहाँ 'सत्' नीचे की स्वधा और 'असत्' ऊपर की स्वधा है। यह यह असत् ही 'असुर' है। सत् और असत् परमव्योम में युगनद्ध हैं (१०।५।७)।[२] १।१०८।१२, १५४।४, ७।४७।३, १२४।८...।[३] ९।१०२।५।[४] ९।११३।१०।[५] मु. ३।१।४।

[२०३८] ऋ. प्र यद् इत्था महिना नृभ्यो अस्त्य् अरं रोदसी कक्ष्ये नास्मै, सं विव्य इन्द्रो वृजनं न भूमा भर्ति स्वधावाँ ओपशम् इव द्याम् १।१७३।६। कक्ष्या॥ कक्ष्य (√कक्ष 'कटि') कटिबन्ध (करधनी, पेटी) तु. केशिना हरी (इन्द्र के दो अश्व) वृषणा (सोम भी) कक्ष्यप्रा (ऐसा शरीर कि कमरबन्द या पेटी का घेर भर जाए, हृष्ट-पुष्ट) १।१०।३, ८।३।२२; अन्या किल त्वां —

अतः द्युलोक भी इन्द्र की मेखला है — यानी मेखला एवं किरीट दोनों ही हैं। पृथिवी भी दिव्य है — यह व्यञ्जना लक्षणीय है। विश्वरूप इन्द्र की यह छवि — छान्दोग्योपनिषद् के वैश्वानर अग्नि की विवृति का स्मरण करा देती है।२

भुवनेश्वर के रूप में यही उनकी स्वधा का महत्व है। आत्ममहिमा में प्रतिष्ठा आत्मारामता ले आती है [२०३८]। स्वधावान् इन्द्र के आनन्द का वर्णन वामदेव गौतम की भाषा में इस प्रकार है: 'तुम जो इतने उतावले, उद्विग्न हुए हो, बड़े प्रसन्न मन से हम सब के निकट आकर भली भाँति निचोड़े हुए सोम के लिए, हे स्वधावान्; पान करो इन्द्र, सामने प्रदत्त मधु की (धारा), स्वयं पूरी तरह से प्रमत्त हो जाओ पृष्ठ-वाही अन्धस के (स्रोत में)।'१ देवता का आनन्द सोमपान में है। फिर देवताओं में इन्द्र 'सोमपातम' हैं। वस्तुतः इस सोम का पान वे हम सब के ही भीतर आकर करते हैं। हमारे आत्मदान का आनन्द ही तो देवपान सोम है। 'सोम' शोधन एवं मार्जन के द्वारा पवमान होता है।

(यम को) कक्ष्ये.व युक्तं (जुता हुआ घोड़ा [रथ में]) परि ष्वजाते... १०।१०।१३; परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिः (दश पेटियों द्वारा; पेटी यहाँ टेढ़ी उँगली के अर्थ में, तु. निघ. २।५, यह अर्थ केवल यहाँ ही उपयुक्त; लक्षणीय: निघन्टु में संकलित अनेक अर्थ सामान्यवाची न होकर विशेषवाची हैं, जिससे प्रकरण विशेष में शब्द के तात्पर्य या अर्थ को समझने के पक्ष में सहायता मिलती है) १०।१०१।१०। यहाँ 'कक्ष्या' मेखला है। **संविव्य** <√व्या 'लपेटना, वेष्टन करना' तु. 'उपवीत'। **वृजन** <√ 'मरोड़ना, रेंगना' टेढ़ी चाल; बाड़ा; मवेशीखाना; यहाँ 'वेष्टनी कटिबन्ध'। **भूम** 'भूमि,' पृथिवी। **ओपश** 'जूड़ा' चोटी, (केश-विन्यास) १०।८५।८; 'किरीट' तु. यज्ञ इन्द्रम् अवर्धयत्, चक्राण ओपशं दिवि, ८।१४।५, ८।७१।१। १ तुः मु. सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त २।१।८। २ कौ. २।१४, ३।२। ३ छा. ५।१८।२।

[२०३८] तु. छा. यो वै भूमा, तत् सुखम् ७।२३।१; यो वै भूमा तद् अमृतम्... स कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ७।२४।१। १ ऋ. उशन् उ षु णः सुमना उपाके सोमस्य नु सुषुतस्य स्वधावः, पा इन्द्र प्रतिभृतस्य मध्वः सम् अन्धसा ममदः पृष्ठ्येन, ४।२०।४। 'सुमनस्' द्र. टी. १४८८। **उपाक** < उप √ अञ्च् 'वलना' निकटवर्ती, सन्निहित, तु. उपाकयोर् नि... दधे हस्तयोर् वज्रम् आयसम् (इन्द्रः; अर्थात दोनों हाथ की मुट्ठी में) १।८१।४; उपाके नक्तोषासा १४२।७, ३।४।८, १०।११०।६। यहाँ 'उपाके' निकट आकर (निघ. अन्तिक [निकट] २।१६)। **सुषुत** सोम मधुर एवं चारु (तु. ७।२८।१, ३।३६।७, १०।३०।१३, ३।५०।२, ७।६७।४; और भी तु. उत त्वचं ददतः [जो तुमको देता है उसकी] वाजसातौ [लोकोत्तर की वज्रशक्ति छीन कर ले आने के समय] पिप्रीहि [प्रसन्न करो त्वक को अर्थात रोमाञ्च हो जाए] मध्वः सुषुतस्य चारोः [कर्म में षष्ठी, 'ददतः' का कर्म; देवता को 'सुषुत' सोम प्रदान करते समय उपासक उनके प्रसाद से रोमाञ्चित होगा]) ५।३३।७। यह सुषुत सोम मानव के लिए ज्योति खोजकर लाता है, अहि (वृत्र) की हत्या करके ५।२९।३। इस सोम के विशिष्ट सवन की संज्ञा **सुषुति** है — ऋक्संहिता के एक स्थान पर सन्धा भाषा में उसका वर्णन है (तु. 'अञ्जःसव' १।२८ सूक्त टीम्. ९६७४; वहाँ लक्षणीय: 'इन्द्राय मधुमत् सुतम्' १।२८।६): युवं (अश्विद्वय, जो द्युस्थानीय देवताओं के प्रथमगामी हैं) हवं (आह्वान) वध्रिमत्या (जिसके सप्त शीर्षण्य प्राण ही उपहत, आक्रान्त तु. 'सप्तवध्रि') अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः (अर्थात् नाड़ी का मुँह खोल देने पर आनन्द की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित होगी) पुरन्ध्यै ('पुरन्धि' पूर्णता का ध्यान, समाधिस्थ, समाहिता, पहले वह 'वध्रिमती' थी; GELDNER की परिकल्पना 'सुषुति = सुख-प्रसव' ठीक नहीं — तो फिर यह संज्ञा 'सुषूति' होती (तु. ५।७।८, टी. १२२७४; २।१०।३) — १०।३९।७। **प्रतिभृत** 'सामने ले आकर रखना, मधु', तु. ७।९१।६ (इन्द्र-वायु के लिए), ⟶

किन्तु उसके पहले वह 'अन्धः' अर्थात् पातालवाहिनी भोगवती की धारा है — यद्यपि वह भी देवता को अर्पित करना पड़ता है एवं उसमें भी उनका 'सम्मत्त' आनन्द निहित है। किन्तु उनका वास्तविक आनन्द परिपूत सोम में है जो मदिर नहीं, मधुर है। इस मधुर सोम का नाम 'इन्दु' है। जब पृष्ठ-नाड़ी अथवा 'सुषोमा' के भीतर से आनन्द की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित होती है तब 'अन्धः' सोम 'इन्दु' होता है। तभी देवता प्रसन्न होते हैं और इसी सोम्य मधु का पान करने के लिए उतावले होकर हमारे निकट दौड़े आते हैं। उस समय हम जीवन-पात्र उनके सामने रखते हुए कहते हैं — 'हे देव, प्रसन्न हुए क्या? तो फिर पान करो इस सोम की मधुरता, मत्त हो जाओ हमारी भोगवती के बहाव के प्रतिकूल उमड़ती धारा में। किन्तु हम जानते हैं, इस प्रकार उतावले होकर भी तुम अपने आप में अटल हो, प्रकृतिस्थ हो।' 'स्वधापति' इन्द्र की इस संयत उन्मत्तता के बारे में शंयु बार्हस्पत्य ने भी अपने एक तृच की टेक में बतलाया है।[2]

१०।८५।१२ ('हरि' 'इन्द्र'); प्रतिभृत हव्य (अश्विद्वय के लिए)। **पृष्ठ्य** — तु. ऋतेन (यथारीति) हि (जब) ष्म वृषभश्‍चिद् अक्तः (लिपा हुआ, लिप्त, अनुरक्त) पुमाँ अग्निः पयसा (दूध से; दूध, गाय [धेनु] के थन में रहता है किन्तु यहाँ वृषभ की पीठ में है; अग्नि एकदम प्राण के मूल में हम सब के भीतर जिस प्रकार युगनद्ध वृषभ एवं धेनु हैं, उसी प्रकार ऋत के प्रथम जातक अर्थात् अदिति की तरह ही एक साथ पिता, माता एवं पुत्र हैं १०।५।७, १।८९।१०; किन्तु यहाँ उनके पुंरूप के ऊपर ही ज़ोर दिया गया है। धेनु रूप में उनका दूध है किन्तु थन में नहीं — पीठ में है) पृष्ठ्येन ४।३।१०। आध्यात्मिक दृष्टि में जिस प्रकार अग्नि का मेरुदण्डवाही 'पयः' अथवा प्रज्ञा की आप्यायनी या आनन्ददात्री धारा है, उसी प्रकार सोम की भी आनन्द-धारा है। लक्षणीय — हठयोग के साधक सुषुम्णा को अग्निनाड़ी कहते हैं। सुषुम्णा के भीतर से अग्नि-सोम अथवा प्रज्ञात्मक प्राण और आनन्द की युग्म धारा को अनुभव में उतारना ही साधक का पुरुषार्थ है। सोम का एक अनन्यपर विशेषण **त्रिपृष्ठ** (९।७१।७, ७५।३, ९०।२, १०६।११) है, 'त्रिपृष्ठैः सवनेषु सोमैः' ८।२८।१ (सोम की धारा तीन सवन में उत्तरोत्तर तीन 'ग्रन्थि' खोलती हुई ऊपर की ओर उठ जाती है, द्र. ९।८६।१८, और भी तु. १०।१४३।२)। द्र. तं (सोम को) त्रिपृष्ठे त्रिबन्धुरे (जिसमें बैठने के तीन आसन हैं, 'पृष्ठ' पीछे की ओर, और 'बन्धुर' सामने की ओर) रथे (देहरथ में) युञ्जन्ति यातवे, ऋषीणां सप्त धीतिभिः (ध्यान-चेतना के सात पर्व या सोपान के द्वारा, तु. विष्णु की सप्तपदी — अर्थात् पृथिवी से परम पद तक १।२२।१६-२१) ९।६२।१७। फिर तु. त्रीणि [योजनानि 'सन्ध्य स्थान'] त्रितस्य धारया (एक धारा में) पृष्ठेष्वेरया (निचोड़ लो सोम की) रयिम् (धारा, स्रोत) ९।१०२।३। अन्यत्र द्युलोक से नीचे की ओर उत्तरोत्तर निहित चार 'नाभ' अर्थात् नाभि अथवा ग्रन्थि का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके भीतर से होकर सोम नीचे उतरता है (९।७४।६, द्र. टीमू. १२५३)। 'नाभि' देहकाण्ड के सामने की ओर, और 'पृष्ठ' पीछे की ओर है। तो फिर देहकाण्ड के सामने और पीछे दोनों ओर सोमग्रन्थि है। सोमपान के समय सामने की ग्रन्थियाँ सक्रिय होकर मत्त कर देती हैं, उसके बाद अन्तर्मुखता के फलस्वरूप पीछे की ग्रन्थियाँ जाग कर 'मद' को 'मधु' में रूपान्तरित करती हैं। यह योग का एक सुपरिचित अनुभव है। इसी अनुषङ्ग या प्रसङ्ग में तु. 'सुषुम्ण' सूर्यरश्मि, 'सुषोमा' नदी अथवा नाड़ी। तु. गवामयन याग में 'अभिप्लव' एवं 'पृष्ठ्य' षडहः, तत्र पिता वा अभिप्लवः पुत्रः पृष्ठ्यः' (गोपथ ब्रा. पूर्वभाग ४।१८)। और भी लक्षणीय — इस ऋक् में 'सुमनस' और 'सुषुत' ये दोनों संज्ञाएँ स्पष्टतः सुषुम्णा की व्यञ्जनावह हैं। [2] **सम्मद** < मूल का 'सम् ममदः'; —

द्वित **आप्त्य** कहते हैं, इन्द्र की तरह 'दैवी स्वधा' सोम की भी है। व्रतचारी को वे केवल मत्त नहीं करते, अटल, स्थिर भी करते हैं।[4] ओषधि सोम यदि भाँग हो तो यह बात निश्चित रूप से सत्य है— इसलिए कि भाँग का नशा चेतना को अन्तर्मुख करता है। यही स्वधा तो एक प्रशान्त तृप्ति है, यह बात सोममण्डल की सोमप्रशस्ति में भी है।[6]

देवता की स्वधा एवं महिमा जिस प्रकार आनन्द की है, उसी प्रकार शक्ति का भी उत्स है। दिव्य शक्ति को जाग्रत करने में अदिव्य शक्ति को निर्जित करने पर **पुरुष** में वीर्य अथवा **शौर्य का** विकास होता है। उस समय देवता की स्वधा **उसकी** एक बड़ी सहायिका होती है। नोधा गौतम कहते हैं: तुम्हारा इसीलिए तो हे इन्द्र, लहरों के उस पार उतर जाने के लिए (और) सूर्य की ज्योति निर्धारित करने के लिए सारे वीर लक्ष्य की ओर तीव्र वेग से जाते हुए करते हैं **आवाहन**। तुम्हारा हे स्वधावान्, यह जो (उनकी) समर में रक्षा करते रहना, ओजस्विता की समग्र साधना द्वारा (वह) सुगम हो [२०४०]।— अर्थात् जीवन एक घुड़दौड़ की तरह है। सूर्य के घोड़े पर सवार होकर सुदूर लक्ष्य की ओर तीव्र गति से जाना होगा। वह लक्ष्य क्या है? — लक्ष्य है प्राण और प्रज्ञा। हमारे भीतर प्राण का समुद्र भरपूर लहरा रहा है। किन्तु हम वहाँ तक पहुँच नहीं पाते। दस्युओं ने उसके चारों ओर लोहे की प्राचीर खड़ी कर दी है।[1] उस प्राचीर को तोड़ना पड़ेगा। द्युलोक अजस्र ज्योति का निर्झर है।[2] किन्तु वृत्र की माया मेघ होकर उसको ढँके हुए है। वज्र के प्रहार से उस मेघ को विदीर्ण करके ज्योति को मुक्त करना होगा। हमारे भीतर पौरुष है, अदिव्य शक्ति के चंगुल से हम प्राण और ज्योति को छीनकर ले आ सकेंगे। तब भी देवता को पुकारते हैं। हम चरिष्णु अथवा विचरणशील हैं— वे स्वधावान् स्थाणुरूप में हमारी प्रतिष्ठा हैं। उनकी स्वधा की अक्षोभ्यवीर्यवत्ता इस दुर्जेय संग्राम में प्रसाद का रक्षाकवच होकर हमारी रखवाली करती रहे। तभी तो हम यह कर पाएँगे।

तु. मत्स्य सूक्त; ऋ. ८।६७, वहाँ इन्द्रियसुख को 'सम्मद' कहा गया है, जिसकी सन्तानें जालनद्ध 'मत्स्य' रूप में सूक्त के ऋषि हैं। [3] सोमः सुतः स इन्द्र ते अस्ति स्वधापते मदः ६।४४।१-३। [4] परि दैवीर् अनु स्वधा इन्द्रेण याहि सरथम् ९।१०३।५। एक ही देहरथ में इन्द्र और सोम अटल, अचल रहकर ही चलायमान हैं। [5] तु. गोभिर् (दूध अथवा दही मिलाकर) भङ्गं परिष्कृतम् — ९।६१।१३। 'भङ्ग' शब्द का अनन्य प्रयोग लक्षणीय। [6] ९।११३।१०।

[२०४०] ऋ. त्वां ह त्यद् इन्द्रार्णसातौ स्वर्मीळ्हे नर आजा हवन्ते, तव स्वधाव इयम् आ समर्य ऊतिर् वाजेष्व् अतसाय्या भूत १।६३।६। **अर्णसाति** लहर को जीतना। ऋक्संहिता में सब प्रयोग इन्द्र के प्रसङ्ग में। 'अर्ण' = 'अर्णव', जिस प्रकार 'गो' = गव्य। निघण्टु में 'उदक' १।१२, प्राण का प्रतीक। तु. ऋ. 'महो अर्णः' महिमा का समुद्र १।३।१२। **स्वर्मीळ्ह** (तु. १।१३०।८, १६९।२, ४।१६।१५; १।५६।२, ८।६८।५) < स्वर् √मिह, बरसना, झरना (तु. 'धर्ममेघ' समाधि। **समर्य** (पदपाठ: 'स-मर्य' वस्तुतः 'सम्-अर्य'; तु. सम्-अरण' 'सम-अर' < √ऋ. 'चलना'।। 'सम-इथ' ४।५८।११, 'सम-गम' समागम; निघ. 'संग्राम' २।१७। **अतसाय्य** < √अत् 'चलना + आय्य (तु. 'दिधिषाय्य' जिसको प्राप्त करने की कामना करें) जिसके पास जाने की इच्छा हो; एकमात्र अन्यतर प्रयोग: ऋ. सद्यो यो (इन्द्र) नृभ्यो अतसाय्यो भूत पस्पृधानेभ्यः (जैसे एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी) सूर्यस्य सातौ २।१९।४। [1] तु. अर्णसातौ... हत्वी दस्यून् पुर आयसीर् नि तारीत् २।२०।८। [2] द्र. टी. ११४५; तु. ऋ. ९।११३।७, ८। ⟶

मैत्रावरुणि वसिष्ठ कहते हैं: 'बलवान, उग्र वज्रसत्ता के रूप में जन्मे हैं शौर्य प्रकट करने के लिए (ये) स्वधावान्। पौरुषदृप्त (वे) करेंगे (वह) कार्य जो करने के लिए सोचा है। युवा (वे) — (अफुरन्त, अशेष) प्रसाद लेकर जाते हैं जहाँ शूरवीर आसन बिछाते हैं। रक्षा करते हैं हम सब की (ये) इन्द्र महापाप से भी [२०४१]। अपने आप में स्थिर रहकर भी वज्रशक्ति से अपने प्रभावी सङ्कल्प को सार्थक करने के लिए हमारे भीतर देवता आविर्भूत होते हैं और अपने दृप्त पौरुष और जरारहित तारुण्य की दीप्ति द्वारा कलुष के राहुग्रास से हमें मुक्त करना ही उनका वह सङ्कल्प है। अतएव हम जहाँ ही वीरों की भाँति ज्योति की तपस्या में रत होते हैं, वहाँ ही जाकर वे हमारे निकट अपने अशेष प्रसाद के दाक्षिण्य के साथ उपस्थित रहते हैं। उनकी 'स्वधा' वीर्य (शक्ति), क्रतु (सृजन की इच्छा, सङ्कल्प शक्ति), और करुणा का निर्भर है।[१]

सोममण्डल में हम देखते हैं कि सौम्य आनन्द जब पौरुष के द्वारा संयत एवं अन्तर्ज्योति के द्वारा उद्भासित होता है तब वह 'स्वधा के द्वारा मतियों अर्थात मनन-चिन्तन, इच्छाओं और सङ्कल्पों को — जन्म देता है' [२०४२]। 'मतियां' मनन- बहुवचन में होने से तेल की धार जैसा अटूट, देवता के स्वरूप का मनन समझ में आता है।[१] यह मनन मनीषी एवं हृदय के मेल से 'धी' अथवा ध्यानचेतना को परिष्कृत करता है;[२] —

[२०४१] ऋ॰ उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावाञ्चक्रिर् अपो नर्यो यत् करिष्यन्, जग्मिर् युवा नृषदनम् अवोभिस् त्राता न इन्द्र एनसो महश् चित् ७।२०।१। **नर्य** <√※ नृ (=) 'अङ्ग-विक्षेप करना, नाचना' तु॰ नि॰ 'नरा मनुष्या (निघ॰ २।३) नृत्यन्ति कर्मसु ५।१२', कर्म में स्वच्छन्द होकर जो शक्ति का प्रदर्शन करता है, कर्मवीर। तु॰ इन्द्र का विशेषण 'नर्यापसम्' वीरकर्मी (ऋ॰ ८।९३।१)। और भी तु॰ इन्द्र 'नृणां नर्यो नृतमः **क्षपावान** (= क्षपा वस्ता' रात को जो इन्द्र प्रकाश देते हैं अग्नि होकर, उसके पश्चात् ही हैं 'जनिता सूर्यस्य' ३।४९।४; ऋक्संहिता में यह अग्नि की संज्ञा है, 'रात का मालिक' तु॰ बृ॰ ४।३।४) १०।२९।१, अभि (सर्वाभिभावी) क्रत्वा (क्रतु में) नर्यः पौंस्यैश् च ७। 'नृषदन' द्र॰ टी॰ १२५६२। [१] वीर्य और क्रतु का परिचय तु॰ ऋ॰ स ह श्रुत इन्द्रो नाम देव ऊर्ध्वो भुवन् मनुषे दस्मतमः (तम नाशक और कोई नहीं उनके जैसा) अव प्रियम् अर्शसानस्य साह्वाञ् (पराजित करके) शिरो भरत् ('अव भरत' मार गिराया, धड़ से सिर अलग कर दिया) दासस्य स्वधावान् — २।२०।६। **अर्शसान** वृत्र के अनुचर 'दास' अथवा तमःशक्ति। वह 'कृष्णत्वक्' तु॰ त्वचं कृष्णाम् अरन्धयत् (काबू में कर लिया) ... न्यर्शसानम् ओषति (जला कर मारते हैं १।१३०।८, इन्द्रः सूर्यस्य रश्मिभिर् न्यर्शसानम् ओषति ८।१२।९, स (इन्द्र) द्रुह्वणे (देवद्रोही) मनुष ऊर्ध्वसानः (ऊर्ध्वगामी होकर) साविषद् (निक्षेप किया) अर्शसानाय शरुम् (शर, वज्र) १०।९९।७। अर्शसान <√विश् 'टुकड़े-टुकड़े करना, छिन्न अथवा विदीर्ण करना' <√※ अर्शस (तु॰ 'अर्शस्' - पाणिनि, ५।२।१२७, रोग विशेष, 'ऋक्ष' भालू > नक्षत्र ऋ॰ १।२४।१० तु॰ ८।२४।२४) + आन, जो हमेशा अखण्ड को खण्ड-खण्ड करता है (तु॰ मित्र-वरुण 'रिशादस' अखण्ड चैतन्य के देवता)। अर्शसान देवद्रोही, मनु का परम शत्रु। इन्द्र मनु को बचाने के लिए **ऊर्ध्वसान** अथवा उद्यत हुए सूर्य की तरह। 'ऊर्ध्वसान' <√※ ऊर्ध्वस + आन, ऊर्ध्व < वृध 'बढ़ना' अनन्य प्रयोग। किन्तु अनश्वो जातो अनभीशुर् अर्वा (घोड़ा नहीं, लगाम नहीं ऐसा एक घोड़ा जन्म से ही) कनिक्रदत् पतयद् (उड़ते हुए चलो) **ऊर्ध्वसानुः** (गिरिशृङ्ग की भाँति खड़े होकर) १।१५२।५। 'उदेयन' सूर्य का वर्णन। तब सूर्य 'शिपिविष्ट' विष्णु — शालग्राम शिला की भाँति। उनका रथ नहीं, घोड़ा नहीं, घोड़े की लगाम नहीं। ये सब तब दिखाई देंगे जब वे 'उद्यन् पुरुष' होंगे (तु॰ जैउ॰ ४।५)। 'अभीशु' लगाम, बल्गा फिर सूर्य की रश्मि (निघ॰ १।५)। अर्शसान की तमःशक्ति को विदीर्ण करके इन्द्र का तमनाशक अभ्युदय भी इसी प्रकार। 'अर्वा' रथ का व्यञ्जक है। [२०४२] ऋ॰ नृभिर् यतः कृणुते निर्णिजं —>

देवता के साथ उपासक का सायुज्य घटित होता है।[1] धी अथवा ध्यान चेतना का वर्णन करते हुए विश्वामित्र कहते हैं कि धी द्युलोक से उत्पन्न एक नित्यजाग्रत आद्याशक्ति है, वह विद्या का एक अपरिहार्य साधन है— पुरुषानुक्रम या वंशपरम्परा के द्वारा हम सब के भीतर उतरती आई है, जिसकी कल्पना शुभ्रवसना कल्याणी के रूप की जा सकती है।[2] मन, मनीषा, हृदय एवं धी इनमें साधन का एक क्रम है।[3] संहिता में मनोयोग और धी योग एक दूसरे के पार्श्ववर्ती हैं।[4] मनोयोग का परिणाम धी योग है। उसके परिणाम स्वरूप प्रज्ञा का उन्मेष होता है।[5] यह उन्मेष सूर्योदय की तरह अन्धकार के आवरण को विदीर्ण करता है। स्वधा से मति की उत्पत्ति में उसका सङ्केत है। स्वधा के आनन्द एवं शक्ति से हमारे भीतर इन्द्र द्वारा सूर्य के आविष्करण में उनकी अपूर्व महिमा का परिचय प्राप्त होता है। बार्हस्पत्य भरद्वाज के इन दो मंत्रों में उसका वर्णन इस प्रकार है:— ऋषि कहते हैं, 'वह समस्त मादक (सोमरस) हे इन्द्र, हे स्वधावान्, जिसका पान किया है, हे आलोकदीप्त तुमको संवर्धित करके बृहत् करे। महान (तुम) अन्यून, पूर्ण शक्तिमान (और) विभूतिमान, ऐश्वर्यवान हो; उन्मादक (यह सोमरस) तुमको रोमाञ्चित करे (शत्रु-) दलन के लिए तीव्र गति से जाते समय। (यह वही सोमरस है) जिसकी मादकता मत्त कर देती है उषा को (और) तुमने सुदृढ़ों को विदीर्ण करके, दूर हटा कर सूर्य की ज्योति को प्रस्फुटित किया। विशाल (और) दृढ़ जिस पाषाण की आड़ में गोयूथ अवरुद्ध था हे इन्द्र तुमने उस अटल को उसके अपने अचल आसन से [२०४३]।'—हमारे पार्थिव अथवा जागतिक आधार की गहराई में आलोक-धेनुएँ वृत्र के अनुचर वल की माया द्वारा निर्मित प्रस्तर-प्राचीर की आड़ में अवरुद्ध हैं। वही अभेद्य, अडिग पाषाण असुर का स्वधाम है। —

(निर्मल परिष्कृत शुभ्र भाव, उत्तरीय) गा (रश्मियों का) अतो मतीर् जनयत स्वधाभिः ७।७५।१। [1] तु. ... [2] १।६२।२। विश्वा मतीर् आ ततने (आतत, विस्तृत किया है) त्वाया (तुमको चाह कर) ७।२९।३। १।६१।२ टीम्. १२१८[1]। [3] २।३५।२ टीम्. १५६१[1]। [4] ५।८१।१, टीम्. १२५७[11]। और भी तु. ते सत्येन मनसा गोपतिं (बृहस्पति को) गा इयानास (चाह कर) इषणयन्त (द्रुत किया, जगाया, सतर्क किया) धीभिः १०।६७।८; यद् ध त्यन् मित्रावरुणावृताद् अध्याददाथे (स्थानान्तरित कर दिया है) अनृतं स्वेन मन्युना दक्षस्य स्वेन मन्युना (सिसृक्षा का अपना प्रवेग), युवोर् इत्था (जिसके कारण) अधि सद्मस्व पश्याम (स्वधाम में देख पाया) हिरण्ययम् (+ आसन), धीभिस् चन मनसा स्वेभिर् अक्षभिः (बुद्धि, मन और अपनी आँखों के माध्यम से) सोमस्य (सोम रूप में) स्वेभिर् अक्षभिः १।१३९।२, (ध्यान में, मन में और इन्द्रियों में सोम की आभा फूट पड़ी); रथं (देवरथ अथवा देहरथ) ये चक्रुः सुवृतं (अनायास पहिये की तरह घूम जाना) सुचेतसो (सुचेता ऋभुगण) अविह्वरन्तं (अकुटिलगामी) मनसस् परि ध्यया (मनन और ध्यान द्वारा) ४।३६।२। [5] तु. निघ. धी 'प्रज्ञा' (३।९) एवं कर्म (२।१) दोनों ही—अर्थात 'धी' समर्थ प्रज्ञा।

[२०४३] ऋ. ते त्वा मदा बृहद् इन्द्र स्वधाव इमे पीता उक्षयन्त द्युमन्तम्, महाम् अनूनं तवसं विभूतिं मत्सरासो जर्हृषन्त प्रसाहम्। येभिः सूर्यम् उषसं मन्दसानो ऽवासयो ऽप दृळ्हानि दर्द्रत्, महाम् अद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस् परि स्वात् ६।१७।४-५।
उक्षयन्त <√उक्षि (णिजन्त) <√उक्ष्॥ वक्ष् < वज् (स) 'ओजः शक्ति का बढ़ना, समर्थ होना' तु. 'उक्षन्' साँड, ENG. ox। सोमरस (समस्त सोम) इन्द्र को बलशाली वज्रसत्व करेगा। **जर्हृषन्त** <√हृष 'उद्दीप्त होना' 'रोमाञ्चित होना' तु. 'हर्ष', 'हृष्ट'। **मन्दसान**<√ मन्दस्< √मद् 'मत्त हो जाना'। तु. 'अर्शसान' 'ऊर्ध्वसान' टी. २०४१। **दर्द्रत**<√दृ 'विदीर्ण करना'

वहाँ वह अपनी स्वधाशक्ति के आधार पर निषण्ण या उपविष्ट है, हम उसको किसी भी उपाय से विचलित नहीं कर सकते। किन्तु अँधेरे में बन्द उन धेनुओं[3] का ज्योति के लिए क्रन्दन मन को मथता है। अवरोध से कैसे उनको मुक्त करें? कोई उपाय न देखकर 'गोत्रभित् वज्रभृत्' देवता की शरण लेता हूँ। अपने हृदय के निचोड़े सोम की धारा से देवता[4] का पानपात्र पूर्ण करता हूँ। उसी सोम का पान करने से मत्त होकर देवता असुर की ओर दौड़ पड़ते हैं। जिस प्रकार असुर की स्वधा है, उसी प्रकार देवता की भी स्वधा है। जिस प्रकार असुर महान हैं, उसी प्रकार देवता भी महान हैं।[5] किन्तु देवता अन्यून हैं अर्थात किसी भी रूप या स्थिति में असुर की अपेक्षा वे कम नहीं हैं। मेरे सोम ने उनकी वज्रशक्ति को बढ़ा दिया है और विचित्र विभूति[6] से उनको 'बृहत्' किया है। प्रज्ञान से वे आलोकदीप्त हो गए हैं और सौम्य सुधा की मादकता में वे आनन्द से रोमाञ्चित हो उठे हैं। अब वे अपनी महिमा में अटल रहकर अन्धकार के आवरण को अपने वज्र प्रहार से विदीर्ण-विकीर्ण करेंगे; अच्युत को विच्युत करेंगे। मेरे जीवन में, मेरे भुवन में उषा की ज्योति प्रस्फुटित होगी[7] और धीरे-धीरे माध्यन्दिन सूर्य की दीप्ति उजागर होगी।

पुनः इन दो मंत्रों में ऋषि कहते हैं: पथहीन जो तमिस्रा (केवल चारों ओर ही) पसर गई थी, उसके भीतर उन्होंने ही तो सूर्य द्वारा पथ का परिचय करवाया है। हे स्वधावान्, तुम अमृत हो, अमर्त्य हो, जो मर्त्य हैं वे सब तुम्हारा धाम चाहते हैं; क्या वे कभी (तुम्हारा व्रत) लाँघते नहीं? तुम महान हो। हम जितनी मात्रा में (तुमको जानते हैं) उतनी ही मात्रा में तुम्हारी अर्चना करते हैं, हे वीर, हे ब्रह्मवाहो [2044]।' अर्थात देवता महान हैं, स्वयं में अटल स्थिर रहकर अपने वीर्य-बल के द्वारा तमिस्रा का आवरण दूर कर देते हैं। हमें जिस अन्धकार ने घेर रखा है वह तो केवल बढ़ता ही जाता है।[1] हम उसके भीतर पथ का सन्धान न पाकर दिशाहारा हो जाते हैं।[2]

---

[1] स्मरणीय. निघन्टु में 'गो' पृथिवी (1।1) एवं 'रश्मि' (1।5)। [2] द्र. ऋ. 10।67।5-6...; और भी तु. 1।71।2, 6।2।5। [3] ये सब सूक्ष्म एवं दिव्य इन्द्रिय वृत्तियाँ हैं, जो बाहर कृष्णवर्णा होने पर भी अन्तर में शुभ्रवर्णा हैं, द्र. 1।62।9, टी 1307। [4] तु. 6।17।2। [5] तु. मंत्र में देवता की 'स्वधा' फिर असुर का भी 'स्वं सदस्' है, देवता 'मह्' (महान), असुर भी वही है। [6] **विभूति** इन्द्र का विशेषण, 8।49।6, 50।6; तब उसमें 'विश्वरूप' की ध्वनि है (तु. 'विश्वभू' 10।50।1 टी. 1466)। फिर उनकी विभूति 'रयि' 6।21।1; 'सूनृता' विशेषण 1।30।5; 'सद्यः' एवं विचित्र विशेषण 1।8।9। [7] तब अवरुद्ध गोयूथ को मुक्ति प्राप्त होगी, तु. उषा का वाहन 'अरुण्यो गावः' निघ. 1।15।

[2044] ऋ. स इत् तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच् चकार, कदा ते मर्ता अमृतस्य धामे यक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः।... अर्चामसि वीर ब्रह्मवाहो याद् एव विद्म तात् त्वा महान्तम् 6।21।3,6। [1] **ततन्वत** सर्वव्याप्त, फैला हुआ। जिस प्रकार अन्धकार सर्वव्याप्त उसी प्रकार आलोक भी सर्वव्याप्त, तु. उद् वां (तुम दोनों के, मित्र-वरुण के) चक्षुर् वरुण सुप्रतीकं देवयोः (तु. 1।115।1 टी. 1289; वहाँ 'अनीक' सभूहन का बोधक है, यहाँ 'प्रतीक' व्यूहन का बोधक है, द्र. ईशोपनिषद 16) एति सूर्यस् ततन्वान् (आलोक बिखेरकर) अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे स मन्युं (मनोवेग, तीव्र संवेग) मर्त्येष्वा चिकेत 7।61।1। [2] **अवयुन** जहाँ वयुन या रास्ता नहीं। निघन्टु में 'वयुन' प्रज्ञा 3।9; तमः अप्रज्ञ अथवा अप्रकेत (अस्पष्ट, आच्छन्न तु. ऋ. 10।129।2,3), आलोक-रश्मि उसके भीतर रास्ता बना लेती है। [3] **ब्रह्मवाहस** इन्द्र के लिए रूढ़ अथवा प्रसिद्ध विशेषण 1।101।9, इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद ('बर्हिस' हृदय का आसन, जहाँ बृहत् की एषणा है जो ब्रह्म में अथवा ब्रह्मघोष में प्रकट होती है 3।41।3), 6।45।19 (इन्द्र वहाँ 'कीरिचोदन' जो उपासक के हृदय में —

अन्त में उनके अनुग्रह से सूर्य के प्रकाश में पथ का सन्धान पाते हैं। उस समय वे हमारे भीतर बृहत् की चेतना का सञ्चार करते हैं।[३] किन्तु हम उनके सम्बन्ध में कितना जानते हैं या फिर कितना समझते हैं! प्राण में स्वरों की आग जलाकर उतनी ही उनकी अर्चना करते हैं।[४] हम मर्त्य हैं, हमारा अहङ्कार हम सब का नित्य सहचर है। इसलिए पग-पग पर हम उनके व्रत का उल्लङ्घन करते हैं।[५] तब भी उस अमर्त्य देवता के स्वधाम[६] की अभीप्सा हमें उद्विग्न कर देती है।[७]

ऋषि गातु आत्रेय इन्द्र की स्वधा को 'देवी स्वधितिः' कहते हैं एवं सन्धा भाषा में उसकी एक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— 'इनकी ओर देवी स्वधिति आकृष्ट हो गई। इन्द्र के निकट गातु प्रिय-मिलन के लिए उत्सुक पत्नी की तरह (स्वयं को) अनावृत (समर्पित) कर देते हैं। (देवता) जब (अपनी) समस्त ओजःशक्ति को इन (युवतियों) के साथ संयुक्त करते हैं, तब (उस) स्वधावान के निकट मनुष्यों ने झुककर अभिवादन किया [२०४५]।'— 'स्वधिति' और 'स्वधा' की एक ही व्युत्पत्ति है, इसलिए यहाँ स्वच्छन्दतापूर्वक उसको स्वधा के समानार्थक के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।[१] किन्तु संहिता में इस शब्द का एक अर्थ है- कठिन कोई छेदनास्त्र (बढ़ई का बरमा) जो स्वयं अच्छेद्य रहकर दूसरों को काटता या उनका छेदन करता है— जैसे माँस काटने की छुरी,[२] लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी अथवा बसूला[३] (जिससे बढ़ई लकड़ी छीलते-गढ़ते हैं) और एक स्थान पर आरा या आरी।[४] निघन्टु में स्वधिति का एक अर्थ 'वज्र' दिया गया है।[५] आलोच्य ऋक् में यही अर्थ उपयुक्त है।

संगीत की प्रेरणा लेकर आते हैं), ४, ७, ५।३४।१, ३९।५ (वहाँ ब्रह्म 'काव्यं वचः' एवं 'शंस्यम् उक्थम्')। [४] हृदय में आग का सुर प्रज्वलित कर देना ही देवता की 'अर्चना' है— जो उक्थ के शंसन एवं सामगान का परिणाम है। [५] **मिनन्ति** < √मी 'क्षति करना' देवता का व्रत लङ्घन करना', तु. यच् चिद् धि ते विशो यथा (साधारण लोगों की तरह) प्र देव वरुण व्रतम्, मिनीमसि द्यविद्यवि (दिन पर दिन) १।२५।१। [६] **अमृतस्य धाम** तु. द्विता (विशेष रूप में) व्यूर्ण्वन्न् अमृतस्य धाम… धियः पिन्वानाः (आप्यायित या तुष्ट होकर) ९।९४।२, (सोम) शुक्रो वि भास्य् अमृतस्य धाम ९।९७।३२; शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः १०।१३।१। [७] **इयक्षत** < √यज्ञ करना + इच्छार्थे 'स', जो यज्ञ करने का इच्छुक; कामना की ध्वनि होने से 'जो प्राप्त करना चाहता है', तु. विपन्यवो (स्तुतिमुखर) दीध्यतो मनीषा (एकाग्र मन के साथ) सुम्नम् (प्रसाद) इयक्षन्तस् (चाहते हैं हम सब) त्वावतो नॄन् (तुम्हारे जैसे महान्त (महन्त) या मुख्य अधिष्ठाता पुरुष के निकट) २।२०।१; एते (सारा सोम) मृष्टा (सुमार्जित, परिशुद्ध) अमर्त्याः ससृवांसः (बहता जा रहा था) न शश्रमुः (थमा या रुका नहीं), इयक्षन्तः (खोज रहा था) पथः (नाड़ीतंत्र या स्नायु तंत्र के विचित्र पथ) रजः [और एक भुवन, लोक; नदी की धाराएँ जिस प्रकार समुद्र में जाकर गिरती हैं] ९।२२।४… पूरे सूक्त में एक आकुल दैन्य की व्यञ्जना है।

[२०४५] ऋ. न्य् अस्मै देवी स्वधितिर् जिहीत इन्द्राय गातुर् उशतीव येमे, सं यद् ओजो युवते विश्वम् आभिर् अनु स्वधाव्ने क्षितयो नमन्त ५।३२।१०। [१] द्र. यहाँ GELDNER। [२] १।१६२।९, १८, २०। [३] ५।८८।२, २।३९।७; ३।२।१०, ८।६, ११, ५।७।८, ७।३।९, ८।१०२।१९, १०।८९।१५। [४] स्वधितिर् वनानाम् (सोम) ९।९६।६; तु. **वनक्रक्षम्** (सोमम्) = वनक्रकचम् 'काठ या लकड़ी चीरने की आरी या आरा' ९।१०८।७ (क्रकच > 'क्रक्ष', अनुकार-शब्द 'अनुकरण-शब्द') कुण्डलिनी मेरुदण्ड के भीतर से ऊपर की ओर आरी की तरह चीरती हुई चलती है- इस प्रकार के अनुभव की बात योगियों ने बतलाई है, मंत्र में —→

तो फिर 'देवी स्वधितिः' सुदीप्त वज्र है जो अन्तरिक्षस्थानी इन्द्र के लिए द्युलोक से उतर कर आता है।[६] इसी ऋक् के तृतीय पाद में 'वज्र का समव्युत्पन्न या समूल 'ओजः' शब्द इस परिकल्पना का समर्थक है। इन्द्र की दिव्य स्वधा की वज्रशक्ति ओजः रूप में पृथिवी पर उतर आती है— यही प्रथम और तृतीय पाद का निहितार्थ है। यह घटना अधिभूत अथवा बहिर्जगत से सम्बन्धित है— इन्द्र जब वज्र के प्रहार से मेघरूपी वृत्र के अवरोध को विदीर्ण करके 'देवीर् आपः' अथवा दिव्य प्राण की धाराओं को वर्षा के रूप में पृथिवी पर उतार कर ले आते हैं। वर्षा का जल पहाड़ की चोटियों पर जमा होता है, और वहाँ से नदी-नालों से होकर नीचे उतरता है। वहाँ भी अचल पाषाण की बाधा है। धाराएँ पाषाण-कारा में बन्द रहती हैं, इन्द्र फिर वज्रबाहु होकर पहाड़ काट कर उनके लिए जाने का रास्ता तैयार कर देते हैं।[७] आध्यात्मिक दृष्टि से यही घटना तब घटती है, जब आत्मा सीमा को विदीर्ण करके ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग में नान्दन-दुवार (द्वार) के भीतर से होकर जीव में अनुप्रविष्ट होता है।[८] वेद एवं उपनिषद में इस अनुप्रवेश को सुषुम्णा-पथ में सूर्यरश्मि की निहिति या निवेशन के रूप में निरूपित किया गया है।[९] सूर्यरश्मि और नदी का प्रवाह दोनों ही वज्रबाहु इन्द्र का शक्तिपात है।[१०] क्रमानुसार वे प्रज्ञा और प्राण की धाराएँ हैं। जिस गर्त या नाली से होकर वे बहती रहती हैं, वेद में उनको 'गातु' और उपनिषद में अध्यात्म दृष्टि से 'नाड़ी' की संज्ञा दी गई है। उन में यह एक प्रसिद्ध है, जिसका नाम ऋक् संहिता में 'सुषोमा', यजुः संहिता में 'सुषुम्ण', उपनिषद में 'नान्दन'— तत्पश्चात् तंत्र में 'सुषुम्णा' है। इन नामों का एक अर्थ है— महासुख। आलोच्य ऋक् में हम इसी गातु को द्वितीय पाद में पाते हैं जिस को 'उशती' अथवा प्रियसंगमोत्सुका— अर्थात प्रिय से मिलने के लिए उत्कंठिता, चंचला नारी कहा गया है।[११] 'गातु' का मौलिक अर्थ 'पथ' है।[१२] किन्तु निघण्टुकार ने इसे पुनः पृथिवी-नाम के अन्तर्गत संकलित किया है।[१३] यहाँ सुस्पष्ट है की यह पाद ही उनका लक्ष्य है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी ने अपना पथ इन्द्र के निकट प्रसारित कर दिया। इन्द्र का वज्रवीर्य द्युलोक से उतर कर आ रहा है। उत्सुका पृथिवी ने उसको धारण करने के लिए —→

उसके बाद ही प्लावन की चर्चा है ('उदप्रुतम')। १०।८९।७ में 'स्वधिति वनेव', कुठार (कुल्हाड़ी) अथवा आरी या आरा दोनों ही हो सकता है। ५ निघ० २।२०। ६ तु० सायण. 'स्वधितिः' स्वधृतिः स्वेन धृता 'देवी' द्योतमाना द्यौः 'अस्मै' 'इन्द्राय' 'नि जिहीते'— नीचत्वेन चरति। ७ तु० ऋ० ३।३३।६, ७।४७।४ द्र० टी० १२५३।२। ८ द्र० ऐउ० १।३।१२। ९ द्र० ऋ० १।२४।७, टी० १५८१; गा० १८।४०। १० तु० ऋ० ७।४७।४; वहाँ सब अप या जलधाराएँ-प्राण धाराएँ सूर्यरश्मि अथवा सिन्धु या नदी होकर प्रवाहित हो रही हैं। ११ द्र० १।१२४।७, ४।३।२, १०।७१।४, ८९।१३। लक्ष्य करने योग्य है, **गातु** यहाँ स्त्रीलिङ्ग है। ऋक्संहिता में साधारणतया पुंलिङ्ग है और केवल दो स्थानों पर स्त्रीलिङ्ग है— 'वरीयसी गातुः' १।१३६।२; 'पूर्वी गातुः' १०।६१।२५। १२ √गा 'चलना'। १३ निघण्टु १।१। यह शब्द पुनः नैगम काण्ड में भी प्रयुक्त है (४।१)। १४ निघ० १।१; २।३। १५ 'कद्रु', द्र० टी० १२६८; 'विनता' समर्पिता। उसका पुत्र गरुड़ विष्णु का वाहन है। पुराण में अनन्त —

रन्ध्र पथ को उन्मुक्त कर दिया। अधिभूत दृष्टि से वर्षा का जल आकाश से निःसृत होकर पहाड़ की चोटी से गर्तों अथवा नालियों से बहकर नीचे उतरा। इसकी आध्यात्मिक व्यञ्जना का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। पुराण में इसी को गङ्गावतरण के रूप में चित्रित किया गया है। सिद्धाचार्यों की सन्ध्या भाषा में इसे कमल-कुलिश योग कहा गया है। उस समय पृथिवी वज्रयोगिनी है। धारा उष्णीष कमल में उतर आती है, वहाँ से वह समस्त शरीर में अर्थात 'गातु' से 'क्षिति' में फैल जाती है। ऋक् के शेषार्ध में उसका वर्णन है। 'क्षिति' निघन्टु में पृथिवी, फिर बहुवचन में 'मनुष्य' है[14] जो सब पृथिवी की सन्तान हैं। पूर्व भावना की अनुवृत्ति को समझाने के लिए यहाँ जानबूझ कर ही मनुष्य के बोधक के रूप में एक स्त्रीलिङ्ग शब्द का प्रयोग किया गया है। सांख्य की भाषा में इन्द्र परमपुरुष हैं, 'गातुः' उनकी परमा प्रकृति है और 'क्षितयः' उनकी ही बहुधा विकृत अपरा प्रकृति है। इन्द्र का 'ओजः' इन्हीं प्रकृतियों के साथ मिल गया और उनकी समग्र सत्ता में उनके अफुरन्त, अनिःशेष ओजः ने अनुषिक्त होकर उनको गलाया-तपाया। तब वे उनके निकट विनत होकर उनकी हो गईं। पुराण की भाषा में जो 'कद्रु' थीं, वे कुण्डलमोचन के फलस्वरूप 'विनता' हो गईं।[15] इन्द्र की 'देवी स्वधिति' का यही प्रसाद है।[16]

स्वधावान् इन्द्र के दाक्षिण्य का प्रसङ्ग कृष्ण आङ्गिरस के एक मंत्र में है। इसके पहले भी कृष्ण के विषय में बतला चुके हैं [2046] इसी मंत्र में उनकी ऐतिहासिकता के कुछ स्पष्ट प्रमाण होने का सङ्केत प्राप्त होता है। कृष्ण कहते हैं: 'फिर वह खेल में चालबाजी करते हुए एक अच्छी बाज़ी जीत भी सकता है, जब जुआचोर मौका देख-समझकर सर्वाधिक बड़ी बाज़ी या शर्त जीतने का निर्णय कर लेता है; (किन्तु जो केवल देवता की कामना करता है (और उनको) देने के समय कंजूसी नहीं करता, उसको स्वधावान् (इन्द्र) प्राणसंवेग का भागी कर लेते हैं।'[1] — ऋक् का मूल वक्तव्य समझने में कोई भी असुविधा —

नाग शक्ति की कुण्डलित अथवा केन्द्राभिसारी (CENTRIPETAL) अवस्था है और गरुड़ केन्द्रापसारी (CENTRIFUGAL) अवस्था है। विष्णु दोनों में अधिष्ठित हैं। ध्यातव्य-सूक्त का ऋषि 'गातु' अर्थात् देवयान का पथ, अध्यात्म दृष्टि में उपनिषद की 'मूर्धानम् अभिनिःसृता नाड़ी' है (छा· ८।६।६)।

[2046] द्र· टी· १८४०[5] (ऋ· ४।१८।१४-१५, वहाँ 'असिक्नी' 'कृष्ण'), टी· १८४०[6] (ऋ· ५।५२।१८, वहाँ 'यमुना' 'राधः'); टी· १५८४ (वहाँ 'कृष्ण विश्वक')··· [1] उत प्रहाम् अतिदीव्या जयाति कृतं यच् छ्वघ्नी विचिनोति काले, यो देवकामो न धना रुणद्धि सम् इत् तं राया सृजति स्वधावान् १०।४२।९। प्रहा < प्र √हा 'चलना' (यहाँ अन्तर्भावितार्थ) अथवा सामने रखा हुआ है, जुआ का पण (दाँव पर लगा हुआ धन)। तु· शौ· अक्षसूक्त: सा (अक्षक्रीड़ा की अधिष्ठात्री अप्सरा) नः कृतानि सीषती (< √सन् 'जय प्राप्त करना' वश में कर लेना' + इच्छार्थी 'स' जीत लेता है अर्थात् इच्छानुसार पासा फेंकता है) प्रहाम् आप्नोतु मायया ४।३८।३; तु· ताण्ड्य ब्राह्मण· आप्नोति पूर्वेषां प्रहाम् (अर्थात् ताश का इक्का देता है)· १६।१४।२, २०।१५।४ तत्र सायण· 'प्रहाम् प्रकृष्टगतिम्'; ऋ· (इन्द्र) शिक्षानरः (वीरों के शिक्षक' अथवा 'शक्ति संचारक तु· १।५३।२) समिथेषु (जन समागम में, संग्राम में) प्रहावान् —

नहीं होती है : जो केवल देवता को चाहता है और उनको अपना सर्वस्व अर्पण करने में जो कार्पण्य नहीं करता है, उसको देवता भी अजर प्राण के उस स्रोत में बहाते हुए ले जाते हैं जो उनके स्वधा के वीर्य से उत्सारित होता है। अन्यत्र इस बहते जाने को 'आयु का प्रतरण' कहा गया है जो मनुष्य को अमृत के कूल पर उत्तीर्ण करता है।२ यही वैदिक साधना का लक्ष्य है जिसका साधन 'यज्ञ' अथवा देवता के प्रति आत्माहुति है। देवता को जो मैं देता हूँ वह 'इड़ा' अथवा उनके प्रसाद के रूप में मेरे पास लौट आता है, मैं उसका उपभोग करके उनका सायुज्य प्राप्त करता हूँ। मनुष्य और देवता का यही अन्योन्य सम्भावन अथवा पारस्परिक आप्यायन सृष्टि का प्रथम धर्म अर्थात् देवयज्ञ और मनुष्य यज्ञ का मिलित रूप है।३ कृष्ण की गीता में इसकी प्रशस्ति है।४

किन्तु इस अति परिचित सत्य को समझाने की दिशा में कृष्णा ने उसके पार्श्व में द्यूतक्रीड़ा का जो चित्रण किया है वह किस प्रकार अलग-सा जान पड़ता है। लगता है यह किसी वास्तविक घटना के निदर्शन द्वारा एक विश्वसत्य की व्याख्या करना है — जिस घटना की स्मृति कृष्ण के मन में अब भी कौंध-कौंध जाती है। वह इतना दुर्मोचन अथवा दुर्ज्ञेय है कि उसके अगले इन्द्रसूक्त में उस प्रसङ्ग को जारी रखते हुए वे फिर कहते हैं : 'सब समेट लेने पर महिममय देवता ने जब सूर्य को जीत लिया (तब) जिस प्रकार जुआचोर जुए के खेल में सबसे बड़े दाँव या बाज़ी का निर्णय ले लेता है (वैसा ही हुआ) [२०४७]। — अर्थात् जुआचोर जिस प्रकार चालाकी के साथ सर्वापेक्षा बड़ा पासा फेंक कर बाज़ी जीत लेने पर उसे समेट कर खलीते (थैली) में भर लेता है, उसी प्रकार देवता ने सूर्य को जीत कर अपने हाथ की मुट्ठी में रख लिया। यहाँ भी सूर्य-जय के प्रसङ्ग में जुए के खेल का वृत्तान्त किस प्रकार असङ्गत या फिर बेतुका जैसा है।

वस्वो राशिम् अभिनेतासि भूरिम् (यहाँ भी पासे के खेल की ध्वनि है) ४।२०।८। यहाँ 'प्रहा' सब से बड़ा पण या दाँव है जो सब से बड़ा पासा फेंक कर जीत लिया जाता है। **कृत** पासे की चार बिन्दियाँ सब से बड़ी बाज़ी है। **श्वघ्नी** < श्वन् + √हन् 'मारना' (नि. स्व + √हन् ५।२२) 'कुकुरमार' > 'कुकुरखोर', यह एक गाली है किसी-किसी अनार्य उपजाति में अब भी कुकुर खाते हैं। तु. 'श्वपच' > 'श्वपाक', जो कुकुर को पका कर खाता है, चण्डाल (तु. गी. ५।१८), प्रथम प्रयोग सूत्र-साहित्य में। ऋक्संहिता में 'श्वघ्नी' द्र. १।९२।१० (उषा); इन्द्र २।१२।४ (टी. १८८१) ४।२०।३, ८।४५।३८; आलोच्य ऋक् के अनुरूप १०।४३।५। **विचिनोति** 'पृथक कर ले सकता है', तु. ४।३।११ टी. १३२०३, १३२१। **काले** ऋक्संहिता में अनन्य प्रयोग, वहाँ काल का बोधक 'ऋतु' है। किन्तु शौ. संहिता में कालसूक्त है (१९।५३, ५४)। ऋक्संहिता का यह सूक्त अर्वाचीन है, यह उसका प्रमापक है। २ तु. ऋ. ८।४८।३ (द्र. टी. १२५०, १२५५) + प्र ण आयुर् जीवसे सोम तारीः ४; १।११३।१६ टी. मू. १३१४। ३ तु. ऋ. १०।९०।१६। ४ तु. गी. ३।१०-१६।

[२०४७] ऋ. कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन् मघवा सूर्यं जयत् १०।४३।५। द्र. टी. १८८१। **संवर्गम्** तु. मा नो अस्मिन् महाधने (बहुत कठिन दौड़धूप में, जीवन की आपाधापी अथवा घुड़दौड़ में; 'धन' < √धन् 'दौड़ कर चलना') परा वर्क् (परावर्जन या परित्याग करो [नहीं], फेंक कर चले जाना [नहीं]) भारभृद् यथा (वह जैसे भार ढो कर न ले जा पाए तो फेंक देता है, उसी प्रकार), संवर्गं (सब समेट कर, इकट्ठा करके, एक खेप या एक बार में;) सं रयिं जय ८।७५।१२ (देवता 'अग्नि') द्र. टी. १८८१। इन्द्र युद्ध में सबको अपनी मुट्ठी या वश में कर लेते हैं, इसलिए 'संवृक्', टी. १८८१)।

आलोच्य ऋक् में कृष्ण आङ्गिरस ने 'श्वघ्नी' अथवा जुआचोर और 'देवकाम' इन दोनों को आमने-सामने खड़ा कर दिया है। श्वघ्नी वित्त-लोभी होने के अतिरिक्त बेहद चालाक होता है और खेल के भीतर की सारी खबर रखता है। हाथ की सफ़ाई के गुण से पासे का दाँव उसकी इच्छा के अनुसार उसके पक्ष में ही पड़ता है। इसलिए उपयुक्त समय पर अच्छा मौक़ा देखकर बड़ा दाँव ('कृत') चल कर वह प्रतिपक्ष को पूरी तरह तबाह कर दे सकता है। इस प्रकार धोखेबाज़ी से वह जो प्राप्त करता है, उसे अपनी ही थैली में डाल लेता है, उसका हिस्सा किसी को नहीं देता है, देवता को देने का तो कोई सवाल ही नहीं। अतः वह 'अ-रि' अर्थात अदेव एवं अयज्ञ है [२०४८]। ग्रहों के फेर से इस श्वघ्नी के साथ देवकाम जुए के खेल में उतरा है। अ-रि की तरह कृपणता की उसकी बँधी मुट्ठी नहीं है, वह 'न धना रुणद्धि' अर्थात् धन को रोक कर नहीं रखता है,[1] न देवता के निकट से, न मनुष्य के निकट से। ऐसे मनुष्य का श्रेष्ठ पण ('प्रहा') श्वघ्नी धोखेबाज़ी से तो जीत ले सकता है ('अति-दीव्या जयाति') किन्तु उसका सर्वनाश नहीं कर सकता। देवकाम अपना सर्वस्व प्रदान करके देवऋण शोध करता है और इसके विपरीत उनको ही ऋणी कर देता है। उसके वित्त के दैन्य को प्राण के ऐश्वर्य ('रयि') द्वारा परि-पूर्ण करके देवता अपना ऋण शोध करते हैं। देवता और मनुष्य का अन्योन्य-आप्यायन का रूप ही विश्वमूल 'प्रथम धर्म' है, इस प्रकार वह जयी होता है।

समस्त ऋक् का यह अर्थ ही सङ्गत एवं सहज प्रतीत होता है। श्वघ्नी का प्रसङ्ग उस समय अर्थालङ्कार न होकर एक वास्तविक घटना का इतिहास हो जाता है। यह ऐतिहासिक घटना है महाभारत में वर्णित देवकाम युधिष्ठिर और श्वघ्नी शकुनि की [२०४९] द्यूतक्रीडा। ऋक् का प्रथमार्ध उसी ऐतिहासिक द्यूतक्रीडा के साथ अक्षरशः मिल जाता है। युधिष्ठिर शकुनि से खेल में निश्चय ही हार गए किन्तु धर्म की जय में उनकी ही जय[1] हुई। शकुनि युद्ध में 'सहदेव' अर्थात सर्वदेव द्वारा निहत हुआ। सभी पाण्डव देवपुत्र हैं। युधिष्ठिर धर्म-पुत्र हैं और अर्जुन इन्द्र-पुत्र हैं। युद्ध में स्थिर होने के कारण युधिष्ठिर स्थित प्रज्ञा के और अर्जुन शुभ्र प्राण के प्रतीक हैं। वेद की भाषा में युधिष्ठिर स्वधावान् हैं। इसी कारण कुरुक्षेत्र के युद्ध में स्वधावान् इन्द्र की विजय हुई - क्योंकि युधिष्ठिर और अर्जुन ही यथार्थतः उस युद्ध के नायक हैं।[2]

[२०४८] तु. २।१२।४ टी. १८८१; ४।२०।३ देवता भी उसका ऋण शोध करते हैं, स्वयं श्वघ्नी होकर उसका सब ले लेते हैं। [1] तु. १०।२४।१२, १।१०२।१० (धूर्तता द्वारा प्राप्य से किसी को वञ्चित नहीं करते हैं)।

[२०४९] श्वघ्नी > 'शकुनि', अपभ्रंश जान पड़ता है। जुए के खेल में उस्ताद एवं नितान्त अर्थलोभी, इसलिए महाभारत के शकुनि का यह विकृत नाम है। उसके बेटे का नाम 'उलूक' अथवा उल्लू भी वही। [1] स्मरणीय. महाभारत की प्राचीन संज्ञा 'जय' है, - वही इतिहास-पुराण में भी है। [2] सूक्त के अन्त की दो ऋचाओं की टेक कृष्ण आङ्गिरस के तीनों सूक्तों की टेक है। उसकी प्रथम टेक है - 'वयं राजभिः प्रथमा धनान्य स्माकेन वृजनेना जयेम' अर्थात हम राजाओं को लेकर एवं अपने छल-बल द्वारा (वृजनेन) श्रेष्ठ प्रचुर धन जीत सकते हैं १०।४२।१०। कृष्ण की यह उक्ति अनिवार्य रूप से कुरुक्षेत्र-युद्ध का प्रसङ्ग स्मरण करवा देती है। 'राजभिः' = देवैः, यह ध्वनि भी है। कुरुक्षेत्र में गीता सुनाने के समय विभूति के सम्बन्ध में बतलाते हुए 'द्यूतं छलयताम् अस्मि तेजस् —

जो स्वधावान् अर्थात अपने आप में स्थित हैं, वे तात्विक दृष्टि से अक्षर पुरुष हैं। किन्तु अक्षर का क्षरण स्वधा की ही शक्ति से होता है। जिस स्वधा में वे स्थाणु अथवा स्थिर, अचल हैं पुनः उस स्वधा में ही चरिष्णु अथवा विचरणशील हैं। सृष्टि के पहले असम्भूति में वे स्थाणु हैं फिर विसृष्टि अथवा सम्भूति में चरिष्णु हैं। एक में वे जितश्वास महायोगी हैं और एक में वे ही 'आनीद् अवातं स्वधया ... तपसो महिना.जायत [२०५०]' यहाँ से तब काल का संहिता की भाषा में 'संवत्सर' का आरम्भ होता है, जब सूर्य और चन्द्र के कल्पन में अहोरात्र की व्यवस्था होने पर विश्व ने मानो आँख खोल कर देखा।[1] विसृष्टि का यह एक आदिविन्दु प्राप्त हुआ। यह विसृष्टि जब उनकी आत्मविसृष्टि अथवा आत्मसम्भूति या आत्मविभावना[2] होती है, तब वे इस विन्दु में भी स्थित हैं। परमव्योम में विसृष्टि के इस अध्यक्ष पुरुष की संज्ञा 'प्रत्न' अथवा 'पूर्व्य' या 'प्रथम' है। आदिमता की दृष्टि से इन तीनों संज्ञाओं की व्यञ्जना एक होने पर भी भावना में थोड़ा सूक्ष्म भेद है। 'प्रत्न' की व्यञ्जना स्थाणुत्व अथवा नित्यस्थिति की ओर है, वही कालमान का ध्रुव या स्थिर आदि विन्दु है। देवता के सम्बन्ध में विशेष रूप से यही अर्थ उपयुक्त है। अन्यत्र 'नूत्न' अथवा 'नूतन' का (अर्थात अब का, इस समय का) प्रतितुलनात्मक दृष्टि से 'प्रत्न', 'पूर्व का या पहले का बोधक है। 'पूर्व' एवं 'प्रथम' दोनों ही आदिमता के वाचक होने पर भी पहले में कालिक एवं दूसरे में दैशिक परम्परा, धारा या क्रम की व्यञ्जना है। जिसके कारण दोनों मे चरिष्णुता या विचरणशीलता की ध्वनि सुस्पष्ट है।[3]

ऋक्संहिता में देवताओं के अन्तर्गत अग्नि, इन्द्र और सोम के सम्बन्ध में ही 'प्रत्न' शब्द का प्रयोग सब से अधिक पाया जाता है। ये ऋग्वेद के प्रधान देवता हैं— अध्यात्म साधना के आद्य, मध्य एवं अन्त्य विन्दु हैं। ये 'प्रत्न' अर्थात नित्य तत्व हैं। फिर **प्रत्न** विशेषण होने पर भी केवल इन्द्र के सम्बन्ध में ही यह संज्ञा विशेष रूप से प्रयुक्त —→

तेजस्विनाम् अहम्, जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम्। वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः' (१०|३६-३७) एक साँस में ये बातें बतलाने में स्मृतिचारण की छाप सुस्पष्ट है— विशेष रूप से वहाँ भी उसी द्यूतक्रीड़ा के प्रसङ्ग में। द्यूतक्रीड़ा में कृष्णा (द्रौपदी) का अपमान कृष्ण के मन में गहरा घाव कर गया था।

[२०५०] द्र॰ ऋ॰ १०|१२९|२, टी.मू. १३१८: 'एकं तत्' तप की महिमा से उत्पन्न हुए। सूर्याचन्द्रमसौ धाता

[1] संवत्सरो अजायत, अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी। यथापूर्वम् अकल्पयत् १०|१९०|२,३। [2] इस सम्बन्ध में राहस्यिक उक्ति १०|१२९|६,७; और भी द्रष्टव्य १०|८०|३-५, १२५|८ (सम्भूति), ८|५८|२ (विभूति) ३|५३|८, ६|४७|१८, १०|५०|१ (इन्द्र की विश्वभूति)। [3] निघन्टु में 'पुराण' नाम के आरम्भ में ही है **प्रत्न**, अन्त की ओर 'पूर्व्य' (३|२७) है। 'प्रथम' का उल्लेख नहीं है। पुराण की व्याख्या में यास्क का कथन है 'पुरा नवं भवति', नि.(३|१९) — आद्य काल में जो नूतन ही है, अर्थात जिसका यह प्रथम आविर्भाव है। 'प्रथम' की व्याख्या 'प्रथम इति मुख्यनाम प्र-तमो भवति' नि. २|२२। 'प्रत्न' प्राचीन, जिस प्रकार 'पितरः' (ऋ॰ ४|२|१६), 'ऋषयः' (४|५०|१) 'आयवः' (प्राणोपासक ५|२२), ऋतायवः (ऋतकाम ५|८|१) — जो हम सब के पथिकृत अथवा पथप्रदर्शक हैं। फिर उसी प्रकार हमारी भी प्रत्न 'धी', है —

हुई है — यह लक्ष्य करने योग्य है। इससे वे ही विश्वमूल हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है। गाथिन विश्वामित्र का कथन है, 'हे इन्द्र तुम प्रत्न हो, तुमको अभिषुत या निचोड़ा हुआ (सोम) पान करने के लिए आह्वान करते हैं (हम सब) कुशिकवंशी (तुम्हारा) प्रसाद चाहते हुए-[२०५१]।' इसी विश्वामित्र मण्डल में ही इन्द्र तो अपनी माया से रूप-रूप में प्रतिरूप हैं, हमें उसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[१] किसी भी विशेष्य को छोड़कर केवल एक और विशेषण के साथ 'प्रत्न' संज्ञा के अनुरूप व्यवहार बार्हस्पत्य भरद्वाज के इस मंत्र में है: 'तुम सब अपनी नूतनतर धी द्वारा उस शूरतम को (उस) प्रत्न को प्राचीन (ऋषियों की) भाँति ही परिव्याप्त करने के लिए (प्रयास करो), हम सब को बहा ले चलें इन्द्र स्रोत की गहराई में प्रवहमान होकर जितने हैं दुर्गहन (आवर्त, भँवर) उनको पार करके।'[२] लक्ष्य करने योग्य है कि भरद्वाज मण्डल में भी इन्द्र अपनी माया से रूप-रूप में प्रतिरूप हैं।[३] इन सारे प्रसङ्गों से इन्द्र से सम्बन्धित 'प्रत्न' तो पुराणपुरुष[४] की संज्ञा है, वह भली भाँति समझ में आता है। वत्स काण्व के इन्द्र सूक्त के एक तृच में यही भाव अत्यन्त स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है।[५] इन्द्र वहाँ 'प्रत्न रेत:' अथवा आदिकाम हैं — जिसकी ज्योति द्युलोक के उस पार भास्वर होकर दीप्तिमान है।[६] कुशिक के (विश्वामित्र के) इस एक सूक्त में पुन: इसी 'प्रत्न रेत' का उल्लेख प्राप्त होता है: 'सभी वे (अर्थात् इन्द्र के सखा आङ्गिरा गण[७]) अपने (धन को) ओर देखते हुए उल्लसित हो उठे (जिन्होंने) प्रत्न रेत का पय: दोहन किया था; द्यावा-पृथिवी दोनों को वितप्त कर दिया इनके निर्घोष ने। (इन सब ने) जातक या नवजात में विविक्तता अथवा निजता निहित की और धेनुओं के (प्रत्येक के) भीतर शक्ति।'[८] →

-(८|७५|५ 'चिकित्विन्मनसं ... ऋतस्य पिप्युषीम्'), 'मन्म' मंत्र, निविद् अथवा प्रणव ८|७६|६), 'सख्य' (१|१०८|५ 'प्रत्नानि सख्या शिवानि' हम सब की ओर से अथवा हमारी दृष्टि में जो क्रमागत, परम्परागत या चिर प्रचलित —, किन्तु देवता की दृष्टि में नित्य हैं); यहाँ इन्द्र का सख्य, और भी तु. प्रत्नं रयीणां युजं सखायं कीरि-चोदनम् ब्रह्मवाहस्तमं हुवे ६|४५|१९।

[२०५१] ऋ. त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नम् इन्द्र हवामहे, कुशिकासो अवस्यव: ३|४२|९। [१] ३|५३|८, टी. १५०। पुन: उनकी विश्वरूपता का वर्णन है ३|३८|४ टी. १८३२, १७७४। [२] 'तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत् परितंसयध्यै, स नो वक्षद् अनिमान: सुवक्षेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि ६|२२|७'। [३] देवता प्रत्न अथवा चिरन्तन हैं; किन्तु जिस मार्जित धी द्वारा हम उनको पाते हैं (तु. १|६१|२, टी. १२१८९), वह नित्य नूतन है, क्योंकि वह प्रत्येक रूप में माया के आवरण को दूर करके उनको आविष्कृत करती है। **परितंसयध्यै** < परि√तन् 'फैल जाना, व्याप्त करना' + स + ध्यै; और एकमात्र प्रयोग १|१७३|७। **अनिमान** < अ + नि √मा 'मापना' + अन, 'जिसका तल या सतह न मिल पाए' = अपरिमेय, अथाह। द्वितीय १|२७|११, अग्नि का विशेषण। **सुवक्षा** < √वह् 'वहन करना' घोड़े की तरह, स्रोत की तरह। अनन्य प्रयोग। **दुर्गह** दुरवगाह (आवर्त); द्र. टी. ७६०। जीवन-स्रोत में अनेक आवर्त हैं। उसमें हम डूब जा सकते हैं। किन्तु देवता अन्तर्यामी रूप में स्रोत के गहराव में प्रवहमान होकर सब पार करके हम सब को अमृत के कूल पर उत्तीर्ण करते हैं। [३] ६|४८|१८, टी. ११७६। [४] तु. गी. ११|३८। [५] ८|६|२८-३०, टी. १७५८। [६] तु. १०|१२०|४। 'प्रत्नस्य रेतसो ज्योति:' — अर्थात् 'प्रत्न पुरुष का जो रेत: है, उसकी ज्योति' — यह अर्थ भी होता है। पुरुष और उनका रेत: (उनका काम या इच्छा, ईक्षा, तप:) शक्तिमान और शक्ति की तरह अभिन्न हैं। 'रेतसो ज्योति:' उस समय आदित्य (तु. तैउ. मह: आदित्य १|५|१-२। सांख्य में महत् तत्व

—अर्थात ये धेनुएँ अङ्गिरागण की अन्तर्ज्योति अथवा अपना धन (स्व) है। पणियों की पाषाणकारा से उनको मुक्त देख करके हर्ष ध्वनि करने लगे। उसी निर्घोष से द्युलोक और भूलोक में आसन्न वर्षण के सङ्केत में मानो तप के ताप की तरङ्गें प्रवाहित होने लगीं— क्योंकि अथर्वा की तरह अङ्गिरागण भी अग्निसाधना के प्रवर्तक अग्नि-ऋषि हैं।[10] पणियों का अवरोध तोड़ने के लिए इतनी देर तक वे सब 'प्रत्न रेतः' अथवा इन्द्र का 'पयः' अर्थात आप्यायनी धारा दुह रहे थे। इसी रेतः को अन्य एक इन्द्र सूक्त में 'द्युलोक का रेतः' बतलाया गया है।[11] तो फिर अङ्गिरागण महाशून्य का दोहन करके इन्द्रवीर्य की आप्यायनी धारा को नीचे उतार कर ला रहे थे धेनुओं को मुक्त करने के लिए। धेनुएँ जब बाहर आईं तब उनके साथ नवजातक थे— इसलिए कि अवरोध के समय वे वन्ध्या रूप में नहीं थीं— क्योंकि गुहाहित ज्योतिःशक्ति कदापि अफला नहीं होती है। यही नवज्योति सिद्धि की अभूतपूर्व सम्पत्ति है, इसलिए वे सब उसे सब कुछ से अलग करके पालने-पोसने[12] लगे। और फिर भी धेनुओं के भीतर वीर्याधान किया, जिससे वे प्रजावती हों। प्रथम जातक के जनक प्रत्न पुरुष इन्द्र स्वयं हैं। यही अनेक धेनुओं का एकमात्र जातक है— जिस प्रकार अग्नि अनेक युवती माताओं की एक सन्तान है।[13] वेद की सन्धा भाषा में इसी एकजातक को 'तोक' कहा गया है। और इसके बाद अङ्गिरागण के वीर्याधान के परिणाम स्वरूप अन्तर्ज्योति से जिनका जन्म हुआ वे सब संख्या में अनेक एवं 'हव्य' अर्थात इन्द्र के निमित्त निवेदित या अर्पित दिव्य चिद्वृत्ति अथवा चित्शक्ति की तरङ्गें हैं। अगले मंत्र में ही उनका उल्लेख है एवं बताया जा रहा है कि इन हव्य जातकों के साथ आलोक धेनुओं को अग्नि के स्वर में ऊपर की ओर प्रवाहित कर दिया। उस समय सब धेनुएँ एक विपुल रूपा छिटक जाने वाली जयश्री धेनु के रूप में उनके लिए थन में भरे सुस्वादु ज्योतिर्मय मधु का क्षरण करते हुए दिखाई पड़ीं।[14] पहले अनेक धेनुओं का एक जातक था,—

प्रकृति का प्रथम विकार है। तो फिर 'प्रत्न' पुरुष है, 'रेतः' प्रकृति है और 'ज्योतिः' महत् तत्व है। तीनों में पिता, माता एवं पुत्र का सम्बन्ध है। [7] तु. सो (इन्द्र) अङ्गिरोभिर् अङ्गिरस्तमो भूद् वृषा वृषभिः...सखा सन् १।१००।४। [8] संपश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुहानाः, वि रोदसी अतपद् घोष एषां जाते निःष्ठाम् अदधुर् गोषु वीरान् ३।३१।१०। [9] द्र. टीमू. १२३१[2]। [10] तु. ऋ. ५।११।६। अनेक स्थलों पर अग्नि 'अङ्गिराः' (१।१।६, ३१।१, १७, ४।३।१५ ...)। [11] तु. दिवो न यस्य (इन्द्र का) रेतसो दुघानाः पन्थासो (इन्द्र के शक्तिपात की धाराएँ) यन्ति शवसा परीताः (अनिरुद्ध, अवारित, मुक्त) १।१००।३। द्युलोक से यह इन्द्ररेतः अप् अथवा ज्योति की धारा दोहन करना— उनका वृत्रघाती शक्तिपात है। फिर हम सब के निकट वही सत्य से आच्छादित देवयान का पथ (तु. मु. ३।१।६) [12] **निःष्ठा** तु. '(सोम) यूथे न निःष्ठा वृषभो वि तिष्ठसे' दल अथवा झुण्ड में निःसङ्ग वृषभ की तरह अलग होकर रहना। वृषभ यहाँ, यूथपति। < निः (सब को छोड़कर) √स्था 'रहना'। तु. छा. 'निष्ठ' (७।२०।१)॥ 'निःष्ठा' तु. वहाँ क्रियापद 'निस्तिष्ठति')। सम्प्रति 'निःष्ठा' से एकाग्रता अथवा अनन्यचिन्तता का बोध होता है, उसके लिए मन को विक्षेप से दूर रखना पड़ता है। यहाँ 'निःष्ठा' अथवा एकाग्र अवधान अङ्गिरागण का— नये बछड़ों के प्रति है। बछड़े, देवता के —

अब एक धेनु के अनेक जातक हुए। इनको 'तनय' कहा जाता है—जिनमें तोक का अनुवर्तन है। साधारण एवं रहस्यमय दोनों अर्थों में ही तोक-तनय का उल्लेख ऋक्संहिता में प्रचुर है।[१५] 'तोक' देवता का प्रथम प्रसाद है, किसी साधनहीन के धन जैसा। 'तनय' साधना के फलस्वरूप उसकी विभूति का विस्तार है।

स्वरूप की दृष्टि से इन्द्र जिस प्रकार 'प्रत्न' अथवा विश्वमूल हैं, उसी प्रकार महिमा एवं माधुर्य की दृष्टि से वे 'प्रत्न पति' हैं। नोधा गौतम का कथन है: 'इनके ही निमित्त प्रीति के नैवेद्य की तरह अर्पित कर दिया (यह जो) लेकर आ रहा हूँ (जो) ज्योतिष्टोम (अँधेरा) दूर करने के लिए स्वच्छन्दता पूर्वक (चित्त की) अन्तरावृत्ति द्वारा। मन, मनीषा (और) हृदय द्वारा प्रत्न पति इन्द्र के लिए धी वृत्तियों को (वे) मार्जित करते हैं—[२०५२]।'— मेरे चारों ओर है अन्धकार का अवरोध। चित्त को अन्तर्मुखी कर के उसको दूर करना चाहता हूँ। उसके लिए देवता के निकट उत्कंठिता [illegible]नी की तरह! सुर (स्वर) की भेंट ले कर जा रहा हूँ— क्योंकि वे ही मेरे चिरन्तन पति हैं। ऐसी स्थिति में उनकी साधना केवल प्रीति के द्वारा उनके माधुर्य की आराधना नहीं बल्कि परिमार्जित बुद्धि-कर्म के द्वारा उनकी महिमा की भी उपासना है। तब सभी देवाभिमुखी सच्चे मन के साथ उनका ध्यान करते हैं।२ मन का ध्यान गहनतर होने पर जब मनीषा के आलोक से दीप्त हो उठता है। तब मन 'चिकित्विन्मनः' है— अँधेरे को चीरते हुए मनीषा के अन्वेषी आलोक में सत्य का आविष्कार करना जिसकी साधना है। अन्त में जब मनीषा की प्रगाढ़ता हृदय के प्रद्योत में उत्तीर्ण होती है तब वहाँ ही स्वयंज्योति बोध की आभास्वरता में सत्य की प्राप्ति होती है। उस समय मन 'बोधिन्मनः' है।४ वृत्ति की परिकीर्णता या व्याप्ति में वह सत्य को केवल बाहर नहीं प्राप्त करता है—बल्कि बोध की समग्रता के माध्यम से भीतर प्राप्त करता है। इस प्रकार मन, मनीषा और हृदय के अनुशीलन या चिन्तन-मनन द्वारा सुमार्जित धी वृत्ति से ही वे अद्भुत अनिर्वचनीयता की भूमिका में—

शक्तिपात से उत्पन्न प्रज्ञावृत्ति हैं जो नये रूप में दिखाई पड़ीं।[१३] द्र. ऋ. ३।१।६, टीमू. १२३३४, १२६३२।[१४] स जातेभिः (उन नवजातकों समेत) वृत्रहा सेद् उ हव्यैर् (जिन जातकों की आहुति देनी होगी देवता के निमित्त) उद् उस्रिया असृजद् इन्द्रो अर्कैः। उरूच्यस्मै घृतवद् भरन्ती मधु स्वाद्म दुदुहे ज्येना गौः ३।३१।११।[१५] तु. १।१००।११, ३।४८।१०, तोकस्य सातौ तनयस्य भूरेः २।३०।५, ७।८२।९, ८।७।११, ४।४१।६ ...।
[२०५२] ऋ. अस्मा इद् उ प्रय इव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति, इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त १।६१।२ (द्र. टीका १२१८१, १२५८)। इस सूक्त के प्रत्येक ऋक् के आरम्भ में 'अस्मा' (अथवा 'अस्य') इद् उ' है। **प्रयस**— निघ. 'अन्न' (२।७), 'उदक' (१।१२) अतएव 'अन्न पान' (तु. पितु ५।२ पृथिव्यायतन देवता); > √प्री 'प्रसन्न होना, खुश करना, आनन्द प्रकट करना' सन्तुष्ट करना' — स्वयं न खाकर— देवता को खिलाना, तृप्त करना। अतएव खिलाने का सुख, निवेदन का आनन्द (तु. ५।५१।५-७)। 'प्रयंसि' < √यम सामने फैला देना, रखना- **आङ्गूष** बहुप्रचलित पारिभाषिक संज्ञा॥ अङ्गुष्ठ < < अञ्ज्॥ अञ्ज् 'जल उठना, प्रकाश देना, (> अग्नि; अङ्गिर') प्रकाश का लघु स्तम्भ, अँगूठा; निरुक्त. स्तोम, आघोष ५।११। **बाधे** < √बाध् 'बाधा देना, हटाना' (तु. ऋ. १।१३२।५)। क्या? नक्ति तमः तु. १।५६।४, ७२।५, ६।६४।३, १०।१२७।२। **सुवृक्ति**—

अभिक्लिप्त अथवा रूपायित होते हैं।[६] जो कवि या क्रान्तदर्शी हैं, वे ही इस रूप में मनीषा की प्रत्येषणा अथवा बेचैनी या छटपटाहट के माध्यम से हृदय में उनकी महिमा एवं स्वधा को तथा सत से भी परे उनके निष्केवल असत् रूप को खोज पाते हैं, जान पाते हैं।[७] जिस प्रकार प्रेम की मधुरता में,[८] उसी प्रकार प्रज्ञा की महिमा में मन और मनीषा के भी उस पार उनको हृदय के द्वारा पाना सहज बोध में पाना है। नोधा के 'प्रत्न: पति:' में दोनों का समन्वय है।

'प्रत्न राजन्' यह इन्द्र का एक विशिष्ट सम्बोधन है। यह सम्बोधन फिर केवल एक बार अग्नि के सम्बन्ध में त्रित आप्त्य के एक अग्नि-सूक्त में पाया जाता है[२०५३]। 'पति' एवं 'राजा' दोनों ही देवताओं का सामान्य परिचय है— किन्तु इन दोनों भावनाओं में व्यञ्जना की दृष्टि से थोड़ा अन्तर है। पति की महिमा में माधुर्य का आभास, और राजा की महिमा में ऐश्वर्य का आभास है। जो कुछ बलकृति है वह इन्द्र का कर्म है[१] अतएव राजमहिमा उनका लक्षणीय वैशिष्ट्य है। संहिता में एक मात्र वे ही विश्व-भुवन के राजा हैं[२] जिस प्रकार द्युलोक में देवताओं के राजा हैं, उसी प्रकार भूलोक में मनुष्यों के राजा हैं।[३] मनुष्य की समस्त साधना और सिद्धि के वे राजा हैं: उस प्रथम यज्ञ के दिन से जितना सोम निचोड़ा गया है, उसकी मत्तता और मधुरता के जिस प्रकार राजा,[४] तथा देवता के प्रसाद से मनुष्य के कण्ठ द्वारा उच्चारित बृहत् की वाणी के राजा हैं[५]— उसी प्रकार साधना के फलस्वरूप द्यावा-पृथिवी के जिस आलोक वित्त की यहाँ उत्पत्ति होती है, वे उसके भी राजा हैं।[६] वे 'शुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा' हैं।[७]

क्रिया विशेषण तु. १।६१।४, १३; अथवा तृतीया विभक्ति का लोप। < वृज् 'मोड़ना' > 'ऊर्ज' (बल), 'सुवर्ग' 'परावृज्' [तु. 'अपवर्ग'] 'संवर्ग'। 'सुवृक्ति' तु. योगी का 'प्रत्याहार'। [१] तु. १०।४३।१, टी. १२३६, १८८२, १८८८[४]। [२] तु. सत्येन मनसा दीध्याना: ७।९०।५, देवद्रीचा मनसा १।९३।८ (३।६।१, अश्वमेध का अश्व १।१६३।१२)। [३] ५।२२।३, ८।९५।५। [४] हृत < √हृ 'दीप्ति पाना, चमकना'। घृ 'तरल प्रकाश रूप में बहते जाना'। ॥ श्रत् 'विश्वास, हृदय में पाना > 'श्रद्धा' २।१२।५ टी. १७०३[१]), तु. १०।१५१।४॥ 'हृदय' तु. छा. स वा एष आत्मा हृदि, तस्यैतद् एव निरुक्तं हृद्ययम इति तस्माद्धृदयम् ८।३।३। [५] ऋ. ५।७५।५, ८।३।१८। [६] ऋ. २।३।९। [७] तु. ऋ. १०।१२९।२, ४। [८] तु. अग्नि के सम्बन्ध में १०।९१।१३, टी. १३१६[२], वह पाना 'प्रत्न' पति को 'उशती जाया' अर्थात् उत्कंठिता पत्नी का पाना है।

[२०५३] तु. ऋ. धन्वन्नि-व (मरुभूमि में) प्रपा (झरना, उत्स) असि त्वम् अग्न, इयक्षवे (यजनकाम) पूरवे प्रत्न राजन् १०।४।१। [१] नि. ७।१०। [२] एको विश्वस्य भुवनस्य राजा (टी. १२५७[१०]) स योधया (युद्ध करवा दो वृत्र के साथ) च क्षयया (प्रतिष्ठित करो) च जनान्- १।४६।२। [३] १।१७४।१ ६।२४।१, ४६।६, भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस् त्वेषसंदृक् (आलोक दीप्त जिनका सम्यक् दर्शन) २२।५, १।१७७।१, ४।१७।५, १।३२।१५ (टीमू. १८५९)। [४] ३।४७।१, ६।३७।२, २०।३। [५] ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ७।९७।३। [६] यो दिव्यस्य वस्वो यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य (इस पृथिवी की मिट्टी में निहित है जो ज्योति उसके) राजा- २।१४।११। द्युलोक के 'वसु' अथवा आलोक सूर्य, और पृथिवी की निगूढ़ ज्योति अग्नि। यहाँ से वहाँ उत्तरण ही मनुष्य का पुरुषार्थ है। इन्द्र उसी साधना और सिद्धि के ईश्वर हैं। [७] ५।४०।४, टी. १८३४। [८] द्र. २।१।८, ३।१।१८, ४।२।१ (टीमू. १८०६[२])। [९] द्युक्षो राजा ६।२४।१। 'द्युक्ष' प्रायः इन्द्र का विशेषण (८।३३।१२, ६६।६, ६।३७।२, ७।३१।२, ८।८८।२, २४।२०) अथवा उससे सम्बन्धित (७।३४।२४, ५।३९।२, ८।६९।१६)। इन्द्र आदित्य। [१०] सूर्य देवानाम् अनीकम्-

जीवन की वर्द्धित ज्योति को मृत्यु का अन्धकार बुझा देना चाहता है। उनका प्रबल प्राण माध्यन्दिन सवन की मत्तता में उस वृत्र को विनष्ट करके लोकातीत की सोम्य ज्योत्स्ना का प्लावन ले आता है — यही उनकी राजमहिमा है। इन्द्र और अग्नि दोनों की ही यह महिमा चिरन्तन है। इसलिए वे 'प्रत्न राजा' हैं। अग्नि पृथिवी के समस्त प्रथम प्रवर्त साधकों के मर्त्य आधार में निहित अमृत अमर गृहपति के रूप में उनके अध्वर या यज्ञ के राजा हैं। और इन्द्र आदित्य रूप में द्युलोकस्थ राजा हैं।[9] अध्वर गति का पर्यवसान उस द्युलोक में विश्वदेवमय सूर्यज्योति के सायुज्य में है।[10] अतएव अग्नि और आदित्य (अथवा इन्द्र या विष्णु[11]) अस्तित्व की अवम एवं परम कोटि हैं। जिसके कारण जिस प्रकार अग्नि उसी प्रकार इन्द्र — दोनों ही 'प्रत्न राजा' हैं। इन दोनों के अन्तर्गत आदित्योपलक्षित अन्य सब देवता भी राजा हैं।[12] राजा के ऐश्वर्य का प्रकटन उनके 'क्षेत्र' में अथवा क्षात्रवीर्य में होता है — जो हमारे पथ की बाधाओं को दूर कर देता है। हमारे प्राण और ज्योति की एषणा दोनों, वृत्र के चंगुल में हैं। वृत्रहा राजा उसके चंगुल से उनको मुक्त करें। बार्हस्पत्य भरद्वाज कहते हैं : 'तुम स्तुत हो इसलिए कि ज्योति का दान दोगे हे प्रत्न राजा। जो स्तुति कर रहा है, उसके भीतर अफुरन्त अशेष एषणा छलका दो। उसे पूर्ण करो। जलधाराओं को ओषधियों को और विषरहित वनों को (दो) और प्रदान करो गौओं को, अश्वों को और मनुष्यों को — (आग का गीत) इसलिए कि हम गाएँगे।'[13] — हम देवता का गुणगान करते हैं इसलिए कि वे हमें ज्योति देंगे। किन्तु हमारी इस एषणा के मूल में भी उनकी ही प्रेषणा-प्रेरणा है। इसलिए हम कहते हैं कि इसकी न्यूनता को तुम पूर्ण करो — सूखी नदी में ज्वार आ जाए। तत्पश्चात देह, प्राण और मन में ज्योति की वसुधारा[14] उड़ेल दो। कामनाओं के विष से जर्जरित आधार[15] तुम्हारे वज्र की दहक से अमृत सन्ध हो, नाड़ियों में प्रवाहित हो जाए सोम्य मधुर स्रोत[16]; अन्तरिक्ष और द्युलोक से प्राण की धारा नीचे उतर आए। पुरुष का पौरुष चेतना में —

(१।११५।१), और धूर्ति या कुटिल गति के परिहार द्वारा इस दिव्य ज्योति की प्राप्ति ही पुरुषार्थ है (८।४८।२)। [11] तु· ऐब्रा· १।१।१। [12] तु· ऋ· १।१२२।११, ७।६६।६। [13] नू गृणानो गृणते प्रत्न राजन्निषः पिन्व वसुदेयाय पूर्वीः, अप ओषधीर् अविषा वनानि गा अर्वतो नॄन् ऋचसे रिरीहि ६।३९।५। पूर्वी < √ पॄ 'पूर्ण करना' परिपूर्ण, अक्षय। [14] **वसुदेय** ज्योति का दान; तु· अपांनपात की २।३५।७, उनकी विद्युत-ज्योति, टी· १८२६; पुन: इन्द्र की १।५४।८ उनके वज्र की ज्योति। दोनों ही अन्तरिक्ष में — जहाँ वृत्र के साथ आघात-प्रत्याघात। [15] **अविषा वनानि** 'वन' कामना का प्रतीक। मर्त्य कामना में विष की ज्वाला है, दिव्य कामना में वह ज्वाला नहीं है। अविष (विष रहित) वन का उल्लेख और कहीं भी नहीं है। 'वन' के साथ अग्नि का सम्बन्ध घनिष्ठ, अग्नि 'वनस्पति'। 'वन' पृथिव्यायतन, साधारणत: वह शुष्क काठ, जिसमें आसानी से आग लग सकती है। किन्तु यदि सरस, आर्द्र या गीला हो तो वह [16] **ओषधि** (द्र· टी· १२५३, १२७०[2])। ओषधियाँ 'सोमराज्ञी' हैं, सोम उनका राजा है। सोम 'इन्द्रिय रस' अथवा इन्द्रवीर्य का आनन्द है। अध्यात्म दृष्टि में सोमरस नाड़ीसञ्चारी। साधना में जिस प्रकार कामना के वन में आग लगानी पड़ती है उसी प्रकार रसचेतना को भी पवित्र और परिष्कृत करना पड़ता है। वन का विष दूर करने की तरह, रस का विष भी दूर करना होगा — यही भावना यहाँ अनुमेय है। 'ओषधि-वनस्पति' दोनों ही शुद्ध होने पर अन्तरिक्ष एवं द्युलोक से 'देवीर् आप:' अथवा —

प्रस्फुटित हो, उसके से प्राण की मुक्त धारा स्वरस्रोता हो जाए[१७] और हृदय में प्रज्ञान का प्रद्योत खिल उठे। तुम्हारे दाक्षिण्य अथवा कृपालुता की स्वीकृति मेरे कण्ठ में आग के सुर में सङ्गीत हो जाए। ... प्रत्न राजा अग्नि के निकट प्रार्थना की पद्धति और भी विनम्र एवं कोमल है: हे अग्नि, पूर्णता की पिपासा के साथ जो तुम्हारा यजन करना चाहता है हे प्रत्न राजा, तुम उसके निकट मरुभूमि में जल के स्रोत की तरह हो। ... हे अजड़, हे चिन्मय, चेतन हम सब जड़ हैं — (तुम्हारी) अपनी महिमा भली भाँति तुम ही जानते हो।'[१८]

प्रत्न पुरुष स्वरूपत: अक्षर हैं। किन्तु ये ही स्वधा में निश्चल रह कर भी विसृष्टि में अक्षीयमाण अथच शतधार उत्स की तरह क्षरित होते हैं [२०५४]। उनके क्षरण अथवा विसृष्टि का आदिबिन्दु संवत्सरोपलक्षित काल हुआ।[१] जो स्वधा में 'तस्थिवान्' या स्थाणु हैं, वे काल में जगत अथवा चरिष्णु हैं। अथच तब भी वे 'प्रत्न' हैं। उस समय उनकी संज्ञा '**पूर्व्य**' अर्थात् काल के आदिबिन्दु में स्थित एवं विसृष्टि के प्रवर्तक रूप में हैं।

इन्द्र के प्रसङ्ग में गाथिन विश्वामित्र इस आदि प्रवर्तना या प्रेरणा का परिचय इस रूप में दे रहे हैं: 'हे अद्रोह, सत्य है तुम्हारी वह महिमा — कि तुमने तो जन्मते ही पान किया सोम। हे इन्द्र, छलकते हुए (जब-तब) तुम्हारे ओज को न द्युलोक, न दिन, न महीने या वर्ष रोक पाए। तुमने जन्म लेते ही पान किया है इन्द्र, स्वयं को प्रमत्त करने के लिए (वह) सोम परमव्योम से। जब तुम द्यावा-पृथिवी (द्युलोक भूलोक में) प्रविष्ट हुए, उस समय ही तुम पूर्व्य — हुए स्तोता में (स्तोम, स्तुतिगान के) आधायक-[२०५५]' — यह उपासक के अन्त:करण की वारुणी शून्यता में विसृष्टि अथवा शक्ति के निर्झरण के प्रथम क्षण की छवि है। परम व्योम के निर्बाध वैपुल्य में उजाले और अँधेरे में झिलमिलाता यह तीन द्युलोक का वितान ही देश हुआ। उसके ही साथ-साथ काल की गणना शुरू होती है अर्थात दो अहोरात्र, दो पक्ष, दो अयन में तथा आलोक और अँधेरे में संवत्सर का अविराम आवर्तन होता रहता है।[२] बिजली की कौंध में देवता का आविर्भाव — ऋतम्भर महिमा की वास्तविक भूमि पर होता है। उनके आविर्भाव में एक उन्मादन है, आनन्द का आलोड़न है, जिसकी देश-काल में कोई सीमा नहीं। —

ज्योतिर्मय प्राण और प्रज्ञा की धारा नीचे उतरेगी। यह सभी इन्द्र का 'वसुदेय' है। देय दैवी सब सम्पद यहाँ (एवं अगले पाद में भी) विलोम क्रम से व्यक्त होगी। [१७] 'नृ' नर का वीर्य, अथवा पुरुष-बल, पौरुष। अन्तर्योग में यही देवता का प्रथम 'वसुदेय' है। उसके बाद **अर्वन्** — निघ. 'अश्व' १।१४; अतएव ओज: शक्ति का प्रतीक (ऋ. १०।७२।१०) ओज: प्राण का श्रेष्ठ धर्म है। बृहदारण्यक उपनिषद में देखते हैं कि 'अर्वा असुरान् अवहत' (१।१।२); असुर में भी प्राणशक्ति का प्राबल्य है। व्युत्पत्ति <√ ऋ 'चलना' [IE. er 'to be set in motion', GK. ersei 'he may rush'; निरुक्त. 'अर्वा ईरणवान्' उसमें क्षिप्र गति की ध्वनि है (१०।१२)। अगला 'वसुदेय' गो, जो प्रज्ञान का प्रतीक है। **ऋञ्चसे** (और एक मात्र प्रयोग ७।६१।६) <√ ऋच्॥ अर्च् 'गीत गाना', 'जल उठना' + तुमर्थे असे। [१८] ऋ. १०।४।१ द्र. टी. २०५३ + १०।४।४ द्र. टी. ११:३। जीवन मरुभूमि। उसमें अग्नि का ताप आभी शीतल जल की धारा है — यह भावना अद्भुत है।

[२०५४] तु. ऋ. २।२६।८, १।१५४।५, १०।५०।३,४, १।१६४।४२, १०।१२७।३, ६, ७ और भी तु. शौ. १०।८।२९, बृ. ५।१।१।१ ऋ. १०।१५०।२।

सृष्टि के आनन्द के पूर्व्य संवेग में देवता परम व्योम से यथापूर्वकल्पित द्युलोक और पृथिवी में आविष्ट हुए।[३] यहाँ वे रूप-रूप में प्रतिरूप हुए[४] और उन आत्म प्रतिरूपों के हृदय में बृहत् साम की मूर्च्छना (या स्वरग्राम, सरगम का आरोह-अवरोह) स्थापित की — इसलिए कि स्वयं ही उसे सुनेंगे।[६] इस कारण वे 'आश्रुतकर्ण',[७] 'पुरुहूत' हैं, अतएव 'अद्रोह' अथवा अजातशत्रु हैं — जो चिरकालीन पुरुषानुक्रम से हम सब के आत्मीय हैं।[८]

अन्यत्र यही गाथिन विश्वामित्र एक इन्द्रसूक्त में आदि देवता[१] की कल्पना वृषभ रूप में करते हुए कहते हैं [२०५६]— 'जो पूर्व वृषभ सब से परे हैं, उन्होंने ही उत्पन्न किया (सब कुछ)। यही तो हैं इनकी धाराएँ पूर्वतनी (पहले की)। हे द्युलोक के युगलकुमार, हे युगल राजा, (उनके) प्रज्ञान के प्रकाश द्वारा क्षात्रवीर्य को प्रथम उषा में ही (सब के भीतर) तुम दोनों ने निहित किया है।' — इसके पूर्व की ऋचा में ही देवता को 'वृषा असुर' — जो अक्षर सन्मात्र अथवा शुद्धसत्ता होकर भी महाप्रकृति में रेतोधा हैं एवं उसके **परिणाम स्वरूप** प्रत्येक रूप में प्रतिरूप होकर विश्वरूप हैं, सब के भीतर अमृत-विन्दु के रूप में अन्तर्यामी हैं।[२] →

[२०५५] ऋ. अद्रोघ सत्यं तव तन् महित्वं सद्यो यज् जातो अपिबो ह सोमम्, न द्याव इन्द्र तवसस त ओजो नाहा न मासाः शरदो वरन्त। त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन् यद्-ध द्यावा पृथिवी आविवेशीर् अथाभवः पूर्व्यः कारुधायाः ३।३२।९-१०। [१] द्र. टीमू. १३००। [२] तु. ऋ. १०।१४०।२-३। [३] तु. वही; और भी तु. य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् (स्वयं के भीतर ही आहुति देकर, पुराण की भाषा में कालाग्नि रूप में सब कुछ आत्मसात् करके) ऋषिर् होता (विश्वयज्ञ के ऋत्विक रूप में, तु. १०।९०।६, ८८।१) न्य-सीदत् पिता नः, स आशिषा (आदि काम, तु. १०।१२९।४; बृ. १।२।४-७) द्रविणम् (तरल अग्निस्रोत, तु. ऋ. मनसो रेतः १०।१२९।४) इच्छमानः प्रथमच्छद (वरुण के रूप में सब कुछ आच्छादित कर रखा था जिन्होंने, तु. १०।९०।१; लोक से परे वे 'अतिष्ठाः') अवरान् (लोकसमूह, विश्वभूत) आ विवेश १०।८१।१। [४] ६।४७।१८। [५] 'बृहत् साम' इन्द्रभक्ति द्र. निरुक्त- ७।१०। [६] **कारुधायस** < कारु + √धा 'निहित करना'; अस्, इन्द्र में निरूढ; तु. स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो (ब्रह्म साधक का 'हवम्' ऊह्य, अनुमेय) वीर कारुधायः, त्वं ह्यापिः (आत्मीय) प्रदिवि (सृष्टि की उषा में) पितॄणां शश्वद् बभूथ सुहव एष्टौ ६।२१।८ (४४।१२) २४।२, ४४।१५। **कारु** < कृ 'कीर्तन करना' कीर्तनिया > कीर्तन, जिस प्रकार 'गो' < गव्य। इन्द्र उपासक के हृदय में बृहत के स्वर रूप में हैं जिस प्रकार अग्नि 'ध्रुव ज्योति' के रूप में हैं ६।९।५ [७] १।१०।९। [८] ६।२१।८।

[२०५६] यह सूक्त सन्ध्या भाषा में किसी रहस्यवेत्ता कवि की रचना है। ऋषि विकल्प लक्ष्य करने योग्य है। सम्भवतः विश्वामित्र स्वयं, नहीं तो प्रजापति। फिर प्रजापति सम्भवतः 'वैश्वामित्र' नहीं तो 'वाच्य'। विश्वामित्र के साथ 'ससर्परी वाक्' का घनिष्ठ सम्बन्ध है (३।५३।१२)। ससर्परी विद्युन्मयी है। उपनिषद में विद्युत् ब्रह्मानुभव का प्रतीक है जो बिजली की तरह कौंध कर अदृश्य हो जाता है (केनोपनिषद ४।४)। पुराण में वे ही क्या अप्सरा मेनका हुई हैं? 'मेनका' छोटी लड़की; फिर निघण्टु में 'मेना' वाक् (१।११); तु. 'नग्निका गायत्री'। ससर्परी यदि ब्रह्मभूत विश्वामित्र की शक्ति है (तु. ऋ. १०।११४।८, टी. १२६८), तो फिर उनके ये दो पुत्र प्रजापति का सायुज्य प्राप्त करने पर भी एक को पिता की धारा और एक को माँ की धारा या परम्परा प्राप्त हुई है। उसी से एक 'वैश्वामित्र' प्रजापति और दूसरा 'वाच्य' प्रजापति। [१] अनुक्रमणिका के मतानुसार इस सूक्त के देवता 'इन्द्र' हैं। आलोच्य ऋक् में स्पष्टतः वे अनिरुक्त प्रजापति अथवा परम देवता हैं। इन्द्र ही 'विश्वभू' होने से 'प्रजापति' हैं। [२] असूत पूर्वो वृषभो ज्यायान् इमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः, दिवो नपाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे ३।३८।५। [३] द्रष्टव्य. टीमू. १९७४। तु. गीता. १४।३-४। [४] ऋ. १०।५।७। [५] मूल में 'असूत' लक्ष्य करने योग्य।

यहाँ उसी भावना का अनुसरण करते हुए एक साथ वृषभ और धेनु के रूप में युगनद्ध आदियुग्म का परिचय दिया जा रहा है।[4] इसलिए वे सविता हैं — जो जगत के प्रचोदयिता एवं प्रसविता दोनों ही हैं।[5] पुरुष रूप में वे जिस प्रकार 'पूर्व वृषभ' हैं, उसी प्रकार प्रकृति रूप में उनकी विचित्र शक्ति की धारा भी 'पूर्वी' अथवा 'पूर्वतनी' है।[6] आदिमिथुन रूपी उनसे ही जगत की विसृष्टि एक 'तिमिरविदार उदार अभ्युदय' के समान है। उसी अभ्युदय के देवता अश्विद्वय हैं — जो द्युलोकरूपी उसी वृषभ की ही सन्तान हैं।[7] मध्यरात्रि की अन्ध-तमिस्रा का मन्थन करके उनकी ज्योति का अभियान शुरू होता है और उषा के कूल पर आकर वह जयश्रीमण्डित होता है। उस समय वे ज्योति के राजा हैं। यही ज्योति युगपत् प्रज्ञा एवं शक्ति है। हमारे भीतर प्रज्ञा का परिचय धीवृत्ति की सहायता द्वारा विद्या की साधना में है। किन्तु क्षात्रवीर्य के बिना वह साधना सिद्ध नहीं होती है। इसलिए सृष्टि के उसी उषाकाल से प्रतिदिन अन्धकार और शैत्य या शीतलता को पराजित करके सब के भीतर प्रकाश और ताप उड़ेल दिया है तथा हम सब के भीतर प्रज्ञा और प्राण को निहित किया है। यह प्रज्ञा और प्राण उसी आदिमिथुन का स्वरूप सत्य है — जिसने एक दिन दैवोदासि प्रतर्दन के निकट प्रकट होकर कहा था — 'मैं ही सत्य हूँ, मैं प्रज्ञात्मक प्राण हूँ'।[8]

प्राण का प्रकाश या व्यञ्जना वीर्य में अथवा शक्ति में है। इन्द्र ही 'शक्र' अथवा शक्तिस्वरूप हैं, 'शचीव' अथवा शक्तिमान 'शचीपति' अथवा शक्ति के अधीश्वर हैं [२०५८]। प्रज्ञा के वीर्य में ही उनकी शक्ति का परिचय है। वृत्रशक्ति के विरुद्ध जहाँ जो कुछ बलकृति अथवा वीर-कर्म है, वही इन्द्र का कर्म है।[1] उनका यह कर्म सृष्टि के प्रथम प्रत्यूष काल से जारी है। इस कारण वे शक्र रूप में भी पूर्व्य हैं। इसी आदिशाक्त के निकट मेधातिथि काण्व की प्रार्थना इस प्रकार है —

---

[5] 'सविता' < √सू 'प्रचोदित करना' अथवा 'सू' प्रसव करना। पहले में वे रेतोधा पुरुष हैं, और दूसरे में प्रसवित्री प्रकृति। एक के ही दो विभाव या दो रूप। उसी से 'अस्तुत' वृषभः। तु. चर्यापद 'बलद बियाइल, गविया बाँझा।' [6] **शुरुध** व्युत्पत्ति? निरुक्त: आपो भवन्ति, शुचं (ज्वलन) संरुन्धन्ति ६।१६। ऋक्संहिता में सारे प्रयोग अप् की तरह ही बहुवचनान्त। 'पूर्वी-' तु. ऋ. ऋतस्य हि सन्ति शुरुधः पूर्वीः ४।२३।८; टी. १२३१[3]। इनके साथ तु. ईशोपनिषद. 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ४। ऋ. शुरुधो गोअग्राः १।१६९।८; शुरुधश्चन्द्राग्राः ६।४९।८; 'गो' प्रज्ञा का, और चन्द्र आनन्द का प्रतीक। 'अप' प्राण। तो फिर इस संज्ञा के साथ प्राण, प्रज्ञा एवं आनन्द का सम्बन्ध पाया जाता है। सृष्टि के आरम्भ में जो रात्रि अथवा अव्यक्त की महानिशा सर्वत्र व्याप्त थी, उससे तरङ्गायित समुद्र की उत्पत्ति हुई (१०।१९०।१; १२९।३)। उसी प्राणसमुद्र की धाराएँ ही 'पूर्वीः शुरुधः'। पुरुष, प्रज्ञा एवं आनन्द उनके पुरोधा हैं, वही ऋत के छन्द में विश्व में प्रवाहित। द्र. १।१६०।२, टीभू. १६०१[6]। [7] अश्विद्वय द्युस्थान देवताओं में प्रथमगामी होने के कारण 'दिवो नपात' जिस प्रकार उषा 'दिवो दुहिता'। [8] **प्रदिव्** प्रथम दिन, सृष्टि की उषा (निघ. 'प्रदिवः' पुराणनाम ३।२७)। [8] कौ. ३।१।२।

[२०५८] ऋक्संहिता में सारे विशेषण इन्द्र में निरूढ़। द्र. टी. १५८६। [1] निरुक्त. ७।१०। [2] ऋ. शग्धी न इन्द्र यत् त्वा रयिं यामि सुवीर्यम्, शग्धि वाजाय प्रथमं सिषासते शग्धि स्तोमाय पूर्व्य। शग्धी नो अस्य ... धिय इन्द्र सिषासतः, शग्धि यथा ... ८।३।११-१२।[2] 'प्रथमं [वाजम्]'।

(अपनी) शक्ति प्रदर्शित करो हम सब के लिए हे इन्द्र, जब तुम्हारे निकट (प्राण का) संवेग चाहता हूँ मैं, (चाहता हूँ) सुवीर्य। शक्ति का प्रदर्शन करो ओजस्विता प्रदान करने की दिशा में उसको जो छीन लेना चाहता चाहता है प्रथम (वह ओजस्विता) शक्ति प्रदर्शित करो स्वर स्तवक या स्तुतिगान विकसित करने के लिए, हे पूर्व्य (शक्तिमान)। शक्ति का प्रदर्शन करो हम सब के लिए, (और) इस उपासक के निमित्त... जो चाहता है ध्यानवृत्तियों को मुट्ठी में कर लेना। (उसी प्रकार शक्ति प्रदर्शित करो जिस प्रकार पहले किया था...।[2] शक्ति के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए जो शक्ति का आदि निर्भर है, हम उस देवता के निकट शक्ति चाहते हैं। उनकी शक्ति हमारे प्राण के रुद्ध प्रवाह को प्रवहमान करे। शिरा-शिरा में वीरत्व का अनिरुद्ध, अबाध प्लावन ले आए। उसी शौर्य के द्वारा[3] उनकी ही शक्ति से लोकोत्तर में स्थित उनकी प्रथम ओजस्विता का प्रसाद[3] छीन लेना चाहते हैं जो बृहत्साम की आनन्दलहरी को हम सब के जीवन में मुक्ति प्रदान करेगा।[4] और साधक के इस आनन्द को[5] ध्यानवृत्ति की एकतानता द्वारा चेतना में निरन्तर करना चाहता हूँ — उनकी ही शक्ति से जिन्होंने मुझसे पहले के और भी कितने जनों को इस प्रकार अपने शक्तिपात से धन्य किया है।[6]

प्रत्न एवं पूर्व्य इन्द्र की इस व्याख्या में हमने उनके अक्षर स्वभाव का परिचय प्राप्त किया। अक्षर पुरुष स्वधावान् अर्थात अपने आप में अटल रूप में हैं। किन्तु इस अक्षर का भी क्षरण होता है और उसी से विश्व की विसृष्टि होती है। परन्तु क्षरण में भी अक्षर की स्वधा अटल रह कर ही उसका सहचर होती है। नासदीय सूक्त के ऋषि का कथन है — 'स्वधा उस समय जिस प्रकार आदि में उसी प्रकार अन्त में भी होती है — वह सत्ता के सुमेरु (उत्तरी ध्रुव) एवं कुमेरु (दक्षिणी ध्रुव) दोनों जैसी होती है [२०५८]। उपनिषद् की भाषा में एक स्वधा विश्व की प्रतिष्ठा है और एक उसकी अतिष्ठा अथवा विश्वातीत है। निघण्टु में देखते हैं कि 'स्वधे' द्यावा-पृथिवी का नाम है। यह संज्ञा ऋक्संहिता में नहीं है, →

आदिम ओजस्विता का बोध होता है जो परमव्योम में है: तु. सोम को ऊपर की ओर जाने के लिए कहा जा रहा है 'अभिवाजम् उत श्रवः' (८|१|४, ६|३, ५१|५, ६३|१२), वाजं सहस्रिणम् ३८|१, ५७|१, वाजं जेषि श्रवो बृहत् ४४|६...। 'श्रवस्' 'सहस्रिन' लोकोत्तर या लोकातीत के सूचक हैं। परमव्योम शून्यता। बौद्ध शास्त्र में उसको ही 'वज्र' (= वाज) कहा जाता है। शून्यता का आनन्द ही लोकोत्तर 'सहजानन्द' है।[4] बृहत्साम एवं पञ्चदशस्तोम इन्द्रभक्ति (निरुक्त ७|१०)। 'पञ्चदश' चन्द्रकला का सूचक है। चन्द्र सोम्य आनन्द का देवता।[5] कृतार्थ साधक के उल्लास का वर्णन द्र. तैउ. ३|१०|५-६।[6] मूल में इन्द्र द्वारा उपकृत इन सब ऋषियों का नाम प्राप्त होता है: पौर, रुशम, श्यावक, कृत, स्वर्णर।

[२०५८] तु. ऋक्संहिता के नासदीय सूक्त के आरम्भ में है 'आनीद् अवातं स्वधया तद् एकम्' १०|१२९|२। यह ही आदिम स्वधा है। उसका अन्तर्निहित काम 'मनसो रेतः प्रथमम्' होकर सृष्टि में उतर आया (४) तब फिर दिखाई पड़ा 'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः (ऊर्ध्वमही प्रयत्न') परस्तात् (५)। इन दोनों स्वधा के मध्य में जो 'प्रयति' है, वह भी स्वधा है। नीचे द्र.।
[1] 'अतिष्ठाः' जो सब से परे, अद्वितीय हैं, जिस प्रकार 'आदित्य... अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानाम्' (बृ. २|१|२) फिर पृथिवी 'प्रतिष्ठा' (छा. ५|१७|१)। तु. ऋ. अत्य-तिष्ठद् दशाङ्गुलम् १०|९०|१। —

किन्तु वसिष्ठ के इस एक मंत्र में है: 'और महान हो रहे हो तुम हे इन्द्र, इसलिए कि तुम्हारे प्रसाहस को अनुमनन करती है स्वधावरी रोदसी।'[३] स्वधा के दोनों ध्रुवों के बीच शक्ति की धारा क्षरित हो रही है — यहाँ जिसको इन्द्र का 'सहः' अथवा सर्वाभिभावी, संरक्षक बतलाया गया है। क्षरण का ज्वार-भाटा दोनों ही है।[४] वह भी स्वधा का स्वतः परिणाम होने के कारण निघन्टु में 'स्वधा' को उदक नाम के अन्तर्गत संकलित किया गया है।[५] स्वधा की धारा अथवा शक्ति की एक संज्ञा 'स्वधिति' है — जिससे इन्द्र के वज्र का बोध होता है, यह हम पहले ही बतला चुके हैं।[६]

स्वधा की इस भावना से सृष्टि-व्यापार का एक सुष्ठु परिचय प्राप्त होता है। द्युलोक की स्वधा पृथिवी में आकर जड़ की प्राचीर या परकोटे में बन्दी हो गई। इस अवरोध को तोड़कर उसको मुक्त करना, पुनः अपने धाम में वापस ले आना जिस प्रकार देवता की बलकृति है उसी प्रकार मनुष्य की तपस्या है। ऋग्वेद के पणि के आख्यान में यही अनेक रूपों में प्रपञ्चित हुआ है। उसके बारे में कुछ-कुछ पहले बतला चुके हैं आगे चल कर और भी बतलाएँगे। ऊपर-नीचे इन दोनों स्वधा अथवा अचल स्थिति के मध्य में जो चरिष्णुता या विचरणशीलता है उसको हम दर्शन की भाषा में 'काल' कह सकते हैं — जो ऋग्वेद में 'ऋतु' अथवा 'ऋत' है [२०५९]। इस ऋतचक्र को हम आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से देख सकते हैं। आधिदैविक दृष्टि में ऋतुचक्र का आदि विन्दु विसृष्टि का प्रथम क्षण है — ऋक्संहिता में जिसकी पारिभाषिक संज्ञा 'अग्रे' है।[१] अग्रे काम संवृत्त अथवा बीज के रूप में अन्तर्गूढ़ होकर सिमटा हुआ था, किन्तु प्रकृतिगत धर्म के कारण ही वह मन के प्रथम रेतस् में क्षरित हुआ। यह क्षरण ही विसृष्टि अथवा शक्ति का निर्झरण है।[२] जिसके परिणाम स्वरूप देवगण की उत्पत्ति होती है।[३] वर्तमान प्रकरण में इन्द्र का जन्म कह सकते हैं। ऋषि गृत्समद का कथन है — 'उन्होंने जन्म लिया प्रथम मनस्वी होकर एकदेव रूप में अपने सामर्थ्य से देवता के परिभू हुए।'[४]

---

[२] निघ. ३।३०। [३] ऋ. महाँ उतासि यस्य तेऽनु स्वधावरी सहः, मम्नाते इन्द्र रोदसी ७।३१।७। [४] तु. सोम का क्षरण भाटे या उतार के समय ९।१८।१, ८७।४, ८९।१ ... ; ज्वार में ९।६६।२८ (अतिक्षरण), ९८।३ (ऊर्ध्व क्षरण) ...। [५] निघ. १।१२। फिर स्वधा 'अन्न' (२।७) अर्थात प्रतिष्ठा। अन्न ब्रह्म विभूति का सर्वनिम्न स्तर (तु. तैउ. ब्रह्मानन्द वल्ली)। [६] द्र. टीमू. २०४५।

[२०५९] **ऋतु** < ऋत < √ ऋ 'चलना'। सत् के दो विभाव या रूप हैं — एक तो 'जगत' या (चलन्त) चलायमान और दूसरा 'तस्थिवस्' अथवा जो स्थिर रूप में है (तु. सूर्य आत्मा जगतस् च १।११५।१, स्था जगच् च ८०।१४, ८९।५ ...)। जो स्थिर रूप में है, वह 'सत्य', जो चल रहा है वह 'ऋत' है। नित्यदृष्ट नियमित चलना जारी है सूर्य का। वही 'ऋत', उससे कालमान, उसकी दीर्घतम इकाई संवत्सर है और निरूपित विभाग 'ऋतु'। उससे जो कोई भी निरूपित काल 'ऋतु' (तु. १।१६२।१९, ५।४६।८, २।१५।१; 'ऋतुथा' यथासमय में; तु. अग्नि के प्रति :- 'विद्वाँ ऋतूँर् ऋतुपते यजेह (१०।२।१) द्र. टी. २०४६ 'काल'। [१] कामस् तद् अग्रे सम् अवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत् १०।१२९।४। 'अग्रे' उपनिषदों में बहुप्रयुक्त, ऐ. १।१।१; छा. ३।१९।१, ६।२।२; बृ. १।४।१, १०, ११ ...। [२] ऋ. १०।१२९।६; लक्षणीय 'विसृष्टि', वात्स्यायन (कामसूत्र) में पारिभाषिक संज्ञा, 'रेतोधान' का बोध होता है। यह भावना सूक्त के पूर्व के ऋक् में ही है; बृ. १।४।३-४। [३] ऋ. अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन १०।१२९।६। [४] २।१७।१ टी. १८७८। ——→

यह घटना कुछ इस प्रकार है कि नासदीय अन्धतमः को विदीर्ण करके आदित्य का उदय होता है — विश्वदेवगण उसी आदित्य के रश्मिजाल हैं। 'अग्रे' अथवा सृष्टि के आरम्भ में यही 'मनसः प्रथमं रेतः' अथवा 'प्रथमो मनस्वान्' देवता का आविर्भाव है। देवताओं में अग्नि जिस प्रकार एकमात्र 'तपस्वान'[४] हैं इन्द्र भी उसी प्रकार 'मनस्वान' हैं। और वे ही 'प्रथमो मनस्वान्' हैं अर्थात सृष्टि के आदि विन्दु में एक दिव्य मन है। इसी आदित्यप्रभ मन की प्रत्येक रश्मि विश्वभूत का मन है, अतः इन्द्र की और एक अनन्यपर संज्ञा 'विश्वमनाः' है।[५]

पहले ही हम बतला चुके हैं कि वेद में सृष्टि अन्तरिक्ष की घटना है। अन्तरिक्ष के ऊपर की ओर एक अव्यक्त लोक है जिसका नाम ऋग्वेद की ऐतरेयोपनिषद में 'अभः' अर्थात ज्योति की नीहारिका है। उसी प्रकार नीचे एक और अव्यक्त लोक है जिसका नाम 'आपः' अर्थात प्राण का समुद्र है। इन दोनों अव्यक्त के मध्य में सृष्टि की उत्पत्ति अथवा हमारे व्यक्त तीन लोक हैं — जिसका ऊर्ध्व भाग 'मरीचि' अर्थात पुञ्जीभूत ज्योति की छटा है और अधोभाग 'मर' अर्थात मृत्युलांछित जीवलोक है। वही मरीचि विश्वमना इन्द्र का मन है और यही मन विसृष्टि का आदि विन्दु है। मरलोक में उसका प्रतिरूप 'मनु' का मन हुआ। मनु मानवजाति के आदि पिता हैं — अग्निविद्या एवं यज्ञ भावना के आदि प्रवर्तक हैं [२०६०]। दिव्य मन से प्रवाहित धारा का पारिभाषिक नाम विसृष्टि है — यही ज्वार के विपरीत उतार की धारा है। और मानवमन से जो धारा देवता की ओर स्रोत के प्रतिकूल (ज्वार रूप में) गई है, उसका पारिभाषिक नाम अतिसृष्टि है।[१] इस प्रकार ये दो मन क्रमशः शीर्षविन्दु और अधोविन्दु हैं — इन दोनों के मध्य में सृष्टि के अन्तरिक्ष व्यापी 'प्रथमो मनस्वान्' इन्द्र के स्वाराज्य की लीला जारी है। उनका दिव्य मन आकर मरलोक के मानव मन में गुहाहित अर्थात अन्तरात्मा में अन्तर्यामी रूप में स्थापित हो रहा है, फिर वह मन ही मनु होकर अमरलोक के मरीचि में ऊर्ध्वगमन कर रहा है। अध्यात्म दृष्टि में ऋतुचक्र का यह एक और आदि विन्दु है, जिसकी गति उत्सर्पिणी है, जहाँ से अमृताभिसरण की सूचना मिलती है।

अतिसृष्टि में प्रज्ञान का क्रमिक प्रस्फुटन होता है — यही उसकी विशेषता है [२०६१]। प्राण के संवेग से भूत या प्राणियों के भीतर प्रस्फुटन होता है। संहिता में उसके तीन पर्व या भाग का उल्लेख प्राप्त होता है। एक में भूत 'जगत' अर्थात गतिशील है अर्थात उसमें प्राण अथवा प्रज्ञा का कोई चिह्न नहीं है। जिस प्रकार जड़ में देखते हैं। उसके अगले पर्व में यही गति जब प्राणमय या स्फूर्तियुक्त हुई तब भूत 'प्राणत' हुआ। जिस प्रकार उद्भिद — जो 'जगत'[१] एवं 'प्राणत्' दोनों ही हैं। किन्तु उसमें 'चित्त' अथवा मन या हृदय नहीं है। जब वह चित्तवान हुआ, तब उसकी संज्ञा 'प्राणी' हुई। वेद में उसको सामान्यतः 'पशु' कहा जाता है। पशु जगत् प्राणत् एवं 'मिषत्'[२] है। वह ही मिषत् है जिसमें चेतना का उन्मेष हुआ है। तब भी प्रज्ञान या प्रकृष्ट अथवा प्रशस्त ज्ञान का दर्शन नहीं होता।

[४] ६।५।४। [५] १०।५५।८।

[२०६०] द्र. ऋ. १।८०।१६, टीमू. ८८७६। [१] द्र. बृ. १।४।६।

[२०६१] द्र. ऐतरेयआरण्यक २।३।२। [१] 'गति' यहाँ भाव विकार द्वारा उपलक्षित जीवन स्पन्द है द्र. निरुक्त. १।२। [२] तु. ऋ. यः (प्रजापति) प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद् राजा जगतो बभूव १०।१२१।३; अथर्व. स्कम्भ इदं सर्वं आत्मन्वद् यत् प्राणन् निमिषच्च यत् १०।८।२, यद् एजति पतति यच्च तिष्ठति —

जिसके फलस्वरूप अतीत की स्मृति एवं भविष्य की कल्पना स्फुटित होगी तथा इहलोक एवं परलोक में विविक्त बोध अथवा असम्पृक्त, शुद्ध बोध की भूमि पर इष्टार्थ (अभिलषित वस्तु- मूल्य VALUE) की भावना उजागर होगी। यही मानव मन में घटित हुआ। प्रज्ञान विकसित हुआ एवं उसके क्रमिक उत्कर्ष से मन चिकिलित हुआ— जिसके भीतर अलख, अगोचर की रूपरेखा झलक कर 'बोधित' हुई— उसके भीतर 'प्रतिबोध', अथवा प्रातिभ संवित या अतीन्द्रिय ज्ञान का उद्भास जागा।[२] मनुपुत्र मानव 'ऋषिर् विप्रः ...काव्येन'[४]— क्रान्तदर्शिता में भावविह्वल एवं साक्षातकृत धर्मा हुआ। अन्त में वह जातविद्या का प्रवक्ता बृहस्पतिकल्प ब्रह्मा हुआ।[५] अप् से अम्भः तक अतिसृष्टि का सूक्ष्म रूप में परिचय ऐतरेय आरण्यक एवं उपनिषद में प्राप्त होगा।[६] इन दोनों के मध्य में ही इन्द्र परम देवता हैं।

इन्द्र जिस प्रकार विसृष्टि के आदि में, उसी प्रकार अतिसृष्टि के आदि में 'प्रथमो मनस्वान्' हैं। विसृष्टि एवं अतिसृष्टि दोनों ही गीता की भाषा में 'व्यक्तमध्य' [२०६२] हैं। उस के ऊपर-नीचे अव्यक्त का अधिकार है। ऐतरेयोपनिषद में हम देखते हैं, मरीचि के ऊपर की ओर अम्भ की नीहारिका है, फिर, मर के नीचे की ओर अव्याकृत अप् है जिसको नासदीय सूक्त में 'तमसा गूळ्हम् अग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदम्'।[१] अवश्य इस अन्धकार में 'प्रचेतना' या चेतना का अग्राभिसार अलक्ष्य, अदृश्य होने पर भी प्राण था ही— नहीं तो उसको 'सलिल' नहीं कहा गया होता। यह सलिल जगत् एवं प्राणत् है— इसमें चेतना के उन्मेष की सम्भावना होने के कारण इसे मिषत भी कह सकते हैं। कुत्स आङ्गिरस कहते हैं कि 'जो इन्द्र अतिसृष्टि के 'प्रथम' में अथवा आदिविन्दु में हैं, वे विश्व के जितने सब 'जगत्' एवं 'प्राणत्' हैं, उसके पति हैं।[२] अतिसृष्टि के अवर या अन्तिम भाग में यह जो उन्मिषन्त या उन्मिषित प्राण है, यह भी इन्द्र है। विश्वमना का मन उसके भीतर अविकसित रूप में कार्य करते-करते मनु में विकसित हुआ है। मनु के साथ इन्द्र के घनिष्ठ →

प्राणद् अप्राणन् निमिषच् च यद् भुवत्, तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् सम्भूय भवत्येकम् एव ११। विश्व में जो 'एजन' अथवा स्पन्द है, उसका लक्ष्य चेतना का उन्मेष है। वह चेतना एवं 'वशी' की चेतना है, तु. विश्वस्य मिषतो वशी (ऋ. १०।१९०।२)। २ ऋक्संहिता में 'चिकित्विन्मनस्' अग्नि का (५।२२।३) एवं 'धी' का विशेषण है, जो मानस प्रज्ञान का प्रथम उन्मेष सूचित करता है (तु. योग का 'विवेक', ऋ. ४।२।११)। और 'बोधिन्मनस्' इन्द्र का (८।९३।१८) एवं अश्विद्वय (५।७५।५) का विशेषण है— इनमें इन्द्र का अधिष्ठान अन्तरिक्ष और द्युलोक के सन्धि-स्थल पर है और अश्विद्वय का द्युलोक के आदि में है (तु. योग का 'प्रातिभ संवित्')। ४ ८।७९।१। सोम का वर्णन। किन्तु चित्तोत्कर्ष के फलस्वरूप मनुष्य ही कवि, विप्र एवं ऋषि होता है। मानव का धर्म देवता में उपचरित होने से समझ में आता है कि सोम्य पुरुष होना ही उसका पुरुषार्थ है। ५ तु. ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम् १०।७१।११। सोमयाग में ब्रह्मा ऋत्विक श्रेष्ठ। वे 'मनः' से और अपर ऋत्विकगण 'वाक्' से यज्ञ को संस्कृत अथवा मंत्रपूत करते हैं (छा. ४।१६।२)। अतएव उनका यज्ञ मानस है, 'विदथ' अथवा विद्या उसका साधन है। ब्रह्मवित् होने के कारण वे ब्रह्मा हैं। ऊपर में उद्दिष्ट इस सूक्त का देवता 'ज्ञान' है और ऋषि बृहस्पति हैं। ६ द्र. ऐउ, भूमिका।

[२०६२] तु. गीता २।२८। १ ऋ. १०।१२९।३। २ यो विश्वस्य जगतः प्राणतस् पतिर् यो ब्रह्मणे (पूर्वोक्त बृहस्पति कल्प 'ब्रह्मा') प्रथमो गा (प्रज्ञा की ज्योति) अविन्दत् १।१०१।५। ३ मनु॥ मनुष्य, जिसके भीतर मनोज्योति प्रस्फुटित हुई है (निघ. ५।६)। वहाँ 'मनु' को द्युस्थानीय देवता कहा गया है। →

की चर्चा संहिता में बार-बार हम इस रूप में पाते हैं : इन्द्र ने 'आलोकित कर दिया मनु के निकट अह: समूह के केतु को, ज्योति का अन्वेषण किया; प्राप्त किया (उसके) बृहत् आनन्द के लिए;[४] इन्द्र की (सोमजनित) उन्मत्तता उरुलोक रचती है और इसी उन्मत्तता द्वारा ज्योति की खोज की और उसे प्राप्त किया आयु और मनु के लिए';[५] 'इन्द्र में समासीन सोमरसों की पुञ्जद्युति ने शौर्य की प्रत्येक झलक या आभा में मनु के लिए स्वर-ज्योति और आर्य-ज्योति की खोज की, उसे प्राप्त किया';[६] 'उसी मघवान् (इन्द्र) ने ज्योति को खोजकर प्राप्त किया मनु के लिए — जो सोमयाजी एवं हविष्मान है, जिसका आत्मदान क्षिप्र है';[७] 'वीर्यवर्षी इन्द्र ने सात स्रोतों को संहत किया जब वे सब फैल गए थे पृथिवी से उत्सारित होकर; अनेक जलप्लावन पार करके गए वे; (तभी तो) युद्ध करके खोज पाए मनु के लिए एषणा का पथ;[८] 'उन्होंने नमुचि का हनन किया है सांघातिक प्रहार करके, जब वह महान होना चाहता था; (और इस प्रकार) दास को ऋषि के लिए मायाहीन किया है; उन्होंने मनु के लिए सहज किया है (वही) पथ जो देवता के निकट सीधा चला गया है'।[९]

पहले 'अथर्वा' हैं, बाद में 'दध्यङ्'। ऋक्संहिता में अथर्वा मूर्द्धन्य कमल में अग्निनिर्मन्थी यज्ञ प्रवर्तक (ऋ. १।८०।१६, यहाँ 'अथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्' तीनों का क्रमशः उल्लेख है, निघन्टु के समाम्नाय या परम्परागत शब्दसंग्रह का मूल यहीं है; ६।१६।१३ मूर्धन्य पुष्कर; 'यज्ञैर् अथर्वा प्रथमः पथस् तते १।८३।५) ऋषि, उनके पुत्र 'दध्यङ्' वे अग्नि समिद्ध करते हैं (६।१६।१४ द्र. टी. १२५८), फिर अश्वशिरा होकर अश्विद्वय को मधुविद्या प्रदान करते हैं (१।११६।१२, ११७।२२) दोनों ऋषि ही अध्यात्म साधना में मानव जाति के आदिगुरु हैं — शिरोव्रत द्वारा (मुण्डकोपनिषद ३।२।१०) अमृतत्व प्राप्ति के दिग्दर्शक। द्युस्थानी देवताओं में 'अथर्वा, मनु और दध्यङ्' इन तीन पुरुषों के सन्निवेश का यही तात्पर्य है। [४] ऋ. इन्द्र... प्रारोचयन् मनवे केतुम् अह्नाम् अविन्दज् ज्योतिर् बृहते रणाय ३।३४।४। 'अह्नाम् केतुः' सूर्य, प्रज्ञा-ज्योति का प्रतीक। 'बृहन् रणः' बृहत् का आनन्द, ब्रह्मानन्द (तु. 'महे रणाय चक्षसे' — महानन्द का दर्शन करेंगे इसलिए १०।९।१; यह महानन्द भी सूर्य, जिसे 'अप्' अथवा प्राण के 'ऊर्ज' या संवेग के द्वारा देख पाऊँगा)। वह 'ज्योति' से आएगा। मूल में सत्, उससे 'चित्' और आनन्द का स्फुरण। [५] तं ते मदं... उ लोक कृत्नुम्... येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ ८।१५।४,५। 'उ. लोक' परमव्योम, द्र. टीमू. ११७६। 'ज्योतींषि' सूर्य की, निरन्तरता के बोध के लिए बहुवचन। तु. 'सकृद्दिवा' जब सूर्य का फिर अस्त नहीं होता। 'आयु' प्राण, और 'मनु' मन; अधिदैवत दृष्टि में अग्नि और इन्द्र। [६] प्रैषाम् (इन सोमरसों की) अनीकं... दविद्युतद् (< √द्युत् 'चमकना, कौंधना') विदत् स्वर् मनवे ज्योतिर् आर्यम् १०।४३।४। [७] स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज् ज्योतिर् मनवे हविष्मते ८ द्र. टीका २०२४; दोनों मंत्रों में ही मनु का उल्लेख है। तु. गीता. विवस्वान के पुत्र मनु को योग का उपदेश ४।१, मनु ने ज्ञान प्राप्त किया सूर्य से और सूर्य ने परमपुरुष के निकट से; संहिता में इन्द्र द्वारा मनु को ज्योति प्राप्त हुई; परम्परा की प्राप्ति दोनों ओर एक)। [८] तु. ऋ. अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः (< द्रु 'पिघलना, गलना' 'बहना, दौड़ना' + इ + त्नु) पृथिव्यां सीरा (< सृ 'बहना' तु. 'सरित्' निघ. 'नदी' १।१३), अहम् अर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर् युधा विदं मनवे गातुम् इष्टये १०।४९।९। वृत्र के अवरोध से मुक्त धाराएँ वर्षा के जल की तरह अस्थिर होकर उमड़ रही थीं। इन्द्र ने उनको एक प्रणाल (नाली, नहर) में बहा दिया (तु. (योग का मूढ, विक्षिप्त एवं एकाग्र चित्त)। सात स्रोत प्रसिद्ध 'सप्तसिन्धु'। अध्यात्म दृष्टि से सात शीर्षण्य प्राण के स्रोत हैं (तु. बृ. तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे' २।२।३)। नदी जितनी ही समुद्र के निकट जाती है, उतनी ही प्रशस्त हो जाती है। उस समय उसकी जलराशि 'अर्णस्' — जलप्लावन की भाँति। यह चेतना के वैपुल्य अथवा प्रचेतना का द्योतक है। इन्द्र उसे उत्तीर्ण करते हैं महासमुद्र में — जो आलोक अथवा अन्धकार दोनों ही हो सकता है। 'मनु' या मन वहाँ दिशाहारा या दिग्भ्रान्त होकर पथ खोजता है तब इन्द्र उसके दिग्दर्शक होते हैं। —

अन्त के मंत्र में हम देखते हैं कि मनु इन्द्र के अनुग्रह से सर्वविध आश्रय द्वारा अपरामृष्ट या पकड़ से बाहर ऋषि हो उठे हैं। मनुष्य चेतना एवं अन्तर्दृष्टि द्वारा ऋषि तब होता है— जब उसके हृदय के उदयाचल में सत्य का सूर्योदय होता है। वस्तुतः ऋषित्व और इन्द्रत्व दोनों एक ही हैं। इसलिए वत्स काण्व कहते हैं, 'जिस कारण से तुम ही हो पूर्वज ऋषि, और अकेले ही ईशान हुए हो ओजः शक्ति में (उसी कारण से) हे इन्द्र, आवरण को चीर कर प्रकट करो ज्योति [२०६३]।' यही पूर्वज ऋषि शौनक संहिता में 'एक ऋषि'[1] या 'एकर्षि' हैं।[2] काठक संहिता में भी उनका उल्लेख है।[3] उनका उल्लेख उपनिषदों में भी प्राप्त होता है।[4] यजुः संहिता में एवं यजुर्वेद की उपनिषदों में हम एकर्षि के साथ यम का सम्बन्ध देखते हैं। काठक संहिता में कुछ इस प्रकार भी कहा गया है- 'जो यम को जानते हैं, वे ही विज्ञान साधक को एकर्षि जैसा बतला सकते हैं।' शौनक संहिता में एकर्षि अद्वय तत्त्व हैं: वे ही एक मात्र गौ, एकमात्र धाम, एकमात्र आशा, पृथिवी में अद्वितीय एक रहस्य हैं,[5] और वे ही एकमात्र ऋतु अथवा काल हैं जिसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता है। वे स्कम्भ ब्रह्म में अर्पित अर्थात उसके एकाग्र विन्दु या चक्र की नाभि (केन्द्र) की भाँति हैं।[6]

GELDNER का प्रकल्प (परिकल्पना) है कि यह ऋक् आर्यों द्वारा पूर्व पञ्जाब में उपनिवेश स्थापना का स्मृतिवह (या याद दिलाता है)— अनावश्यक है। [८] तु. ऋ. त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम, त्वं चकर्थ मनवे स्योनान् पथो देवत्राञ्जसेव यानान् १०।७३।७। **नमुचि** वृत्र का अनुचर, 'जो किसी भी हालत में छोड़ता नहीं', तु. योग का आशय अथवा अवचेतन का संस्कार। तमोवृत्ति से उत्पन्न होने कारण 'दास'। यहाँ वह आत्माभिमान, क्योंकि वह **मखस्यु** (॥ 'महस' महिमा)- क्षुद्र होकर भी स्वयं को महान जैसा प्रदर्शित करना चाहता है। इन्द्र ने उसका वध करके मनु के लिए रास्ता तैयार कर दिया था (तु. अत्रा दासस्य नमुचेः शिरो यद् अवर्तयो मनवे गातुम् इच्छन ५।३०।७)। और उन्होंने ऐसा किया था प्लावन के फेन द्वारा (अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोद् अवर्तयः [मरोड़ कर अलग कर दिया था] ८।१४।१३)। अर्थात उन्होंने अनायास यह कार्य किया था; क्षुद्रता को बृहत् के प्लावन द्वारा बहाकर दूर कर दिया था। केनोपनिषद में हम देखते हैं कि सब देवता 'अमहीयन्त'; किन्तु ब्रह्म ने उनका अभिमान चूर्ण किया एक तृण द्वारा। तु. गङ्गावतरण के समय उनकी लहरों में मदमत्त ऐरावत का तैरना।

[२०६३] ऋ. ऋषिर् हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा, इन्द्र चोष्कूयसे वसु ८।६।४१। **चोष्कूय** < √स्कु 'छिन्न करना, चीरना' 'आवरण हटाना'; तु. चोष्कूयमाण (अनावृत करके, प्रकाशित करके) इन्द्र भूरि वामं (कल्याण) मा पणिर् (कृपण) भूर् अस्मद् अधि प्रवृद्ध १।३३।३, एधमानद्विळ् (जो अत्यधिक सुखी-समृद्ध धनपति, उनके प्रति विरूप, अप्रसन्न) उभयस्य राजा चोष्कूयते (भीतर की वस्तु बाहर ले आते हैं; विपर्यय की सृष्टि करते हैं) विश इन्द्रो मनुष्यान् (साधारण लोगों का) ६।४७।१६, सर्वमय, सर्वव्यापी प्रभु होने के कारण स्वेच्छया सब कुछ विपर्यस्त कर देते हैं; इन्द्र 'अप्रतिष्कुतः' अप्रतिहत, अबाध, महिमा में स्वयं प्रकाश, आत्मदीप्त (< प्रति √स्कु आच्छादित करना १।८४।७, ८।७७।१२, 'इन्द्रो दधीचो अस्थभिर् वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव १।८४।१३; मारुतो गणः ...... शुभंयावाप्रतिष्कुतः ५।६१।१३; इन्द्रयाजी 'अप्रतिष्कुतः' इन्द्र का 'अप्रतिष्कुतं...शुष्मं' ८।७३।१२।[५] शौ. 'को नु गौः क एकऋषिः किम् उ धाम का आशिषः यक्षं पृथिव्याम् एकवृद् (एकमात्र) एकर्तुः (एकमात्र काल, जिस प्रकार सकृद्दिवा में) कतमो नु सः' ८।७।२५। परमदेवता के सम्बन्ध में प्रश्न। उत्तर अगले मंत्र में है: एको गौर् (आदित्य एवं द्यौः, निघण्टु १।४; तु. ऋ. १०।१८९।१) एक एकऋषिर् (उनका) एकं धामैकधा (एक ही प्रकार का) आशिषः (चाहना, कामना करना, संकल्प), (वे ही) यक्षं (रहस्य तु. केनोपनिषद् ३।२) पृथिव्याम् एकवृद् एकर्तुर् नाति रिच्यते (उनका अतिक्रमण करने पर कुछ भी नहीं है) ८।७।२६।—

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद में वे प्राण हैं; मुण्डकोपनिषद में वे वानप्रस्थी की आत्मस्थ अग्नि हैं जिसमें श्रद्धाहोम किया जा सकता है।[6] यजुर्वेदि की धारा में दिखाई देता है कि एकर्षि की साधना मृत्यु अथवा लय की ओर है, जिसका आलम्बन पूषा के द्वारा संकेतित 'अग्र्या बुद्धि' है[7] और अथर्ववेद की धारा में वे प्राण हैं — 'एको गौः' अथवा पृश्नि या सूर्य हैं।[8] दर्शन की भाषा में कहा जाए तो दोनों धाराओं को मिलाकर हम पाते हैं कि एकर्षि साथ-साथ प्रज्ञा एवं प्राण अथवा 'प्राण प्रज्ञात्मा' या इन्द्र हैं।

एकर्षि की संज्ञा क्या है? कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद में 'अग्रे प्रसूत' एक ऋषि का उल्लेख है, उनका नाम 'कपिल' है [2064]। इस उपनिषद के परमदेवता 'रुद्र' हैं।[1] वे महर्षि एवं हिरण्यगर्भ को जन्मते हुए देखते हैं। परम देवता एकर्षि को भी जन्म लेते हुए देखते हैं एवं उनको ज्ञान द्वारा पूर्ण करते हैं। सब मिलाकर 'महर्षि' द्रष्टा और 'एकर्षि' उनके जायमान या उत्पद्यमान ज्ञान हैं। महर्षि ज्ञान का 'अक्षीयमाण उत्स' और 'एकर्षि' उसकी शाश्वत धारा है। हिरण्यगर्भ भी वही है, हिरण्यगर्भ और एकर्षि दोनों एक ही तत्व है। ऋक्संहिता में हिरण्यगर्भ भूतपति एवं प्रजापति अर्थात विश्व में जो कुछ उत्पन्न हुआ है, उसके वे परिभू हैं।[2] जो जगत, प्राणत एवं निमिषत् है अर्थात जो गतिशील है, प्राणमय है और जिसमें चेतना का उन्मेष हुआ है, वे उसके राजा हैं।[3] वे समस्त देवताओं के अधिपति एकदेव हैं।[4] →

---

2 शौ. यत्र ऋषयः प्रथमजा (एकर्षि की ही विभूति) ऋचः साम यजुर् मही (वाक्; = आथर्वण मंत्र जो त्रयी विद्या के बाहर है), एकर्षिर् यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं (ब्रह्म) तं ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः १०।७।१४। स्कम्भ ब्रह्म से एकर्षि, उनसे प्रथमज ऋषिगण। पैप्पलाद का पाठ सर्वत्र 'एकर्षि'। 3 काठक संहिता ४०।११।५ (द्र. टी. १३१८)। काठक संहिता का यह मंत्र तैत्तिरीय आरण्यक में है (६।५।२), वहाँ सायण भाष्य, द्रष्टव्य। 4 ईशोपनिषद १६ (= बृ. ५।१५।२; प्रश्नोपनिषद २।११; मुण्डकोपनिषद ३।२।१०। 5 **यक्ष** द्र. केनोपनिषद। 'एकवृत् (एक फेरा या चक्कर, जिस प्रकार 'त्रिवृत' तीन फेरा। 6 **अर्पित** < √ऋ 'चलना' < 'अव' चक्र शलाका (चक्के या पहिये की सलाखें) जो उसके केन्द्र से परिधि की ओर जाती हैं। फिर देखें तो वे ही नेमि या परिधि से नाभि या केन्द्र में संहत हैं। तब वे सब 'अर्पित' अथवा अन्तर्निहित हैं। तु. ऋ. पञ्चपादं (पाँच पाँवों से चलते हैं) पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे (द्युलोक के ऊर्ध्व भाग में) पुरीषिणम् (नीहारिका की तरह ज्योतिर्वाष्पमय) [SHIMMERING LIGHT से परिपूर्ण] अथेमे अन्य उपरे (अपरार्ध में, उसी द्युलोक के निम्न भाग में; 'उपराः' निघ. दिक् १।६ जो निकट की. तु. ऋ. '**वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरम् अस्तभायः**' — पृथिवी के सानुप्रदेश को तुमने प्रसारित किया है पर्वतमाला में और उस कारण द्युलोक के निम्न प्रदेश को थामे हुए हो स्तम्भ द्वारा १।६२।५) सप्तचक्रे (क्रमशः एक के ऊपर एक सात भुवनों के प्रसारित क्षितिज में) षडर [षलर] (प्रत्येक चक्र में अरविभाग छः छः करके) आहुर् अर्पितम् (उसी भुवन-रथ के मेरुदण्ड में तुम निहित हो) १।१६४।१२ '**पञ्चपाद**' पाँच ऋतुएँ, 'द्वादशाकृति' बारह मास — दोनों मिलकर संवत्सर। '**पिता**' आदित्य, प्रजापति — यहाँ वे कालात्मक हैं। पुनः वे एक रथ जैसे हैं। जिसके सात चक्र सात भुवन अथवा विष्णु की सप्तपदी हैं। प्रत्येक भुवन में फिर सम्वत्सर व्यापी कालचक्र का आवर्तन हो रहा है। उसमें छः ऋतुएँ — अतः रथ 'षडर' है जिसमें छः अर हैं। इसी रथ में परमदेवता 'पुरीषी' परार्ध में अथवा लोकोत्तर में — नीहारिका की तरह हैं। फिर अपरार्ध में सप्तभुवन के विचक्षण 'पिता' हैं — सूर्य की तरह। फिर 'अर्पित' अथवा सर्वान्तर्यामी — सूर्यरश्मि की तरह। उनका यही 'आत्मार्पण' या आत्माहुति ही देवयज्ञ हुआ — विसृष्टि होकर भी उत्सृष्टि का प्रचोदक या प्रेरक।

वे सब के आत्मदा एवं बलदा हैं ;-- अमृत (अमरता) एवं मृत्यु दोनों ही उनकी छाया हैं। हम देख रहे हैं कि संहिता के हिरण्यगर्भ एक साथ महर्षि एवं एकर्षि हैं किन्तु उपनिषद में दोनों में भेद का विकल्पन है। उनमें एक द्रष्टा एवं जनक हैं और एक दृश्य एवं विश्व रूप में जायमान हैं।

ऋक्संहिता में ऐन्द्र वसुक्र के एक इन्द्रसूक्त में कपिल का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋषि का कथन है कि 'दशजनों में एक कपिल- अर्थात (वे और नौ जनों के) समान हैं। (वे सब) उनको उस पार के क्रतु अथवा सृजनेच्छा या संकल्प शक्ति की ओर ठेल देते हैं। जो भ्रूण प्रवाह समूह या जलधाराओं में सुनिहित है, माता कामनाहीन (उसी भ्रूण का) तुष्टि-साधन करते हुए (उसको) वहन कर रही हैं [२०६५]।'— यह ऋक् सन्धा भाषा में रचित कपिल रूपी इन्द्र का वर्णन है। इसके पहले ही हमने देखा है कि यही कपिल पूर्वज ऋषि अथवा एकर्षि हैं। अतएव वे ऐतिहासिक पुरुष नहीं, पुराणपुरुष हैं। वस्तुतः पुराणपुरुष तत्व रूप हैं, इतिहास में उनकी अभिव्यक्ति घटना-क्रम में होती है। इन दोनों ऋचाओं के क्रियापद ही वर्तमान काल के हैं, अतएव यह एक शाश्वत तत्व की विवृति है। पहले ही बतलाया जा रहा है कि कपिल दशजनों में एक जन हैं किन्तु वे अकेले ही नौजनों के समान हैं। इन दशजनों का ही एक क्रतु है- अर्थात भव्यार्थ को भूतार्थ में परिणत करने का सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य इन्द्र में है इसलिए ये दशजन ही इन्द्र की विभूति हैं। नौ जनों का क्रतु इहलौकिक अथवा इस पार का है और कपिल का क्रतु उसका अतिक्रमण करके 'पार्य' अर्थात पर पार का अथवा पारलौकिक है, पारमार्थिक है।

दशम पुरुष तो कपिल हैं, अन्य नौ जन कौन हैं? उसका सङ्केत हमें इसके पूर्व के मंत्र में प्राप्त होता है— वहाँ कुछ संख्याओं का खेल है। ऋषि कहते हैं, 'सात जन वीर पुरुष दक्षिण (अथवा नीचे से) उठकर आए। आठ जन उत्तर से (या ऊपर से) आए, वे सब एक साथ मिल गए आकर। नौ जन पश्चिम से (अथवा पीछे से) शान्त सुधीर नियामिका शक्ति लेकर आए, दश जन सामने से (अथवा पूर्व से) कड़े ठोस पत्थर की चोटी लाँघ गए- [२०६६]।'—यह ऋक् भी सन्धा भाषा में रचित है। सारे वीर ऋषि हैं-जिन्होंने—

७ तु. क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः (गार्हस्थ्य में) स्वयं (अकेले, एकाकी) जुह्वत (वानप्रस्थ में 'आत्मन्यग्नीन् समाधाय' होम) एकर्षिं श्रद्दयन्तः (संन्यास में श्रद्धा होम), तेषाम् एवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं (तु. ऋ. ६।१६।१३) विधिवद् यैस्तु चीर्णम् ३।२।१०। ८ द्र. कठोपनिषद १।३।१२। ९ ऋ. १०।१८९।१ ; तु. १।१६४।१२ ; तु. प्रश्नोपनिषद. प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः १।८।

[२०६४] श्वेताश्वतरोपनिषद. ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस् तम् अग्रे ज्ञानैर् बिभर्ति जायमानं च पश्यत ५।२।१ श्वे. ३।२, ४ (रुद्रो महर्षिः), ४।१२ (वही)।[२] ऋ. १०।१२५।१, १० (टी. ११८६[३])। तु. श्वे. रुद्र विश्व के परिवेष्टिता अर्थात विश्व को, समस्त जगत को सब ओर से घेरे हुए हैं- (३।७, ४।१४, ५।१३)।[३] ऋ. १०।१२१।३। [४] १०।१२१।७ ; तु. सारे देवता उनके प्रशासन की उपासना करते हैं (२) वे समस्त देवताओं के संवृत्त (बीजरूप में अन्तर्गूढ [INVOLVED]) असु या प्राण हैं— उसी से गर्भ अथवा भ्रूण की उत्पत्ति (७)। [५] १०।१२१।२।

[२०६५] ऋ. दशानाम् एकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय गर्भं माता सुधितं वक्षणास्व वेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति १०।२७।१६। [१] द्र. १०।५५।२, टी. १८३८[२]।

[२०६६] ऋ. सप्त वीरासो अधराद् उद् आयन्न् अष्टोत्तरात्तात् सम् अजग्मिरन् ते, नव पश्चातात् स्थिविमन्त आयन् दश प्राक् सानु वि तिरन्त्यश्नः १०।२७।१५। यही क्रम बृहदारण्यकोपनिषद में (२।२।४) है। द्र. ऋ. ९।१०७, १०।१३७ सूक्त, सर्वानुक्रमणी, वहाँ अन्य क्रम है।[२] प्रज्ञान के—

अँधेरा चीर कर ज्योति का दर्शन प्राप्त किया है। ये सब पुरुष की अभीप्सा के प्रतीक हैं। गति के अनुसार ऋषियों के दो स्तर या श्रेणी हैं। प्रथम श्रेणी के सात ऋषि हैं फिर आठ हैं; द्वितीय श्रेणी में नौ हैं, फिर दश हैं। सात ऋषि वेद के प्रसिद्ध सप्तर्षि हैं — अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम और भरद्वाज।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् में आध्यात्मिक दृष्टि से इनको सात शीर्षण्य प्राणों के साथ मिला दिया गया है। प्राण की अभिव्यक्ति अथवा स्फुटन इन्द्रियवृत्ति में होता है। नीचे से ऊपर की ओर उनका आयतन क्रमानुसार मुख, दो नासारन्ध्र, दो चक्षु और दो श्रोत्र हैं। वैश्वानर अग्नि प्राण रूप में अन्न का परिपाक करके शीर्ष में चेतना के उन्मेष की सृष्टि करते हैं। ऊर्ध्वक्रम में आयतनों का विन्यास प्रज्ञान के तारतम्य के अनुसार होता है। मन के साथ आँख और कान के व्यवहार में एकमात्र मनुष्य के ही प्रज्ञान का उत्कर्ष सूचित होता है।[2] मनुष्य सर्वजीवसाधारण जीवन योनि-प्रयत्न पर विजय प्राप्त करके ऋषि होता है, जब वह बृहत् ज्योति को देखता है एवं वाक् के गुहाहित पद को सुनता है। बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन है कि जो परमा वाक् ब्रह्म का संवित् अथवा ब्रह्मचेतना या ब्रह्मज्ञान को सम्प्रेषित करती है वही प्राणवृत्ति के रूप में सप्तर्षि से परे अष्टमी ऋषिका है।[3] यही वाक् अन्नाद रूप में सर्वनिम्न प्राणवृत्ति थी — आहार सर्वस्व जीव तब उद्भिद का अथवा वेद की भाषा में 'ओषधि-वनस्पति' का पर्यायवाची था। उसके बाद 'पशु' दिखाई पड़ा, जिसमें प्राण-चेतना प्राणन (BREATHING) और घ्राण में विशिष्ट या समन्वित हुई, चक्षु और श्रोत्र की व्यापिया (FUNCTION) या प्रकार्य में मनन का आभास — अस्पष्ट प्रकाश फूटा। मनन 'पुरुष' अथवा मनुष्य में प्रज्ञान के आविर्भाव से विशिष्ट हुआ। तब मन सात शीर्षण्य प्राणों का अधिपति हुआ। शीर्षण्य प्राणों के सब से नीचे 'वाक्' हुई — जिसका आयतन मुखविवर है। बृहदारण्यक में इसी वाक् को 'ऋषि अत्रि' अर्थात 'अन्नाद' कहा गया है। उसका काम है आहार करना। इसी से प्राण के उदयन या आविर्भवन का आरम्भ होता है। अतः संहिता में कहा गया कि 'सातजन वीर नीचे से ऊपर की ओर उठ कर आए' अर्थात आहार सर्वस्व जीव — ओषधि-वनस्पति, पशु एवं पुरुष — इसी क्रम के अनुसार अन्त में मनुष्य हुआ। किन्तु यहाँ ही उसकी प्रगति का अन्त नहीं है। मनुष्य को 'मनु' होना होगा, अपने 'स्व' के भीतर द्युलोक की ज्योति ले आकर देवता को जन्म देना होगा।[4] यह होगा यहाँ से उसके अपने प्रयास की भूमिका में धी-योग के द्वारा और ऊपर से देवता के आवेश अथवा शक्तिपात द्वारा। यही शक्ति बृहदारण्यक की अष्टमी वाक् अथवा 'ब्रह्मणा संविदाना' ब्रह्मी वाक् है।[5] संहिता में शक्तिपात को सात के साथ आठ का सङ्गम बतलाया गया है अर्थात शक्ति जब ऊपर से नीचे उतरी तब आधार के सात शीर्षण्य प्राणों को 'दैव्यजन' में रूपान्तरित किया — मनुष्य मनु हुआ।

---

[1] क्रमिक उत्कर्ष का विवरण द्र. ऐ आ. २।३।२। तत्र ऐतरेय उपनिषद्. भूमिका। [2] बृ. अर्वाग्-बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस् तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् तस्या सत ऋषयः सप्ततीरे [3] वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना २।२।३। [4] मनुर् भव जनया दैव्यं जनम् १०।५३।६ (समस्त सूक्त द्र. टी मू. १३४०...)। [5] वाक् के चार पद (१।१६४।४५; वाक् चतुष्पदी होने के कारण 'गौरी,' अथवा 'धेनु')। तुरीय पद में वे 'मानुषी' अथवा 'आग्नेयी' अर्थात पार्थिव (तंत्र में 'वैखरी')। उसके ऊपर की ओर वे माध्यमिका अथवा 'दैवी' (बृ. ५।२।३) उसके ऊर्ध्व में 'ससर्परी अथवा सौरी (ऋ. ३।५३।१५) उसके भी ऊर्ध्व में 'ब्राह्मी' अथवा सौम्या (५।३३।५)। तीन ऊपर से उतरती हैं, तुरीय ऊपर उठ जाती है।

क्रमशः →

वेद
मी मां सा

वेद मीमांसा

तृतीय खण्ड

अनिर्वाण

— हिन्दी अनुवाद
▫ छविनाथ मिश्र

⊙ पृष्ठ ३१० से ३२५ तक
[तृतीय खण्ड समाप्त]

यही मनु मनुष्य का आलोकदीप्त मन है, वह देवता का सायुज्यकामी है, यज्ञ उसका साधन है [२०६७]। यज्ञ मंत्रसाध्य है। मनन से मंत्र[1] जो स्वरूपत: ब्रह्म अथवा चेतना का विस्फारण एवं कार्यत: 'वाक' अथवा ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। यही वाक किस प्रकार सृष्टि की प्रवर्तिका है — उसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या दीर्घतमा औचथ्य ने प्रस्तुत की है।[2] परमव्योम में वाक जिस प्रकार सहस्राक्षरमें परिकीर्णा या बिखरी हुई है, उसी प्रकार एकाक्षरे में संकीर्णा अथवा सिकुड़ी-सिमटी हुई है। एकाक्षरा या एकपदी वाक ओम है। सृष्टि ओङ्कार की झङ्कार है — परमव्योम से द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक रूप में धीरे-धीरे, क्रमश: उतर कर आई है। वाक् भी उसी प्रकार एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी एवं अष्टापदी हुई। यही 'बभूवुषी' अर्थात अनेक होने की संवेगमयी वाक है। यह होना 'द्वेधापातन'[3] अथवा दो भागों के विभाजन द्वारा होता है। उससे एकपदी अथवा असङ्ग वाक् द्युलोक से आकर आदित्य सङ्गिनी के रूप में द्विपदी हुई।[4] तंत्र में एकपदी वाक 'परा' है और यही द्विपदी वाक् ज्योतिर्मयी रूप में 'पश्यन्ती' है। फिर द्विधा पातन के द्वारा अन्तरिक्ष मे आकर वाक् चतुष्पदी हुई। वस्तुत: यही आदित्य बिम्ब से प्रत्येक दिशा में रश्मि का विच्छुरण है, जिसको छान्दोग्य मे आदित्य का क्षोभ[5] अथवा ब्रह्मक्षोभ कहा गया है — जो सृष्टि का प्रथम स्पन्द है। चतुष्पदी वाक अन्तरिक्ष से उतर कर पृथिवी पर आकर अष्टापदी हुई। यास्क बतलाते हैं कि चारों दिशाओं के साथ चार प्रदिक् अथवा दिगन्त मिलकर आठ दिशाएँ होती हैं। उनके साथ सङ्गत (मिलित) वाक् अष्टापदी है। दो भागों में विभाजित होने के परिणाम स्वरूप आदित्य क्षोभ जनित स्पन्द यहाँ और भी द्रुत होता है। संहिता में यही वाक् का 'तुरीय पद' है अर्थात वाक् तब मनुष्य के मुख की भाषा है। फिर छन्द की दृष्टि से अष्टापदी वाक् गायत्री है। गायत्री अग्नि का छन्द है।[6] तो फिर द्विपदी वाक के अष्टापदी होने का तात्पर्य है अर्बुध्न आदित्य (सौरमण्डल) से उनकी रश्मि का अग्नि के रूप में मानव के भीतर 'अन्तर्निहित' होना।[7]

[२०६७] ऋ. मनुर् देवयुर् यज्ञकाम: १०।५१।५, टीभू १४१७। [1] नि. मंत्रो मननात् ७।१२। [2] ऋ. १।१६४।४१-४२, ४५; तु. ३८। ऋषि के नाम में 'उचथ' ॥ उक्थ ॥ वाक् की ध्वनि लक्ष्य करने योग्य है। प्रथम दोनों शब्द 'ब्रह्म' की तरह क्लीव लिङ्ग हैं। [3] तु. बृ. स वै नैव रेमे, तस्मात एकाकी न रमते … आत्मानं द्वेधापातयत् १।४।३। [4] तु. नि. ११।४० (ऋ. १।१६४।४१ की व्याख्या)। निघन्टु में वाक् अन्तरिक्ष स्थान (५।५); अतएव माध्यमिका। किन्तु यह सामान्य वचन है। वेद में सृष्टि अन्तरिक्ष की घटना है और वाक् सृष्टि की प्रवर्तिका हैं। इसलिए उनका स्थान अन्तरिक्ष में है और वे स्वरूपत: प्राण हैं। किन्तु प्राण कभी प्रज्ञाविरहित नहीं। अत: प्राणस्पन्दिता वाक का उपमान 'गौरी' हुआ। यास्क 'गौरी' को रुचिरा अथवा दीप्तिमती अर्थात गौरवर्णा समझते हैं (तु. नि. ११।३८, तत्र दुर्ग)। तो फिर माध्यमिका गौरी कौषीतकी के इन्द्र की तरह ही प्रज्ञात्मक प्राण हैं। निसर्ग में उनकी अधिदैवत अभिव्यक्ति या व्यञ्जना मेघ अथवा आँधी-तूफ़ान के गर्जन में, वृष्टि के झरझर में, जलस्रोत की कल-कल ध्वनि में है। फिर मेघ, वायु, अप सभी प्राण के प्रतिरूप हैं। माध्यमिका वाक का अनुध्यान इन सब भावनाओं के समाहरण में करना होगा। मेघगर्जन आदि में वाक् जिस प्रकार प्राणमयी, उसी प्रकार विद्युत एवं आदित्य में प्रज्ञानमयी हैं। उनका व्याप्ति धर्म दिशाओं के साहचर्य में अभिव्यंजित होता है। [5] छा. ३।५।३। [6] ऋ. १०।१३०।४। [7] १।२४।७ टी. १५८१।

वाक् सहस्राक्षरा हैं और 'सहस्र' अनन्त का बोधक है। अतएव अष्टापदी होकर ही बभूवुषी वाक् कहीं ठहरेंगी नहीं, उनके द्रप्सपातन का कार्य चलता ही रहेगा। किन्तु दीर्घतमा उसके पश्चात ही नवपदी वाक् की चर्चा करते हैं। तो फिर अष्टापदी वाक् उपलक्षण मात्र हैं और नवपदी उनकी अन्तर्यामी नियामक शक्ति है — यह अतिरिक्त अक्षर आदि या मूल की वही एकपदी वाक् अथवा ओम् है [२०६८]।

यह नवपदी वाक् ही वसुक्र के 'नव वीराः' हैं। वे सब पीछे से सामने से अर्थात अव्यक्त से व्यक्त भूमि पर आए। दीर्घतमा की नवपदी वाक् भी व्यक्त सृष्टि की प्रवर्तिका है- क्योंकि 'जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदाः' अग्नि का [२०६९] छन्द गायत्री है, वे उसके अधिष्ठान हैं। और यही अग्नि सौचीक रूप में सभी जीवों में गुहाहित है एवं उससे व्यक्त विश्व का इङ्गित होने के कारण नवपदी वाक् भी विश्व की नेपथ्यचारिणी आद्या शक्ति हैं। तंत्र में वे 'नवयोनि'- अर्थात अन्तःस्थ उष्म एवं क्षकार का समवाय 'नव-मातृका' हैं।[२] हम जानते हैं कि वेद में वाक् 'गो' एवं गो 'किरण' अर्थात वाक् प्रत्येक जीव में निहित आदित्यरश्मि है। इस दृष्टि से नवपदी वाक् वेद के प्रसिद्ध ऋषिगण 'नवग्वाः' अथवा नवरश्मि हैं।[३] सायण के मतानुसार वसुक्र के 'नववीर' नवग्वगण एवं वे सब पुनः प्रसिद्ध अग्निऋषि अङ्गिरोगण हैं।[४]

[२०६८] ल॰ एक, दो, चार और आठ का योगफल चन्द्रकला की संख्या पन्द्रह हुआ। इन संख्याओं के ह्रास-वृद्धि या घटने-बढ़ने का क्रम है। यह बोध होगा एक में विधृत या गृहीत सृष्टि और प्रलय के छन्द का दोलन। पन्द्रह के साथ एक जोड़ देने से हम षोडशी ध्रुवा कला का परिचय प्राप्त करते हैं (बृ॰ १।५।१४)। यही यहाँ नवपदी वाक् है। एकपदी और नवपदी इस दो स्वधा के मध्य में विसृष्टि और अतिसृष्टि का उतार-चढ़ाव जारी है।

[२०६९] ऋ॰ ३।१।२०, २१ द्र॰ टीभू॰ १२६६[४], १३२१, १३२२। [१] द्र॰ वेमी॰ 'सौचीक' अग्नि [२] द्र॰ शिवसूत्र विमर्शिनी २१७ टिप्पणी ५२। तु॰ 'ज्ञानं बन्धः, योनिवर्गः कलाशरीरम्, ज्ञानाधिष्ठानं मातृका' शिवसूत्र १।२-४। 'योनि' माया, शक्ति — 'अम्बा ज्येष्ठाभिधा रौद्री वामा च शिवमूर्तयः' (शिव-सूत्रे १।२ वार्तिक)। श्रीयंत्र में अग्निषोमात्मक नवयोनि प्रसिद्ध हैं। [३] **नवग्व** — नव (नौ 'गो' अथवा किरण हैं जिनकी, प्राचीन ऋषि की संज्ञा। ऋक्संहिता में 'नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते (देवता के सायुज्यलाभ में महीयान)' १०।६२।६; वे 'गव्यं (किरणसमूह के उत्स, सूर्य अथवा सोम हैं) चिद् उर्वम् (विपुल) अपिधान-वन्तं (आवरणयुक्त) तं चिन् नराः शशमानाः (शम के साधक अथवा कृच्छ्रतपा होकर √शम् 'परिश्रम करना', 'शान्त होना') अपव्रन् (अपावृत, उद्घाटित किया) ५।२९।१२ (तु॰ १०।१०८।८, १।६२।४); यह साधना उन सबने दस मास तक की थी (५।४५।७, ९); और उसके फलस्वरूप उन सबको उसी 'कन्या का सख्य' मिला (मक्षू कनायाः सख्यं नवग्वा ऋतं वदन्त ऋतयुक्तिम् अग्मन् १०।६१।१०; यह कन्या असम्भूति रूपिणी अदिति); संख्या में वे सातजन (सप्तविप्रासः ६।२२।२, सप्तास्य अथवा बृहस्पति के समान हैं ४।५१।४)। ऋ॰ ३।३९।५ के भाष्य में सायण कहते हैं, 'मेधातिथिप्रभृतयोऽङ्गिरसः केचिन् नव मासान् सत्रम् अनुष्ठाय फलं लेभिरे, केचिद् दश मासान् अनुष्ठायेति। तत्र ये नव मासान् सत्रम् अनुष्ठाय लब्धफला उदतिष्ठन् ते नवग्वाः, ये दशमासान् ··· ते दशग्वाः'। इस सत्र को संक्षिप्त करके 'अहीन' किया जाता है-तब काल की माप मास द्वारा नहीं बल्कि तिथि द्वारा। नवग्व और दशग्व सब 'कन्या के उपासक' अथवा शक्तिसाधक हैं। कोई नवमी में सिद्ध, कोई दशमी में सिद्ध। यह कन्या षोडशकल पुरुष की शक्ति षोडशी हैं। वे पूर्णिमा को भी पार करके सकृद्दिवा की तरह ह्रास-वृद्धिहीन नित्यपूर्णिमा हैं। इसी पूर्णिमा में सन्धितिथि है, अष्टमी के अन्त में, नवमी के आदि में — जब सौम्यज्योति की जयन्ती निश्चित। तंत्र में अष्टमी तिथि का [illegible] नाम जया है। जय का फल देवता को देकर रिक्त होना पड़ता है, नहीं तो —→

वाक्शक्ति ही मनुष्य को ऋषि करती है, यह बात वाक्सूक्त में अंभृण कन्या स्वयं ही कहती हैं।[५] तो फिर ये नववीर पुरुष होकर भी वाक् के सायुज्यवशात: स्त्री रूप हैं। यही समझाने के लिए वसुक्र ने कहा कि 'वे सब सूप (शूर्प, स्यिवि) लेकर आए।' सूप का इस्तेमाल साधारणतया स्त्रियाँ ही करती हैं। सूप में शस्य या अन्न आदि को झटक-फटक कर एकत्र करती हैं। तत्पश्चात वही शस्य 'निर्वपन' किया जाता है अर्थात सूप से लेकर खेत में छींट दिया जाता है। इस प्रकार के एक चित्रण का आभास ऋक्संहिता में ही है। आयास्य आङ्गिरस बतलाते हैं कि पणियों ने गोयूथ को छिपाकर पर्वत की गुहा की आड़ में रखा था। बृहस्पति उनको पराजित करके गोयूथ को पर्वत-कन्दरा से निकाल उसी प्रकार छिटका देते हैं जिस प्रकार सूप से यव (जौ) छींट दिया जाता है।[६] इस चित्र में अँधेरे का अवरोध तोड़कर सूर्य की रश्मियों को विकीर्ण करने में नव सृष्टि के संकेत की ध्वनि है। तन्त्र में दशमहाविद्या की अन्यतमा धूमावती के हाथ में हम सूप देखते हैं। धूमावती मृत्युरूपा हैं, प्रलय के समय सृष्टि के बीज सूप में एकत्र करके वे मुट्ठी-मुट्ठी मुँह में डाल रही हैं। यह भी निर्वपन अर्थात व्यक्त के बीज को अव्यक्त में मिला देना है। नववीरों एवं बृहस्पति का निर्वपन इसके विपरीत धारा में अर्थात अव्यक्त से व्यक्त का बीज छितराना है सृष्टि के ब्राह्म मुहूर्त में। सारे नववीर विश्वसृष्टि की प्रवर्तिका शक्ति—अर्थात त्वाष्ट्र विश्वरूप के विधाता हैं।[७]

नववीरों के पश्चात दशवीरों का आगमन हुआ—सामने की ओर से। उनकी गति नववीरों की गति के विपरीत अर्थात पूरब से पश्चिम में [२०७०] अथवा व्यक्त से अव्यक्त की ओर है। सूर्य उस समय पुरुष के सामने हैं—पीछे वारुणी शून्यता का अन्धकार है। सूर्य को सामने देखना—व्यक्तिपरक दृष्टि से अर्थात आमने-सामने उनको देखना है। मध्याह्न तक उनको इस रूप में देखा जा सकता है; दृष्टि को इधर-उधर घुमाए बिना ही उन्हें प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यही ऋषि का चिन्मय प्रत्यक्ष अर्थात देवता को इन आँखों द्वारा ही देखना है। किन्तु मध्याह्न के पश्चात उनको फिर →

केनोपनिषद के देवताओं की तरह ब्रह्मशक्ति उमा को न पाकर साधक को लौट आना होगा। इसलिए नवमी तिथि का नाम 'रिक्ता' है। उसके बाद पूर्ण विजय रूप में दशमी का नाम 'पूर्णा' अथवा 'विजया' है। विजया के बाद ज्योत्स्ना के पथ से होकर कन्या के निकट जाना सहज हो जाता है। वेद की सौम्यासिद्धि की साधना तंत्र में इसी प्रकार प्रपञ्चित हुई है। वसुक्र की इन दोनों ऋचाओं में उसका ही सङ्केत है। [४] द्र. नि. 'आङ्गिरसः' ११।१७। उदाहरण देने के लिए यास्क ने ऋक्संहिता की इस ऋचा को प्रमाण-स्वरूप लिया है—'विरूपास (नानारूप, अर्थात जो सब अग्निसिद्ध हैं, वे ही 'अङ्गिराः') इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः (हृदय की गहराई में जिनकी आकूति अर्थात वे सब जिस प्रकार ऋषि हैं, उसी प्रकार विप्र भी हैं; तु. सोम 'ऋषिर् विप्रः काव्येन' ८।७९।१), ते अङ्गिरसः सूनवस् ते अग्नेः परि जज्ञिरे १०।६२।५। इसके पश्चात ही है, 'ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस् परि, नवग्वो नु' इत्यादि (६ द्र. टी. २०६७।२)। अङ्गिरा अग्नि से उत्पन्न अग्निसाधक। पुनः वे ही सब 'नवग्व' एवं 'दशग्व' अर्थात सूर्य अथवा सोम के साधक हैं। वे अग्नि से पहुँचते हैं सूर्य में एवं उसे भेदकर सोम में। वह सोम पूर्णिमा का अथवा अमावस्या का है। [५] १०।१२५।५, टी. १४४४। [६] बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या (पणियों को पराजित करके छीन लेना <√ तृ 'अभिभूत करना, पराभूत करना' तु १०।२७।१२) निर् गा ऊपे (छितरा दिया है <√ वप् 'वपन करना, छींटना') यवम् इव स्थिविभ्यः (<√ स्थिव् 'थूक फेंकना', तु. 'निष्ठीवन', लक्षणीय. सूप का आकार जीभ की तरह) १०।६८।३। [७] द्र. वेमी. 'त्वष्टा', टीप्. १५७२-१५७४। →

इस रूप में नहीं देखा जा सकता है— उस समय होगा या तो मुँह घुमाना पड़ेगा या फिर दृष्टि को भीतर की ओर मोड़ कर अन्तर्मुखी होना होगा।[1] यही मुनि का आन्तर प्रत्यक्ष है अर्थात आँख मूँद कर देवता को अन्तर में देखना। तब प्रवर्तन का मार्ग नहीं— निवर्तन या निवृत्ति का मार्ग पकड़ना पड़ता है, अस्तगामी सूर्य के साथ-साथ अँधेरे का सीना चीर कर ज्योति के आविष्कार की राह पर चलना पड़ता है। सब नववीर सृष्टिचक्र के साथ बँधे हुए सूर्य के उदय और अस्त के साथ आवर्तित होते रहते हैं। प्रातःकाल पश्चिम से पूरब में उठकर आने पर भी पुनः विवश होकर उनको पश्चिम में ढल जाना पड़ता है। जो दसवें वीर हैं वे इस आवर्तन के ऊपर हैं। उनकी ज्योति शाश्वत है, उसका उदय और अस्त नहीं है। अन्धतमिस्रा में जब तारों का प्रकाश भी नहीं रहता, तब भी वे एक अनिमेष दृष्टि की दीप्ति के साथ देखते रहते हैं। उनकी ज्योति अव्यक्त की ज्योति है और व्यक्त ज्योति उसकी अनुभा या दीप्ति मात्र है।[2] अग्नि की भाँति वे 'दोषावस्ता' हैं अर्थात अँधेरे को भी अदृश्य ज्योति से उद्भासित कर देते हैं।[4] निवर्तन के समय भी वे नववीर उनके आलोक से आलोकित हैं, अतएव वे सभी 'दशवीर' या 'दशग्व' हैं। सायण इनको भी अङ्गिरा कहते हैं।[5] N.B. यह दसवाँ वीर ही एकर्षि इन्द्र एवं अगले मंत्र में कपिल हैं। वे एवं उनके अनुचर स्वरूपतया उदय और अस्त के आवर्तन से ऊपर 'एकल' आदित्य एवं उनके नित्यदीप्र रश्मिजाल हैं [2061]। यहाँ की दृष्टि में यह उनका प्राचीमूल से— अनस्तमित नित्य उदयन है, जो हम सब आँखों के सामने ही (प्राक्) देख पाते हैं। उस समय फिर माध्यन्दिन आदित्य का ढलना अस्ताचल की ओर नहीं होता। इसलिए उनकी गति 'अध्वर'- गति, काष्ठा अथवा लक्ष्य में पहुँचने के बाद भी अबाध अव्याहत 'परागति' है। उस समय अनुभव होता है →

[2060] आध्यात्मिक दृष्टि से ये गतियाँ हैं, ऊपर-नीचे, और आगे-पीछे। अधिदैवत दृष्टि से उत्तर-दक्षिण में और पूरब-पश्चिम में — सूर्य से युक्त होकर। फिर दैनिक गति में सूर्य जीव-लीला का और वार्षिक गति में प्राजापत्य अथवा विश्व-लीला का साक्षी है। [1] तु. कठोपनिषद २।१।१, और भी तु. मैत्राण्युपनिषत 'असौ वा आदित्यो बहिरात्मा, अन्तरात्मा प्राणः ६।१। [2] तु. ऋ. १०।१८।४, ५। इस सूक्त के देवता हैं 'आपः गावो वा; 'अप' प्राण, किरणवाची 'गो', प्रज्ञा। तु. कायमानो (आस्वादन करते-करते, <√ कन 'सम्भोग करना') वना त्वं यन् मातॄर् अजगन्नपः (मातृरूपिणी अप् या प्राणधाराओं में चले जाने पर, कारण सलिल में गहरे चले जाने से 'सौचीक' रूप में तु. १०।५१।१, टीमू. १४१८), न तत् ते अग्ने प्रमृषे (भुलाया जाता नहीं, सहा होता नहीं) निवर्तनं (अन्तर्हित होना, मिल जाना विद्युत की तरह) यद् दूरे सन्निहाभवः (फिर लौट आना; निमेष और उन्मेष ये दोनों लीला ही अविस्मरणीय) ३।९।२। [3] कठोपनिषद २।२।१५। [4] 'दोषावस्ता' तु. ऋ. १।१।७। बृ. ४।३।२-६। और भी तु. रात्रिसूक्त ऋ. १०।१२७।१-२ टीमू. १२४०। [5] सायण के कथनानुसार, सातवीर सप्तर्षि, आठवीर बालखिल्य गण, नौवीर भृगुगण और दशवीर अङ्गिरोगण हैं। सप्तर्षि, बृहदारण्यकोपनिषद में अग्नि की मूर्धन्य दीप्ति अथवा इन्द्रियवृत्ति हैं (२।२।३-४), बालखिल्य गण ब्राह्मण में प्राणवृत्ति (ऐब्रा. ६।२६, २८, ५।१५, श. ८।३।४।१), भृगुगण वरुणगृहीत आदित्योत्तर दीप्ति (ऐब्रा. ३।३४; तु. तैउ., भृगुवारुणि); ऋक्संहिता में ही अङ्गिरोगण नवग्व एवं दशग्व दोनों ही हैं (१०।६२।५-६), अतएव भृगुगण उनके ही अन्तर्गत हैं। यहाँ एक उत्तरोत्तर क्रम दिखाई देता है— इन्द्रिय के पश्चात प्राण, उसके पश्चात प्रज्ञा एवं सब को मिलाकर अग्नीषोमीय आनन्द।

[2061] छा. ३।११।१-३। यहाँ ध्यातव्य है कि यही ब्रह्मोपनिषत ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने मनु को दिया था। मनु से जनसाधारण ने प्राप्त किया। इसके साथ तुलनीय भागवत में →

कि दशवीर जैसे एक 'अशन' के सानु या शिखर को 'वितीर्ण'[2] अथवा विदीर्ण कर के ऊपर उठ आए हैं। 'अशन्' शब्द के तीन अर्थ हैं — पाषाण[3], इन्द्रशत्रु एक जन असुर,[4] मध्यमस्थानीय देवता विशेष। मेघ अथवा पाषाण आवरणकारी शक्ति है, जो वेद में वृत्र का प्रतीक है। 'अश्नः' सानु का तब एक अर्थ होगा वृत्र की परम बाधा — अर्थात निन्नानबे पुर, जो द्युलोक के समीपवर्ती छोर पर हैं। इन्द्र 'शतक्रतु' रूप[5] में उसको विदीर्ण करके 'शततम वेश्य में' अथवा स्वधाम में प्रतिष्ठित होते हैं।[6] यही आदित्य का तिमिर विदारक अभ्युदय था और 'मनु' अथवा विश्वमानव के लिए इन्द्र का ज्योति को खोजकर प्राप्त कर[7] — जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं।[7] 'अशन्' अथवा 'अश्न' के प्रथम दोनों अर्थ यहाँ अधिक उपयुक्त हैं। सानु पर सानु अर्थात एक के बाद एक शिखर को तोड़ते हुए उत्तम ज्योति में अथवा सूर्य में पहुँचना ऋषिधारा में मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।[8] जिसे हम उपनिषद में कहेंगे, यह सद्ब्रह्म में समापत्ति या एकाकार हो जाना है।

किन्तु उसके बाद भी यह अशन् शब्द यहाँ श्लिष्ट है — अर्थात जिस प्रकार तमःशक्ति का बोधक है उसी प्रकार फिर ज्योतिःशक्ति का बोधक है। ऋषि दीर्घतमा अपने प्रत्यक्षीभूत एक जन 'वाम पलित होता' के बारे में बतलाते हैं कि उनके मध्यम भ्राता 'अश्न' और तृतीय भ्राता 'घृतपृष्ठ' अग्नि हैं [२०६२]। यह होता निश्चित रूप से दैव्य होता 'आदित्य' हैं।[1] — किन्तु प्रचेता के रूप में एक साथ सूर्य एवं आकाश तथा यास्क की भाषा में 'स्वर' एवं 'नभः' हैं।[2] 'स्वर' आलोक दीप्त, उसी से 'वाम' अर्थात जो प्रेम-प्रणय की वांछनीय वस्तु है।[3] 'नभः' ज्योति का कुहासा — नीहारिका जैसा। सुबह-शाम अव्यक्त के छोर पर धूमिल आकाश ही 'पलित' है।[4] यही 'पलित वामदेव' विभूति धूसर या भभूत मले शिव-प्रसङ्ग का स्मरण करा देता है। दीर्घतमा उनको →

सांख्य दर्शन के प्रवक्ता कपिल, प्रजापति कर्दम एवं मनु की कन्या देवहूति के पुत्र हैं किन्तु विष्णु के अवतार हैं। उन्होंने सांख्य विज्ञान सर्व प्रथम देवहूति के निकट व्यक्त किया। प्रजापति कर्दम स्वयम्भु ब्रह्मा के पुत्र हैं, ब्रह्मा परमपुरुष विष्णु की विज्ञानशक्ति हैं (भागवत ३।२१ अध्याय... ३।२६।२८-३७)। [1]तु. कठोपनिषद १।३।११। [2]'वि तिरन्ति' अभिभूत करते हैं, विदीर्ण करते हैं (<√तॄ, तु. ऋक्संहिता. 'पर्वतेभ्यो वितूर्या' १०।६८।३, वहाँ पाषाणविदारण की ध्वनि है)। [3]**अशन्** ४।२८।५, १०।६८।८ (टी. १४०३[2]), २।२०।४। [4]निघ. 'मेघ' १।१०, जिससे पर्वत का भी बोध होता है; पर्वत स्थाणु, मेघ चरिष्णु — एक तमोगुण का और दूसरा रजोगुण का प्रतीक है किन्तु, दोनों ही वृत्र हैं। ॥ 'अश्मन्' निघ. वही। तु. 'अशनि' वज्र, ऋ. १।४३।५, ४।१६।१७, २।१४।२...। यह शब्द तब **अश्न** द्र. २।१४।५, २०।५ (६।४।२)। मौलिक अर्थ अशनायायुक्त, 'क्षुधार्त' तु. 'मृगो न अश्नः' १।१७३।२। प्रतितुलनीय 'अनाशक' श. २।४।३।२, ५।५।१।७, १४।७।२।२५, छा. ८।५।२, बृ. ४।४।२५; और भी तु. ऋ. अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति १।१६४।२०। [5]१।१६४।१। [6]४।२६।३, टीमू. १३३८। ७।१५।५ [7]द्र. टीमू. २०६१। [8]ऋ. १।१०।२, ५०।१०।

[२०६२] ऋ. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् १।१६४।१। [1]द्र. वेमी. 'दैव्यहोतृद्वय'। [2]द्र. निघ. १।४, द्युलोक और आदित्य का सामान्य नाम (नि. २।१३)। एक अरूप, और एक सरूप या रूपयुक्त — एक ही तत्व के अगले-पिछले हिस्से हैं। [3]<√वन् 'कामना करना, प्रेम-प्रणय'। तु. केनोपनिषद. ब्रह्म तद्वनम् ४।६ द्र. केनोपनिषद प्रसङ्ग। [4]**पलित** ऋक्संहिता में अग्नि का विशेषण, १।१४४।४, ३।५५।९ (टी. १४४१[2]), १०।४।५ अग्नि धूमल या धूमाभ होने के कारण पलित अथवा धूम्रवर्ण। एक स्थान पर इन्द्र 'पलितः विधुः' (संस्कृत में 'चन्द्र' →

'सप्तपुत्र विश्पति' पिता कहते हैं। कुमार यामायन यम को भी 'विश्पति पिता' कहते हैं।[४] यम और वरुण एक ही तत्व है।[६] सब मिलाकर दीर्घतमा का दैव्य होता अदिति के साथ युगनद्ध शून्यता के देवता वरुण हैं और उनके सप्तपुत्र सप्त आदित्य हैं।[७] एक ही देवता त्रिधामूर्ति अर्थात् परमव्योम में 'वरुण;' अन्तरिक्ष में 'अश्न' और पृथिवी में अग्नि हैं।

सायण बतलाते हैं कि 'मध्यम अश्न' अन्तरिक्ष स्थानी वायु है। यह सामान्य वचन है। विशेष रूप से उनको 'विद्युत' कहा जाता है। इस शब्द के मूल में उस समय व्याप्त्यर्थक अश् धातु है। विद्युत का उद्भास या आकस्मिक तीव्र प्रकाश का स्फुरण आकाश में व्याप्त हो कर ही अन्तर्हित होजाता है — ब्रह्मानुभव के सम्बन्ध में हमें यही आदेश केनोपनिषद में प्राप्त होता है [२०६३]। वहाँ भी हम देखते हैं कि साधना और सिद्धि के भेद में दो देवत्रयी- अर्थात् अग्नि, वायु इन्द्र, फिर इन्द्र, उमा एवं यक्ष हैं। इस स्थल का पलित वामदेव केनोपनिषद का यक्ष है और अश्न बहुशोभमाना विद्युद्दीपनी उमा हैं। प्रकाश जब फैल जाता है, तब वह 'अश्न' है फिर जब घनीभूत होता है, तब वह 'अश्मा' है। प्रतिरथ आत्रेय आदित्य की पुञ्जज्योति को परिभाषित करते हुए बतलाते हैं 'मध्ये दिवो निहितः पृश्निर् अश्मा' — अर्थात् द्युलोक के मध्यस्थान में निहित यह एक ज्योतिपिण्ड है जो स्वर् एवं नभः होकर सब छुए हुए है।[१] कहा जा सकता है कि दीर्घतमा का 'अश्न' अथवा विद्युत का उद्भास घनीभूत होकर प्रतिरथ का 'अश्मा' होता है। तो फिर एक दृष्टिकोण के द्वारा वसुक्र का 'अशन'[२] जिस प्रकार वृत्र का पाषाणमय अवरोध है, उसी प्रकार दूसरे दृष्टिकोण के द्वारा प्रतिरथ का 'अश्मा' अथवा माध्यन्दिन सूर्यपिण्ड या फिर दीर्घतमा का 'मध्यम अश्न' अथवा विद्युत का उद्भास है — जिसके ऊपर की ओर ही वरुण की धूसर, धूलरंगी शून्यता है।[३]

(चाँद), यहाँ भी वही; किन्तु व्युत्पत्ति ? अनन्य प्रयोग) दद्राणं (तीव्रगति से चलते हैं √द्रा 'दौड़ना, दौड़ाना' 'सोया हुआ' अर्थात् गति और स्थिति दोनों ही अर्थों में) समने (सम्मेलन में) बहूनां (अर्थात् तारों की) युवानं सन्त (पूर्णिमा में) पलितो (इन्द्र धूसर होकर उनको ज्योत्सना) जगार (लील गए हैं), देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः (फिर गतकाल ही) समानः (प्राणवन्त, √अन् 'साँस लेना' अथवा 'सम' उपसर्ग के पश्चात धातु छोड़ कर ही 'आन' प्रत्यय, अर्थात् परिपूर्ण, अमावस्या में मर जाने पर पूर्णिमा में पूर्णतया जीवित) १०।५५।५। इन्द्र चंद्रकला के ह्रास-वृद्धि के ईशान हैं अतएव चाँद के ऊपर वारुणी शून्यता है।[५] १०।१३५।१ द्र. वेद मीमांसा प्रथम खण्ड। [६] १०।१४।७ टीमू. ११८४, १२६७[४], १३३५[५]। [७] तु. १०।७२।८, टी. १२८३[१]।

[२०६३] केनोपनिषद. ४।४। [१] ऋ. ५।४७।३ टी. १२२७। यही 'अश्मा' 'पृश्नि' — अथवा द्युलोक एवं आदित्य का साधारण नाम (निघ. १।४) है। लक्षणीय, इन नामों के आदि में 'स्वः' अथवा सूर्य की पुञ्जद्युति या घनीभूत ज्योति, और अन्त में 'नभः' अथवा छायापथ (आकाशगंगा, देवपथ) की धूसर रश्मि। यह एक दूसरे का व्यञ्जनावह है। 'पृश्नि' दोनों का ही बोधक है। [२] तु. शतम् अश्मन्मयीनां पुराम् ४।३०।२० (टी. १२०७), नदीनां अपाम् अवृणोद् दुरो अश्म-व्रजानाम् (पाषाण की प्राचीरों से घिरा, टी. १५२:[२]), अश्मन्मयानि नहना (बन्धन) ६।७।३, अश्मव्रजाः ४।१।१३। [३] GELDNER का कहना है कि यहाँ 'अश्न' अवेस्ता का द्युलोक वाची 'असन्' अथवा 'अष्णो' हो भी सकता था किन्तु, अवेस्ता का अर्थ वेद में उपयुक्त होगा कि नहीं वह बहुत ही सन्दिग्ध है। यह संशय मिथ्या अथवा काल्पनिक है। प्रकरण की दृष्टि से इसके श्लिष्ट होने में कोई भी आपत्ति नहीं।

जान पड़ता है कि वसुक्र के 'अशन' में इन तीनों की ही ध्वनि है। दशवीर सामने अथवा पूरब की ओर से आए 'वृत्रतूर्य' अथवा वृत्र के अभिभव या पराजय के पश्चात [२०७४]। यह चित्र सुस्पष्ट स्वच्छ सूर्योदय का है। उदयाचल से अस्ताचल में आरोहण तक सूर्य के अथवा विष्णु के तीन 'विक्रम' अथवा पदक्षेप कहाँ-कहाँ हैं, उसे लेकर मतभेद है। शाकपूणि पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में बतलाते हैं।[१] आधिभौतिक दृष्टि में यह सामान्य वचन है। द्युलोक में जहाँ आदित्य का उदय-अस्त नहीं, वह 'सकृद्दिवा' है — जिसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। एक मत के अनुसार यही विष्णु का परमपद है जिसको बौद्ध, वैदिकों का 'आभास्वर ब्रह्मलोक' कहा करते। और्णवाभ विष्णु के इन तीनों पदों को क्रमशः 'समारोहण' में अथवा उदयगिरि में, 'विष्णुपद' में अथवा **माध्यन्दिन सूर्य की स्थिति है** जहाँ; **उस स्थान** में[२] और 'गयशिर' में अथवा उसके भी ऊपर की ओर बतलाते हैं। तो फिर यह शाकपूणि के तृतीय पद के भी परे एक तुरीय अथवा चतुर्थ लोक है। संहिता में यही 'पांसुरे समूळ्ह (पदम्)'[३] — अर्थात घनीभूत ज्योति का धूलिधूसर आयतन है। यही 'पांसु' सृष्टि के आदि में देवनृत्य की वह 'तीव्र रेणु'[४] है जिसको ऐतरेयोपनिषद् में अम्भः अथवा नीहारिका[५] कहा गया है; निघण्टु में 'नभः' है। इस प्रसङ्ग में यास्क का मन्तव्य है: 'समूळ्हम् अस्य पांसुरे प्यायने अन्तरिक्षे पदं न दृश्यते' — अन्तरिक्ष 'प्यायन' — सम्भवतः स्फीत अथवा फूलता-बढ़ता जाता है, उसी से 'पांसुर' अर्थात धूलधूसरित-सा ('अपि वोऽपमार्थे स्यात्')। उसमें पुञ्जीभूत उनका पद दिखाई नहीं पड़ता।[६] दुर्ग का मन्तव्य है: 'यत् माध्यन्दिनं पदं पदं विद्युदाख्यं तत् समूळ्हम् अन्तर्हितं नित्यं न दृश्यते।' उपनिषद में हम देवयान पथ के वर्णन में देखते हैं कि आदित्य से चन्द्रमा में, और चन्द्रमा से विद्युत में ऊपर की ओर जाने का उल्लेख है, उसके पश्चात ही अमानव पुरुष आकर उपासक को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं।[७] अर्थात अध्यात्म अनुभव में आदित्य की दीप्रच्छटा ज्योत्स्ना में कोमल हो जाती है और उसमें मानसोत्तर सत्य की दीप्ति कौंधती रहती है। इसके पश्चात ही विद्युत के निमेष में वारुणी शून्यता की परः कृष्ण नीलिमा उतर आती है।[८] सब मिलाकर विष्णुपद की यही तीन **स्थितियाँ** हैं। जिनमें एक समारोहण या प्राची मूल में, एक माध्यन्दिन तुङ्गता में और →

[२०७४] **वृत्रतूर्य** जिस प्रकार आदित्य का १।१०६।२; अग्नि का ६।१३।१, ८।१५।२०, ७४।५, १२; इन्द्र का ६।१८।६, २४।५, २६।८, ६१।५, ८।७।२४, १०।१०४।५; सरस्वती का ६।६१।५; मरुद्गण का ८।७।२४...। सर्वत्र **प्रकाश** द्वारा अन्धकार का अभिभव या पराभव। आलोच्य ऋक् में वि √तृ का प्रयोग द्रष्टव्य। [१] द्र. निरुक्त. १२।१९। [२] दुर्ग का कथन है — 'माध्यन्दिने अन्तरिक्षे (द्र. निरुक्त वही) अर्थात सूर्य उस समय मध्याह्न के सूर्य और अन्तरिक्ष की व्याप्ति पूर्वी दिगन्त से पश्चिमी दिगन्त तक (द्र. श. ७।१।२।२३, १४।३।२।६, ता. अन्तरिक्षेणेदं सर्वं पूर्णम् १४।१२।५)। [३] ऋ. १।२२।१७। **समूळ्ह** तुलनीय. ईशोपनिषद. समूह तेजः १६; ऋ. इयर्ति रेणुः (धूलि COSMIC DUST) मघवा समोहम् (पुञ्जित, पुञ्जीभूत) ४।१७।१३; समोहे (पुञ्जद्युति में, नीहारिका में) वा य आशत (इन्द्र के निकट जा पहुँचा) नरस् तोकस्य सनितौ (स्पर्श प्राप्त करेगा इसलिए) १।८।६; यदा कृणोषि नदनुं (सिंहनाद) सम् ऊहसि (एकत्र करो अपने चारों ओर — मरुद्गण को) आद् इत् पितेव हूयसे ८।२१।१४। और भी तु. वेनः (सूर्य अथवा सोम, बन्धु)...ज्योतिर्जरायुः (चारों ओर ज्योति की छटा या प्रभामण्डल) १०।१२३।१। — [४] द्र. १०।७२।६, टीभू. १।७३²। [५] ऐउ. १।१।१, द्र. ऐउ.प्रसंग। [६] निरुक्त. १२।१९। [७] द्र. छा. ४।१५।५, ५।१०।२; बृ. ६।२।१५ (तत्र 'चन्द्रमा' नहीं, और अमानव पुरुष [अ]मानस')। [८] तु. केनोपनिषद. ४।४; जैमिनीय उपनिषद १।२६, २७, ३०; छा. १।६।६। →

एक उसके भी ऊपर की ओर विद्युत-विकम्पित शून्यता में है। शाकपूणि माध्यन्दिन सूर्य में पहुँचकर रुक जाते हैं। उनका अन्तरिक्ष प्राचीमूल और सुविन्दु (ZENITH) अथवा शिरोविन्दु के बीच में है। और्णवाभ सुविन्दु या शीर्षविन्दु को द्वितीय पद मानकर अध्वरगति से ऊपर की ओर चले गए। उनके परमपद में अरोरा (Aurora) की दीप्ति—घनान्धकार में बार-बार विद्युत का उद्भास होता है। कुविन्दु (NADIR) या अधोविन्दु और शीर्षविन्दु के बीच में उनके अन्तरिक्ष के 'आप्यायन' अथवा विस्फारण या फैलाव का जैसे अन्त ही नहीं। उनके सुविन्दु या शीर्षविन्दु में प्रकाश और छाया के बीचोबीच नीहारिका की धूसरता है। वहाँ कुछ भी आभासित-प्रकाशित नहीं; किन्तु उस अनालोक के आलोक से ही सब कुछ आलोकित होता है। और उससे ही 'देवानां पूर्व्ये युगे ... देवानां युगे प्रथमे असतः सद् अजायत'।[९] वह असत् ही 'असुर' वरुण हैं। और्णवाभ उनके उपासक हैं[१०] और शाकपूणि माध्यन्दिन आदित्य के उपासक हैं।

हम ने वसुक्र के 'अशन' के तीन अर्थों की चर्चा की थी। ऊपर के विवेचन से ज्ञात होगा कि तीन विष्णुपदों के ये तीन अर्थ अधिक उपयुक्त हैं। यास्क का कहना है कि अन्धकार के विरुद्ध आलोक का अभियान आधी रात से शुरू होता है [२०७५]। तमोभाग अश्वी, ज्योतिर्भाग अश्वी, उषा और सविता—एक के बाद एक इन चारों देवताओं के आविर्भाव के पश्चात् प्राचीमूल में भग (सूर्य) का उदय होता है। भग उदित होते हैं 'अश्नः सानु' पर अर्थात् ठोस अन्धकार के शीर्ष पर। और्णवाभ की दृष्टि में प्रथम विष्णु-पद 'समारोहण' यही है। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर ऊपर की ओर उठते जाते हैं भग, सूर्य एवं पूषा, अन्त में विष्णु का आविर्भाव होता है। यही द्वितीय अथवा माध्यन्दिन विष्णुपद है। उस समय तक ज्योति का स्वाभाविक उत्तरायण—आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का भी 'तमसस् परि ज्योतिष पश्यन्त उत्तरम्' है अर्थात् उसके स्रोत को पार करके उत्तम ज्योति के कूल का स्पर्श करना, किनारे उतरना है।[१] यह भी एक सानु से दूसरे सानु पर चढ़ना है;[२] यह भी एक 'अश्नः सानु' है—और वह प्रतिरथ का 'मध्ये दिवो निहितः पृश्निर् अश्मा' हुआ।[३] शाकपूणि यहीं आकर रुक जाते हैं। उनके जीवनयज्ञ का प्रातः सवन हुआ प्रथम विष्णुपद में; इस द्वितीय विष्णु-पद में माध्यन्दिन सवन के फलस्वरूप वैराज्य की प्रतिष्ठा अथवा विराट् होना हुआ।[४] पूरी दोपहर की ज्योति के पश्चात् ही सूर्य का अधरायण अर्थात् पीछे की ओर ढलना शुरू होगा। किन्तु दिनमान अथवा दिन की वेला का अभी भी अवसान नहीं हुआ है। उसी ज्योति में जीवन के सोमयाग का तृतीय सवन चलता रहेगा वैश्वदेव के निमित्त—'पुरुष एवेदं सर्वम्' इस भावना के साथ;[५] किन्तु अब ज्योति में भाटे की टान अथवा उतार की ओर आसक्ति है। इसलिए बाहर की ज्योति के अवक्षय को पूर्ण करना होगा भीतर की ज्योति को सतेज करके। जिसका नाम है 'आदित्यानुगृहीत स्वाराज्य सिद्धि'। शाकपूणि का यही है चेतना की माध्यन्दिन महिमा में प्रतिष्ठित रहकर सन्ध्या के अँधेरे को गहराते हुए देखना। इसके पश्चात् मृत्यु किन्तु उसके लिए कोई भावना या चिन्ता नहीं।

---

[९] ऋ १०।७२।२-३। [१०] द्र. 'और्णवाभ' टीमू. १७५३।

[२०७५] द्र. निरुक्त. १२।१।९...। [१] ऋ. १।५०।१०, टीमू. १२८९। [२] ऋ. १।१०।२। उसके अन्त में है—'यूथेन वृष्णिर् (वर्षक या बरसने वाला देवता इन्द्र) एजति'; 'यूथ' निश्चय ही उनके परिकर मरुद्गण अथवा ज्योति का झंझानिल। देवता का 'एजन' आदित्य का क्षोभ अथवा ब्रह्मस्पन्द। [३] ५।४७।३। [४] द्र. छा. २।२४।७-१०। [५] छा. २।२४।११...। [६] द्र. ऋ. १०।१६।३, टी. १३१५। →

क्योंकि जब तक जीवन है, तब तक ज्योति है। मध्याह्न से सायाह्न तक उसमें उतार का आकर्षण है — तब भी वह ज्योति है। यही उनके जीवन में विष्णु का तृतीय अथवा परम पद है जो द्युलोक की ज्योति में नहाया हुआ है। तत्पश्चात् मृत्यु में इस जीवन की ज्योति ही मिल जाएगी विश्व जीवन में — इस आँख की ज्योति जाएगी सूर्य में, यह श्वास-प्रश्वास वातास में, आत्मा मिट्टी में, जल में और आकाश में, शरीर पेड़-पत्तों में।[६] यही मृत्यु ज्योतिरग्र आर्य ऋषि की वैवस्वत मृत्यु है अर्थात् मर कर भी सब के भीतर अमर होकर जीवित रहना है। इस प्रकार जो अमृत या अमर होते हैं वे नववीर अथवा नवग्व हैं। वे सम्भूति अथवा सृष्टि के साथ एकात्मक हैं, उनकी चेतना में उद्दीप्त हैं नौ 'गो' अथवा ज्योति की शोभायात्रा या सत्र-गर्भवास में जीवन की प्राक्तन अथवा अन्मान्तरीण सूचना से[७] देह की मृत्यु में उसके अवसान तक तमोभाग अश्वी, ज्योतिर्भाग अश्वी, उषा, सविता, भग, सूर्य, पूषा, विष्णु और 'अपराह्ने लोहितायन उग्रो देवः' अथवा रुद्र।[८]

इस प्रकार आधीरात से सन्ध्या तक ज्योतिर्मय अभियान के नौ पर्व या सोपान हैं — अब सन्ध्या से आधी रात तक केवल एक और सोपान शेष रह गया। अहःसाध्य सोमयाग का तृतीय सवन सन्ध्या काल में समाप्त हो गया। सामने अन्धकार गाढ़ से गाढ़तर होता जा रहा है। आत्मबल के द्वारा उसका रहस्य यदि उद्घाटित नहीं हो पाया तो अस्तित्व की परिक्रमा पूर्ण होगी नहीं — सत् एवं असत्, ज्योति एवं अन्धकार, अमृत एवं मृत्यु के द्वन्द्व के समाधान में सत्य के अखण्ड रूप का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकेगा। 'आत्मदीप एवं आत्मशरण' होकर [२०७६] इस अन्धकार में जिन्होंने छलाँग लगा दी वे ही नवग्वों के प्रमुख दसवें वीर अथवा महावीर हुए।[१] उनकी ज्योति से अचित्ति अथवा विवेकहीनता की अमानिशा भी प्रच्छन्न या निगूढ़ विद्युत में विद्योतित हो उठी। उनका विष्णुपद, माध्यन्दिन विष्णुपद के विपरीत मध्य रात्रि का विष्णुपद है। उनका आनन्द सरस्वती के कूल पर नहीं बल्कि असिक्नी के कूल पर अतिरात्र सोमयाग का आनन्द है।[२] वे और उनके सब पार्षद या साथी जिस 'अश्नः सानु' पर समारूढ़ हैं, उसकी ज्योति सौर अथवा सौम्य नहीं बल्कि वैद्युत है जिसमें उजाले और अँधेरे का सम्मिश्रण है। यहीं स्वाराज्य सिद्धि के पश्चात् वारुणी शून्यता में प्रतिष्ठित उपासक की साम्राज्य सिद्धि है। चेतना आदित्यानुगृहीत वैश्वदेव की चेतना है। आदित्यगण 'दिविक्षित' अथवा द्युस्थानीय हैं और विश्वदेव गण 'लोकक्षित' हैं अर्थात् निर्विशेष रूप से सारे लोकों में उनका अधिवास है। इसलिए यज्ञ अथवा 'क्रतु' की 'मात्रा' अर्थात् अवधि है।[३]

---

[७] तु॰ गर्भाधान मंत्र में अविद्धस्य भ्रूणदशा के आरम्भ से है १०।१८४।२, टीभू॰ १५५७। [८] द्र॰ जैमिनीय उपनिषद्. वहाँ भग माध्यन्दिन आदित्य, और 'अस्तमिते यमः'।

[२०७६] स्मरणीय. निर्वाणरसिक बुद्ध का अनुशासन; 'अत्तदीपो अत्तसरणो भव'। [१] ऋक्संहिता में इन्द्र का अनन्य विशेषण. द्र॰ ऋ॰ १।३२।६ टीभू॰ १८५०। शतपथ ब्राह्मण में प्रवर्ग्य याग का 'घर्म' तप्त करने का पात्र 'महावीर' — जिसका स्वरूप 'आदित्य' अथवा उत्पतित (ऊपर की ओर छिटका हुआ) विष्णुशिर (१४।१।१।७-११)। उत्पतित रूप में लोकोत्तर अथवा 'एकल' आदित्य का सूचक। मधुविद्या के आख्यान में, यही दध्यङ् का अश्वशिर (द्र॰ बृ॰ २।५।१६-१९, वहाँ उद्धृत ऋक्समूह)। स्मरणीय. जैन तीर्थङ्कर 'महावीर' एवं दीवाली के समय जैनियों का वर्षारम्भ। [२] द्र॰ टी॰ १७५०। [३] द्र॰ छा॰ २।२४।१३-१६। लक्षणीय. फलश्रुति सोलहवें खण्ड में —→

अगले मंत्र में दशवीरों के पुरोधा के रूप में 'कपिल' के नाम का उल्लेख है। वहाँ बतलाया जा रहा है कि दश जनों में वे अकेले ही ('एकम्') अन्य नौ जनों के समान हैं। इन नववीरों का जो क्रतु है, उसके भी उस पार एक अन्त का क्रतु ('पार्यः क्रतुः') है। वे सब कपिल को उस ओर ठेल देते हैं (हिन्वन्ति) [२०७७]। पहले हमने देखा है कि नववीर वह नवपदी वाक् हैं जो वाक् माध्यमिका गौरी है — जो अपने हम्बारव (रंभाना) से अव्याकृत अथवा अव्यक्त कारणसलिले तक्षण करके अपने[1] आत्मविभावन या आत्मचिन्तन को विश्व रूप में अभिव्यक्त कर रही है। नववीरों का सम्मिलित क्रतु या सृष्टि सामर्थ्य, विश्व भुवन की विसृष्टि है, विचित्र रूपों को विकसित करते हुए शक्ति की छलकन है — अँधेरे के भीतर ज्योति का स्फुटन है। संहिता में उसकी दार्शनिक संज्ञा 'सत' है।[2] जिसका विलोम या उलटा 'असत' है। 'परमव्योम में अदिति की गोद में जहाँ दक्ष का जन्म होता है' अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में निर्विशेष अनन्तता के महाशून्य में जहाँ निर्माण प्रज्ञा का निगूढ़ नित्यस्पन्द है, 'वहाँ ही सत और असत' परस्पर आलिङ्गित हैं, युगनद्ध हैं।[3] इस प्रकार भी कह सकते हैं कि असत ही सत् का उत्स है — या फिर सत् का बन्धन उस असत में ही है।[4] सूर्यरश्मि के व्यूहन की तरह सत् का क्रतु है सम्भूति से विभूति में परिकीर्ण होना। वही है एकपदी वाक् का भी नवपदी होना। किन्तु उसी सूर्य के मध्य में ही है पुनः समूहन का क्रतु अर्थात उसकी सहस्ररश्मियों को एक तेजोविन्दु में, एक ध्रुव ऋत में, देवताओं के आश्चर्यों के एक आश्चर्य में समेट कर ले आना।[5] उस समय सत् देवता और असत् असुर है जिसने अतिष्ठाः वरुण होकर सत को आवृत कर रखा है।[6] सत् उदीयमान सूर्य और असत् अस्तायमान सूर्य है। सत् 'मैत्रम् अहः', असत् वारुणी रात्रिः'।

यह संख्या षोडशकल पूर्णता का सूचक है। संहिता में यज्ञ की 'मात्रा' = 'पार्य क्रतु' (ऋ. - १०।२८।१६)।

[२०७७] द्र. टीमू. २०६४। [1] ऋ. १।१६४।४१, टीमू. २०६६-६७। [2] 'एकं सत्' १।१६४।४६; द्रष्टव्यः १०।७२।२-३, १२९।१,४। [3] असच्च च सच्च च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेर् उपस्थे अग्निर् ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः 'पूर्वे आयुनि' = पूर्व्ये युगे', 'युगे प्रथमे' १०।७२।२, ३। यह काल की दृष्टि से। देश की दृष्टि से 'परमे व्योमन्'। अदिति से दक्ष का जन्म, फिर अग्नि का भी जन्म। तो फिर दक्ष और अग्नि एक। अदिति (= अग्नि) एक साथ ही वृषभ और धेनु — क्योंकि दक्ष के और अग्नि के भी जनक का उल्लेख नहीं। तब अदिति ही पिता, माता एवं पुत्र हैं (१।८९।१०)। इसके अलावा अग्नि ऋत के प्रथम जातक हैं। ऋक् संहिता में वरुण के साथ ऋत का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रसिद्ध है (तु. १।२८, २३।५, २।४१।४, २।६२।१८, ७।६६।१९...)। अदिति-वरुण एक युगनद्ध तत्व है। फिर अन्यत्र हम देखते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में एक 'अभीद्ध तपः' है, उससे ऋत और सत्य का जन्म होता है (१०।१९०।१)। यहाँ जब अग्नि वृषभ एवं धेनु, तब जातक ही जनक-जननी। इस प्रकार आदि या मूल में जनक-जननी एवं जातक की यह एक अखण्ड त्रिपुटी है — देशातीत और कालातीत होने के कारण जिसको प्राकृत सम्बन्ध के विपर्यस्त रूप में देखा जा सकता है। [4] १०।१२९।४, ७२।२, ३। [5] ५।६२।१ टीमू. १२७२। [6] तु. १०।७०।१, ७२।२,३ (तत्र 'देवानां पूर्व्ये युगे' असत् से सत् का जन्म, अतएव असत् अथवा असुर 'पूर्वदेव'। स्मरणीयः- कपिल के शिष्य आसुरि तो फिर कपिल स्वयं असुर। बुद्ध का जन्म 'कपिल' वस्तु के राजपुत्र के रूप में; उनका साधनपीठ 'गयाशिरः' = गयासुर। वही फिर विष्णु का परम पद — स्पष्टतया और्णवाभ के मतानुसार। ये संकेत व्यञ्जनावह हैं। [7] तैत्तिरीय ब्राह्मण. १।७।१०।१। →

इसी अहोरात्र अथवा देवासुर अथवा सदसत (सत्-असत्) का ज्ञान प्राप्त कर दोनों के ऊपर न उठ पाने की स्थिति में एकल आदित्य को नहीं जाना जा सकता। वही एकल आदित्य ही कपिल है, अथवा निष्केवल इन्द्र है, अथवा अस्त सूर्योपलक्षित विष्णु का परमपद है—जिसको और्णवाभ ने 'गयःशिरः' कहा है।[८] कपिल का पार्यक्रतु है याग के पश्चात योग — अर्थात बाहर की ज्योति को समेट कर भीतर, सत्ता की गहराई में नासदीय शून्यता में ले आना।

मंत्र के उत्तरार्द्ध में वसुक्र, कपिल की माता के बारे में बतलाते हैं:- माता कपिल को सुनिहित, संस्थापित भ्रूण की भाँति वहन करती हैं 'वक्षणा'[१] अथवा नदी के प्रवाह में [२०७८]। निघन्टु में 'वक्षणा' नदी की संज्ञा है। नदी विश्व में अथवा व्यक्ति में बहते प्राण का स्रोत है। व्यक्ति में नदी नाड़ी है। सरस्वती नदीतमा है।[२] सरस्वती फिर वाक् भी है। उसी से सरस्वती प्रज्ञात्मक प्राण की धारा है। निघन्टु में भी सरस्वती वाक्[३] एवं नदी दोनों का ही नाम है। वाङ्नाम में सरस्वती एकवचनान्त है, नदी नाम में बहुवचनान्त है। निघन्टु के सब नदीनाम ही वही हैं। सरस्वती का यह वचन विकल्प एक ही नदी की बहुशाखा-प्रशाखा का बोधक है—या फिर उससे एक ही प्राण एवं प्रज्ञा की अनेक वृत्तियों का बोध होता है। इसके अलावा हम फिर निघन्टु में देखते हैं कि वाङ्नाम के अन्तर्गत धमनिः[४] एवं नाली अथवा नाड़ी है। तो फिर सरस्वती नदी, नाड़ी एवं वाक् है। मंत्र की 'वक्षणा' से यदि विशेष रूप से सरस्वती का बोध होता है,[५] तो वह भी नदी, नाड़ी एवं वाक् है। तब उसकी व्युत्पत्ति वच धातु से है। कपिल यदि एकल आदित्य हो तो फिर उनकी माता यहाँ अदिति हैं। वे उसको वहन करती हैं प्रज्ञात्मक प्राण की धारा में— अर्थात जिस प्रकार विश्वभुवन में नदी की धारा में, उसी प्रकार व्यक्ति में हृदय के नाड़ीस्रोत में। यही नदी अथवा नाड़ी सरस्वती है। 'वक्षणा' जब वाग्रूपिणी — तब वह नवपदी वाक् अथवा 'नवग्वा' है जिसका उल्लेख इसके पूर्व के मंत्र में है। जहाँ उनके प्रति स्त्रीत्व का आरोपण किया गया था— यह ध्यातव्य है। एक ही वक्षणा है किन्तु उसके नौ सोपान हैं — इसलिए मूल में 'वक्षणासु' है, जो बहुवचन है। समग्र वक्षणा आकाशगंगा की सारस्वत धारा है— जो एक अव्यक्त की पर्वत-कन्दरा से उच्छलित होकर रवि के मार्ग से होते हुए एक और अव्यक्त के विनशन समुद्र में जा गिरती है।[६] सरस्वती की धाराओं में सरस्वान की भाँति[७] कपिल भी वक्षणाओं के भीतर संवाहित एवं संवर्धित होते रहते हैं अदिति के मातृहृदय की ममता द्वारा। माता 'तुषयन्ती' अर्थात उनके तुष्टि-साधन के लिए व्यग्र हैं। →

---

[८] पौराणिक गयासुर निश्चल पाषाण। यह भी एक 'अशन्', अथवा 'अश्न' या अश्मा है। इसके अतिरिक्त यही विष्णु का परमपद है जिसके स्पर्श में सब की मुक्ति है। पौराणिक कपिल को हम पाताल में तपस्या रत देखते हैं। पाताल अस्त सूर्य का धाम है।

[२०७८] द्र. टीमू. २०६४। [१] द्र. टीमू. १७३८। [२] ऋ. २।४१।१६। [३] निघ. १।११। [४] द्र. निरुक्त. ६।२४, टी. १४५३[३]। [५] इस अवधारणा का समर्थन हमें भागवत में प्राप्त होता है। वहाँ प्रजापति कर्दम का तपःक्षेत्र सरस्वतीपरिप्लावित बिन्दु सरोवर में है (३।२१।६, ३५...) और वहाँ ही माता देवहूति के गर्भ में कपिल के रूप में विष्णु का अवतरण (३।२४।६-१०)। [६] द्र. ऋ. ७।९५।२ टीमू. १५५३। [७] तु. स (सरस्वान्; सरस्वती का पुंरूप, उनके पति एवं पुत्र दोनों ही हो सकते हैं, क्योंकि पति का आत्मा ही पत्नी से पुत्र रूप में उत्पन्न होता है, ऐउ. २।१।२) →

यह शिशु अद्भुत है— वह 'अवेनन' है,[८] उसके भीतर कोई कामना नहीं।[९] आध्यात्मिक दृष्टि से वह जैसे एक ही देह-वृक्ष को बसेरा बनाए हुआ वह पक्षी है जो अपने पिप्पलाद 'सयुक्' अथवा नित्ययुक्त सखा की ओर केवल ताकता रहता है — कुछ खाता नहीं।[१०] ये सब सांख्य भावना के सुस्पष्ट दृष्टान्त हैं।

कपिल तो आदित्य रूपी इन्द्र हैं, यह उनके नाम के निर्वचन अथवा निरूपण से समझा जा सकता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति — निरनुनासिक कम्प् धातु से है। आदित्य की ज्योति अस्थिर, हिलते-डुलते पारे की तरह सब समय काँपती है, जिसके कारण वे कपिल हैं। छान्दोग्य में इसी कम्पन को आदित्य का क्षोभ कहा गया है [२०७९]। यही क्षोभ विश्व के ऊपर अमृत आनन्द का नित्य निर्झरण है। इसका अवस्थान माध्यन्दिन आदित्य में है— शाकपूणि के मतानुसार जो विष्णु का परमपद एवं सोम्य मधु का उत्स है।[१] वाक् की दृष्टि से यह ब्रह्म के साथ नित्ययुक्ता अष्टमी अथवा अष्टापदी वाक् की भूमि है।[२] आपाततः या फिर पहली दृष्टि में इसके पश्चात ही आदित्य ज्योति छीजने लगती है किन्तु उसको निरुद्ध करती है कपिल आदित्य की प्रतिष्ठा, उनके अस्ताभियान की सूचना। अभियान शेष होगा मध्यरात्र के उसी विन्दु पर जहाँ से अश्विद्वय का अभियान शुरू हुआ था वही उनका कुविन्दु था, अब कपिल का सुविन्दु होगा। पूरे ही रविचक्र में गति है इसलिए क्षोभ भी है। यहाँ के क्षोभ की गति ऊपर से नीचे की ओर है।[३] लौकिक अनुभव की सीमा यहीं तक है। उसके बाद ही लोकोत्तरण की पारी शुरू होती है। जिसे उपनिषद् में विनाश द्वारा 'मृत्युतरण या कालजय अथवा अमृतत्व प्राप्ति' कहा गया है।[४]

मध्याह्न के पश्चात ही अदृश्य रूप में जीवन के ऊपर मृत्यु की छाया उतरती रहती है। किन्तु माध्यन्दिन आदित्य की दीप्ति जब चेतना में अनिर्वाण अविलुप्त अव्याहत होती है तब वह लौकिक छायापात ही लोकोत्तर संज्ञा का उत्स होता है। इस संज्ञा के दो पर्व या जोड़ हैं — एक की व्याप्ति मध्याह्न से सायाह्न तक है और दूसरे की व्याप्ति सायाह्न से मध्य रात्रि तक है। संहिता की भाषा में प्रथम पर्व नवम वीर के अधिकार में एवं द्वितीय पर्व दशम वीर के अधिकार में है। मध्य दिन से मध्य रात्रि तक सम्पूर्ण में ही आदित्य की →

...नर्यो (नर के पौरुष से उत्पन्न; नर तु. 'मर्य') योषणासु (अर्थात सरस्वती की धाराओं में) वृषा शिशुर् (शिशु होकर सोम भी) वृषभो यज्ञियासु ५।४२।३। [८] **अवेनत** < √वेन।। 'कामना करना; प्यार करना'. द्र. केनोपनिषद ४।६.। [९] सांख्य की प्रकृति पुरुष के भोग एवं अपवर्ग की विधायिका है। भोग-विधान पुरुष का तुष्टि साधन है, यहाँ माता 'तुषयन्ती' है। किन्तु सब पुरुष भोग करते नहीं, वे 'अकामहत' हैं (तैउ. २।८।२) 'अनकामभार' (ऐआ. २।३।८, वहाँ सायण) अथवा 'अनाशक'। तब प्रकृति उनके लिए विधान करती है अपवर्ग। भोग-विधान करना प्रकृति का धर्म है और उससे मुँह फेर लेने में पुरुष का पौरुष है। अतः संहिता में माता 'तुषयन्ती', और कपिल 'अवेनन' स्पृहाहीन हैं। तु. श्वे. 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाम् अजोऽन्यः ४।५। [१०] ऋ. १।१६४।२०, टी. १३८९।
[२०७९] छा. ३।२।३। [१] तु. ऋ. १।१५४।५। [२] बृ. २।२।२; ऋ. १।१६४।४१। [३] छा. ३।५।१। [४] ई. १४।
[२०८०] तु. मा. ससस्त्य-श्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् २३।१८। अश्वमेध याग में →

'कपिल' द्युति का संक्रमण अथवा संगमन है। अश्विद्वय के विपरीत क्रम में उसका प्रथम पर्व ज्योतिर्मय एवं द्वितीय पर्व तमोभाग है। प्रथम पर्व में आदित्य 'वृषाकपि',[1] और द्वितीय में 'कपिल' है। गोपथ ब्राह्मण में 'वृषाकपि' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाते हुए बतलाया जा रहा है:— 'तद् यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपिः'। ... आदित्यो वै वृषाकपिः।'[2] यह अधिदैवत दृष्टि है। पुनः अध्यात्म दृष्टि से 'आत्मा वै वृषाकपिः।'[3] आत्मा कहने पर देह का मध्यभाग भी समझना होगा।[4] यदि समस्त रविमार्ग को आदित्य-पुरुष के शरीर के रूप में कल्पना की जाए तो फिर मध्य रात्रि से प्रातःकाल तक पादभाग, दिन का समय मध्यभाग, एवं सन्ध्या से मध्य रात्रि तक शिरोभाग होगा। फिर तो वृषाकपि नित्य-क्षोभयुक्त दिवाभाग का आदित्य है; किन्तु उसका लक्ष्य अस्त में पहुँचना है। वृषाकपि सूक्त के अन्त में इन्द्र एवं इन्द्राणी दोनों ही वृषाकपि को अस्त या घर में आने के लिए कहते हैं।[5] सायंकाल में वृषाकपि का रेतो वर्षण शान्त होने पर सुषुप्तिमय होते हैं; तभी आदित्य 'कपिल' हैं। वे वर्षण नहीं करते, लेकिन तब भी उनका क्षोभ है, क्योंकि उनकी गति है, उसी से वे कपिल हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से यह गति निरोधयोग में अनुभूत होती है। मध्यदिन तक (अथवा उत्तरायण तक) [२०८१] पुरुष की साधना में प्रकृति अनुकूल रहती है। मध्यदिन के पश्चात से अनुकूलता क्षीण होती रहती है। उस समय से कैवल्य में प्रतिष्ठित होने के लिए मध्य दिन के ज्योतिः संचय की पूँजी लेकर आत्मबल की सहायता[1] से निरोधयोग की —→

संज्ञपित अश्व के प्रति ईर्ष्याकातर (द्र. तत्र उव्वट एवं महीधर, उसी से 'अश्वक' के पश्चात् कुत्सित अर्थ में क-प्रत्यय) राजपत्नियों की उक्ति। अश्व एवं सुभद्रा है (द्र. ऋ. १|१६३|१-३ — तत्र अस्तमित सूर्य यम; तु बृ. १|१|१)। अश्व यहाँ आदित्य का प्रतीक सूर्य; 'अस्त' आदित्य का अपना धाम, वहाँ उनकी जाया उनकी प्रतीक्षा में हैं- मृत अश्व अस्तमित से ही उनका आविर्भाव (तु. ऋ. २|५३|४, टीप्. १०६८३)। यह जाया अदिति, जो फिर जननी भी है। अस्त सूर्य का एक नाम वरुण भी है, वे फिर आदित्य भी हैं अर्थात जो जाया है वही जननी भी है। माध्यन्दिन संहिता (वाजसनेयी) की 'काम्पीलवासिनी' भी अदिति। काम्पील अस्तायमान सूर्य की संज्ञा है। अदिति उनके साथ नित्य सङ्गता हैं — जिस प्रकार वरुण के साथ। अश्व मरता नहीं (ऋ. १|१६२|२१), परम सधस्थ में चला जाता है (१३) वहाँ वरुण की भाँति ही सुभद्रा अदिति के साथ नित्य सङ्गत होकर रहता है (मा. 'ससस्ति' युगनद्ध होकर सोया रहता है)। इसी शून्यता की शक्ति को राजपत्नियों के भीतर उतारकर ले आने के लिए एक अनुष्ठान किया जाता (द्र. मा. २३|१८...)। यहां हम देखते हैं कि सूर्य 'काम्पील' अर्थात कम्प्र, क्षोभमय। यही क्षोभ शक्ति का प्रतीप या विपरीत स्पन्दन-अर्थात जीवन से मृत्यु की ओर, उन्मेष से निमेष की ओर जाना है। आध्यात्मिक दृष्टि में प्राण उस समय ऊर्ध्वस्रोता होता है। [1] द्र. ऋ. वृषाकपि सूक्त १०|८६। द्र. गोपथ ब्रा. उत्तर भाग ६|१२|[2] [3] वही ६|८; ऐब्रा. ६|२९ (तु. ५|१५)। [4] तु. कठोपनिषद्. अङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि- २|१|१२। ऐब्रा. ६|२९ में सायण. 'आत्मा' मध्य देह; ५|१५ में जीवात्मा — दोनों ही उपयुक्त हैं। वृषाकपि सूक्त, एवं अन्यान्य सूक्त द्वारा यजमान का हिरण्यशरीर निर्मित करने का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में है। [5] तु. ऋ. अस्तम् एहि गृहाँ उप १०|८६|२०; य एष (वृषाकपि) स्वप्नंशनो-ऽस्तम् एषि पथा पुनः २१। स्वप्नंशन — निरुक्त. 'स्वप्नाशन' (१२|२८) भोर का सूरज। किन्तु √नश्॥ नंश 'पहुँचना' अर्थ करने पर 'जो नींद में लुढ़क पड़ता है' अर्थात अस्त सूर्य। तु. 'सविता' अस्तसूर्य भी (ऋ. १|३५|९) है। भोर के समय 'उषा', सायंकाल में 'उषसी'; दोनों में ही दिग्दाह। एक के पश्चात ज्योति का आगमन और दूसरी के पश्चात अन्धकार का आगमन होता है। यह निसर्ग का विपरीत क्रम में एक ही खेल है। →

[२०८१] द्र. वेमी. प्रथम खण्ड। [1] तु. केनोपनिषद्. आत्मना विन्दते वीर्यम् २|४; छा. स्वाराज्यसिद्धि —→

साधना चलती है। निरोध में वृत्ति के अनुकूल परिणाम घटता है। अतः तब भी चित्त का सूक्ष्म कम्पन रहता है किन्तु आन्तरवृत्ति हेतु वह और कारण होता नहीं। कपिल इसी निरोधयोग के ऋषि हैं।

निरोध की एक विशेषता यह है कि उसके फलस्वरूप बाहर जितना अँधेरा होता है भीतर उतना ज्योतिर्मय हो जाता है। इसी लिए तो लौकिक मध्य-रात्रि में जब अँधेरे की सघनता अपनी चरम सीमा पर होती है तब अन्तर की प्रबुद्ध दृष्टि में ज्योति का परम प्रसारण होता है। उस समय 'अवेनत' कपिल की निरपेक्ष, निष्पक्ष दृष्टि में सकृद्दिवा का अनिर्वाण आलोक है – और उनकी अध्यक्षता में लोकोत्तर के नीचे आलोक एवं अन्धकार का आवर्तन है। छान्दोग्योपनिषद की भाषा में तब वे 'एकल' आदित्य – अर्थात ऊर्ध्वाधः गति के 'ऊर्ध्व उदेत्य. नैवोदेता नास्तम् एता' अक्षोभ्य होकर 'मध्ये स्थाता' हैं; [२०८२]। आदित्य की यह एकलता या अकेलापन ही कपिल का 'कैवल्य' और संहिता में इन्द्र की निष्केवल स्थिति है। एक ही इन्द्र आदित्य रूप में सम्भूति (TOTAL BECOMING) में 'वृषाकपि' हैं, फिर असम्भूति (NON-BEING) में 'कपिल' हैं, स्वरूपतः 'विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः'[१] – अर्थात वे विश्व में जो कुछ है सब का अतिक्रमण करके, सम्भूति-असम्भूति रूप द्वैतभावना के परे अवस्थित हैं। वृषाकपि के रूप में पत्नीवान हैं – पत्नी का नाम 'वृषाकपायी'[२] है। कपिल की पत्नी नहीं है – वे अन्तःशान्त हैं; किन्तु उनकी माँ हैं, विश्वप्राण के प्रवाह में चिद्‌बीज रूप में उनका प्रवहण है। इसके अलावा वे 'अवेनत्' अर्थात छान्दोग्य के कृष्ण की तरह 'अपिपास' हैं।[३]

'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थम् उपबृंहयेत्'[४] अर्थात इतिहास-पुराण रूप पञ्चम वेद के द्वारा वेदार्थ को पल्लवित अथवा विस्तारित करना चाहिए। कपिल-का प्रपञ्चन या विस्तार भागवतपुराण में प्राप्त होता है। भागवत ने किस रूप में वैदिक भावना के अनुवर्तन में कपिल की कथा को विकसित किया है, उसकी संक्षिप्त व्याख्या के माध्यम से कपिल तथा एकर्षि (= निष्केवल इन्द्र)-का प्रसङ्ग समापन की ओर है।

भागवत के परमदेवता विष्णु हैं। वेद में माध्यन्दिन आदित्य हैं। आदित्य पुरुष की शुक्ल भाति एवं परःकृष्ण नीलिमा की चर्चा छान्दोग्योपनिषद में है। भागवत में भी उनको बार-बार 'शुक्ल' कहा गया है (३।२१।१६, ३५, ५१) फिर विग्रह या मूर्ति के वर्णन में 'श्याम' कहा गया है – जिन के हृदय में लक्ष्मी सुशोभित हैं (३।१५।३८)। नीले आकाश में यह आदित्य-मण्डल की छवि है।

सृष्टि के आरम्भ में अनन्तशय्या पर लेटे हुए विष्णु के नाभिकमल से स्वयम्भू ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई (३।८।१४)। वे विष्णु की विज्ञानशक्ति हैं (३।७।२४) – उनके ही आदेश से प्रजा की सृष्टि में प्रवृत्त हुए (४३)। किन्तु →

तृतीय सवनमुखी आदित्य की उपासना द्वारा २।२४।१२।
[२०८२] द्र· छा· ३।११।१, १०।४; तु· ३।५।२। [१] ऋ· १०।८६ सूक्त की टेक। [२] वृषाकपायी 'रेवती सुपुत्रा सुस्नुषा' उनमें प्रजनन का वेग है, उनकी पुत्रवधु है, अर्थात् वृषाकपि में शक्ति की एक एक अनुसन्तति अथवा परिणाम है। सायंकाल के पश्चात यह परिणाम सुस्पष्ट रूप में निरोधाभिमुख होता है। तब वृषाकपि होते हैं कपिल, जो चरम परिणिति में मध्य रात्रि के 'अश्नः' सानु पर समारूढ़ हैं। [३] छा· ३।१७।६; तु· ८।१।५ (७।१); ऋ· 'अनश्नन' १।१६४।२०। →
[४] इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्; आदि पर्व १।२६७॥

प्रत्याशित प्रजावृद्धि न होने से अन्त में उसके लिए उन्होंने मिथुन सृष्टि की आवश्यकता का अनुभव किया। निश्चय ही प्रजावृद्धि यहाँ संख्यागत नहीं बल्कि गुणगत है। इसी उद्देश्य से अपनी देह को दो भागों में विभक्त करके उन्होंने एक मिथुन या जोड़ा उत्पन्न किया – जिसका पुरुष भाग 'मनु' और स्त्री भाग 'शतरूपा' हुआ। शतरूपा मनु की महिषी हुईं और मनु प्रजापति हुए। उसके पश्चात ही प्रजावृद्धि होने लगी (३।१२।५२-५४)। वेद में यही मनु मानव के आदि पिता हैं। और मनुष्य अथवा पुरुष में प्रज्ञान का परम आविर्भाव ही सृष्टि की सार्थकता है।

शतरूपा के गर्भ से दो पुत्र और तीन कन्याओं का जन्म हुआ। इन तीनों कन्याओं का नाम क्रमानुसार आकूति, देवहूति और प्रसूति है। ये तीनों मानवी मानवमन की किन वृत्तियों की संज्ञाएँ हैं वह उनके नाम से ही समझ में आ जाता है।

इसके पूर्व लोकसन्तनन के लिए भगवान की शक्ति से ही ब्रह्मा ने अभिध्यान या कामना के द्वारा और भी प्रजापतियों – जैसे मरीचि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष, नारद (३।१२।२१-२२), कर्दम (२७), रुचि इत्यादि की सृष्टि की थी। उनके मुख से वाक् नाम की एक कन्या भी उत्पन्न हुई। यह कन्या अकामा, कामनाहीन थी किन्तु ब्रह्मा उसकी ही कामना कर बैठे। मैथुनी सृष्टि के इसी प्रथम आभास का वर्णन वेद में प्रजापति के दुहितृगमन के रूप में किया गया है। किन्तु यह – आदिम काम प्रवृत्ति सफल हुई नहीं (२८-३३)। सृष्टि में स्त्रीशक्ति उस समय भी अव्यक्त एवं निष्क्रिय रही। ब्रह्मा के सारे मानसपुत्र अविवाहित रहे।

इनमें कर्दम – जिनका जन्म ब्रह्मा की 'छाया' से हुआ था (३।१२।२७) ने सरस्वती परिप्लुत विन्दुसरोवर में पत्नीकामना के उद्देश्य से तपस्या शुरू की – (३।२१।६...)। तपस्या सफल हुई। विष्णु के निर्देश एवं ब्रह्मा के आदेश से मनु ने मझली कन्या देवहूति का विवाह कर्दम के साथ कर दिया (३।२२)। कर्दम 'छाया' अथवा असंज्ञा, जड़समाधि के प्रतीक – किन्तु पत्नीकाम हैं और देवहूति आलोककन्या अर्थात मानवमन में आलोक की अभीप्सा का प्रतीक हैं। दोनों का मिलन अध्यात्म साधना में निगूढ़ व्यञ्जनावह अथवा रहस्यमय अभिद्योतक है। भागवत ने इन दोनों चरित्रों को भी आलोक और छाया के अपूर्व सम्पात अथवा समाहरण या मेल से अंकित किया है।

'योगानुभावेन रममाणयोः' कर्दम और देवहूति की प्रथम सन्तान एक साथ उत्पन्न (वेद में 'साकंजात') नौ कन्याएँ हैं (३।२३।४६-४८)। ये कन्याएँ श्रद्धा, कला, क्रिया, ऊर्जा इत्यादि नामों से परिचित हैं – अर्थात श्रद्धा द्वारा आरम्भ और शान्ति द्वारा अन्त या समापन। कन्याओं के पश्चात देवहूति की इच्छा से कपिल ने जन्म लिया – जो विष्णु के ही अवतार हैं। जो आध्यात्मिकी विद्या सर्व कर्म की शमनी है (३।२४।४०), कपिल उसके प्रवक्ता हैं। उनका प्रथम प्रवचन या व्याख्यान मा के निकट होता है।

अब यह समझने में कष्ट नहीं होता है कि संहिता के सब नववीर यही नव कन्याएँ हैं। संहिता के नववीरों के हाथ में सूप था, अतः यहाँ सीधे दृश्यतः उनको कन्या कर दिया गया है। वे सब क्रत्वर्थक प्राण हैं और कपिल क्रतु से परे प्रज्ञा हैं। किन्तु प्राण और प्रज्ञा समान, अर्थात चेतना के पूर्वार्द्ध और परार्द्ध हैं। दोनों का →

मिलन देवहूति की पूर्णता है। अतः अन्त में हम देखते हैं कि देवहूति प्रज्ञापारमिता अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा होकर भी नदीरूपिणी हैं— उनकी धाराएँ उनमें आकर मिल गईं। विश्वप्राण की धारा में शाश्वत काल से वे 'साधित भ्रूणरूप में अकाम अक्रतु कैवल्य के संकर्षण को वहन करती आ रही हैं (तु० ऋ० १०।२८।१६; भागवत. ३।२३।२०-३२ देवहूति की सिद्धि का वर्णन)।

मनु की ज्येष्ठा कन्या का विवाह प्रजापति रुचि के साथ हुआ था। उनका एक पुत्र यज्ञ और एक कन्या दक्षिणा— दोनों जुड़वाँ थे। कनिष्ठा कन्या प्रसूति का विवाह प्रजापति दक्ष के साथ हुआ। उनकी सोलह कन्याओं में से तेरह का विवाह धर्म के साथ हुआ। तेरहवीं कन्या का नाम 'मूर्ति' (INCARNATION) था। जिसके गर्भ से नर और नारायण का जन्म हुआ—जो परवर्ती काल में अर्जुन और वासुदेव हुए। चौदहवीं कन्या स्वाहा का विवाह अग्नि के साथ हुआ और पन्द्रहवीं कन्या स्वधा का विवाह पितृगण के साथ हुआ। चन्द्र की नित्यकला जैसी सोलहवीं कन्या सती का विवाह शिव के साथ हुआ— जो कपिल जैसे ही सारे धर्म-कर्म के बाहर थे। सती, निःसन्ताना रहीं— वे 'प्रसूति' हुईं नहीं।

मनु का प्राजापत्य व्रत इस रूप में सार्थक हुआ।

पुराण में वेदार्थ किस रूप में प्रपञ्चित अथवा विस्तारित, प्रसारित हुआ है, यहाँ उसका थोड़ा आभास दिया गया।

— तृतीय खण्ड समाप्त —